अध्यात्म-अमृत-कलश

[श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत कलशों की स्वात्मप्रबोधिनी टीका व वचनिका]

टीकाकार व प्रवचनकार
पं० जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री
कटनी (म० प्र०)

सम्पादक
पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

संशोधित और परिवर्द्धित
द्वितीय आवृत्ति : १९८१

प्रकाशक
श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर
कटनी, (म० प्र०)

प्रकाशक
श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर
निर्माता–स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलालजी (तेवरी वाले)
कटनी (म० प्र०)

■

अ० भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद के माध्यम से
भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत

■

प्रथमावृत्ति वीर नि० संवत् २५०३ सन् १९७७ ई०
द्वितीयावृत्ति वीर नि० २५०७ सन् १९८१ ई०

■

मूल्य : पन्द्रह रुपया

■

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान :
१. अमरचन्द्र जैन M. A.
मेडीक्योर लेवोरेटरीज
प्रेमनगर, सतना (म० प्र०)
४८५००१

२. स० सि० धन्यकुमार जैन
नेहरू पार्क, कटनी (म० प्र०)
४८३५०१

■

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड
वाराणसी–२२०००१
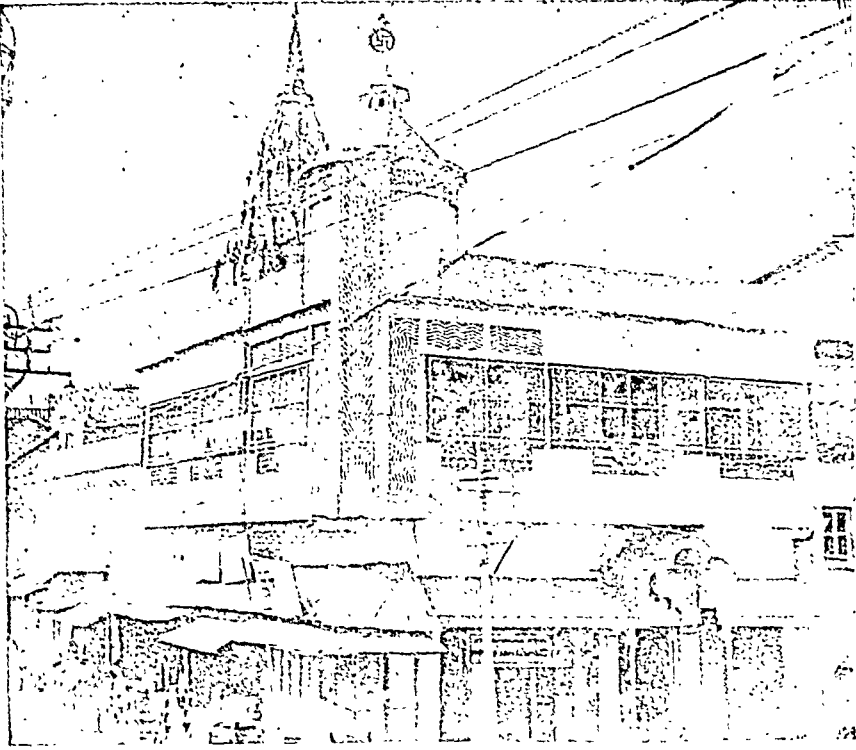
श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर कटनी
(निर्माता—स० सि० कन्हैयालाल गिरधारीलाल तेवरी वाले)
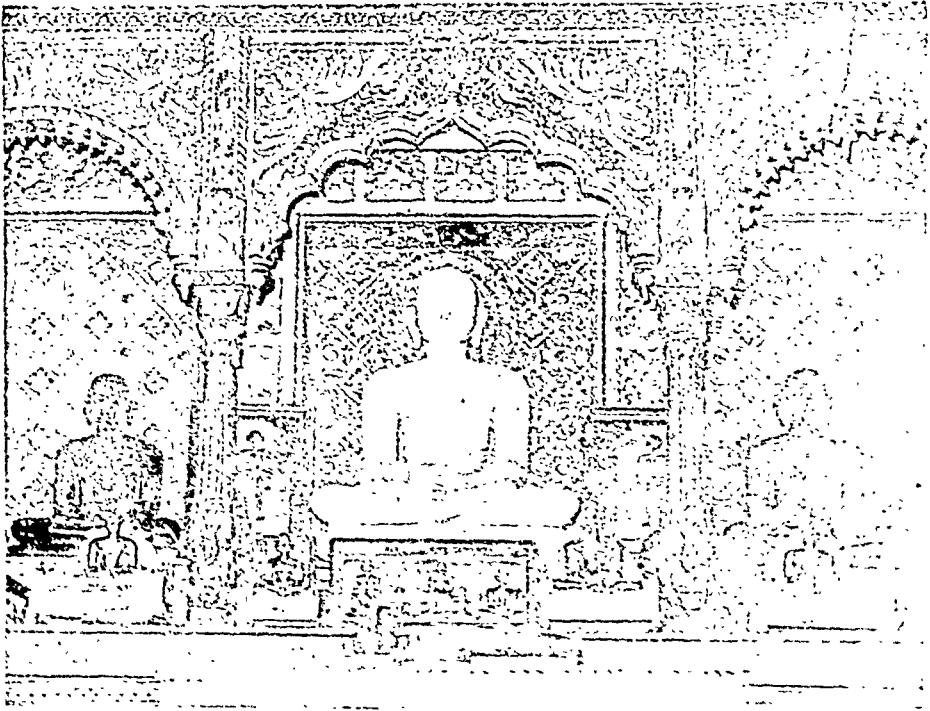
मन्दिर की स्वर्ण जड़ित मूलवेदी

श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर कटनी के सरस्वती भवन की वेदी पर
भगवान महावीर

ग्रन्थ-प्रकाशिनी संस्था का परिचय

श्रीमान् सवाई सिंघई कन्हैयालाल गिरधारीलालजी तेवरी निवासी द्वारा कटनी नगरको अपना स्थायी निवास बना लेने के उपरान्त कटनोमें श्री चंद्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिरकी स्थापना की गई थी। उसी मन्दिरकी ओरसे, जिनवाणीप्रचारके रूपमें इस ग्रन्थका प्रकाशन करके स्वाध्याय प्रेमियोंके हाथोंमें भेट किया गया था। अब तीन वर्षके भीतर यह दूसरा संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है। मन्दिरके संस्थापक इस धर्मनिष्ठ परिवारका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

इस परिवारका इतिहास सत्रहवीं सदीके श्री मोदी शीतलजीसे हमें ज्ञात है। इनके पुत्र श्री मोदी मरजादी हुए, इनके पुत्र श्री बहोरनजीने दमोह नगर (म० प्र०) में जीर्ण जिनालयका (जिसका निर्माण व प्रतिष्ठा १३वीं शताब्दीमें हुई थी ऐसा मूलनायक भगवान् पार्श्वनाथजीके प्रतिमा लेखसे स्पष्ट है) नवनिर्माण कराया तथा पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा और गजरथ महोत्सव के साथ ६१ जिन बिम्ब पञ्चमेरु पधराए। यह प्रतिष्ठा १८१४ (वि० सं०) माघ सुदी १३ को सम्पन्न हुई।

श्री बहोरनजी अठारहवीं शतीमें अपने पुत्र कोकाशाह सुखलालके साथ तथा भाई चूड़ामणि (या चिन्तामणि) के साथ सतारा (महाराष्ट्र) से इस तरफ आए थे ऐसा परिवारके वृद्धजनोंका कथन है। ये जवाहिरातका व्यापार करते थे, सागरमें भोंसलोंका उस समय राज्य था। इनके आश्रयसे इनका आना सागर हुआ। यद्यपि पूना सताराकी ओर परवार जातिके लोग नहीं पाए जाते। ये परवार जाति होते हुए, ज्ञात होता है कि ऐसे ही व्यापार हेतु इस ओरसे वहाँ गए होंगे। जवाहिरातका व्यापार तो पुराने समयमें ऐसा ही चलता था, जिनके पास यह व्यापार था वे राजाओंके पास जाकर ही इसे बेचा-खरीदा करते थे।

यह भी संभावित है कि ये लोग गुजरात प्रदेशसे पूनाकी ओर गए हों। परवार जातिका इतिहास यह बतलाता है कि गुजरात प्रान्तके "परमार क्षत्रियों" का ही अपभ्रंश रूप "परवार" है। परवार जाति यद्यपि उस प्रदेशमें भी पाई नहीं जाती, केवल बुन्देलखण्ड प्रदेश ही उसका वर्तमान आवास या मूल स्थान रह गया है, तथापि श्री पं० राजमलजीकी लाटी संहितामें जातियोंके या कुलोंके संबंधमें ऐसा लिखा गया है "ग्रामाद्यभिधया कुलम्" अर्थात् गावोंके नाम पर कुलोंके नाम करण हुए हैं। परवार जातिमें पाए जाते मूर भी संभवतः गांवोंके नाम पर ही हैं। मूर मूल शब्दका रूपान्तर है, मूलका अर्थ मूल स्थान है। आज भी गुजराती भाइयोंसे उनका परिचय प्राप्त किया जाय तो वे अपने गांवका नाम बतानेके साथ ही कहते हैं कि हमारा मूल अमुक ग्राम है। परवार जातीय लोग भी अपना परिचय मूरके साथ ही देते हैं। नामकरण भी प्राय: इसी प्रकार है जैसे ईडरी मूर (ईडर), रखयामूर (रखयाल) आदि। ये सब नाम गुजरात प्रदेशके नगरोंके हैं। अठसका (अष्टशाखा) शब्दका प्रयोग परिवारके पूर्वजोंके परिचयमें किया जाता है जो इस बातकी ओर संकेत करता है कि इन शाखाओं का मूल (जड़) अन्यत्र है। फलतः यह अनुमान भी होता है कि यह परिवार भी गुजरातसे व्यापार हेतु महाराष्ट्र आया हो।

श्री वहोरनने दमोहको, जो सागरके समीप भोंसलोंका राज्य स्थान था, अपना निवास वनाया। जो जिन-मन्दिर इन्होंने वहाँ वनाया वह आज भी वड़े मन्दिरके नामसे प्रख्यात है। उसकी प्राचीनता इस नामसे ही स्पष्ट है, अन्य मन्दिर उसके वादके हैं। कहा जाता है कि मन्दिर वहुत मजवूत है इसमें जो चूना लगाया है वह शक्कर मिलाकर घोंटकर वनाया गया था। चार फुटकी मोटी दीवालें हैं। मूलवेदीमें दीवाल खोद कर दो दरवाजे लगाए गए तो खोदने वनानेमें १२ दिन लगे। सव्वलें मारने पर दीवालकी मजवूतीके कारण वह उचट जाती थीं।

वृद्धजन ऐसा कहते हैं कि जव श्री मन्दिर वनानेका कार्य प्रारंभ किया गया उसी समय एक १००-२०० वैलोंका शक्करका टांड़ा लेकर कोई व्यापारी वेचने आया। दमोह छोटा नगर था कोई खरीददार न था। कुछ लोगोंने व्यापारीसे कहा कि यहाँ वाहिरसे श्री वहोरनजी जौहरी आए हैं वे मन्दिर वना रहे हैं। गजरथ भी होगा, जीमनवार भी होगी, उसमें शक्कर लगेगी। वहाँ ले जाओ वे खरीद लेंगे। व्यापारी उनके पास गए, और शक्कर लेनेकी प्रार्थना की। यद्यपि श्री वहोरनजी तो केवल जीर्णमन्दिरको नवीन वना देना चाहते थे। नींव खुदाई थी—मन्दिर वननेमें वर्षोंकी देर थी, पर जव व्यापारीकी वात सुनी तो समझा कि लोगोंका यह व्यंग हमारी ओर है जो शक्कर वेचनेवाले व्यापारीको जेवनार गजरथकी वात कहकर इस ओर भेजा है। चलो यह भी उत्तम सम्मति है कि इन वचनोंको हम पूरा कर सकें और गजरथ पञ्चकल्याणक भी कर सकें। पर आज शक्करका क्या उपयोग है। भाईने कहा कि शक्कर आ ही गई है तो इसे चूनामें डलवा दो मन्दिर पक्का हो जायगा—व्यंग वाणोंका उत्तर यही है। भाईकी सम्मतिसे श्री वहोरनजीने वह पूरा टांड़ा खरीद लिया और सव शक्कर चूनेके खांचोंमें पटकवा दी। फलतः मन्दिर मजवूत वना। मन्दिरकी पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा भी गजरथ महोत्सवके साथ सम्पन्न हुई। प्रतिष्ठित जिन विम्व पर जो लेख उत्कीर्ण हैं उनमेंसे एकका उल्लेख इस प्रकार है—

"श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे वलात्कारगणे श्री चन्द्रपुरीपट्टे भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टमध्ये भट्टारक श्री महेन्द्रकीर्तिदेवजी तत् श्री आम्नायमध्ये परवारजाति गाहीमूर गोहिल्ल गोत्र श्री चौधरी शीतल तस्य पुत्र मरजादी तस्य भार्या मनरंगदे तद्गर्भसमुद्भूतो पुत्ररत्न श्री वहोरन भाई चूरामन (चिन्तामन) चौधरीसे सिंघई कहाए। देश वुन्देलखण्डमें गाँव दमोह विषें प्रतिष्ठा कराई। सं० १८१४ माह सुदी १३ श्री पार्श्वनाथजी विव ६१ मेरु पाँच श्री वहोरनजी चिन्तामन—

इस प्रकारका लेख अनेक प्रतिमाओं तथा मेरु पर है। एक मेरुलेखमें पुत्र सुखलालकोका शाहका भी उल्लेख है तथा भाई चिन्तामनके कासीराम-वीरवदन-सहजराम इन तीन पुत्रोंका उल्लेख है। श्री कोकाशाहके पुत्र श्री दयाचंदजी तथा दयाचंदजीके (१) देवीलाल (२) नन्हेंलाल (३) मुरलीधर (४) झल्लेलाल (५) दुलारेलाल ये पांच पुत्र हुए।

करीव १०० वर्ष दमोहमें रहनेके वाद परिवारके उक्त पाँचों भाई दमोहसे चलकर तेवरी (जवलपुर) आ गए। संभवतः भोंसलोंके प्रभुत्वकी समाप्ति व्रिटिश राज्यमें हो जानेसे जवाहिरात-का व्यापार भी इनका मन्द पड़ गया। तेवरीके आस-पासके जंगलोंमें हर्रा वहुत होता है उसके ठेका लेनेका काम इन्होंने प्रारंभ किया।
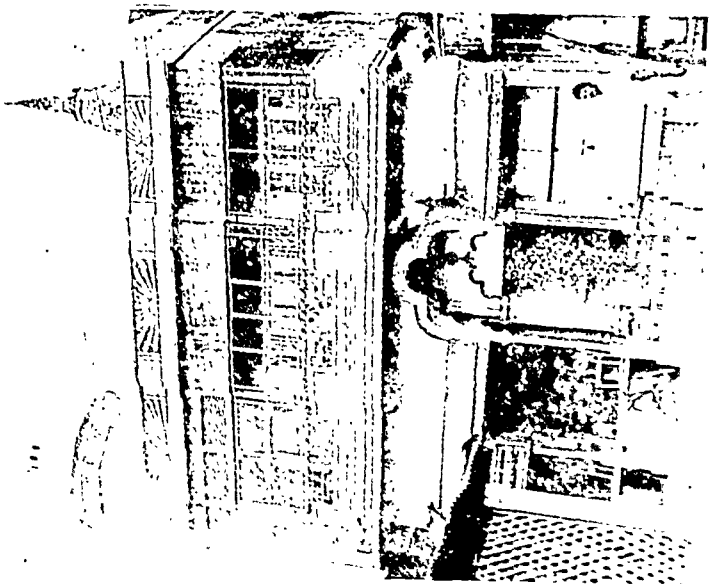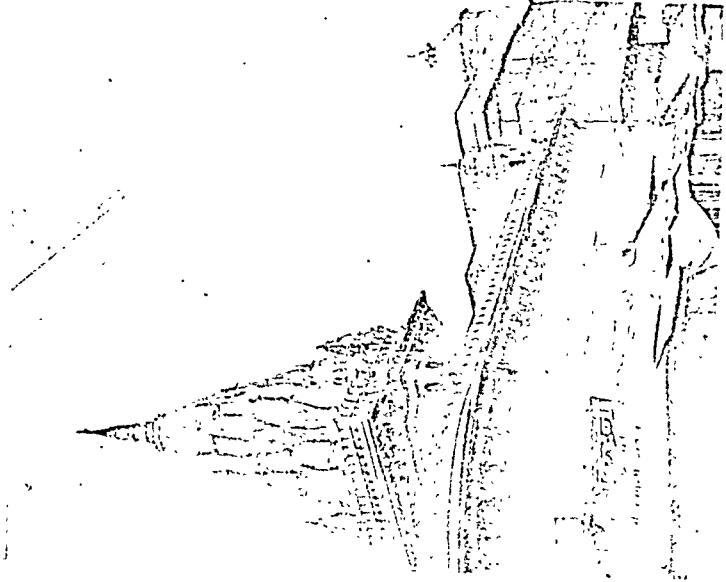
कटनीमें सिंघई परिवार द्वारा निर्मित श्री चन्द्रप्रभ जिनालय का

प्रवेश द्वार और शिखर

सं० १९२६ में तेवरीमें भी जिनमंदिर बनवाया तथा बिलहरी (पुष्पावती नगरी) जो कटनीसे १६ कि० मी० प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है वहाँ सं० १९२७ में पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाके अवसर पर भगवान् पार्श्वनाथ तथा अन्य जिनबिंबोंकी प्रतिष्ठा कराकर तेवरी जिनमंदिरमें पधराई। श्री झल्लेलालजीके सुपुत्र करंगेलालजी तथा उनके सुपुत्र श्री हुकुमचंदका परिवार आज भी उस नगरमें हैं जो श्री मन्दिरजीकी पूजा-प्रभावना तथा सञ्चालन स्वयं अपनी ओरसे करते हैं।

श्री देवीलाल, नन्हेंलालजी, मुरलीधर जी कटनी आए, यहाँ कपड़ेका व्यापार प्रारंभ किया। वि० सं० १९४५ में कटनीमें एक विशाल सुन्दर जिनालय बनाया तथा माघ शुक्ल ४ को पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा व पुनः गजरथ महोत्सव किया। इस प्रतिष्ठाके समय इनकी पूर्व प्राप्त सिंघई पदवीको सवाई सिंघईके रूपमें समाजने प्रदान की। कटनी स्थित श्री मूलनायक भगवान् चन्द्रप्रभकी प्रतिमाका प्रशस्ति लेख इस प्रकार है—

मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुंदकुंद आचार्य आम्नाय परवारवंशे गाहेमूर गोहिल्लगोत्रे सिंघई देवीलाल नन्हेंलालादिभिः प्रतिष्ठापितम् मुडवारा (कटनी) नाम नगरे सं० १९४५ माघशुक्ल ४ प्रतिष्ठापितं शुभं भवतु मंगलं ददातु।

श्री पुष्पदन्त भगवान्का प्रतिमालेख निम्न प्रकार है—

सं० १९५१ माघ सुदी १० दिगम्बर आम्नाय कुंदकुंदाचार्य उपदेशात् सतनायां प्रतिष्ठितं स० सिं० कन्हैयालाल गिरधारी लाल प्रणमति कटनी। सं० २०२५ में इसी मन्दिरमें भगवान् महावीरजीको पधारकर कटनीमें वेदी प्रतिष्ठा की। कपड़ेकी दुकान श्री मुरलीधरजीके सुपुत्र कन्हैयालाल गिरधारीलालजीके नामसे प्रारम्भ हुई। इनके समयमें ही उक्त मन्दिर प्रतिष्ठा व गजरथ हुए। ये पाँच भाई थे कन्हैयालाल, गिरधारीलाल, रतनचन्द, दरबारीलाल, और परमानन्द।

पाँचों भाइयोंमें पांडवोंकी तरह ही पारस्परिक प्रेम था। जीवन भर एक साथ ही रहे। श्री कन्हैयालालजी बड़े ही प्रतिष्ठित नागरिक थे। शेष सभी भाई उनके आज्ञानुवर्ती थे। कटनी जैन पाठशालाकी स्थापनामें इनका प्रमुख हाथ था। सन् १९१५ में सं० सि० कन्हैयालाल रतन-चन्दके नामसे एक शिक्षा ट्रस्ट रजिस्टर्ड किया। १४०००) का यह ट्रस्ट आज भी इस नाम पर है। सन् १९१८ में श्री रतनचंदने अपनी बीमारीके समय २५०००) के दानकी घोषणा जैन छात्रा-वासके लिए की। स्वास्थ्य अच्छा हो जाने पर जीवन भर संस्थाकी सेवा करते रहे। मन्दिर, पूजा, स्वाध्याय, समागत विद्वानों—त्यागियोंको भोजन—मान, सम्मान, शालानिरीक्षण मात्र इतना काम अपने जीवनमें किया, व्यापार आदिसे मुख मोड़ लिया। श्री स० सि० दरबारीलालजी व परमानंदजी दोनों भाई श्रेष्ठ व्यापारी थे।

गिरधारीलालजी छोटी अवस्थामें दिवंगत हो गए। उनकी एक मात्र पुत्री कस्तूरीबाई जबलपुर ब्याही थी जो अपने वैधव्य जीवनमें पांच प्रतिमाओंके व्रत पालती थी। उस धर्मात्मा महिलाने अपने समस्त धनका विनियोग जैन कालेज जबलपुरमें जैन मन्दिर बना कर किया।

श्री कन्हैयालालजीकी पाँच पुत्रियाँ हैं। एक कटनी में है। शेष चार जबलपुरके सुप्रतिष्ठित घरानोंमें विवाहित हैं। श्री रतनचन्दजीके दो सुपुत्र हैं स० सि० अभयकुमारजी एवं स० सि० जयकुमारजी। स० सि० दरबारीलालजीके पुत्र हैं श्री सवाई सिंघई धन्यकुमारजी।

इन तीनों भाइयोंमें धन्यकुमार जी ज्येष्ठ हैं, तीनों भाई प्रतिदिन पूजन-स्वाध्याय आदि गृहस्थोचित कार्योंमें सावधान हैं। किसीको किसी प्रकारका व्यसन नहीं हैं। सभी धार्मिक हैं। सन् १९४० में इन तीनों भाइयोंने सन् १९१८ में श्री रतनचंद जी द्वारा प्रदत्त २५०००) तथा स० सि० दरवारीलाल जी परमानंद जी द्वारा १९२७ में घोषित १००००) तथा स्वयं द्वारा घोषित १५०००) इस तरह कुल राशि रु० पचास हजार तथा इन सव रकमोंके व्याजकी रकम मिलाकर एक रजिस्टर्ड ट्रस्ट कर दिया। इसमें से १२५००) का गांव हरैया राज्यसरकारमें सन् १९४७ में चला गया। इसके वाद भी यह ट्रस्ट स० सि० धन्यकुमार अभयकुमारके नामसे ५१०००) का सुरक्षित है। सभी रुपया रजिस्टर्ड वैंकोंमें है और कटनी जैन शिक्षा संस्थामें व्यय होता है। एक धर्मार्थ औषधालय संचालित है जिसका गांव जमींदारी उन्मूलन में राज्य सरकारमें चला गया। खेती जमीन १६० एकड़ है जो आज १॥ लाख रुपये की है। सि० कन्हैयालालजीने अपनी स्वयंकी संपत्तिका एक स्वतंत्र ट्रस्ट वना दिया है।

श्री स० सि० धन्यकुमारजी समाजमें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। अखिल भारतवर्षीय दिगम्वर जैन परवार सभाके गत २० वर्षोंसे सभापति हैं। इस समय भारतवर्षीय दिगम्वर जैन संघ मथुराके अध्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त भगवान महावीरके २५०० वें निर्वाण महोत्सवकी समितिके संभागीय अध्यक्ष रहे हैं। दिगम्वर जैन महासमितिकी मध्यांचल शाखाके अध्यक्ष हैं। श्री गोमटेश वाहुवली सहस्राब्दि प्रतिष्ठापना एवं महा मस्तकाभिषेक समितिके सदस्य हैं। समाजकी अनेक संस्थाओंके स्थायी सदस्य हैं। मथुरा संघ, काशी, सागर विद्यालय, आगरा शोध संस्थान आदि समाजकी तथा नगरकी अनेक संस्थाओ में इस परिवारका उल्लेखनीय दान है। श्री मन्दिरजीको भी इनकी ओरसे काफी जायदाद लगायी गयी है जिसकी आयसे मंदिरकी व्यवस्था होती है। इस आयको जिनवाणी प्रसारके कार्यमें व्यय करनेका कार्य भी एक आदर्श कार्य है। समाजके अनेक जिन-मंदिर हैं जिनमें खर्चसे आय अधिक है। उन सवके लिए यह एक प्रेरणा स्रोत वने ऐसी भावना है। इस प्रकाशन हेतु मंदिरके संचालक अनेक धन्यवादके पात्र हैं।

■

प्राक्कथन

यह एक आश्चर्य की ही बात है कि प्राय: एक हजार वर्ष तक किसी भी पुराणकार या साहित्यकार ने, आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण नहीं किया। यद्यपि उनके ग्रन्थों में पाई जानेवाली गाथाएँ यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ति जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिमें, अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिक और विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीमें उपलब्ध हैं। निश्चयनयकी भी चर्चा अकलंकदेव और विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें मिलती है। आचार्य अमृतचन्द्र तो इन सबके पश्चात् हुए हैं, पर उन्होंने ही सर्वप्रथम कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर अपनी टीकाएँ रचीं और एक तरहसे उपेक्षित कुन्दकुन्द, जिनशासनके सिरमौर बन गये। भगवान् महावीर और गौतम गणधरके पश्चात् उन्हींका स्मरण किया जाने लगा, तथा दिगम्बर जैन आम्नाय कुन्दकुन्दाम्नाय कही जाने लगी। प्राय: भट्टारक परम्पराके आचार्योंने भी अपने को कुन्दकुन्दाम्नायी ही माना। उनका संघ मूलसंघ कहलाया। क्या इस सबका श्रेय आचार्य अमृतचन्द्रको देना उचित होगा? कहावत है—"गुण न हिरानो गुणगाहक हिरानो है।" आचार्य कुन्दकुन्दके समयसारमें जो गुण भरा हुआ था उस गुणका ग्राहक आचार्य अमृतचन्द्रसे पहले हिराया हुआ था। यद्यपि दर्शनशास्त्र और सिद्धान्तके बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य और ग्रन्थकार हुए किन्तु अध्यात्मरसकी सरितामें अपनेको निमज्जित कर देनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र ही हुए। उन्होंने ही अध्यात्मसागरका अवगाहन करके उसमेंसे अध्यात्मतरंगिणीका प्रादुर्भाव किया।

समस्त जिनशासन अध्यात्मरूप है, उसमें जो भौतिक कर्मवादका या लोकवादका कथन है वह भी अध्यात्म प्रेरित ही है। किन्तु अध्यात्म प्रेरितमें और अध्यात्ममें अन्तर है। जैन सिद्धान्त अध्यात्मकी ओर प्रेरित अवश्य करता है किन्तु अध्यात्ममय नहीं है। जैसे गोम्मटसारमें भी जीवका विवेचन है। वह विवेचन संसारी जीवका है। उसमें गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीव समासके द्वारा जीवका विवेचन है। उसे पढ़कर संसारी जीवका तो परिज्ञान होता है, किन्तु शुद्ध जीवका परिज्ञान नहीं होता। होता भी है तो अन्तमें जाकर होता है, वह भी उतनी स्पष्टतासे नहीं होता। किन्तु अध्यात्म समुद्र समयसारमें तो उतरते ही शुद्ध आत्मा दृष्टि पथमें आये बिना नहीं रहता। यही दोनोंमें अन्तर है।

अध्यात्मके प्रवर्तक होते हुए भी कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रने सिद्धान्त या व्यवहारकी उपेक्षा नहीं की। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके अतिरिक्त प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय तथा अन्य प्राभृतोंमें जैन सिद्धान्त और जैन आचारका वर्णन किया और अमृतचन्द्रने तत्त्वार्थसूत्र को लेकर तत्त्वार्थसार रचा तथा श्रावकाचारको लेकर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय रचा। किन्तु उनकी इन दोनों रचनाओंमें उनके अध्यात्मकी

स्पष्ट छाप है, जो इन विषयोंकी अन्य रचनाओंमें नहीं पाई जाती। पुरुषार्थसिद्धयुपायके प्रारम्भमें ही वह निश्चय और व्यवहारकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह देशनाका पात्र नहीं है। क्योंकि जैसे जिसने सिंह नहीं देखा है उसे विलावके समान सिंह होता है ऐसा कहने पर वह विलाव को ही सिंह मानने लगता है, वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मान बैठता है। आज प्रायः यही देखा जाता है। समयसारका पठन-पाठन प्रवर्तित न होनेसे विद्वानोंकी भी दृष्टि एकांगी बन गयी है। इसके साथ ही समयसारके प्रेमी पाठक भी एकमात्र निश्चयको उपादेय मानकर व्यवहारकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु अध्यात्मगुरु अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि व्यवहार और निश्चयको जानकर जो दोनों में मध्यस्थ रहता है—एकसे राग और दूसरेसे द्वेष नहीं करता, वही उपदेशका सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है। अमृतचन्द्रजीके इस निस्यन्द पर किसी विरलेकी ही दृष्टि है, अन्यथा तो आज तत्त्वज्ञोंमें भी व्यवहार और निश्चयका द्वन्द्व छिड़ा हुआ है।

निश्चय और व्यवहारमें विरोध—समयसारमें निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहा है। समयसारके आद्य भाषाटीकाकार पं० जयचन्दजी ने लिखा है—व्यवहारनय अभूतार्थ होनेसे अविद्यमान असत्य अभूतार्थको प्रकट करता है। केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान सत्य भूतार्थ को प्रकट करता है। अमृतचन्द्रजीने अपनी टीकामें अभूतार्थका अर्थ अभूत-अर्थ और भूतार्थका अर्थ भूत-अर्थ ही किया है, किन्तु दूसरे टीकाकार जयसेनाचार्यने व्यवहारको अभूतार्थ और भूतार्थ कहा है और निश्चयनयको शुद्ध और अशुद्ध कहा है। इस तरह उन्होंने चार नय कहे हैं। सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय। किन्तु भूतार्थ अर्थात् सद्भूत व्यवहारनय और निश्चयनय एक नहीं हैं। व्यवहारनय भेदको विषय करता है अतः सद्भूत व्यवहारनय एक ही वस्तुमें भेद व्यवहार करता है। जैसे समयसार गाथा ७ में कहा है कि व्यवहारनयसे ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहे जाते हैं। यहाँ व्यवहारनयसे मतलब सद्भूत व्यवहारनयसे है, तथा अभूतार्थ निश्चयनयसे मतलब अशुद्ध निश्चयनयसे है। उपाधि सहित गुण-गुणीमें अभेदको विषय करनेवाला अशुद्ध निश्चयनय है जैसे मतिज्ञान आदिको जीव कहना। अतः इन भेदोंके आधार पर निश्चय और व्यवहारकी समानता देखना उचित नहीं है। आचार्य जयसेनने ही अपनी टीकामें कई स्थलों पर कहा है कि शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है। अतः नय दो ही हैं निश्चय और व्यवहार। इन दोनों नयोंमें विरोध है। निश्चयनय जीवोंको अवद्ध, अस्पृष्ट आदि देखता है और व्यवहारनय वद्ध स्पृष्ट आदि देखता है। इनमेंसे अवद्धता अस्पृष्टता आदि भूतार्थ है क्योंकि जीव स्वरूपसे अवद्ध और अस्पृष्ट है। तथा वद्धता स्पृष्टता आदि अभूतार्थ है क्योंकि जीवके स्वरूपमें नहीं है।

जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकामें भूतार्थका अर्थ सत्यार्थ और अभूतार्थका अर्थ असत्यार्थ कहा है। उन्होंने भी आचार्य अमृतचन्द्रका ही दृष्टान्त उपस्थित करते

हुए कहा है कि जैसे कोई ग्रामीण गंदले जलको ही जल मानकर पीता है किन्तु विवेकी पुरुष गंदले जलमें निर्मली डालकर निर्मल जल पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप भेदभावनासे शून्य मनुष्य, आत्माको मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित ही अनुभव करते हैं, अर्थात् दोनोंके भेदको नहीं जानते। किन्तु सम्यग्दृष्टी निर्मलीके समान निश्चयनयका आश्रय करके शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं।

इस दृष्टान्तसे निश्चय और व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता स्पष्ट हो जाती है। व्यवहारनय अभूतार्थ है इसका मतलब यह नहीं है कि वर्तमान आत्माकी अशुद्ध दशा नहीं है। वह है, किन्तु आगन्तुक होनेसे आत्माके स्वरूपमें नहीं है जबकि शुद्धता आत्मस्वरूप है। अतः शुद्धात्माके अनुभवनसे शुद्धात्माकी और अशुद्धात्माके अनुभवनसे अशुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। इसीसे व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होने पर भी हेय है। किन्तु वह सर्वथा ही हेय नहीं है, प्रारम्भिक दशामें उपयोगी भी है।

अमृत कलश

आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें समयसारके भावको पद्यबद्ध करनेकी दृष्टि से जो पद्य रचे हैं उन्हें 'समयसार कलश' नाम किसने दिया यह तो अन्वेषणीय है, किन्तु जिसने भी दिया उसने उन्हें सर्वथा उपयुक्त नाम दिया है। सचमुचमें अमृतचन्द्रजीके वे पद्य समयसार रूपी मन्दिरके शिखर पर कलश स्वरूप ही हैं। उनपर आचार्य शुभचन्द्रने संस्कृत टीका रची और पाण्डे राजमल्लने भाषा टीका रची। उसीके आधार पर कविवर बनारसीदासने समयसार नाटक रचा और इस तरह आचार्य अमृतचन्द्रके वे पद्य एक स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें प्रवर्तित हुए। वे पद्य इतने मनोरम और भावपूर्ण हैं कि संस्कृत भाषाका साधारण पाठक भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

मेरे मित्र तथा सहाध्यायी और सहकर्मा पं० जगन्मोहनलालजीने स्वान्तःसुखाय एक भाषा टीका लिखी जो पाठकोंके सामने है। इस टीकामें अन्वयार्थ और भावार्थके साथ जो प्रश्न-उत्तर दिये गये हैं उनसे इस टीकाका महत्त्व बढ़ गया है। उनके द्वारा पण्डितजीने आजके समयमें प्रवर्तित विवादों और चर्चाओंका ही समाधान करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम उनके उन समाधानोंमेंसे कुछकी चर्चा करेंगे।

नयोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए पण्डितजीने लिखा है—

"नय पक्ष दोनों हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनों सही हैं। एक नय अपने पक्षका प्रतिपादन करते हुए भी अपरनयकी सत्यताको जानता है। तथा दूसरा नय भी ऐसा ही करता है। तथापि अनेक जन एक नयको दृष्टिमें रखकर उसके विषयको सत्य तथा अपरको असत्य कहते हैं और विवादमें पड़ जाते हैं। मूल उद्देश्य तो नयों द्वारा उसका स्वरूप जानकर आत्माको पवित्र बनानेका है, उसे भूल जाते हैं और विवादमें पड़ जाते हैं....यद्यपि आगममें पर्यायार्थिक नयको व्यवहारनय कहा है और उसे असत्यार्थ कहा है, सो ऐसा न समझना कि वह सर्वथा मिथ्या वस्तुको प्रतिपादन करता है अतः व्यवहारनयका प्रयोक्ता मिथ्यादृष्टि है।....यहाँ प्रश्न होता है कि फिर

उसे आगममें असत्य क्यों कहा ? उत्तर है कि उसे ही परमार्थ समझना असत्य है।''

पण्डितजीने सत्यार्थका अर्थ निजके लिये उपादेय तथा असत्यार्थका अर्थ निजके लिये अनुपादेय किया है। इसके पूर्वमें उन्होंने लिखा है—'निजकी सत्तासे सम्बन्धित अपने ज्ञायक स्वभावको ही वह सत्यार्थ और निजकी सत्तासे भिन्न समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भावको असत्यार्थ मानता है क्योंकि वे उसकी सत्तासे अनुस्यूत नहीं हैं।' जो निजकी सत्तासे अनुस्यूत है अर्थात् आत्माके साथ तादात्म्य है वह सत्यार्थ है; शेष सब असत्यार्थ है। जो सत्यार्थ है वह निश्चयनयका विषय होनेसे निश्चयनय सत्यार्थ है। और व्यवहारनय असत्यार्थ है क्योंकि वह परके संयोगसे जन्य नैमित्तिक भावोंको भी वस्तुका स्वभाव कहता है।

इसपर प्रश्न और समाधान पण्डित जीने इस प्रकार किया है—

प्रश्न—जब आत्मा वर्तमानमें प्रत्यक्ष संसारी, सदेही, कर्म-नोकर्मभाव संयुक्त है तब इसे असत्य कैसे माना जाये ?

समाधान—यह असत्य नहीं है पर जीवकी यह पर्यायमात्र है, स्वभाव नहीं है संसारी दशा कर्मनिमित्त जन्य होनेसे नैमित्तिक विकारी दशा है। स्वाभाविक दशा तो इन संयोगोंके दूर होने पर प्रकट होगी, अन्यत्रसे नहीं आयेगी।

आगे एक प्रश्न और समाधान इस प्रकार है—

प्रश्न—शुद्धात्मामें भले ही रागादि न हो, अशुद्धात्मामें तो उनका अस्तित्व है।

समाधान—अवश्य है और उस दृष्टिसे वह सब सत्य ही है, असत्य नहीं है। किन्तु जड़ कर्मके निमित्तसे उत्पन्न विकार आत्मस्वभाव न होनेसे आत्मद्रव्यकी गणनामें नहीं आता। अतः शुद्धनयके द्वारा अपनी आत्माके सही शुद्ध स्वरूपमें वर्तमान दशामें पाये जाने वाले आत्मभिन्न विकारोंको ओझल करके देखो। ऐसा करनेसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होगी।'

ऊपरके समाधानमें पण्डित जीने विकारको जड़ कर्मके निमित्तसे उत्पन्न कहा है। यह केवल व्यावहारिक भाषा है। यथार्थमें उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है क्योंकि निमित्तकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रश्न—जब विना कर्मोदयके विकार उत्पन्न नहीं होता तब उसका कारण तो कर्मोदय रूप परपदार्थ ही है। यदि स्वयंके कारण हो तो सिद्ध भगवान्में भी स्वयंके कारण विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है। कर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है। उसकी उदय रूप अवस्था कर्ममें होती है अतः कर्ममें ही उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि पर्यायभेद बताये गये हैं। यदि कर्मका उदय जीवमें भी उदय रूप हो तो कर्मका क्षय होनेसे जीवका भी क्षय हो जायेगा। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी पर्याय स्वयंकी, उस

समयकी योग्यतासे होती है तथापि उन पर्यायोंमें परकी अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्तका अवलम्बन कर, जीव अपनेमें विकारी पर्याय उत्पन्न करता है, यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार उत्पन्न करता है यह कथन, उपचरित कथन, व्यवहारनयका कथन है।

उक्त विषयमें पञ्चास्तिकाय और उसकी टीकामें जो कुछ कहा गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा—

गाथा ५८ की टीकामें अमृतचन्द्र जी लिखते हैं—

अथवा उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप चार अवस्थाएँ द्रव्य कर्मोंकी ही हैं। जीवकी अवस्था तो मात्र एक परिणामरूप ही है। इसलिए उदय आदिके द्वारा होनेवाले आत्माके भावोंका निमित्तमात्र भूत उस प्रकारकी अवस्था रूपसे स्वयं परिणमित होनेके कारण द्रव्य कर्म भी व्यवहारनयसे आत्माके भावोंका कर्त्ता कहा जाता है।

इसपरसे आचार्य कुन्दकुन्दने ही यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया—यदि औदयिक आदि रूप जीवका भाव कर्मके द्वारा किया जाता है तो जीव उसका कर्त्ता नहीं है। किन्तु जीवका अकर्त्तापना इष्ट नहीं है। तब पारिशेष्यसे जीवको द्रव्य कर्मका कर्त्तापना प्राप्त होता है। किन्तु वह कैसे हो सकता है, क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा अपने भावको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता ?

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करते हुए आचार्य कहते हैं—व्यवहारसे निमित्तमात्र होनेसे जीव भावका कर्म कर्त्ता है और कर्मका भी जीव भाव कर्त्ता है। किन्तु निश्चयसे न जीव भावोंका कर्म कर्त्ता है और न कर्मका कर्त्ता जीव भाव हैं, किन्तु वे कर्त्ताके बिना भी नहीं होते अतः निश्चयसे जीवके भावोंका कर्त्ता जीव है, और कर्मभावका कर्त्ता कर्म है। इस तरह निश्चयसे जीव अपने भावोंका कर्त्ता और पुद्गल कर्मोंका अकर्त्ता है यह जिनागम है।

समयसारके कर्तृ कर्माधिकारमें इसीका विवेचन है, और मोक्षमार्गकी दृष्टिमें उसका विशेष महत्त्व है। जब जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्य हैं तब उनका सम्बन्ध और बन्ध पर्याय कैसे होती है और वह कैसे मिटती है यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर इसी अधिकारमें है। जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणाएँ कर्म रूपमें परिणमन करती हैं और पुद्गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवके परिणाम होते हैं। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। फिर भी जीव और पुद्गलमें परस्परमें कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है। क्योंकि न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है और न कर्म जीवके गुणोंको करता है। किन्तु उन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिकपना होनेसे परिणाम होता है। दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव मात्रका निषेध नहीं है क्योंकि परस्परमें निमित्त-मात्र होनेसे ही दोनोंका परिणाम होता है। इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण व्यवहार नयसे जीव पुद्गल कर्मका कर्त्ता भोक्ता और पुद्गल जीव भावका कर्त्ता कहा जाता है। परमार्थमें जीव न तो पुद्गल कर्मको करता है और न पुद्गल कर्मको

भोगता है। यदि जीव पुद्गल कर्मको भी करे और भोगे तो वह दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्त्ता बन जायेगा, क्योंकि उसने अपने परिणामको भी किया व भोगा और पुद्गल कर्मको भी किया व भोगा। और एक द्रव्य दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्त्ता नहीं होता, जो ऐसा नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

पण्डित जीने पृष्ठ ८० पर प्रश्नों और समाधानके रूपमें इसपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यह सब कथन किसीकी कल्पनासे प्रसूत नहीं है। यह तो समयसार का ही हार्द है। जो उससे अनभिज्ञ हैं और वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करते उन्हें ही यह भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। और यह भ्रम संसारका कारण बना हुआ है। आश्चर्य यही है कि जो संसारके कारण भ्रमजालको छोड़ना या छुड़ाना चाहते हैं वे भी व्यवहारनयके भ्रमजालको ही परमार्थ मानकर उसीमें उलझे रह जाते हैं। व्यवहारका मोह उनसे नहीं छूटता।

पण्डित जीने भी लिखा है—"अबतक रागका कारण कर्मोदय और कर्मका कारण जीवका राग मानते आये हैं। अतः उक्त कथन सामान्यतया लोगोंको, जो कुछ आगमके अभ्यासी हैं, उनके भी मनमें नहीं बैठता। इसका कारण यह है कि परमें कर्तृत्व बुद्धिकी जो भूल अनादिसे चली आती है उसीके परिप्रेक्ष्यमें आगमका अभ्यास किया है। जिसके कारण, निमित्त कारणको ही मुख्य कारण मान बैठे हैं, अन्तरंग कारणको, जो मुख्य है, उसे गौण कर रखा है। अथवा उसकी कारणताको लँगड़ा कारण समझा है, और यह समझा है कि उसका लंगड़ापन निमित्त ही मिटाता है।

यद्यपि कार्यमें अन्तरंग बहिरंग दोनों कारण माने गये हैं तथापि अन्तरंग कारण मुख्य कारण है और बहिरंग कारणको उपचारसे कारण माना गया है। वह यथार्थ कारण नहीं है। परन्तु अनादिकी भूलसे जो परको ही कर्त्ता माननेका भ्रमपूर्ण ज्ञान चला आता है, उसके कारण अन्तरंग कारणकी कारणता उपेक्षित हो गयी है और बाह्य निमित्त कारणमें ही कर्तृत्वकी मान्यता दृढ़ हो गई है। यह मान्यता आगमाभ्यास करने पर भी दूर नहीं हुई। आगमका अर्थ भी अपनी मान्यताके अनुसार लगा लिया जाता है।" (पृ० ९९)

पण्डित जीका उक्त कथन यथार्थ है। इसीसे प्रचलित विवाद नहीं मिटते।

शुभोपयोग और पुण्यबन्ध

आजकी चर्चाका एक मुख्य विषय शुभोपयोग और पुण्यबन्ध भी है। अशुभोपयोगसे पापबन्ध और शुभोपयोगसे पुण्यबन्ध होता है। वह सर्वसम्मत आगमिक सिद्धान्त है। अशुभोपयोग और पापबन्धको सब एक स्वरसे हेय ही मानते हैं। अतः उसमें भी कोई विवाद नहीं है। विवादका विषय है शुभोपयोग और पुण्यबन्धकी उपादेयता। अशुभोपयोग और पापबन्धकी तुलनामें शुभोपयोग और पुण्यबन्ध उपादेय हैं, इसमें भी कोई विवाद नहीं हो सकता।

व्रतोंका धारण शुभोपयोग है और उसका फल स्वर्गादि है। व्रतोंका धा[illegible] करना अशुभोपयोग है और उसका फल नरकादि है। संसारमें रहते हुए यदि [illegible]

गतिमें कालयापन करना पड़े तो उससे तो स्वर्गादिमें कालयापन करना श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। ग्रीष्ममें एक आदमी धूपमें और एक छायामें खड़ा हो, उन दोनोंमें छायामें खड़े होनेवालेको श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। यतः व्रतोंके धारण करनेसे पुण्यबन्ध होता है अतः व्रतोंका धारण करना भी हेय है यह कथन उनके लिये तो उपयुक्त हो सकता है जो अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमें संलग्न हैं। किन्तु जो अशुभपयोगमें आसक्त हैं, या उसे नहीं छोड़ सकते हैं, उनके सम्मुख अशुभोपयोगको छोड़नेपर बल न देकर, मात्र शुभोपयोगकी हेयतापर ही जोर देना उचित नहीं है। इसीसे विवाद बढ़ता है। सिद्धान्ततः यह ठीक है कि अशुभोपयोगकी तरह शुभोपयोग भी मोक्षार्थी के लिए हेय है। क्योंकि दोनों ही उपयोग अशुद्ध हैं। अन्तर इतना ही है कि अशुभोपयोगमें कषायकी तीव्रता होती है और शुभोपयोगमें कषायकी मन्दता होती है। अतः एकसे पापबन्ध होता है तो दूसरेसे पुण्यबन्ध होता है। किन्तु बन्धका निरोध हुए बिना मोक्ष नहीं होता और बन्धका निरोध कर्म संन्यासके बिना नहीं होता। इसीसे कलशमें कहा है—

'संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।'

अर्थात् मोक्षार्थीको समस्त शुभाशुभ कर्म त्याग देना चाहिये। जहाँ समस्त कर्मोंके त्यागकी बात कही गई हो वहाँ पुण्य और पापके भेदकी कथाको स्थान कहाँ?

इसपरसे यह शंका उठाई गई है, जो प्रायः उठाई जाती है, कि मिथ्यादृष्टि की शुभाशुभ क्रियाएँ बन्धका कारण भले हों, किन्तु सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ तो मोक्षका कारण हैं। सभी मोक्षार्थी साधु षष्ठादि गुणस्थानोंमें सकल संयम रूप चारित्रको धारण करते हैं। यदि संयमको बन्धका कारण कहेंगे, तो लोग संयमके मार्गको छोड़ असंयमी हो जायेंगे।

इसका समाधान करते हुए पण्डित जीने लिखा है—जब सम्यग्दृष्टि की शुभ-क्रियाएँ भी बन्ध का कारण हैं तब सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओंको छोड़कर असंयमी बन जाये यह कभी भी संभव नहीं है। जो तत्त्वज्ञानकी चर्चा तथा स्वाध्याय करनेवाले उक्त उपदेशको पाकर संयम छोड़ असंयमी बनते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि वस्तुको यथार्थ रूपसे जानता है। उसे सम्यग्ज्ञान है अतः वह तो असंयमको छोड़ संयमी ही बनेगा, फिर शुभभाव रूप सराग संयमको भी छोड़ वीतरागी निश्चय-चारित्री बनेगा। असंयमी नहीं बनेगा। आगे पं० जीने इसे और भी विस्तार से स्पष्ट किया है। अन्तमें लिखा है—'उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि एकान्ततः बाह्य चारित्र मात्रसे मोक्ष नहीं होता। किन्तु जो अशुभ परिणतिको छोड़ शुभ परिणिति रूप आचरणके द्वारा स्वरूप साधनका प्रयत्न करते हैं वे जीव शुभाशुभ कर्मसे ऊपर उठकर स्वयं शुद्धोपयोग रूप परिणतिमें लीन होते हैं वे अप्रमादी ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

क्या शुभोपयोगको परम्परासे मोक्षका कारण कहा जा सकता है ? इसके उत्तरमें जयसेनाचार्यने गाथा १४६ की अपनी टीका में कहा है—'जो भोगाकांक्षासे व्रत, तप, दान पूजादि करता है वह भस्मके लिये रत्नराशिका दाह करता है। उसका व्रतादि व्यर्थ है। किन्तु जो शुद्धात्म भावना की साधनाके लिये वहिरङ्ग व्रत, तप, दान, पूजादि करता है वह परम्परासे मोक्षको प्राप्त करता है।'

व्यवहारके पक्षपाती उक्त कथनके उत्तरार्ध पर तो जोर देते हैं किन्तु पूर्वार्धको भुला देते हैं।

व्रतादि क्या संवरके भी कारण होते हैं ? तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें शुभास्रवका वर्णन है और उसके प्रथम सूत्रमें हिंसादि पापोंके त्यागको व्रत कहा है। इस परसे सर्वार्थसिद्धि टीकामें पूज्यपाद स्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि व्रतको आस्रवका हेतु कहना ठीक नहीं है इसका अन्तर्भाव तो संवरके कारणोंमें किया गया है। आगे नौवें अध्यायमें संवरके हेतु कहेंगे। उनमें से दस धर्मोंमें से संयमधर्ममें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है। इसके उत्तरमें स्वयं पूज्यपाद स्वामीने कहा है कि संवर का लक्षण तो निवृत्ति है, किन्तु व्रत तो प्रवृत्ति रूप है। हिंसा, झूठ, चोरी आदिको त्यागकर अहिंसा, सत्यवचन, दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। दूसरे व्रतोंका अभ्यासी साधु सुखपूर्वक संवर करता है इसलिये व्रतका पृथक् उपदेश किया है।'

अतः सिद्धान्तके अनुसार भी व्रताचरण शुभास्रवका कारण है इसीसे पूज्यपाद स्वामीने अपने समाधि तन्त्रमें कहा है—

'अव्रतोंसे पाप और व्रतोंसे पुण्यका आस्रव होता है और दोनोंके विनाशसे मोक्ष होता है। इसलिये मोक्षार्थीको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये।'

जब मोक्षार्थीके लिये व्रत भी त्याज्य है तब व्रतोंसे होनेवाला पुण्यबन्ध कैसे उपादेय हो सकता है। पापबंन्धकी दृष्टिसे ही पुण्यबन्ध उपादेय कहा जा सकता है किन्तु मोक्षके लिये तो दोनों ही अनुपादेय या हेय हैं। तत्त्वार्थसारमें अमृतचन्द्रजीने कहा है 'हेतु और कार्यमें भेद होनेसे पुण्य और पापमें भेद है।' पुण्यका हेतु शुभ भाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है। किन्तु दोनों ही संसारके कारण हैं अतः दोनोंमें निश्चयनयसे कोई भेद नहीं है।

अमृतचन्द्रजीने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अन्तमें भी इस विषयकी चर्चा की है। वह लिखते हैं—

'असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥

अर्थात् 'एकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही रत्नत्रयके विपक्षी रागादिकृत हैं।'

यह अर्थ श्लोकके तीन चरणोंका है और इसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु

आजके विद्वान् चतुर्थचरणको भी इन तीनोंके साथ मिलाकर अर्थ करते हैं कि वह पुण्यबन्ध (कर्मबन्ध) अवश्य ही मोक्षका उपाय है। बन्धका उपाय नहीं है। किन्तु चतुर्थ चरण पृथक् है। एक देश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत क्यों है? रत्नत्रयकृत क्यों नहीं है? इसका उत्तर ग्रन्थ-कारने चतुर्थचरणसे दिया है। वह कहते हैं कि जो मोक्षका उपाय है वह बन्धका उपाय नहीं है। आगेके श्लोकोंमें वह अपने इस कथनका समर्थन करते हुए कहते हैं कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उतने अंशसे बन्ध नहीं है। जितने अंशमें रागादि है उतने अंशमें बन्ध है। योगसे प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध होते हैं। कषायसे स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध होते हैं। रत्नत्रय तो न योगरूप है, न कषायरूप है, तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है। एकदेश रत्नत्रयके रहते हुए जो पुण्यास्रव होता है वह तो उनके साथ रहनेवाले शुभोपयोग का अपराध है।

इस सब कथनके प्रकाशमें उक्त श्लोकके अर्थको देखना चाहिये। विपक्षकृत कर्मबन्धको मोक्षका उपाय कहनेसे तो उसके बादका सब कथन असंगत हो जाता है।

आज व्यवहार, निमित्त, शुभोपयोग और पुण्यके पक्षपाती आगमके अर्थमें कैसा विपर्यास कर रहे हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सिद्धान्त हो या अध्यात्म, दोनोंमें दृष्टि भेद होनेपर भी मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही एक मोक्षमार्गको कहते हैं। सिद्धान्त और अध्यात्मके मोक्षमार्ग भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एकका काम व्यवहार प्रधान है तो दूसरेका निश्चय प्रधान है। अमृतचन्द्रजीने लिखा है—व्यवहार भी परमार्थ मात्रका ही प्रतिपादन करता है, उसके अतिरिक्त किंचित् भी नहीं कहता। फिर भी वह प्रतिषेध्य है—हेय है। क्यों है? इसके समाधानमें जयसेनाचार्य कहते हैं—

'जो निश्चय मोक्षमार्गमें स्थित हैं उनका नियम से मोक्ष होता है। किन्तु व्यवहार मोक्षमार्गमें जो स्थित हैं उनका मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। यदि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशमादि होनेसे शुद्धात्माको उपादेय मान-कर वर्तता है तो मोक्ष होता है अन्यथा नहीं होता। जो पूर्वोक्त शुद्धात्म स्वरूपको उपादेय नहीं मानता उसके सात प्रकृतियोंका उपशमादि नहीं होता।

अतः व्यक्तिगत विरोधके कारण सिद्धान्तका घात करना उचित नहीं है। इससे तो धर्मकी रक्षा न होकर धर्मका विनाश ही होता है।

पण्डित जगन्मोहनलालजी आजके विद्वानोंमें एक ऐसे विद्वान् हैं जो निश्चय और व्यवहारका सन्तुलन जीवनमें और व्यवहारमें रखते है। वे कोरे शास्त्रज्ञ नहीं हैं और न व्यक्तिगत राग-द्वेष के वशीभूत हो शास्त्रोंके अर्थमें अनर्थ करते हैं। इसके साथ ही वे सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक हैं और निष्ठा के साथ ही अपने आचारका पालन करते हैं। उन्हें केवल इह लोककी ही चिन्ता नहीं है परलोक की भी चिन्ता है। उनका संयमी जीवन इसका प्रमाण है। वे कुशल वक्ता और निस्पृही विद्वान्

हैं। उनके द्वारा समयसार कलशों पर रचित यह टीका अवश्य ही आजके द्वन्द्वमें पड़े हुए स्वाध्याय प्रेमी जिज्ञासुओंको उस द्वन्द्वसे निकाल कर स्वात्मबोध करानेमें सहायक होगी।

उनकी इस टीकाका प्रकाशन कटनीके श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिरकी ओरसे हो रहा है। मन्दिरोंके द्रव्यका सदुपयोग यदि जिनवाणीके प्रकाशन और प्रचारमें किया जाये तो वह शास्त्रानुकूल और समयानुकूल है इसके लिये उक्त मन्दिरके निर्माताओंके उत्तराधिकारी स० सिं० धन्यकुमारजी, अभयकुमारजी, जयकुमारजी और उनका समस्त परिवार धन्यवादका पात्र है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जिनशासन

जिनागम बारह अंगोंमें विभक्त है। उसे ही आरातीय आचार्योंने चार अनुयोगद्वारोंमें संकलित कर समग्र जिनागमको मूर्त रूप दिया है। वे चार अनुयोगद्वार हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोगमें चौवीस तीर्थङ्करों आदि पुण्य पुरुषोंके चरित्र-चित्रणके साथ आनुषंगिकरूपसे विविध विषयोंका संकलन हुआ है। करणानुयोग मुख्य रूपसे कर्मके बन्ध, उदय, उपशम आदिको माध्यम बनाकर संसारी जीवोंकी विविधविध अवस्थाओंके साथ, मुक्त जीवों और उनके त्रैकालिक तथा वर्तमान निवासस्थानों आदिको स्पष्ट करता है। चरणानुयोग स्वभाव सन्मुख हुए जीवोंके पराश्रित भावों तथा तत्पूर्वक मन, वचन और कायकी विविध अवस्थाओंका प्रमुखतासे ख्यापन करता है। द्रव्यानुयोग छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और जीवादि नौ पदार्थोंके ख्यापनके साथ अपने मूल त्रैकालिक स्वभावको हृदयंगम कर उसमें उपयुक्त होकर संसारी जीवोंके स्वात्मस्थित होनेपर किस विधिसे बन्धस्वरूप मोह, राग और द्वेष आदिरूप भावसंसार पर्यायका अभाव होकर, परमार्थस्वरूप मुक्त अवस्था प्राप्त होती है, इसका निर्देश करता है। चार अनुयोगद्वारोंका यह संक्षिप्त स्वरूप निर्देश है।

इन अनुयोगद्वारोंमें प्रमुखतासे सब विषयोंको निक्षेप विधिमें बाँधकर नयदृष्टिसे विवेचन किया जाता रहा है। यह पुरानी परिपाटी है। षट्खंडागम और कषायप्राभृतका विवेचन इस दृष्टिसे तो हुआ ही है, आचार्य श्री कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें भी हमें इस परिपाटीके दर्शन होते हैं। यद्यपि उत्तरकालीन जिनागम इसी दृष्टिसे लिखा गया है, पर ग्रन्थ रचनाके प्रारम्भमें उसका स्पष्ट उल्लेख न किये जानेसे वाचकोंकी दृष्टिमें उलझन पैदा होती रहती है। इस परिपाटीमें यह सर्वप्रथम स्पष्ट कर दिया जाता था कि प्रकृतमें विषय विवेचन किस निक्षेपके अन्तर्गत, किस नयसे किया जा रहा है। इससे स्वाध्याय करनेवाले नय और निक्षेप विधिको समझकर ही उसका स्वाध्याय करते थे।

नय और प्रमाण, जाननेके प्रकार हैं। उनमें भी यथावस्थित विषयको समग्रभावसे जानना प्रमाण ज्ञान है। एकदेशरूपसे विषयको जानना नयज्ञान है। नयज्ञान सब प्रकारकी बाह्य-आभ्यन्तर प्रवृत्तिका मूल आधार भी है। जैसे शरीरके नीरोग होनेपर कोई कहता है कि मैं नीरोग हूँ। यहाँ अस्तित्व सादृश्य सामान्यकी अपेक्षा, शरीर और जीवमें एकत्व स्थापित कर, नयदृष्टिसे यह कहा गया है कि मैं नीरोग हूँ। अथवा यह कहना कि मैं रागी नहीं हूँ। यहाँ पर अपने त्रैकालिक मूल स्वभाव-

को लक्ष्यमें लेनेपर, नयदृष्टिसे यह स्वीकार किया गया है कि मैं रागी नहीं हूँ, उससे अत्यन्त भिन्न हूँ। श्री समयसार परमागममें नैगमादि सात नयोंके स्थान पर निश्चयनय और व्यवहारनयकी अपेक्षा इसी दृष्टिसे प्ररूपणा की गई है। यहाँ पर हम अपेक्षा भेदसे इन दोनों नयोंके कितने भेद-प्रभेद हो सकते हैं, इसका विस्तृत ऊहापोह नहीं करेंगे। प्रकृतमें उनकी प्ररूपणा करना प्रयोजनीय भी नहीं है। यहाँ तो मात्र व्यवहारनयको गौण करनेपर ही निश्चयनयकी मुख्यतासे जीवनमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि होती है, यह दिखलाना मुख्य है।

जैनदर्शन एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें स्वरूप सत्ताकी अपेक्षा अत्यन्ताभाव स्वीकार कर, समस्त जड़-चेतन द्रव्योंकी अस्खलित स्वतन्त्रता स्वीकार करता है। जिसे पुद्गल-पुद्गलोंकी तथा जीव पुद्गलोंकी वन्ध अवस्था कहा जाता है, उसमें भी उसका लोप नहीं होता। वस्तुका वस्तुत्व क्या है इसका ख्यापन करते हुए जिनागम कहता है कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूपको ग्रहण कर रहना, और अपनेमें अन्यको प्रविष्ट न होने देना यही वस्तुका वस्तुत्व है। मोक्षमार्गीको इस तथ्यको समझकर ही निश्चयनयको मुख्य कर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होनेका उपक्रम करनेका विधान किया गया है। पराश्रित जीवन अनादि कालसे चला आ रहा है। उसका पक्ष लेनेसे स्वात्मलाभ होना सम्भव नहीं है।

एक पुद्गल दूसरे पुद्गलसे श्लेषवन्धको क्यों प्राप्त होता है, इसकी हम यहाँ चर्चा नहीं करेंगे। यहाँ तो जीवकी अपेक्षा विचार करना है। उपयोग स्वभाववाला यह जीव परसे भिन्न अपने सहज स्वभावको भूलकर, तथा परमें एकत्व बुद्धि करके, अपने योग और राग-द्वेषरूप परिणतिके कारण परसे एक क्षेत्रावगाहरूप वन्धको प्राप्त होकर, स्वयं वन्धरूप रागादि अवस्थाको अपने स्वरूपपनेसे अनुभवता आ रहा है। यदि उसे इस रागादिरूप अवस्थासे मुक्त होकर अपने अकेलेपन स्वरूप स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त करना है, तो विवेकपूर्ण दृष्टिके साथ उसकी स्वसहाय स्वयंकी प्रवृत्ति क्या होनी चाहिये, इसका मुख्य रूपसे विवेचन द्रव्यानुयोगके प्रमुख ग्रन्थ श्री समयसारमें किया गया है। समयसार उसका प्रमुख ग्रन्थ है, इसलिये उसका व्याख्यान और मनन इसी दृष्टिसे किया जाना आवश्यक है। यह एकान्त नहीं है, किन्तु इस प्रयोजनको ध्यानमें रखकर सम्यक् नयका स्वीकार है, क्योंकि समग्र मोक्षमार्ग नयदृष्टिका फलित रूप है। चरणानुयोगके अनुसार की गई जिस प्रवृत्तिको व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं वह भी तो नयदृष्टि पर ही आधारित है। दोनोंकी प्राप्ति युगपत् होती है यह परमागमका कथन अवश्य है। उसमें भी जो निश्चय मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है उसीके व्यवहार मोक्षमार्ग होता है, यह भी परमागम स्वीकार करता है। फिर भी एक स्वाश्रय परिणति है और दूसरी पराश्रयरूप, इसलिये इनकी प्रवृत्तिमें क्रम वन जाता है। जव अपने उपयोग स्वभावके द्वारा आत्मा स्वमें लीनता करता है तभी स्वाश्रय मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि होती है। जव यह आत्मा देवादिकी भक्ति तथा व्रताचरणकी ओर मुड़ता है तव पराश्रय परिणति होती है। उस अवस्था

में भी वह 'स्व' को भूलता नहीं, इसलिये अबुद्धि पूर्वक स्वाश्रय पर्यायकी उपस्थिति बनी रहती है और दशवें गुणस्थान तक पराश्रय परिणतिके बीजरूप रागकी भी सत्ता बनी रहती है। इसीलिये आगममें व्यवहारनयको पराश्रित और निश्चयनयको स्वाश्रित कहकर पराश्रय परिणति और उसके बीजरूप प्रशस्त रागको भी हेय कहा है।

यतः पराश्रित परिणति, यथासम्भव निश्चय मोक्षमार्गकी सहचर होकर भी, वह जीवकी स्वाश्रय पर्यायके उत्पन्न करनेमें स्वरूपसे असमर्थ है, इसलिये इस दृष्टिसे व्यवहारनयके विषयको अभूतार्थ कहकर, उसके निषेधपूर्वक स्वाश्रितपनेको बतलानेवाले निश्चयनयके विषयको ही भूतार्थ कहा गया है। प्रकृतमें भूत-अर्थ क्या है इसका विवेचन करते हुए आचार्य कहते हैं कि अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही भूतार्थ है। मोक्षप्राप्तिके इच्छुकके लिये ध्येयकी दृष्टिसे यही भूतार्थ है, क्योंकि देवादि पर हैं, उनको ध्येय बनानेसे स्वभावभूत आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये वे यह भी कहते हैं कि जो उक्त आत्मानुभव रूप अनुभूति है वही शुद्धनय है। विषय-विषयीके अभेदसे वह आत्मा ही है और कर्ता-कर्ममें अभेद होनेसे वही सम्यग्दर्शन है। विचार कर देखा जाय तो वही सम्यग्ज्ञान और वही सम्यक्चारित्र है। प्रयोजनकी दृष्टिसे वही जिनशासन है, क्योंकि कोई भी जीव उक्तस्वरूप आत्मामें तन्मयता प्राप्त करके ही क्रमशः पूर्णरूपसे परमार्थका भागी होता है। इस दृष्टिसे अन्य सब बाह्य क्रिया अकिंचित्कर है। जो उसका पक्ष लेता है वह उक्त अवस्थाका भागी नहीं होता यह उक्त कथनका तात्पर्य है। उसका होना और बात है और उसका पक्ष लेना और बात है। सविकल्प अवस्थामें वह होता अवश्य है, परन्तु ज्ञानी जीव उसके होनेको अपने पुरुषार्थकी कमी ही मानता है, इसलिये उसका पक्ष ग्रहण नहीं करता।

जहाँ व्यवहारनयके समान निश्चयनयके पक्षको छोड़नेकी बात कही गई है वहाँ दोनों प्रकारके विकल्पोंके छोड़नेका ही विधान किया गया है, क्योंकि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ ऐसा विकल्प करनेवाला भी पक्षपाती है। पक्षातीत होना चाहिए इसका अर्थ यह है कि जब मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ ऐसा विकल्प छूटकर यह जीव स्वरूपगुप्त होता है तभी पक्षातीत कहलाता है। पक्षातीत कहो, शुद्धनय कहो, या मध्यस्थ कहो, इन तीनोंका एक ही अर्थ है। अतएव मोक्षमार्गमें करणीय तो केवल स्वरूपस्थिति ही है, अन्य हेय है ऐसा समझना चाहिये। फिर भी पहले शुभाचारका विकल्प छूटता है। उसके बाद मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, यह विकल्प छूटकर यह जीव निर्विकल्प हो जाता है। स्वभावप्राप्तिका एकमात्र यही मार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें जो निश्चय मोक्षमार्गकी प्ररूपणा की है उसे ही आचार्य अमृतचन्द्र देवने आत्मख्याति टीकामें स्पष्ट किया है, तथा साररूपमें उसपर कलशकाव्य लिखा है। इसीकी विस्तृत टीका श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने लिखी है। टीकाको सरस बनानेके लिए उन्होंने इसमें अनेक उपयोगी

उदाहरण देकर शंका-समाधानकी भी योजना की है। पण्डित जी सहृदय और सरस वक्ता हैं। उनका यह गुण इस टीकामें भी दृष्टिगोचर होता है। वे युवाकालसे ही व्रती श्रावकपदको अलंकृत कर रहे हैं। अब तो वे सातवीं प्रतिमाके व्रतोंका निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। यद्यपि समयसार-कलश, स्वाश्रित अध्यात्म जीवनका स्पष्टीकरण करता है, उसमें पराश्रित मार्गका हेयरूपमें ही ख्यापन हुआ है। इसलिये निश्चयनयकी अपेक्षा प्ररूपणा करते समय व्यवहारका निषेध ही किया जाता है। यह जानते हुए भी पण्डितजीने अपनी यह टीका अध्यात्मके साथ सविकल्प अवस्थामें उसके सहचर सम्बन्धवश निमित्त रूपसे कैसा व्यवहार होता है यह बतलानेके लिए लिखी है। पाठकजन इसी दृष्टिसे इसका स्वाध्याय करें यह उनकी अपेक्षा है।

—फूलचन्द्र शास्त्री

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

एक दिशा-बोध

"अध्यात्म अमृतकलश"की दूसरी आवृत्ति जैन संसारके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए परम प्रसन्नताका अनुभव हो रहा है। मुझे ऐसी आशा नहीं थी कि इस अध्यात्म ग्रन्थका इतना समादर होगा और यह प्रथम संस्करण एक वर्षके भीतर ही समाप्त हो जावेगा। स्वाध्याय-प्रेमी जिज्ञासु बन्धुओंकी चारों ओरसे माँग आनेके कारण और उसमें निरन्तर वृद्धि होनेसे दूसरा संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित करनेका प्रोत्साहन मिला है।

अध्येता बन्धुओंको यह जानकर हर्ष होगा कि इस नवीन संस्करणमें यथोचित् संशोधन व परिवर्द्धन किया गया है। जो कुछ नये प्रश्न उठे उनका भी इसमें समाधान है। आशा है तत्त्वके जिज्ञासुओंको इसके स्वाध्यायसे आत्मसंतोष ही नहीं किन्तु वस्तु विश्लेषणकी विशेषतासे मनमें उठते हुए प्रश्नोंका भी उसमें उन्हें उचित समाधान प्राप्त होगा।

मेरे अन्तरङ्गमें सदासे ही एक भावना उठती रही है कि जैन वाङ्मयका उद्धार कार्य अपने जिनमन्दिरोंके द्रव्यके माध्यमसे क्यों न प्रारम्भ किया जावे। जिन-मन्दिरोंके आवश्यकतासे अधिक द्रव्यको, सम्पत्तिके रूपमें रखनेकी अपेक्षा उसका विनियोजन जिनवाणीके उद्धार, प्रकाश व प्रचारमें करना उचित है।

सांसारिक जीवनमें देव-शास्त्र-गुरु तीनोंकी, पूजा, अर्चना, वन्दना जैनगृहस्थका प्राथमिक कर्त्तव्य है। किन्तु आजकल जिन-मन्दिरोंमें केवल देवदर्शन पूजन व अभिषेक तक ही कर्त्तव्य सीमित हो गया है। जिन-प्रणीत शास्त्रोंके स्वाध्याय, अध्ययन, अनुशीलनके प्रति उदासीनताके स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसका परिणाम यह है कि हमारे प्राचीन जैनग्रन्थ वहुल मात्रामें शास्त्रभण्डारों मन्दिरोंमें अभी भी अप्रकाशित अवस्थामें जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं। इस उपेक्षाका परिणाम चिन्ताजनक है। इनमें बहुत महत्वपूर्ण शास्त्र तो विदेशोंमें चले गये और जो बचे हैं, उनकी साज सम्हाल न होनेसे भारतमें ही नष्ट हो रहे हैं। यदि जिनवाणी सुरक्षित रहेगी तो जैन-संस्कृति भी सुरक्षित रहेगी। अन्यथा कालचक्रके प्रवाहमें वह भी विनष्ट हो जावेगी।

यद्यपि अष्टकर्म रहित सिद्ध परमात्मा सर्वोत्कृष्ट पद पर अवस्थित हैं तथापि णमोकारमंत्रमें केवल चार घातिया कर्मोंका नाश करनेवाले अरहंत परमेष्ठीका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है—इसका कारण यह माना गया है कि हम संसारी प्राणियोंको उन्हींसे धर्मका उपदेश प्राप्त होता है। इस कृतज्ञतावश उनका नाम पहले स्मरण करनेमें कोई बाधा नहीं मानी जाती, प्रत्युत उसे समुचित ही माना गया है। इसी प्रकार अरहंतादिक देवोंका स्वरूप तथा गुरुका स्वरूप, आत्महितकी सम्पूर्ण प्रक्रियासे, हमें जिनवाणीके द्वारा ही प्राप्त होती है। ऐसी स्थितिमें हमें जिनवाणीका अधिक-से-

अधिक समादर करना चाहिये। किन्तु वर्तमान स्थितिमें हम देव और गुरुको तो आदर देते हैं—किन्तु जिनवाणीका आदर व स्थान हमारी दृष्टिमें गौण हो गया है।

आत्मधर्म ही संसारी प्राणीके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करता है। जहाँ हमारा कर्त्तव्य अपने जिनमन्दिरोंकी रक्षाका है वहाँ अपने जिनप्रणीत ग्रन्थोंकी सुरक्षा भी हमारा दायित्व है। जैनआगमको जिनेन्द्रदेवकी तथा जिनमन्दिरकी समानताकी कोटिमें ही लेना चाहिए। जिनवाणी ही हमारी धर्म व संस्कृतिकी रक्षाकी नींवके पाषाण हैं। इसे भी हमारे जीवनमें प्राथमिकता मिलना चाहिए।

वर्तमानमें हमारी दृष्टि जिनमन्दिरके द्रव्योंको केवलमन्दिरके निर्माण, टाइल व काँच जड़वाने, मन्दिरकी आयके साधन बढ़ानेके लिये दूकानों, फ्लेटों, या भवन बनाने तक ही प्रतिबद्ध हो गई है। पर यह हमारी भूलमें भूल है। जिनवाणीकी रक्षाका भी उतना ही महत्व है जितना कि जिनमन्दिरका। मात्र ईंट, चूना, पत्थरमें जिनालयोंकी द्रव्य व्यय करना हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिये। बल्कि हमें अपने दृष्टिकोणमें परिवर्तनकर जिनवाणीके उद्धारकी दिशामें भी मनन, चिन्तन करना चाहिये।

इसी दृष्टिको अपनाकर मैंने अपने पूर्वजों द्वारा निर्मापित श्री चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिरकी ओरसे पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य प्रणीत कलशों तथा उस पर श्री पंडित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्रीकी टीकाको, जिसमें वर्तमानमें उठ रहे प्रश्नोंके आगम सम्मत, विधिविहित समाधान हैं, उस "अध्यात्म-अमृत-कलश" नामक ग्रन्थका प्रकाशन किया है। इससे अधिक-से-अधिक बन्धु लाभ ले सकेंगे तथा इस ग्रन्थके पठन-पाठनसे आत्मार्थियोंको आगम सम्मत यथार्थ दिशाबोध होगा ऐसी मुझे आशा है।

इसी शृंखलामें वर्तमान युगके मान्य आचार्य श्री १०८ कुन्थुसागरजी द्वारा संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ "श्रावक धर्म प्रदीप" का द्वितीय संस्करण जो उक्त पंडितजीकी संस्कृत टीका तथा हिन्दी टीका सहित है, प्रकाशित हो गया है। इसका प्रकाशन श्री वर्णी शोध संस्थान द्वारा हुआ है। यह ग्रंथ भी हमारे मन्दिरसे भी पाठकोंको प्राप्त हो सकेगा।

आशा है हमारे जैनमन्दिरोंके ट्रष्टीगण, प्रबन्धक व जैनसमाजके बन्धुगण, मेरी इस योजनाको अपना कर जिनवाणीके उद्धारमें महत्त्वपूर्ण योगदानकर जैनधर्मकी महती सेवा करेंगे। तभी हम "देव-शास्त्र-गुरु"की समान रूपसे पूजा उपासना, अर्चनाके सही अधिकारी होंगे। वर्तमानमें संसारी प्राणीके स्व-पर कल्याणका यही मार्ग उपादेय है।

"जैनं जयतु शासनम्"

महावीर कीर्तिस्तम्भ,
नेहरू पार्क,
कटनी (म० प्र०)

विनयावनत—
धन्यकुमार जैन

प्रस्तावना

अध्यात्मग्रन्थोंमें पूज्य आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थ सर्वोपरि माने जाते हैं। समयसार इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें "एकत्व-विभक्त" अर्थात् परसे सर्वथा भिन्न—अपने निजके गुणपर्याय समवेत-एकत्वको प्राप्त—सुविशुद्ध आत्माकी ही कथा वर्णित है। इसे ही "स्वसमय" के नामसे कहा गया है। आत्माके परिशुद्ध स्वरूपको केन्द्र बनाकर ही सम्पूर्ण वर्णन ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है—इसी एक वार्ताका ही विस्तार है।

आचार्य कुन्दकुन्दके श्री समयसार-नियमसार-पञ्चास्तिकाय-प्रवचनसार, अष्टपाहुड आदि सभी ग्रन्थ इस मूल उद्‍देश्यकी ही पूर्ति करते हैं। आचार्यश्री इस युगमें भगवान् महावीर तीर्थङ्करके बादकी आचार्य परम्परामें अपने समयके महनीय आचार्य हुए हैं जिनकी ज्ञानगरिमाको बादके समस्त आचार्योंने मान्यता दी है।

श्री समयसारजी पर पूज्य आचार्य अमृतचन्द्रजीने संस्कृत भाषामें प्रौढ़ रचना की है, तथा टीकाके फलितार्थ स्वरूप अनेक छन्दोंमें उसका नवनीत निकाल कर रख दिया है। इन छन्दोंकी प्रसिद्धि भी अमृत कलशोंके रूपमें अध्यात्मके अध्येताओंमें है। प्रकारान्तरसे कहा जाय तो अमृतचन्द्राचार्यकी टीका यदि अध्यात्मरसका सागर है तो छन्द उस रसामृतके कलश (घट) हैं।

एक जैनेतर कथाके अनुसार सुर-असुरोंने मेरुपर्वतको मथानी बनाकर शेषनागकी रस्सी बनाकर समुद्रके मन्थनसे १४ रत्न उपलब्ध किये थे, जिनमें 'अमृत' भी एक था। आचार्य अमृतचन्द्रने स्याद्वाद नयोंके द्वारा सञ्चालित प्रमाण ज्ञानसे श्रुतसागरका मन्थनकर जो अध्यात्म रूपी अमृत प्राप्त किया है, उसे टीकाके साथ निबद्ध छन्दोंमें भर दिया है इसीसे इनका 'अध्यात्म-कलश" नाम सार्थक है।

इस अमृतकलशमें २७८ छन्द हैं। इसमें अनुष्टुप्, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित, उपजाति, वसन्ततिलका, पृथ्वी, आर्या, स्वगता, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, नर्दटक, वंशस्थ, वियोगिनी आदि वृत्तोंका उपयोग आचार्यश्रीने किया है। इन कलशोंमें छन्दोंमें न्याय-व्याकरण-साहित्यकी अनुपम विद्वत्ताकी छटा यत्र तत्र सर्वत्र दिखाई देती है।

अमृतचन्द्राचार्यके अन्य ग्रन्थ भी हैं। इनमें लघुतत्त्वस्फोट ग्रन्थ २५-२५ श्लोकोंके २५ अध्यायोंमें निबद्ध है अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। शीघ्र ही प्रकाशित होगा जिस प्रकार इस अमृत कलशमें आचार्यने अध्यात्मको ही रत्नत्रय स्वरूपता प्रदान की है इसी प्रकार उक्त ग्रन्थमें व्यवहार चारित्रके परिपालनपर भी उतना ही जोर दिया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तो श्रावकाचारका एक अनुपम ग्रन्थ आचार्य श्रीका है।

तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रार्थको अनुबद्ध करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कृत ग्रन्थ है।

पञ्चाध्यायी ग्रन्थमें ग्रन्थकर्त्ताके नामका उल्लेख नहीं है। यह श्री राजमल्ल-जीकी कृति मानी जा रही है। परन्तु हिन्दी टीकाकार पं० मक्खनलालजीने इसे भी अमृतचन्द्राचार्यकृत माना है। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र भी आचार्य कुन्दकुन्दके गूढ़ रहस्योंके खोलनेवाले उनकी कोटिके ही आचार्य हैं ऐसा उनकी कृतियोंसे सिद्ध है।

अमृतकलशोंकी श्री राजमल्लजी कृत हिन्दी टीका जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़से सन् १९६४ और १९६६ में दो वार प्रकाशित हो चुकी है। इस टीकाको आधुनिक हिन्दी रूप देनेका कार्य श्रीमान् सिद्धान्तशास्त्री पं० फूलचन्द्रजी वाराणसीने किया है। समयसारके भाषा टीकाकार पं० जयचन्दजी छावड़ाने भी अपनी टीकाके साथ कलशोंकी टीकाकी है। पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीने भी अपने समयसार प्रवचनमें इन कलशोंकी भी टीका लिखी है। पूज्य शुभचन्द्राचार्य कृत अध्यात्म तर-ङ्गिणी भी इन कलशोंकी ही सांगोपाङ्ग संस्कृत टीका है।

मुझे अध्यात्म ग्रन्थोंके स्वाध्यायका रस है। मेरे पूज्य पिता श्री ब्र० गोकुल-प्रसाद भी आत्मख्याति टीका व नाटक समयसारका अपने जीवनमें स्वाध्याय करते रहे। पूज्य पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी मेरे विद्या गुरु थे, वे समयसारके प्रख्यात स्वाध्यायी थे, जीवनके ६०-७० वर्ष उन्होंने उस ग्रन्थराजकी अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकाके पारायणमें लगाये हैं। उनके पास भी मुझे सदा श्रवण और मनन करनेका सुयोग मिलता था, तथा स० सि० धन्यकुमारजीके पितृव्य श्री स० सि० रतनचन्दजी भी नाटक समयसारके मर्मी थे। मेरा वाल्यकाल उनकी ही गोदमें व्यतीत हुआ है, अतः मेरे अध्यात्मज्ञानप्रियताके स्रोत उक्त तीन महापुरुष थे।

गत तीन दशकसे श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ने इस युगको एक अध्यात्म चर्चाका युग ही बना दिया। उनमें जो अपूर्व और उल्लेखनीय परिवर्तन दिगम्बर जैन धर्मकी स्वीकारता रूपमें हुआ, उसमें मूल हेतु समयसारजीका स्वाध्याय ही है। सोनगढ़में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन श्री पं० कैलाश-चन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीके सभापतित्व में सं० २००५ में हुआ था। उसमें मुझे भी जानेका सुअवसर मिला और स्वामीजीको निकटसे जानने व पहिचाननेका भी अवसर मिला।

कानजीस्वामीकी अध्यात्म प्ररूपणाने भी मेरे हृदय पर एक अमिट छाप डाली और मेरी आध्यात्मिक रुचि वलवती हुई, अतः मैंने भी श्री कुंदकुंद स्वामीके ग्रन्थोंका अनेक वार पारायण किया। पूज्य गुरुवर्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीद्वारा अपने जीवन-कालमें लिखे गये समयसार प्रवचनोंके प्रकाशनके समय, जो उनके जीवनकालके वाद हुआ, काशीके विद्वानोंने मुझे उसके सम्पादक श्री प० पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरके साथ, ग्रन्थको देख लेनेका सुअवसर प्रदान किया। मेरी शिक्षा काशीमें पूज्य

वर्णीजीके पास तथा मोरेनामें पूज्य पं० वंशीधरजी न्यायलंकार तथा पञ्चाध्यायीके भाषा टीकाकार पूज्य पं० देवकीनन्दनजी वाणीभूषण सिद्धान्तशास्त्रीके पास हुई थी। मुझमें शास्त्र ज्ञानमें प्रवेश करानेका श्रेय उक्त गुरुजनोंको है।

श्री नीरजजी जैन सतना सर्वतोमुखी प्रतिभाके धनी विद्वान् हैं। साहित्यिक हैं, कविश्रेष्ट हैं तथा सामाजिक अनेक संस्थाओंके प्रमुख कार्यकर्त्ता हैं। पुरातत्त्व विषयके वे M. A. तो हैं ही पर उस कलाके मर्मज्ञ सुप्रसिद्ध कलाविद् भी हैं। इन्होंने बाल अवस्थामें कुछ समय मेरे पास विद्याध्ययन किया था तथा स्नेह पाया था अतः मुझे उनसे सदा गुरुत्वका आदर प्राप्त रहा है, उनकी मुझे अत्यन्त प्रेरणा थी कि मैं अमृतकलशों पर टीका लिखूँ।

अनेक टीकाओंके रहते हुए पुनः टीका लिखना मेरे लिए सुगममार्ग था, पर पिष्ट पेषण न्यायसे उसकी कोई उपयोगिता नहीं है यह विचार कर अनेक वर्ष मैंने उनके आग्रहको टाला पर नीरजजीका आग्रह फिर भी बना रहा। इसी समय इन्दौर महानगरीके प्रमुख तथा जैन समाजके प्रख्यात नेता श्रीमान् सेठ राजकुमार सिंहजीने पर्यूषण पर्वमें मुझे इन्दौर आनेका आमंत्रण दिया। उनके सस्नेह आमंत्रण पर मैं पर्वमें इन्दौर गया। वहाँ प्रातःकाल शक्कर बाजारके मन्दिरजीमें समयसार वाचनके समय स्वाध्याय प्रेमियोंकी अनेक लिखित शंकाएँ आती थीं और दूसरे दिन मैं उनका समाधान करता था। इस प्रक्रियासे बहुत लाभ हुआ और श्रीमान् सेठ सा० ने मुझसे कहा कि अग्रिम वर्ष भी पर्यूषणमें यहाँ आइये, जनताका आग्रह है। मैंने उसे स्वीकार किया और गया। दूसरे वर्ष भी प्रश्नोत्तरोंकी प्रक्रिया चालू रही।

स्वाध्यायी भाइयोंका आग्रह था कि इन प्रश्नोंके साथ इनका समाधान आप अपने जनप्रिय पत्र जैन संदेशमें छापकर इन्हें स्थायित्व प्रदान करें। मैंने स्वीकारता तो दे दी पर वैसा कर न सका, मनमें यह बात खटकती रही। एक विचार आया कि अमृत कलशोंकी टीका लिखी जाय और यथायोग्य स्थान पर इन प्रश्नोंको उठाकर उनके उत्तर छाप दिये जांय तो इन्दौरकी जनतासे किया वादा भी पूरा हो जायगा और नीरजजीके आग्रह की भी पूर्ति हो जायगी। ऐसी टीका बननेसे पिष्ट पेषण भी न होगा और ग्रन्थकी उपयोगिता बढ़ जायगी। यह मानकर ही मैंने कलश टीका लिखनेका यह प्रयास किया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ अमृतकलश-अध्यात्म ग्रन्थ है, अतः इसमें दिये गये सभी प्रश्नोत्तर अध्यात्म दृष्टिसे ही दिये जाने चाहिये थे, तथापि सामान्यजनके हितको ध्यानमें रखकर कहीं उत्तर अध्यात्म दृष्टिसे दिये गये हैं और कहीं आगम दृष्टिसे दिये गये हैं। दोनों दृष्टियोंमें विरोध नहीं है, सामञ्जस्य है। वह किसप्रकार है इसे स्पष्ट करनेका मैंने शक्ति भर पूरा प्रयत्न किया है। यह संभव है कि मात्र अध्यात्म दृष्टिसे विचार करनेपर कतिपय उत्तर पाठक को सही प्रतीत न हों, इसी प्रकार मात्र आगम दृष्टिसे विचार करनेपर भी इसके उत्तर सही प्रतीत न हों पर यह मानकर चलना

तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रार्थको अनुबद्ध करते हुए श्री अमृतचन्द्र स्वामी कृत ग्रन्थ है।

पञ्चाध्यायी ग्रन्थमें ग्रन्थकर्त्ताके नामका उल्लेख नहीं है। यह श्री राजमल्ल-जीकी कृति मानी जा रही है। परन्तु हिन्दी टीकाकार पं० मक्खनलालजीने इसे भी अमृतचन्द्राचार्यकृत माना है। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र भी आचार्य कुन्दकुन्दके गूढ़ रहस्योंके खोलनेवाले उनकी कोटिके ही आचार्य हैं ऐसा उनकी कृतियोंसे सिद्ध है।

अमृतकलशोंकी श्री राजमल्लजी कृत हिन्दी टीका जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़से सन् १९६४ और १९६६ में दो बार प्रकाशित हो चुकी है। इस टीकाको आधुनिक हिन्दी रूप देनेका कार्य श्रीमान् सिद्धान्तशास्त्री पं० फूलचन्द्रजी वाराणसीने किया है। समयसारके भाषा टीकाकार पं० जयचन्दजी छावड़ाने भी अपनी टीकाके साथ कलशोंकी टीकाकी है। पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीने भी अपने समयसार प्रवचनमें इन कलशोंकी भी टीका लिखी है। पूज्य शुभचन्द्राचार्य कृत अध्यात्म तर-ङ्गिणी भी इन कलशोंकी ही सांगोपाङ्ग संस्कृत टीका है।

मुझे अध्यात्म ग्रन्थोंके स्वाध्यायका रस है। मेरे पूज्य पिता श्री ब्र० गोकुल-प्रसाद भी आत्मख्याति टीका व नाटक समयसारका अपने जीवनमें स्वाध्याय करते रहे। पूज्य पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी मेरे विद्या गुरु थे, वे समयसारके प्रख्यात स्वाध्यायी थे, जीवनके ६०-७० वर्ष उन्होंने उस ग्रन्थराजकी अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकाके पारायणमें लगाये हैं। उनके पास भी मुझे सदा श्रवण और मनन करनेका सुयोग मिलता था, तथा स० सि० धन्यकुमारजीके पितृव्य श्री स० सि० रतनचन्दजी भी नाटक समयसारके मर्मी थे। मेरा बाल्यकाल उनकी ही गोदमें व्यतीत हुआ है, अतः मेरे अध्यात्मज्ञानप्रियताके स्रोत उक्त तीन महापुरुष थे।

गत तीन दशकसे श्री कानजी स्वामी सोनगढ़ने इस युगको एक अध्यात्म चर्चाका युग ही बना दिया। उनमें जो अपूर्व और उल्लेखनीय परिवर्तन दिगम्बर जैन धर्मकी स्वीकारता रूपमें हुआ, उसमें मूल हेतु समयसारजीका स्वाध्याय ही है। सोनगढ़में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन श्री पं० कैलाश चन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीके सभापतित्व में सं० २००५ में हुआ था। उ मुझे भी जानेका सुअवसर मिला और स्वामीजीको निकटसे जानने व पहिचान भी अवसर मिला।

कानजीस्वामीकी अध्यात्म प्ररूपणाने भी मेरे हृदय पर एक अमिट छा और मेरी आध्यात्मिक रुचि बलवती हुई; अतः मैंने भी श्री कुंदकुंद स्वामीके अनेक बार पारायण किया। पूज्य गुरुवर्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीद्वारा अ कालमें लिखे गये समयसार प्रवचनोंके प्रकाशनके समय, जो उनके जीवन हुआ, काशीके विद्वानोंने मुझे उसके सम्पादक श्री प० पन्नालालजी सागरके साथ, ग्रन्थको देख लेनेका सुअवसर प्रदान किया। मेरी शिक्ष

सर्वथा भिन्न हैं। पर्याय होनेसे द्रव्यसे भिन्न ही हैं, अतः पर्यायकी अशुद्धतासे मेरी कोई हानि नहीं है। मैं तो वर्तमानमें भी शुद्ध-बुद्ध हूँ अतः मुझे व्रत-चारित्रकी क्या आवश्यकता है ? आत्मा चेतन द्रव्य है। खाना-पीना भोगना तो शरीरकी क्रिया है उससे हमें कर्मबंध क्यों होगा, कैसे होगा ?

उक्त कथन समझकी भूल है। अभिप्रायको ठीक न समझनेसे ऐसी भूल होती है। द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध यह कथन यद्यपि सही है, तथापि द्रव्य-पर्यायमें स्वरूप भेद दृष्टिकी अपेक्षा ऐसा कथन किया जाता है। वस्तुतः द्रव्य पर्यायमें सत्ता भेद नहीं है। द्रव्यकी ही तो पर्याय है। द्रव्य तो परिणमनशील स्वभाव है। द्रव्य ही पर्यायका कर्ता और उसका भोक्ता है। अतः पर्यायकी अशुद्धि जीवकी ही अशुद्धि है। उस अशुद्धिसे ही कर्मबंध होता है। शरीरमें मृत दशामें खाने-पीने भोगनेकी क्रिया नहीं देखी जाती, जीवित दशामें देखी जाती है। वह क्रिया आत्माके रागादि पूर्वक ही होती है और आत्माकी रागादि क्रिया ही आत्माके बँधनेका कारण है। अतः आत्माकी विशुद्धिके लिए व्रत चारित्र आवश्यक है। इस विषयका स्पष्टीकरण कलश ग्यारहकी टीकामें विस्तारसे किया गया है।

समयसारजीकी १७४ गाथामें सम्यग्दृष्टिको अबंधक और निरास्रव लिखा है पर सम्यग्दृष्टि तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी है, तो क्या चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आस्रव बंध नहीं होता ? यह एक प्रश्न भी सामने खड़ा होता है, और इस आधार पर अनेक भ्रान्तजन, अपनी भ्रान्त अव्रती दशामें भी अपनेको सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मानकर, अपनेको कर्म बंधन रहित मान लेते हैं। यह भ्रान्त धारणा है। यद्यपि अव्रत सम्यग्दृष्टि भी ज्ञानी है, अज्ञानी नहीं है, उसे अनन्तानुबंधी कषायोंके मोह और मिथ्यात्व के अभावमें, अनंत संसारके कारणभूत आस्रव बंध नहीं होते। जो भी कर्मास्रव है व बंध है वह **मिथ्यात्व गुणस्थानकी अपेक्षा अत्यल्प** है, **अतः अबंधक कहा है, तथापि** वह सर्वथा अबंधक नहीं है।

पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी तथा श्री १०८ उपाध्याय विद्यानंदिजीने भी ग्रन्थकी प्रथामवृत्तिको देख लेनेकी कृपा की है तथा आवश्यक निर्देश भी दिये हैं। उनके इस अनुग्रहके लिये मैं उनकी महती कृपा मानता हूँ। प्रसिद्ध सिद्धान्तवेत्ता, समाजके सर्वोपरि शिक्षक, लेखक-सम्पादक व टीकाकार विद्वान्, पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीने इस ग्रन्थका सम्पादन व संशोधन करनेकी कृपा की है, तथा अपना प्राक्कथन भी लिखा है। उनकी दृष्टिसे ग्रन्थ गुजर जानेसे भी मैं आश्वस्त हूँ। उन्होंने जो भी श्रम किया, उसके लिये मैं उनका बहुत बड़ा उपकार मानता हूँ। इसी प्रकार सिद्धान्तशास्त्री-अध्यात्मवेत्ता-अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोंके अनुवादक पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीने भी इसे अवलोकन करने की और दो शब्द लिखनेकी कृपा की है, इसके लिये उनका भी विनम्रता पूर्वक आभार मानता हूँ। मेरे परमस्नेही श्रीमान् ब्र० माणिकचन्दजी चवरे कारंजाने पूर्ण ग्रन्थ वाचन कर अपने उपयोगी सुझाव दिये उनका मैं बहुत ऋणी हूँ और आभार मानता हूँ। श्री नीरजजीका भी

चाहिए कि दोनों दृष्टियोंमें वास्तविक विरोध नहीं है।

अध्यात्मशास्त्र शुद्ध और सीधा ही मोक्षमार्गका वर्णन करता है अतः शुद्धोपयोगको मोक्षमार्ग मानता है, शुभोपयोगको बंधमार्ग कहता है। शुभोपयोगको मोक्षमार्गमें कुछ भी स्थान नहीं देता। पर आगमिक दृष्टि मोक्षमार्गकी प्राप्तिके उपायोंपर जोर देती है, अतः शुभोपयोगी चारित्रको महत्व देती है, क्योंकि उसके पाये विना वीतरागी शुद्धोपयोगी चारित्र नहीं मिलता। न्यायशास्त्रके कार्यकारणभावके अनुसार, अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य, उत्तर पर्यायका उपादान कारण होता है, अतः शुद्धोपयोग रूप पर्यायका उपादान शुभोपयोग विशिष्ट पूर्व पर्यायगतद्रव्य ही होगा। अध्यात्म दृष्टि साक्षात् साधनको ही साधन मानती है, परम्परा साधनोंको साधन नहीं मानती, पर आगमिक दृष्टि साक्षात् साधनको साधन मानती हुई भी उस साक्षात् साधनकी प्राप्तिके उपायोंको भी परम्परासे मोक्षमार्गका साधन मानती है।

एक दृष्टि शुद्ध सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करती है, तो दूसरी दृष्टि सिद्धान्ततक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त करती है। इस दृष्टिको सदा सामने रखकर ही इसमें प्रश्नोत्तरोंका संग्रह है। इस समय समाजमें अध्यात्मकी चर्चा करनेवाले कुछ भ्रान्तजन यथार्थ अर्थको न ग्रहण कर अर्थका अनर्थ कर रहे हैं और इनसे क्वचित् अध्यात्मके प्रति अरुचि भी दिखाई जाती है।

अध्यात्म तो आत्माकी विशुद्धिका मार्ग है। आत्मा अनादिसे ही पर्याय विमूढ़ हो रहा है। उसे आत्मस्वरूपका अज्ञान है और यह अज्ञान ही उसकी दुरवस्थाका मूल कारण है। राग-द्वेष-मोह ही अज्ञान भाव हैं। इनके होने पर लोकमें विस्तारसे भरी हुई कार्मण वर्गणाएँ आकर जीवके साथ बंधको प्राप्त होती हैं। यद्यपि जीव निश्चय दृष्टिसे शुद्ध-वुद्ध है, बंध स्वरूप नहीं है, तो भी संसारी दशामें अशुद्धात्मामें, व्यवहार दृष्टिसे कर्मबंध तो समय-समय पर होता है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध तो कर्म वर्गणाओंके उक्त परिणमनोंसे संबंधित है, पर **आगत कर्मवर्गणाएँ जीव प्रदेशोंके साथ श्लेषात्मक संबंधको प्राप्त होती हैं यही प्रदेशबंध जीवका कहा जाता है। वे कर्मवर्गणाएँ कार्मण शरीरके रूपमें संबंधित होकर जीवके साथ अपनी स्थिति प्रमाण रहती हैं।** उदयकाल आने पर उनके निमित्तसे जीवमें राग-द्वेष मोह भाव उत्पन्न होते हैं यदि द्रव्यकर्मके साथ आत्माका संश्लेष संयोग न होता तो इनका भी जन्म न होता। संयोगी दशा में इनका जन्म होनेसे ही इन्हें संयोगज कहा जा सकता है।

"संयोगी" का अर्थ दोनों द्रव्योंको मिलाकर एक परणति रूप रागादि नहीं हैं। **रागादि तो अशुद्ध आत्मोपादान हैं**, कर्मोदय तो उनका निमित्त मात्र है। मलिनता तो आत्मामें होती है। स्वरूप दृष्टिसे वे आत्मस्वरूप नहीं हैं। कलश ११ में लिखा गया है कि "स्फुटमुपरितरन्तोप्येत्य यत्रप्रतिष्ठाम्" अर्थात् ये रागादि भाव ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं। इसका अभिप्राय न समझकर कुछ लोग ऐसा मान लेते हैं कि ये आत्मासे

सर्वथा भिन्न हैं। पर्याय होनेसे द्रव्यसे भिन्न ही हैं, अतः पर्यायकी अशुद्धतासे मेरी कोई हानि नहीं है। मैं तो वर्तमानमें भी शुद्ध-बुद्ध हूँ अतः मुझे व्रत-चारित्रकी क्या आवश्यकता है ? आत्मा चेतन द्रव्य है। खाना-पीना भोगना तो शरीरकी क्रिया है उससे हमें कर्मबंध क्यों होगा, कैसे होगा ?

उक्त कथन समझकी भूल है। अभिप्रायको ठीक न समझनेसे ऐसी भूल होती है। द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध यह कथन यद्यपि सही है, तथापि द्रव्य-पर्यायमें स्वरूप भेद दृष्टिकी अपेक्षा ऐसा कथन किया जाता है। वस्तुतः द्रव्य पर्यायमें सत्ता भेद नहीं है। द्रव्यकी ही तो पर्याय है। द्रव्य तो परिणमनशील स्वभाव है। द्रव्य ही पर्यायका कर्ता और उसका भोक्ता है। अतः पर्यायकी अशुद्धि जीवकी ही अशुद्धि है। उस अशुद्धिसे ही कर्मबंध होता है। शरीरमें मृत दशामें खाने-पीने भोगनेकी क्रिया नहीं देखी जाती, जीवित दशामें देखी जाती है। वह क्रिया आत्माके रागादि पूर्वक ही होती है और आत्माकी रागादि क्रिया ही आत्माके बँधनेका कारण है। अतः आत्माकी विशुद्धिके लिए व्रत चारित्र आवश्यक है। इस विषयका स्पष्टीकरण कलश ग्यारहकी टीकामें विस्तारसे किया गया है।

समयसारजीकी १७४ गाथामें सम्यग्दृष्टिको अबंधक और निरास्रव लिखा है पर सम्यग्दृष्टि तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी है, तो क्या चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आस्रव बंध नहीं होता ? यह एक प्रश्न भी सामने खड़ा होता है, और इस आधार पर अनेक भ्रान्तजन, अपनी भ्रान्त अव्रती दशामें भी अपनेको सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मानकर, अपनेको कर्म बंधन रहित मान लेते हैं। यह भ्रान्त धारणा है। यद्यपि अव्रत सम्यग्दृष्टि भी ज्ञानी है, अज्ञानी नहीं है, उसे अनन्तानुबंधी कषायोंके मोह और मिथ्यात्व के अभावमें, अनंत संसारके कारणभूत आस्रव बंध नहीं होते। जो भी कर्मास्रव है व बंध है वह **मिथ्यात्व गुणस्थानकी अपेक्षा अत्यल्प** है, **अतः अबंधक कहा है, तथापि** वह सर्वथा अबंधक नहीं है।

पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजी तथा श्री १०८ उपाध्याय विद्यानंदिजीने भी ग्रन्थकी प्रथामवृत्तिको देख लेनेकी कृपा की है तथा आवश्यक निर्देश भी दिये हैं। उनके इस अनुग्रहके लिये मैं उनकी महती कृपा मानता हूँ। प्रसिद्ध सिद्धान्तवेत्ता, समाजके सर्वोपरि शिक्षक, लेखक-सम्पादक व टीकाकार विद्वान्, पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीने इस ग्रन्थका सम्पादन व संशोधन करनेकी कृपा की है, तथा अपना प्राक्कथन भी लिखा है। उनकी दृष्टिसे ग्रन्थ गुजर जानेसे भी मैं आश्वस्त हूँ। उन्होंने जो भी श्रम किया, उसके लिये मैं उनका बहुत बड़ा उपकार मानता हूँ। इसी प्रकार सिद्धान्तशास्त्री-अध्यात्मवेत्ता-अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोंके अनुवादक पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीने भी इसे अवलोकन करने की और दो शब्द लिखनेकी कृपा की है, इसके लिये उनका भी विनम्रता पूर्वक आभार मानता हूँ। मेरे परमस्नेही श्रीमान् ब्र० माणिकचन्दजी चवरे कारंजाने पूर्ण ग्रन्थ वाचन कर अपने उपयोगी सुझाव दिये उनका मैं बहुत ऋणी हूँ और आभार मानता हूँ। श्री नीरजजीका भी

आभारी हूँ, जिनके आग्रहवश मैंने यह सब लिखा। श्री १०८ आचार्य विद्यासागरजीके साथ इस ग्रन्थके वाचनके समय भी श्री नीरजजीने अनेक दिन साथ रहकर अपना योगदान किया।

द्वितीय संस्करण

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिका समाजके सभी वर्गों में भारी समादर हुआ। मुमुक्षु जनोंमें उसका पठन-पाठन हुआ है यह मेरे लिये प्रसन्नताकी बात है। यद्यपि तब ग्रन्थका लागतसे आधा मूल्य मात्र दस रुपया रखा गया था, पर प्रकाशन संस्थाके उदार सिंघई बन्धुओंने आधेसे अधिक ग्रन्थ, योग्य पात्रों तक बिना मूल्य पहुँचाये और वह संस्करण कुछ महीनोंमें ही समाप्त हो गया था। गत दो वर्षोंसे ग्रन्थकी माँग आ रही थी पर इसके पूर्व पाठकोंकी आकांक्षापूर्ति नहीं की जा सकी।

अब यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की जा रही है। विविध पाठकों तथा संयत साधुओं, आर्यिका माताओंकी दृष्टिमें ग्रन्थ आनेसे अनेकानेक प्रश्न तथा सुझाव मेरे पास आये। उनका यथोचित समाधान पत्रोंके माध्यमसे मैंने यथाशक्ति किया। इस आवृत्तिमें जहाँ संशोधन संवर्धन या स्पष्टीकरणकी आवश्यकता प्रतीत हुई है, वहाँ उसकी पूर्तिकी गई है। कुछ ऐसे सुझाव भी मेरे पास आये कि ग्रन्थका विषय परिचय तथा सम्यग्दर्शनके साथ स्वानुभूति, स्वरूपाचरण, स्वरूपोपलब्धि, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, शुद्धोपयोग जैसे वर्तमानमें चर्चाके विषय बने हुए विषयों पर कुछ विशेष विवेचन आवश्यक है। उन सुझावोंके अनुसार विषय परिचय तथा उक्त बहुचर्चित विषयोंपर भी इस प्रस्तावनामें प्रकाश डाला जा रहा है। मुझे आशा है कि इससे जिज्ञासु पाठकोंका समाधान हो जायगा।

यद्यपि इन विषयोंकी चर्चा प्रसंगानुसार अनेक कलशोंमें है तथापि लोक रुचिका ध्यान रखकर, पुनरावृत्तिकी चिन्ता न करते हुए, संक्षेपमें वह सब यहाँ पुनः लिखा जा रहा है।

ग्रन्थका विषय विभाजन—मूलग्रन्थ 'श्री समयसार' के समान ही कलशोंका विषय विभाजन आचार्य श्री अमृतचन्द्रजीने बारह अधिकारोंमें किया है जो निम्न प्रकार है—

(१) जीवाजीवाधिकार (पूर्वरंग)
(२) जीवाजीवाधिकार (उत्तर रंग)
(३) कर्त्ता कर्म अधिकार
(४) पुण्य-पाप अधिकार
(५) आस्रवाधिकार
(६) संवर अधिकार
(७) निर्जरा अधिकार
(८) बंधाधिकार
(९) मोक्षाधिकार
(१०) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार
(११) स्याद्वाद अधिकार
(१२) साध्य-साधक विचार

(१) जीवाजीवाधिकार (पूर्वरंग)—में आत्माका शुद्ध स्वरूप एकत्व विभक्त

रूप है, अबद्ध अस्पृष्ट, असंयुक्त आदि विशेषणोंसे संयुक्त है, उसका दर्शन ही सम्यग्दर्शन है,यह विषय सुगम रीतिसे वर्णन किया है।

(२) **जीवाजीवाधिकार (उत्तर रंग)**—में अजीव तत्त्वका तो वर्णन है ही, अशुद्ध जीवमें पाये जाने वाले रागादि एवं क्रोधादि भावोंको भी अजीवकी ही संज्ञा दी गई है। भगवान जिनेन्द्रकी शरीराश्रित स्तुतिके आधार पर शरीर और आत्माकी एकता समझनेवाले शिष्यका भी यथोचित समाधान किया है। इस कथन के प्रसंगमें निश्चय स्तुति क्या है इसका वर्णन जिनेन्द्रके जितेन्द्रिय, जितमोह आदि विशेषणोंके द्वारा किया है। वर्णादिका तादात्म्य केवल पुद्गलसे है, और संसारी जीवसे उसका सम्बन्ध कथन मात्र, उपचार से होता है, भेद विज्ञान में जीव और अजीव पृथक् होते हैं।

(३) **कर्त्ता कर्म अधिकार**—में जीवको स्वभावतः अकार्य कारणरूप रहनेसे अकर्ता माना है। कर्म निमित्तजन्य औपाधिक भावोंका कर्त्ता केवल अज्ञानी जीव ही होता है, किन्तु अपनी ज्ञान मात्र भूमिकाको प्राप्त करने वाला ज्ञानी जीव उसका कर्त्ता नहीं होता। यद्यपि आगमिक विषयके अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका स्वयं कर्त्ता होता है, और वह पर्याय ही उसका कर्म है, इस आधार पर रागादि भावों का कर्त्ता और 'उसके फलका भोक्ता संसारी जीव ही है, तथापि अपने अनाद्यनंत कर्म निरपेक्ष सहज पारिणामिक भावका स्वामी, अखंड अविचल आत्माको संसारी दशामें भी द्रव्यदृष्टिसे अवलोकन करने पर वह मात्र अपने ज्ञान स्वभावका ही स्वामी ठहरता है, रागादिकके कर्तृत्व भोक्तृत्वका उसमें स्थान नहीं है।

जो जीव अपने ज्ञानमात्र स्वभावकी भूमिकाको अकंपरूपसे स्वीकार करता है, वह कर्मबंध रहित होता है, और पुरातन कर्म यथासमय उसे स्वयमेव छोड़ देते हैं। लोकमें प्रचलित परद्रव्य के कर्त्ता और कर्मपने की चर्चाका यहाँ कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि यथार्थमें परद्रव्यके साथ कर्तृकर्मपना ही नहीं है। वह मात्र लौकिक कथन है, जो पूर्णतः उपचरित है। निमित्त नैमित्तिक संबंधके कारण इस तरहका उपचरित कथन शास्त्रोंमें किया गया है। यथार्थ कर्तृत्व द्रव्यमें स्वपर्यायोंका ही है और पर्याय ही कर्म हैं।

(४) **पुण्य पापाधिकार**—में कर्मोंके आश्रवके कारणभूत जीवके, मोह रागद्वेषादिक भावोंको, शुभाशुभ रूपमें दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया है। जैसे बेड़ी लोहेकी हो या स्वर्णकी हो जीवके बंधनमें कोई भेद नहीं करती, इसी प्रकार पुण्यबंध और पापबंध, भले ही अपने स्वरूपमें सांसारिक फलोपभोगकी अपेक्षा भेद रखते हों, तथापि परमार्थसे दोनों ही जीवके लिए बन्धन स्वरूप हैं और मुक्तिके कारणोंसे विपरीत हैं। ऐसा वर्णन करते हुए मोह राग द्वेषके इन विविध रूपोंको अज्ञान-भाव ही कहा है। इस अज्ञानभावमें ही जीव पुण्य पापमें भेद करता है। **मोहकर्म घातिया है अतः पापरूप ही प्रकृति है।** शुभाशुभ राग उसीके दोनों पुत्र हैं अतः पाप ही हैं। इसे शूद्रिका पुत्रके दृष्टान्तसे समझाया गया है।

(५) **आश्रवाधिकार**—राग द्वेष मोहके विना जीवका ज्ञानरूप परिणमन ही आश्रवभावको रोकने वाला है, और यह जीव भावाश्रवके अभावको प्राप्त होनेपर द्रव्याश्रवसे स्वयं प्रथक् होता है। ज्ञानीजीव रागद्वेषोंका वुद्धिपूर्वक स्वयं त्याग करता है, और अवुद्धिपूर्वक कर्मोदयसे होनेवाले रागद्वेषसे वचनेके लिए वार-वार अपनी निज शक्तिमें ही उपयोग लगाता है। रागद्वेष मोह ही जीवके लिये वंधके कारण हैं अतः उनके अभावमें ज्ञानीको अवंधक कहा है। जो जीव अपने शुद्धात्माके अवलंवनसे च्युत होकर रागादियोगको प्राप्त होते हैं, वे अवश्य ही कर्मवंध करते हैं उक्त कथनसे यह तात्पर्य निकलता है कि शुद्धात्माका ही अवलंवन करना चाहिए।

(६) **संवर अधिकार**—में यह विषय प्रतिपादित है कि जो किसी भी प्रकारके प्रयत्न से, अपने शुद्धात्माको दृष्टिमें रखता है, वही कालांतरमें शुद्धात्माको प्राप्त करता है। भेद विज्ञानकी शक्तिसे जो अपनी निजकी महिमामें रत होते हैं उन्हें ही आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है जो ऐसा नहीं करते वे संसारमें भटकते हैं। शुद्धात्म तत्त्वकी उपलब्धिसे ही कर्मोका संवर होता है अभीतक जो भी सिद्ध परमात्मा वने हैं, वे भेद विज्ञानके वल पर ही वने हैं, और जो संसारमें भ्रम रहे हैं वे भेद विज्ञानके अभावके कारण ही भ्रम रहे है।

(७) **निर्जरा अधिकार में**—यह प्रतिपादित किया है कि जिसके मोह, राग और द्वेषका अभाव होता है उस विरागीको उदयमें आनेवाला कर्मभोग, कर्मवन्धका नहीं, कर्म निर्जराका ही कारण वनता है, क्योंकि उसके अंतसमें स्वयंकी निजज्ञान शक्तिका संवेदन और पर पदार्थके प्रति वैराग्यका भाव नियमसे रहता है। तथापि उक्त कथनसे यदि कोई इस प्रकारके यथार्थ अर्थको ग्रहण न करे, और सम्यग्दृष्टि न होने पर भी अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर पंचेन्द्रियके विषयोंका रागपूर्वक यथेच्छ उपयोग करे तथा अपनेको निराश्रव और निर्वन्ध माने, तथा उससे कर्म निर्जरा होती है ऐसा माने, तो वह आत्मा और—अनात्माके ज्ञानसे शून्य अज्ञानी ही है। आत्मा तो रागद्वेष मोहसे भिन्न एकमात्र ज्ञायक स्वरूप है और उसका यह पद ही सम्पूर्ण विपदाओंका अन्त करनेवाला है। पूर्ववद्ध कर्मके विपाकसे ज्ञानीको भी विविध प्रकार की संपत्तियों और विपत्तियोंका उपभोग करना पड़ता है, परन्तु उन दोनों दशाओंमें वह उस कर्मका निर्जरक ही होता है, वंधक नहीं होता। वह उस कर्म-फलको अनात्म-भाव जानता है अतः हर्षविषाद नहीं करता। ज्ञानी पुरुषको यह उपदेश दिया गया है कि वह सभी शुभाशुभ कर्मोसे भिन्न रहे। यदि कदाचित् वह कर्मोदय जन्य स्थितिका, रागद्वेषकी भूमिकामें, उपभोग करेगा तो नियमसे कर्मवंध करेगा। सम्यग्-दृष्टि जीव सदा निश्शंक और निर्भय ही रहता है; वह सातों प्रकारके भयोंसे रहित होता है। प्रस्तुत अधिकारमें इसका ही विशद वर्णन है।

(८) **वंध अधिकार**—में यह प्रतिपादित किया है कि यह सम्पूर्ण लोक, कर्म-वर्गणाओंसे भरा हुआ है परन्तु इतने मात्रसे जीव वंधनको प्राप्त नहीं होता,

किन्तु जब उपयोगमें रागादि पूर्वक उसकी क्रिया होती है तो वह बंधका कारण बनती है। मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और मेरी क्रिया बंधका कारण नहीं है, मात्र इतने अहंकारसे निरर्गल प्रवृत्ति करनेवाले जीव बंधसे मुक्त नहीं होते। जब परोपकारादि की भावना भी शुभराग होनेसे पुण्यके बंधनमें डाल देती है, तब किसी के अपकारकी भावना बंधनमें क्यों नहीं डालेगी ? कर्मके अहंकारका जो रस है वही कर्मबंधका हेतु है। संसारके सभी जीवोंके कार्य अपने अपने कर्मानुसार होते हैं। निष्फल, उत्तम फल रहित—अध्यवसायके द्वारा विमोहित जीवही अपनेको संसारके बंधनमें बांधता है। ज्ञानी इस वस्तुस्वभावको जानता है, इसीसे निर्बंध होता है। अज्ञानी वस्तु स्वभावको नहीं जाननेके कारण बंधनमें पड़ता है। ज्ञानी समग्र परद्रव्यको बुद्धिपूर्वक अपनेसे पृथक् कर स्वात्मस्थितिको प्राप्त करता है यही उसकी निर्बन्धताका मूलमंत्र है।

(९) **मोक्ष अधिकार**—में यह प्रतिपादित किया है कि यदि ज्ञानी जीव अपनी प्रज्ञारूपी छैनीको सावधान होकर आत्मा और कर्मकी संधिके ऊपर पटके, तो वह संधि टूटना संभव है और उसीका अर्थ मोक्ष है। आत्मा स्वयं अद्वैत है, तथापि जब तक अपने इस स्वरूप को दृष्टिमें लेकर वह लक्ष्यप्राप्तिकी ओर प्रयत्नशील नहीं होता तब तक मुक्तिको प्राप्त नहीं होता। मोक्षार्थी-बुद्धिमान पुरुषको, यह विचार करना चाहिए कि मैं एक शुद्ध चैतन्य मात्र वस्तु हूँ तथापि यदि मेरे भीतर इसके अतिरिक्त कोई और भाव दिखाई देते हैं तो वे मुझसे पृथक् हैं, अर्थात् वे मेरे स्वभाव नहीं है, वे मेरे अपराध हैं, और अपराधी नियमसे बंधनको प्राप्त होता है।

(१०) **सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार**—में सर्वविशुद्ध ज्ञानका विशद वर्णन है। जीव यथार्थमें अपने सर्व विशुद्धज्ञानका ही कर्ता होता है; रागादिका कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व केवल अज्ञानकी ही महिमा है। अज्ञानी कर्मप्रकृतिके स्वभावरूप परिणमन करता है। और ज्ञानी कर्म प्रकृतिके स्वरूपसे भिन्न अपने निज स्वरूपमें परणति करता है। जब एक वस्तुका दूसरी वस्तुकी सत्तासे कोई संबंध नहीं है, तो उसमें कर्ता कर्म पनेकी बात सोचना ही मिथ्या है, तथापि कर्म चूंकि कार्य है और कार्य विना किये होता नहीं है, अतएव अज्ञानी जीव अपनी उस अवस्थामें रागादिभावोंका कर्ता और भोक्ता होता है। सांख्यमतकी तरह सर्वथा अकर्ता नहीं है। नय विवक्षासे कर्तृत्व अकर्तृत्व नित्यत्व और क्षणिकत्व आदि विविध भावोंका बहुत स्पष्टतया प्रतिपादन इस अध्यायमें किया गया है। साधुजन अपने पूर्वकृत कर्मोंको दूर करनेके लिए अपनी ज्ञान चेतनाके आधारपर किस प्रकार प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानादि करते हैं उसका भी वर्णन इसमें किया है। इसमें इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि केवल बाह्य लिंग धारण करनेसे जिनकी अंतः चक्षु मुंदी हुई हैं, वे मोक्षको प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु मोक्षका एक मात्र पथ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र त्रयात्मक आत्मपरिणति ही है।

ग्यारहवें एवं बारहवें अधिकारों—में विविध मिथ्यामतोंके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तोंकी समालोचना तथा उनकी विपरीतताका स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए,

स्याद्वादी अपनी विशुद्ध ज्ञानकी महिमासे पूर्ण होता हुआ किस प्रकार जीवित रहता है, इसका प्रतिपादन किया गया है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षा अस्तित्व, और परद्रव्य परक्षेत्र-परकाल, परभावकी अपेक्षा नास्तित्वका तथा तत्-अतत्, सत्-असत्. एक-अनेक, नित्य-अनित्य, आदिका विशद वर्णन—करते हुए आत्माकी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन किया है। आत्मा नाना शक्तियोंके रहते हुए भी नाना प्रकारके गुणोंकी पर्यायोंसे चित्रित होनेपर भी, निज द्रव्य पर्यायमय, चैतन्य मात्र वस्तु है, इसका सुन्दरतासे प्रतिपादन किया है।

ग्रन्थके अन्तमें इस सम्पूर्ण ग्रन्थका मथितार्थ आचार्य श्री ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि जो प्राणी अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके अभ्याससे आत्म-संयम द्वारा अपने उपयोगको स्थिर करता है और वार-वार स्वात्मभावना करता है वह अन्तर-वाहर, ज्ञान पक्ष और क्रियापक्षकी परस्पर मित्रताको प्राप्त हुआ, आत्माकी विशुद्ध भूमिकाको प्राप्त करता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि स्याद्वाद वाणीके द्वारा प्रकाशित मेरे शुद्धस्वभावकी महिमाका जब मेरेमें उदय हो गया है तो मुझे बंध मोक्षकी चर्चासे भी प्रयोजन नहीं है। मेरा यह सुविशुद्ध श्रेष्ठभाव सदाकाल प्रकाशमान रहो। स्वरूपमें ही गुप्त आचार्य अमृतचन्द्रको अब कोई कार्य शेष नहीं है।

सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मदर्शन—ग्रन्थका मुख्य उद्देश्य समयसारका दर्शन कराना है। समयसारका अर्थ शुद्धात्मा है। उसका दर्शन अनेकान्त स्वरूप जिन वचनमें रमण करने वाले सम्यग्दृष्टिको होता है, ग्रन्थमें यह स्पष्ट प्रतिपादित है।[1]

शुद्धात्म दर्शन क्या अशुद्ध (संसारी) दशामें हो सकता है? इस प्रश्नका समाधान आचार्य करते हैं कि आत्मा स्वयं निर्विकल्प है, पहिले उसका ज्ञान विकल्पों द्वारा (व्यवहार नयसे) ही होता है[2]। पश्चात् विकल्प छोड़कर; परसे रहित चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको, जो अपनेमें देखते हैं, उनके व्यवहारनयके विकल्प छूट जाते हैं और शुद्धनयके विषयभूत पूर्ण ज्ञान धन, अपने एकत्व स्वरूप, परद्रव्य तथा परद्रव्य निमित्तक भावोंसे भिन्न, आत्माका उन्हें दर्शन होता है। वही सम्यग्दर्शन है अथवा समयसारका दर्शन है[3]।

मोक्षमार्ग यद्यपि रत्नत्रय स्वरूप है तथापि उसका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान और चारित्रको मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही लिखा गया है[4]। जिस सम्यग्दर्शनकी यह महिमा है उसके महत्वका प्रतिपादन ही ग्रन्थका मुख्य विषय है। अविरतिके साथ भी यदि सम्यग्दर्शन है तो उसका भी मोक्षमार्गमें

---

१. उभयनयविरोधध्वंसिनि···· ···· ···· ···· —समयसार कलश ४
२. व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्याम्···· ···· ···· —समयसार कलश–५
३. एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो···· ··· ···· ···· —समयसार कलश–६
४. दर्शनज्ञान चारित्रात्···· ···· ···· ···· ···· (रत्नकरण्ड)

प्रथम स्थान है, परन्तु उसके बिना विशाल आगम ज्ञान तथा घोर तपश्चरणके साथ किया जानेवाला महाव्रत, समिति, गुण्यात्मक व्रताचरण भी मोक्षमार्गमें स्थान नहीं पाता, यह जिनागम है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार ग्रन्थकी चारित्र चूलिका गाथा २३७ में मोक्षमार्गमें श्रद्धानपूर्वक आगमज्ञान तथा चारित्रके यौगपद्यको ही स्वीकर किया है।[2] सिद्ध है कि मोक्षमार्ग रत्नत्रय स्वरूप है। उस रत्नत्रयकी प्राप्तिमें सम्यग्दर्शन आद्य है, और चारित्र भी उसकी अन्तिम आवश्यक भूमिका है। दोनोंका मणिकांचन संयोग है, प्रथमकी शोभा दूसरेसे है और दूसरेकी शोभा प्रथमसे है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानके बिना भी ये दोनों रत्नत्रय नाम नहीं पाते, परन्तु सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका होना अनिवार्य है। इससे दोनोंकी स्थितिके मध्य वह आ ही जाता है। अतः रत्नत्रय स्वरूपता बन जाती है।

आचार्य ने इस ग्रन्थमें सम्यग्दृष्टिका उल्लेख ज्ञानी शब्दसे और मिथ्यादृष्टिका अज्ञानी शब्दसे किया है। फलतः यह कहा जा सकता है कि ग्रंथमें सम्पूर्ण वर्णन ज्ञानी और अज्ञानीका है। ज्ञानी ही मोक्षका पात्र है, अज्ञानी नहीं, यह ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय है। सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी शब्दका प्रयोगकर ग्रन्थकारने सम्यग्ज्ञानको उठाया है। अन्य सभी ग्रन्थोंमें सम्यक्त्व और चारित्रका ही विशेष महत्व स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित है। सम्यग्ज्ञानका वर्णन मात्र चार अनुयोगोंके स्वरूप प्रतिपादनके साथ ही समाप्त हो जाता है पर समयसार और उसके टीकाकार सम्यग्दर्शनको और उसके साथके चारित्रको ज्ञानभावके नामसे ही व्यवहृत करते हैं[3]।

सम्यग्दृष्टि अबंधक है—

ग्रन्थमें सर्वत्र मोह राग द्वेषके परित्यागका उपदेश है। मोह मिथ्यात्वका वाचक है, तथा रागद्वेष, क्रोध मान, माया, लोभको कहा गया है। इसी व्याख्याके कारण सम्यग्दृष्टिको अबंधक कहा गया है। यह अध्यात्म ग्रन्थ है, इसमें ज्ञानी या सम्यग्दृष्टि सामान्य शब्द ही आया है, किस गुणस्थानका सम्यग्दृष्टि, कितनी-कितनी प्रकृतियोंका अबंधक है, इसका विवेचन नहीं है। तथापि जो वर्णन जिस गुणस्थानके सम्यग्दृष्टि पर ग्रन्थान्तरोंके अनुसार बैठता हो उसी पर उसे लागू समझना चाहिये। जो सज्जन यह भेद नहीं करते, वे या तो सारा उत्कृष्ट वर्णन चतुर्थ गुणस्थानके अविरत सम्यग्दृष्टि पर ही लगाते हैं, या दूसरी ओर कुछ सज्जन इस समस्त वर्णनको

१. संयमः सम्यग्दर्शन ज्ञानपुरःसरं चारित्रं···· ···· ···· —प्रवचनसार टीका गाथा २४१ (अमृतचन्द्रकृत)

२. ण हि आगमेण सिज्झदि···· ···· ···· —प्रवचनसार गाथा २३७ की टीका

३. जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं···· ···· ···· —समयसार गाथा १५५ की टीका देखिये

उत्कृष्ट साधनारत ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज पर ही लगाते हैं जो परिपूर्ण निष्कषाय भावके कारण कर्मबंधक ही नहीं है। प्रकारान्तरसे पंचमसे दशम गुणस्थान तकके सम्यग्दृष्टि दोनोंकी दृष्टिसे बाहर ही रहते हैं।

आचार्य जयसेन ने लिखा है कि ग्रन्थमें मुख्य वर्णन वीतराग सम्यग्दृष्टिको लक्ष्यमें लेकर है तथा गौण रूपसे चतुर्थादि गुणस्थानोंका भी है[1], यह बात यथार्थ है। अतः जो वर्णन जिस गुणस्थान पर बैठता हो उसे उस ही गुणस्थानका मानकर पढ़ना व समझना चाहिये।

समयसारका वास्तविक अध्येता कौन ?

कुछ सज्जनोंकी मान्यता है कि समयसार ग्रंथ श्रावकोंके अध्ययनके लिये नहीं है, उन्हें इसका स्वाध्याय ही नहीं करना चाहिये। इसके लिए आचार्य जयसेनका उक्त उद्धरण प्रमाणमें देते हैं, पर उक्त उद्धरणका प्रतिपादन स्वाध्याय करने वाले पात्रोंके विवेचनका नहीं है, किन्तु जिनका ग्रन्थमें वर्णन है उनका है। यद्यपि अनेक स्थलों पर 'मुनि' 'यति' शब्द बार-बार ग्रन्थमें आये हैं अतः ग्रन्थमें उनको सम्बोधित किया है यह सच है, पर इसका अर्थ यह नहीं है वे मुनि ही ग्रन्थको पढ़ें अन्य जन श्रावकादि न पढ़ें।

कलस ११, २२, २८, ३२, ३३, ३४, ४२, ४८, १११, १२६, १२८, १३८, १४३, १४५, २०१, ३२४ आदिमें मोहीजन, लोक, मुमुक्षु, अज्ञान-विमूढ़, जगत् आदि शब्दों द्वारा सामान्य जनोंको भी सम्बोधित किया गया है। यद्यपि आचार्य श्री ने इस ग्रन्थ द्वारा मुख्यतया मुनिजनोंकी स्थिति सुधारनेका ही प्रयत्न किया है, जिससे वे अपनी वर्तमान स्थितिसे आगे बढ़ें, मात्र शुभ क्रिया रूप व्रतादिको ही मोक्षमार्ग मान कर अटक कर न बैठें, तो भी जो मूल सिद्धान्त इसमें प्रतिपादित हैं उनके अनुभव करने, समझने और आचरण करनेकी प्रेरणा सामान्य जनोंको भी दी गई है।[2] गुणस्थान भेदसे वर्णन न करनेका कारण यह है कि अध्यात्मकी दृष्टिसे आत्मा "शुद्ध चैतन्य-मात्र" है और शुद्ध चैतन्यकी दृष्टिमें न गुणस्थान हैं न मार्गणास्थान हैं। अतः अध्यात्म शास्त्रोंमें गुणस्थान मार्गणास्थानादिकी अपेक्षा वर्णन नहीं होता। समयसार-की गाथा ५०/५५ में तथा उसकी संस्कृत टीकामें भी यही लिखा है।

गुणस्थान प्रक्रियासे वर्णन न होने पर भी, यदि अध्यात्मके वर्णनको गुणस्थानों पर बिठाकर समझना ही है तो आगम ग्रन्थोंके अनुसार वह भली भांति समझा जा

---

१. अत्र तु ग्रन्थे......वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्याग्रहणं सराग सम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्या–
—समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका गाथा १९३-२०१

२. किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः.... .... —कलश २१५
..........एते किमज्ञानिनो.... .... (कलश २२२)
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा.... .... (कलश २३९)

सकता है। ज्ञानी अज्ञानीका वर्णन करते हुए आचार्य अमृतचंद्रने जो प्रेरणाएं दी हैं वह अज्ञानीको ज्ञानी बननेके लिए दी हैं, अतः ग्रन्थके अध्ययनके अधिकारी अज्ञानी भी हैं, चाहे वे श्रावक हों, या मुनि हों। यहां ऐसा प्रश्न करना उचित नहीं होगा कि क्या मुनिको अज्ञानी कहना उचित है ? क्योंकि सम्यक्त्वभावसे रहित श्रावक भी हो सकता है और सम्यक्त्व रहित मुनि भी अपने पदसे गिरे हुए हो सकते हैं। अतः दोनोंको ज्ञानभावकी भूमिकामें लाकर सम्यग्दर्शन अर्जन करनेकी प्रेरणा ग्रन्थकारने दी है।[1]

इस कथनका यह भी तात्पर्य नहीं है कि मात्र मिथ्या दृष्टि अज्ञानी जनोंको ही ग्रन्थमें संबोधित किया गया है, पंचम, षष्टम गुणस्थानवर्ती जीवोंको नहीं ? ऐसा निर्णय करना भी सही न होगा। कारण यह कि इसमें उच्चतम श्रेणीगत यतियोंकी उत्कृष्ट दशाका जो भी वर्णन है, और उसे प्राप्त करनेकी प्रेरणा है, वह छठे गुण-स्थानवर्ती मुनियोंके लिए ही है। श्रावककी भूमिकामें यह कभी संभव ही नहीं है कि वह पूर्ण शुद्धोपयोगके मार्ग पर आरूढ़ हो सके, तथापि ऐसा भी नहीं है कि जिन शुद्धोपयोग मुनियोंकी पवित्र अवस्थाका वर्णन ग्रन्थमें है, उस ग्रन्थके पढ़नेका भी वह अधिकारी नहीं है। जिनागममें श्रावकके लिए अध्यात्म ग्रन्थोंके अध्ययनके निषेधका वर्णन किसी भी आचार्यने नहीं किया। श्रावकको सिद्धान्त ग्रन्थोंके पठन-पाठनके लिये अपात्र मानना किसी व्यक्ति विशेषकी, या वर्ग विशेषकी, निजी मान्यता हो सकती है, वह आगमकी मान्यता नहीं है।

'स्वसमय' 'शुद्ध-आत्मदर्शन' या 'स्वानुभूति'—

ग्रन्थके प्रारम्भमें ही अनात्मदर्शीको आत्मदर्शन करनेकी प्रेरणा दी गई है। समयसारकी गाथा २ की टीकामें अमृतचन्द्राचार्य समयकी व्याख्यान करते हुए लिखते हैं कि अन्य द्रव्योंसे अत्यंत संकर होने पर भी आत्मा, स्वरूपसे अप्रच्यावित (अभिन्न) एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव 'जीव' नामा पदार्थ है। जब वह अपने ज्ञानदर्शन स्वभावकी नियतवृत्ति रूप स्वभावकी एकताके रूपमें वर्तता है तब "स्वसमय है" और जब अनादि अविद्याके कारण अपने उक्त स्वभावसे च्युत हो, पर द्रव्यय प्रत्यय राग, द्वेष, मोह आदि भावोंके साथ एकतारूपसे वर्तन करता है, उस समय पर-समयमें स्थित है, अतः "पर समय" है।[2] समयसार गाथा ५ की टीकामें लिखा गया है कि मैं

१. "पश्यन्त्वकर्तृ भुजटाश्च जनाश्च तत्त्वं"। कलश २०१ में दोनों को एक साथ सम्बोधित किया है।

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन (कलश २६२)

२. अत्यन्तमनन्त द्रव्यसंकरेपि स्वरूपादप्रच्यवनात्

टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो 'जीवो' नाम पदार्थः स समयः।

..........अयं खलु यदा..........समस्त परद्रव्यात्प्रच्युत्यदृशि ज्ञप्ति स्वभाव नियम वृत्तिरूपात्म तत्त्वैक गतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेनयुगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति।

अपने स्वरूपसे एक, तथा परसे भिन्न ऐसे शुद्ध आत्माके स्वरूपका दर्शन आपको कराऊंगा।

यद्यपि अनादिसे दूध पानीकी तरह कर्म पुद्गलोंके साथ आत्मा एकत्वको प्राप्त है तथापि द्रव्यके स्वभावकी निरूपणाकी दृष्टिसे वह इन सब विभाव भावोंसे भिन्न तथा संपूर्ण अन्य द्रव्योंसे भिन्न उपासनाके योग्य शुद्ध (मात्र ज्ञायक स्वभाव) है।[1]

आत्मा निश्चयसे स्वतः सिद्ध है, अनाद्यनंत है, अविनश्वर है, नित्य है, स्वपर प्रकाशन समर्थ, ज्ञान स्वभावी है, रागादि सम्पूर्ण उपाधिरहित अत्यन्त निर्मल है, परम आनन्द मूर्ति है, शुद्ध चेतनारूप समयसारभूत, अन्य समस्त द्रव्योंसे उनके गुणोंसे उनकी पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न, निज सत्तासे अपने गुण पर्यायोंसे सर्वथा अभिन्न एक अखण्ड द्रव्य है। यह आत्म '**द्रव्यके स्वभावका वर्णन**' है। तथापि वह अनादिसे ही कर्मबन्धनबद्ध होनेसे नाना योनियोंमें जन्म तथा मृत्युके दुख भोग रहा है। उसके ज्ञानादि समस्त गुण विकृत हो रहे हैं, आच्छादित हो रहे हैं। रागादि विभावमय परिणत हैं, अशुद्ध चेतना रूप पर. समय स्थित अनेकरूप दिखाई दे रहा है। यह **उसकी पर्याय दशाका वर्णन** है।

कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायका होता है। अतः यह आवश्यक है कि जिस जीवके स्वभावका ऊपर वर्णन किया है वह पर्यायसे भी यदि स्वभावरूप परिणत हो तो वह अनन्तकालको शुद्ध पर्याय परिणत शुद्ध चेतनारूप सिद्ध परमात्मा बन मोक्षको प्राप्त हो जाय, अनन्त दुखोंसे मुक्त हो जाय। संसारके सम्पूर्ण दुखोंसे पार होकर शुद्ध स्वरूप सिद्ध दशा प्राप्त करनेके लिये ही सर्वप्रथम आचार्य आत्माको उसके सहज शुद्ध स्वभावका दर्शन कराते हैं। वे इस ग्रन्थमें जिस समयसार भूत शुद्धात्माका दर्शन करानेकी प्रतिज्ञा करते हैं वह शक्ति उन्होंने जिनवाणीके सतत अभ्याससे, सम्यग्-युक्तियोंके अवलंबनसे, गुरु सेवासे प्राप्त उनके प्रसादसे उनके कथनानुसार निरन्तर अभ्यस्त स्वसंवेदन ज्ञानसे, प्राप्त की है। समयसार गाथा ५ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जिन परसमय स्थित प्राणियोंको मैं स्वसमयका दर्शन कराऊंगा वे भी उसे **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष** से परीक्षा करके ही स्वीकार करें।

सारांश यह है कि अनादिसे मोहोदयसे पीड़ित, आत्मज्ञान शून्य जनोंको आत्म-तत्त्वका दर्शन ग्रन्थमें कराया है; उस आत्माके अनुभवन करनेकी प्रेरणा दी है। उस

यदा तु अनाद्यविद्या''''''''तन्त्रतया''''''''आत्म तत्त्वात् प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्यय मोहराग-द्वेषादिभावैक--गतत्वेन वर्त्तते तदा परसमय इति प्रतीयते।

—समयसार आत्मख्याति गाथा २ की टीका।

१. स संसारावस्थायाम् अनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभाव निरूपणया अशेष द्रव्यान्तरेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः 'शुद्ध' इत्यभिलप्यते।

—समयसार आत्मख्याति गाथा ६ की टीका।

आत्मानुभवन रूप आत्म पर्यायको ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। सर्वत्र सम्यग्दर्शनकी ही महिमाका प्रतिपादन है। आत्मानुभवन सम्यग्दर्शनका प्रारंभिक स्वरूप भी है और उसका अन्तिम स्वरूप भी है अतः जगह जगह आत्मानुभव करनेकी ही ग्रन्थमें प्रेरणा है। उदाहरण स्वरूप निम्नस्थल देखिये :—

स्वानुभूत्या चकासते	कलश	१
अनुभूतेः परमविशुद्धिः	,,	३
ते समयसारं ईक्षन्त एव	,,	४
परममर्थमन्तः पश्यताम्	,,	५
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनम् सम्यग्दर्शनम्	,,	६
प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्	,,	७
उद्योतमानम् दृश्यतामेकरूपम्	,,	८
अनुभवमुपयाते भातिन द्वैतमेव	,,	९
आत्मस्वभावम् परभावभिन्नम्	,,	१०
अनुभवतु तमेव द्योतमानम् समन्तात्	,,	११
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा	,,	१२
आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयान्मिकाया	,,	१३
सततमनुभवायोनन्त चैतन्यंचिह्नम्	,,	२०
अचलितमनुभूतिम् भेदविज्ञानमूलाम्	,,	२१
रसयतु रसिकानाम् रोचनं ज्ञानम्	,,	२२
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्	,,	२३

इसीप्रकार अनेक स्थलों पर स्वयंमियमनुभूति, महसाध्यक्षेण, अन्तस्तत्वतो पश्यन्तः, स्वसंवेद्यमबाधितम्, व्यक्तं—चैतन्यम् ज्ञानीजनोऽनुभवति आदि शब्दोंमें अमृतचंद्राचार्यने कलशोंमें अनुभव शब्दका, स्वसंवेदन शब्दका तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शब्दका उपयोग किया है जिससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने आत्मानुभव, भेद-विज्ञान स्वसंवेदन-प्रत्यक्षको ही सम्यग्दर्शन कहा है। इस प्रकारके उद्धरण पूरे ग्रन्थमें भरे हुऐ हैं। प्रकारान्तरसे आत्मानुभूतिकी ही प्रेरणा सर्वत्र प्राणियोंको दी है। अज्ञानी दशामें अर्थात् मिथ्यादृष्टि अवस्थामें जो परके साथ एकत्वकी अनुभूति थी, सम्यग्दर्शन होने पर वही पर से भिन्न निजके एकत्वकी शुद्धानुभूति हुई, यही सम्यग्दर्शन है। इसे ही ज्ञानानुभूति शब्द द्वारा व्यवहृत किया है। यह—ज्ञानानुभूति शुद्ध नयात्मिका है अर्थात् शुद्धनयका विषय है।[1]

जब तक आत्मा पर्यायमें शुद्ध स्वरूप बन नहीं गया तबतक उसको उस सहज शक्तिरूप स्वभावकी श्रद्धा आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि इसी श्रद्धाके बलसे तथा अपने सम्यग्ज्ञानके आधारसे शुद्धात्माकी अनुभूति करता है। इसीलिये इसे ज्ञानानुभूति

---

१. आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेतिबुद्ध्वा।

समयसार, आत्मख्याति कलश–१३

भी कहते हैं। यद्यपि प्रवचनसार गाथा २५४ की टीकामें अमृतचन्द्र आचार्य महाराजने स्वयं यह लिखा है कि गृहस्थके शुद्धात्मानुभूति नहीं होती, उसे तो राग संयोगसे अशुद्धात्माका ही अनुभव होता है[1]। इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थको शुद्धात्मानुभवन नहीं होता, अशुद्धात्मानुभवन होता है; तथापि इसी प्रवचनसार गाथा २३७ की टीकामें अमृतचन्द्राचार्य यह भी लिखते हैं कि असंयतको भी यथोदित आत्मतत्त्वकी प्रतीतिरूप श्रद्धान और यथोदित आत्मतत्त्वानुभूतिरूप ज्ञान है, तथापि संयम शून्य श्रद्धान वा ज्ञानसे सिद्धि नहीं होती[2]।

पूज्य अमृतचन्द्राचार्य कृत प्रवचनसारकी टीका गाथा २३७ और २५४ में परस्पर अन्तर दिखाई देता है, पर यथार्थमें अन्तर नहीं है। आचार्य परस्पर विरुद्ध कथन नहीं करते। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

चतुर्थ-पंचम गुणस्थानमें, आत्माका जैसा रागादि रहित प्रमत्ताप्रमत्तादि विशेषण रहित, अखण्ड, एक, परसे भिन्न, शुद्ध स्वरूप आचार्य श्री ने प्रतिपादित किया है, वह शक्ति अपेक्षा द्रव्य स्वभाव निरूपणकी मुख्यतासे वैसा ही है, अतः मेरा स्वरूप उक्त प्रकार है ऐसा अपनी आत्माका अनुभवन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके बल पर होता है। यद्यपि यहां अवस्था जन्य शुद्धता तो पर्यायमें प्रगट नहीं है; अवस्थामें राग है, अतः पर्यायापेक्षया रागसे युक्त आत्माका अनुभवन है, तथापि यथोदित आत्मस्वरूप पर दृष्टि है और अपने स्वरूपके ज्ञान श्रद्धानके आधार पर अपने स्वरूप का शुद्धात्मरूपमें अनुभव करता है। गाथा २३७ में ऐसे ही आत्मानुभवनकी बात कही गई है। रागादिसे भिन्न जो शुद्धात्मस्वरूप शक्ति रूपसे था, वह प्रकट होकर महामुनीश्वरके पर्यायमें भी शुद्धता प्रकट हुई, अतः वे ही उसका अनुभवन कर सकते हैं। यह गाथा २५४ की टीकाका तात्पर्य है।

तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मा सम्यग्दृष्टिके ज्ञानका ज्ञेय है, और यह ज्ञेय वह स्वयं है, अन्य पदार्थ नहीं, अतः अपने शुद्धात्माके अनुभवनकी बात असंगत नहीं है। द्रव्यदृष्टिसे वैसा अनुभव तो किया जा सकता है पर पर्यायगत शुद्धताका अनुभवन तभी होगा जब आत्मा राग रहित होगा जैसी-जैसी आत्माकी स्थिति होगी पर्यायगत अनुभव भी उसी प्रकार ही होगा। सारांश यह है कि गाथा २३७ में श्रद्धानके बलपर

---

१. गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैवसां रागसंयोगेनाशुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।

—एसा पसत्थभूता.......आदि गाथा २५४
प्रवचनसार, आत्मख्याति टीका

२. असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ते सिद्धिः।

—ण हि आगमेण सिज्झदि..........इत्यादि
प्रवचनसार गाथा ३७ आत्मख्याति टीका

ज्ञान द्वारा अपने शुद्ध द्रव्य पर उपयोग होनेसे तत्काल शुद्धात्माका अनुभवन है, यह प्रतिपादन है। गाथा २५४ में पर्यायमें शुद्धता समस्तविरतिको प्राप्त करने वालोंको ही होती है, अतः वहाँ उनको शुद्धानुभवी कहा, गृहस्थको नहीं। अतः दोनों कथन विवक्षाभेदसे अविरुद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए। सारांश कि चतुर्थ गुणस्थानमेंसम्यक्त्वसे अविनाभावी अनुभूति सम्यग्ज्ञानकी पर्याय है और महामुनियोंको चारित्र गुणकी पर्यायगत शुद्धताकी अनुभूति है। यह अनुभूति ११वें-१२वें गुणस्थानमें पूर्णरूपसे है वहाँ पूर्ण निष्कषाय होनेसे पर्यायमें शुद्धात्माकी उपलब्धि है। एक ही आचार्य दो स्थानों पर दो बातें लिखते हैं तो उनकी विवक्षाको भी समझ लेना आवश्यक है। पिछले पृष्ठोंमें अनुभूति प्रतिपादक समयसार कलशोंके जो अनेक उदाहरण दिये हैं, उनका भी सामंजस्य उक्त विवक्षाओं पर बैठा लेना चाहिए।

स्वानुभूति और शुद्धोपयोग—

असंयत सम्यग्दृष्टि भी अपनी श्रद्धा तथा आगम ज्ञानके बलपर एकत्व विभक्त, अखण्ड, निर्विकल्प, रागादि रहित, परम विशुद्ध, परमपारणामिक भावस्वरूप अपनी आत्माका अनुभव अवश्य करता है। अनुभवनकालमें उसका उपयोग शुद्धात्माभिमुख होनेसे उसके उपयोगको शुद्धोपयोग भी कहा गया है। यद्यपि उपयोग विभागमें वह मुख्यतासे शुभोपयोगी है, तथापि शुद्धात्माभिमुखी है, अतः लक्ष्यभूत ध्येयकी शुद्धता पर उपयोग होनेसे शुद्धोपयोगी शब्दका भी व्यवहार उसके लिए आगममें है[1]। प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्दने श्रमणको शुद्धोपयोगी कहा है[2] सुविदितपदार्थसूत्र संयम, तप संयुक्त विगत राग, सुखदुखमें समता वाला श्रमण शुद्धोपयोगी है ऐसा प्रतिपादित किया है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त विवक्षाओंसे कहे गये गृहस्थ और महाव्रती, इन दोनों गुणस्थानों या भूमिकाओंके शुद्धोपयोगियोंमें अन्तर है। असंयत श्रावक जिस समय कालादिलब्धि वश सम्यक्त्व प्राप्तकर, आगमकथित आत्माके द्रव्य स्वभावको लक्ष्य बनाकर उसपर अपना उपयोग स्थिर करता है, तब शुद्ध आत्म द्रव्यका, तत्काल उपयोगमें, अनुभव करने पर उसे शुद्धोपयोगी कहा है। अनन्तानुबंधी कषायके अभावसे जो आत्म पर्यायमें शुद्धिका जन्म हुआ है उतना उतना वह पर्यायमें भी शुद्धताका सदा अनुभव करता है, अतः शुद्धोपयोगी है, यह जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्तिका भाव है। संयमी साधुके तीन कषायोंके अभावसे उनके उपयोगकी पर्याय अधिक शुद्ध है। अतः उनको शुद्धोपयोगी पर्यायगत विशेष

---

१. ·······अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

—समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा—३२०

२. सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥

—प्रवचनसार अध्याय १ गाथा १४

शुद्धिके कारण कहा गया है मात्र तात्कालिक उपयोग पर नहीं। संयमीके द्वारा वृद्धिगत शुद्धोपयोगका फल केवलज्ञान है। यह प्रवचनसार गाथा १४ का तात्पर्य है।

इस तथ्यको एक भिन्न प्रकारसे विचार करें तो जीवका लक्षण उपयोग या चैतन्य ही कहा है 'उपयोगो लक्षणम्' यह तत्वार्थसूत्रकारकी उक्ति है। यह ज्ञान दर्शन उपयोग दो प्रकारका है—क्षयोपशम (लब्धि) रूप और उपयोगरूप। क्षयोपशम तो बहुत समय रहता है किन्तु उपयोगात्मक दशा बदलती रहती है। शुद्धोपयोग शब्दमें उपयोग शब्द इस अर्थको कहता है कि वह जीव वर्तमान कालमें शुद्ध पदार्थ पर उपयोग सहित है। ऐसे शुद्ध आत्मपदार्थ पर उपयोग असंयत सम्यग्दृष्टिका भी होता है। भले ही गार्हस्थिक स्थितिमें वह अल्प समय ही अपना उपयोग उस शुद्धात्म द्रव्य पर स्थिर रख सके, साधुजन अपना उपयोग उसपर अधिक समय तक स्थिर रख सकें, तथापि दोनों उपयोगोंमें अपने लक्ष्यभूत शुद्धात्माकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है[1]।

तथापि लब्धिरूप अर्थात् क्षयोपशम रूपसे ज्ञानकी वह योग्यता सम्यक्त्वके सद्भावके कारण (कभी उपयोग अन्यत्र हट जाने पर भी) सदा रहती है, वह चाहे असंयत हो, देश संयत हो या साधु हो। अन्य पदार्थोंका ज्ञान भी वह ज्ञानभावकी भूमिकामें ही करता है मोहकी भूमिकामें नहीं[2]।

आत्मपर्यायमें निष्कषाय भावकी अपेक्षा शुद्धता देखें तो जिसके जितनी कषायका अभाव हो गया उसमें उतनी-उतनी शुद्धता है। आगे वह क्रमवर्धित है, अतः उसकी अपेक्षा अन्तर है ऐसा कथन आगमानुमोदित है। तथापि जो शुद्धता अनन्तानुबंधी और मोहके अभावमें होती है वही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शनकी यह शुद्धता असंयत वा संयत दोनोंमें समान है। असंयत सम्यग्दृष्टिसे संयतमें जो अन्तर है वह अन्यान्य कषायोंके अभावजन्य संयमपनेकी शुद्धताका अन्तर है।

गुणस्थानकी प्रक्रियाकी स्थिति—

आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्रने जिस शुद्धात्माके अनुभवको सम्यग्दर्शन कहा है, उस आत्माको गुणस्थान, मार्गणा स्थानरूप उन्होंने देखा ही नहीं। उससे भिन्न ही आत्माके दर्शनको सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि, देश संयत, सकलसंयत ये भेद गुणस्थानोंकी दृष्टिसे हैं, तथापि इन भेदोंकी चर्चा करना सम्यग्दृष्टिके अनुभवकी भूमिकामें अनुपयोगी है।

जीव स्वभावकी दृष्टिसे सिद्ध और निगोदिया जीव समान हैं। 'सव्वे सुद्धाहि सुद्धणया' नेमिचन्द्राचार्यके द्रव्य संग्रहमें कथित इस उल्लेखसे उक्त बात प्रमाणित है। आगमकथित गुणस्थान भेदकी अपेक्षा भेद अवश्य है, तथापि अनुभवकालमें दृष्टाकी दृष्टिमें वे हैं ही नहीं। वह तो एकमात्र अखण्डचैतन्य पुंज विशुद्ध आत्मद्रव्यको

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक: रहस्यपूर्ण चिट्ठी।

२. अमृत कलश ६७।

ही देख रहा है; अन्य सब कुछ रहते हुए भी उसकी तात्कालिक दृष्टिमें वे सब नहीं हैं, गौण हैं। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि उपयोगमें दोनोंकी सत्ता है, किन्तु जो शुद्धात्म तत्त्व है उसीका अस्तित्व उपयोगमें है, अन्यका नहीं है। तथापि अन्यके स्वतः अस्तित्वका निषेध नहीं है। अन्यत्र उपयोग होनेपर उनकी स्वीकारता उसके ज्ञानमें है, तथापि अनुभवन कालमें उनकी सत्ताकी उपलब्धि नहीं है। यदि उस कालमें भी उपयोगमें वे आ जावें तो शुद्धात्मा परसे उपयोग तत्काल हट जायेगा। इसका मूल कारण यह है कि उपयोग एक समय एक ही पदार्थको विषय करता है। एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। "छदुमत्स्थाणं ण दुण्णि उवओगा" आचार्य नेमिचन्द्रके इस वचनसे यह स्पष्ट है। तथापि यदि सम्यग्दृष्टि अन्य कालमें अन्यान्य पदार्थों पर भी उपयोग ले जाता है तो उन्हें स्वात्मभिन्न अनुपादेय ही मानता है इससे उसके सम्यग्दर्शनमें कोई बाधा नहीं है।

उक्त कथनका तात्पर्य यह हुआ कि असंयत या देश संयत सम्यग्दृष्टिकी भी आगम कथित जीव द्रव्यके स्वरूप पर श्रद्धा संयतके समान ही है तथा यथोदित आत्माका शुद्धानुभवन भी तीनोंका समान है, क्योंकि अनुभवन कालमें लक्ष्यकी शुद्धता तीनोंमें समान है, अनुभवनकी स्थिरताका काल एक दूसरेका हीनाधिक है। संयम भावकी अपेक्षा तीनोंमें महान् अंतर है। उसे संयम पर्यायगत भेद ही मानना चाहिए। सम्यक्त्व पर्यायगत भेदमें समानता ही स्वीकार करना चाहिए। चारित्र मोहका उदय चारित्रसे च्युत करता है, सम्यक्त्वसे नहीं, जैसे एक आँखमें पीड़ा हो तो दूसरी आँख निरोग भी रह सकती है। अतः सरागीके तथा वीतरागीके सम्यग्दर्शन गुणमें क्षति नहीं होती।[1] जब तीनों सम्यग्दृष्टि हैं तो दृष्टिका अंतर कैसे रह सकता है। सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि ये दो भेद भी सम्यग्दर्शनके उन स्वामियोंकी अपेक्षा हैं जो सरागी और वीतरागी हैं। इसका अर्थ तो यही होता है कि सम्यग्दर्शन दोनोंको होता है। उसके सद्भावमें ही वे संयत हैं, अन्यथा नहीं परन्तु संयमभाव ही सम्यग्दृष्टिको मोक्ष द्वार तक पहुँचाता है, तथापि—सम्यक्त्वकी उक्त महिमा सुनकर संयम रहित जीवनका महत्व आंकना गलत होगा। चतुर्थ गुणस्थानकी सम्पूर्ण महिमा सम्यक्त्व भावकी महिमा है। उसके साथ होने वाला असंयतत्व ही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है जब तक उसे दूर न करेगा तब तक उसका संसार नहीं छूटेगा। संयमी शुद्धोपयोगी ही अपने क्रम वर्धित शुद्धोपयोगके फलस्वरूप केवलज्ञानी बनता है।

चतुर्थ गुणस्थानमें लक्ष्य शुद्धात्मा पर है, और पूर्ण संयमी अपने लक्ष्यको प्राप्त है। उसने दृष्टिमें श्रद्धाका जो लक्ष्य बनाया था, उस लक्ष्यकी पर्यायगत प्राप्ति संयमीको ही संभव है; असंयमदशा में सम्यग्दृष्टिको नहीं। यहाँ संयमीसे तात्पर्य विगतराग संयमीसे है। सम्यग्दृष्टित्व पूर्वक ही विगतरागपना सम्भव है।

---

१. पञ्चाध्यायी अध्याय २, श्लोक ६९१-९२-९३।

स्वानुभूति व शुद्धात्मोपलब्धि—

सम्यग्दृष्टि जीवको अपने ज्ञानके आधारसे जो स्वानुभव होता है वह उसकी शुद्ध स्वात्माकी ज्ञानमें उपलब्धि है। प्रवचनसार गाथा १८९ की टीकामें लिखा है।

"किन्त्वत्र साधक तमत्वात् निश्चयनय एव उपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वात् स एव साधकतमः अतोऽधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः" अर्थात् सम्यग्दृष्टिका साध्य शुद्धात्मा है। निश्चयनय आत्माकी शुद्धताका द्योतक है अतः वह साधकतम है। अशुद्धताका द्योतक व्यवहार नय है जिससे अशुद्धात्मकी प्राप्ति है, अतः सिद्ध है कि शुद्धनयसे ही शुद्धात्म लाभ है। जिसका फल मोह ग्रन्थिका भेदन है। निश्चयनयका विषयभूत शुद्धात्मा है अतः उसके आश्रयसे ही मिथ्यात्व छूटकर सम्यक्त्व होता है।[1]

स्वसंवेदन, स्वानुभूति—शुद्धात्मोपलब्धि-स्वरूपाचरण-शुद्धोपयोग शब्दोंका अध्यात्ममें सर्वत्र उपयोग है, तथा इन सबका अविनाभाव सम्यग्दर्शनके साथ है। अतः इनका प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थानसे हो जाता है, तथापि संयमभावके साथ ये सब गुण अपनी चरमोत्कर्ष अवस्थाको प्राप्त करते हैं। आगममें इन चारों शब्दोंका प्रयोग संयमी साधुओंके लिए भी बहुत वार अत्यंत स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थके लिए शुभोपयोगकी मुख्यता है। शुद्धोपयोग उसके गौण है,[2] अतः उसकी गणना शुभोपयोगीमें की गई है, तथा षष्ठादि गुणस्थान वाले सराग चारित्र वाले साधुको भी दोनों उपयोगोंकी संभावना होनेके कारण गौणरूपमें शुभोपयोगी भी कहा है। इससे आगे सप्तमादि गुणस्थानोंमें साधुको शुद्धोपयोगी ही कहा गया है। बुद्धिपूर्वक उपयोगमें शुद्धता ही है अतः उन्हें शुद्धोपयोगी माना है, पर पूर्ण रागादिसे रहित अवस्था ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानकी ही है। अतः पूर्ण शुद्धोपयोगी उन्हें ही कहा है। तेरहवें चौदहवें गुणस्थानमें होनेवाला केवलज्ञान उस पूर्ण शुद्धोपयोगका फल है अतः पूर्णरूपमें निश्चल स्वानुभूति,—पूर्णरूपसे शुद्धात्मोपलब्धि, केवली भगवान्को ही है। चतुर्थ गुणस्थानमें जिसका बीजारोपण हुआ था उसका अंकुर आगे-आगे बढ़ता गया और केवली अवस्थामें वह पूर्ण फलवान् वृक्षवत् हो गया। बीजमें वृक्षकी पूर्ण शक्तिकी स्वीकारना है पर शक्तिकी व्यक्ति वृक्ष बननेपर ही है। बीजमें फल नहीं लगते अतः फलोपभोगकी दृष्टिसे वह शून्य है, तथापि फलवान् वही बनेगा। दृष्टाने उसकी इस शक्तिकी पहिचान कर उसका अनुभव किया है। इसीमें बीजारोपण कर उसकी सतत रक्षा करता है ऐसा पुरुषार्थी ही यथा समय बीजजन्य वृक्षको तथा उसके विविध फलोंको प्राप्त करता है।

---

१. प्रवचनसार गाथा १९४

२. प्रवचनसार' तत्वप्रदीपिका टीका, गाथा २५४

इस सम्यक्त्व बीजकी महिमा आचार्य—समन्तभद्रके शब्दोंमें इसी प्रकार है—वे लिखते हैं कि ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति-स्थिति-वृद्धि और फलोदय सम्यक्त्वके बिना नहीं होते।[1] इसीसे सम्यग्दृष्टिकी 'जिन' संज्ञा है। आचार्य जयसेन तो सासादन गुणस्थानको भी जिनसंज्ञा देते हैं[2]।

सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण

सम्यग्दृष्टिको जितने काल अपने उपयोगकी स्थिरतामें स्व का अनुभव होता है वही उसका स्वरूपाचरण है। यह अनुभूतिके आधार पर प्रारंभ है और यही समस्त रागादिके अभावमें वीतरागी साधुके अपने चरमस्वरूपमें है।

'स्वरूपेचरणम् चारित्रम्' यह चारित्रका लक्षण है। यद्यपि पूर्ण स्वरूप रूप आचरण संयमीके ही संभव है, गृहस्थके नहीं, तथापि स्वानुभूति कालको स्वरूपमरण काल मानकर ही संभवतः उसे स्वरूपाचरण ग्रन्थोंमें कहा है।

चारित्रके चार भेद इस युगके प्रख्यात विद्वान् पं० गोपालदासजी वरैयाने जैन सिद्धान्त प्रवेशिकामें किये हैं—स्वरूपाचरण, देशसंयम, सकलसंयम, यथाख्यातसंयम। इन सबके आवरण करने वाली क्रमशः अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय मानी गई है। आचार्य कुन्दकुन्दने अष्टपाहुड़में चारित्रके दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। सम्यक्त्वके साथ होने वाले चारित्रको उन्होंने सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है[3]।

पञ्चाचारके वर्णनमें दर्शनाचार का जो स्वरूप है सम्यक्त्वाचरण का भी वही स्वरूप प्रतिपादित है।[4] संयमाचरणके भेद सागार-निरागार अर्थात् देशसंयम और सकलसंयमके रूपमें चारित्र प्राभृत गाथा २१ में दर्शाये हैं।

आचार्य जयसेनने समयसारकी गाथा १७७–१७८ की व्याख्यामें एक प्राचीन गाथा उद्धृतकी है जो अनंतानुबंधी आदि कषायोंके कार्यों पर प्रकाश डालती है।

आद्याः सम्यक्त्व चारित्रे, द्वितीयाः घ्नन्त्यणुव्रतम्।
तृतीया संयमं तुर्य्याः यथाख्यातं क्रुधादयः॥

अर्थात् प्रथम अनंतानुबंधी कषायें सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का घात करती हैं। द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषायें अणुव्रत अर्थात् देशसंयम का घात करती हैं। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायें संयम अर्थात् महाव्रतका घात करती हैं और चौथी संज्वलन कषायें यथाख्यात संयमका घात करती हैं। इसके अनुसार अनंतानुबंधी

---

१. विद्यावृत्तस्य संभूतिः—······· —रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२. चारित्र चूलिका प्रवचनसार गाथा १ की जयसेनाचार्यकृत टीका।
३. जिनणाण दिट्ठि सुद्धं····इत्यादि चारित्रपाहुड़ गाथा संख्या ५ तथा
तंचेवगुण विशुद्धं····इत्यादि गाथा संख्या ८ चारित्र पाहुड़
४. चारित्रप्राभृत गाथा ११ और १२।

कषाय सम्यकत्वका भी घात करती है तथा चारित्रका भी घात करती है। अन्य ग्रन्थकार भी ऐसा ही निरूपण करते हैं।[1]

ग्रंथान्तरोंमें भी अनन्तानुबंधीको द्विमुखी कहा है। द्विमुखी सर्प दोनों ओरसे काटता है, इसी प्रकार यह कषाय दोनोंके घातका काम करती है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि चारित्र तो केवल देशव्रत महाव्रत रूप सागार अनगारका है जो दो प्रकार है, फिर अनंतानुबंधी कौनसे चारित्रका घात करती है? इसीका समाधान स्व० पं० गोपालदासजीने जैन सिद्धान्त प्रवेशिकामें किया है। जयसेनाचार्यने उक्त गाथामें भी तीन नाम अंतके दिये हैं पर प्रथम चारित्रका नाम नहीं दिया, तथापि उसका अस्तित्व प्रतिपादन किया है। संभवतः गुरु गोपालदासजीने उक्त गाथाके आश्रयसे तथा चारित्र प्राभृत (आ० कुन्दकुन्द) के आश्रयसे ही उक्त चार भेद चार नामोंसे अंकित किये हैं। 'सार्वधर्म' नामक अपनी पुस्तकमें भी उन्होंने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। विद्वद्वर्य स्व० पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने आगम मार्ग प्रकाशक नामक अपनी वृहदाकार पुस्तकमें इसकी अनेक प्रमाणोंसे पुष्टिकी है।[2]

प्रशम-संवेग-अनुकम्पा रूप प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टिके नैतिक सदाचारकी द्योतक है। ये गुण सम्यक्त्वीके अवश्य पाये जाते हैं। यही चारित्र उसका है जो मिथ्यादृष्टिके मोहोदयमें नहीं होता। अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोहमें अंतर्गभित है। अतः वह सम्यक्त्वके अविनाभावी स्वरूपाचरण या सम्यक्त्वाचरणका घात करती है पंचाध्यायी ग्रन्थमें सम्यग्दृष्टिके इन गुणोंका वर्णन विस्तारसे श्लोक संख्या ४२६ से ४४६ तक किया है वहां देख सकते हैं।

आचार्य जयसेनने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

'कालादिलब्धिके वशसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होने पर यह जीव सहज शुद्ध पारणामिक भाव लक्षण **निज परमात्मा द्रव्यके सम्यक् श्रद्धानज्ञान और आचरण की पर्यायके रूपमें** परिणमन करता है। उसी परिणमनको आगम भाषामें औपशमिक क्षायिक-क्षायोपशमिक तीन भाव कहते हैं। वही अध्यात्म भाषामें शुद्ध आत्माके अभिमुख परिणाम कहाता है जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नामसे कहते हैं[3]।'

---

१. कर्मानन्तानुबंधियत् घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः।

पंचा० अध्याय २ श्लोक ११३९।

तथा—एदे चत्तारिवसम्मत्त चरित्ताणं विरोहिणो दुविह सत्ति संजुत्तादो—षट्खण्डागम धवला भा० ६ सूत्र—२३ की टीका।

२. आगम मार्ग प्रकाशक (पं० मक्खनलालजी कृत) अध्याय ३-४-५ पृ० ८१ से १५४ तक।

३. तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति, तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्चपरिणमनमागमभाषया औपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते : अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणामः "शुद्धोपयोग" इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

—समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०

अतएव यह स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टिके पारिणामिक भाव लक्षण स्वरूप निज आत्म द्रव्यके, श्रद्धा-ज्ञान-आचरण तीनों एक साथ होते हैं। इसे आगममें औपशमिक या क्षायिक अथवा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन तीन भावरूप कहा है। इसीको अध्यात्म भाषामें आत्माभिमुख परिणाम कहते हैं। "शुद्धोपयोग" भी इसीका नामान्तर है। सम्यग्दृष्टि जीवके यह न हो तो संयमका भवन खड़ा नहीं हो सकता। प्रकारान्तरसे पर-विषय-विमुखता और स्वात्म पदार्थकी ओर उन्मुखता ही उस चारित्रका स्वरूप है। यह स्थिति स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे असंयत सम्यग्दृष्टिकी भी होती है। यह पञ्चाध्यायीमें विस्तारके साथ वर्णित है[1]। सम्यग्दृष्टि जीवके स्वानुभूति, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और स्वरूपाचरणका वर्णन करने वाले उसमें और भी उनके श्लोक हैं जो विस्तारके भयसे यहां नहीं दिये जा रहे हैं।

यह विशेषरूपसे विचारणीय है कि मिथ्यादृष्टिका श्रद्धान मिथ्या श्रद्धान है, उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है, उसका चारित्र मिथ्या चारित्र है। ये मिथ्या-दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही उसकी अनादि कालीन संसार संततिके कारण हैं; यह आगम है[2]। इसके विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षकी पद्धति स्वरूप हैं। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ ही ज्ञानको सम्यग्ज्ञान संज्ञा प्राप्त है। तब यह स्वयं सिद्ध है कि उसका पूर्व मिथ्याचारित्र भी अब सम्यग्चारित्र है। यदि यह स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न सहज ही स्पष्ट होता है कि अविरत सम्यग्दृष्टिका चारित्र कौन सा चारित्र है? क्या यह मिथ्या चारित्र है? मिथ्या चारित्र तो मिथ्यात्व दशामें ही कहा जा सकता था। सम्यक्त्वोत्पत्ति पर मिथ्याचारित्र बना रहे क्या यह संभव है? तब प्रश्न होता है कि क्या वह सम्यग्चारित्र है? यदि यह कहा जाय कि चारित्र तो पञ्चमादि गुणस्थानोंमें होगा, अभी तो वह अविरत है, चारित्र उसमें नहीं आया, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सम्यग्दृष्टिके अविरत दशामें क्या चारित्र गुण नष्ट हो गया? जो चारित्र गुण प्रथम गुणस्थानमें मिथ्या था, सम्यक्त्व दशा होने पर वह मिथ्या नहीं रहा। वह सम्यग्चारित्र हुवा नहीं? तब चारित्र गुणका उसमें अभाव ही मानना पड़ेगा। किन्तु जिस गुणका मिथ्यात्व दशामें अभाव नहीं हुआ मात्र विरुद्ध परिणमन ही हुआ, उसका सम्यक्त्व होने पर सर्वथा अभाव हो गया ऐसा माना जाय तो फिर पंचमादि गुणस्थानोंमें क्या चारित्र गुणकी असत्से उत्पत्ति होगी, यह तो युक्ति व आगमसे विरुद्ध है। फलतः यहां मानना होगा कि उस अविरत सम्यग्दृष्टि-को ज्ञान और चारित्र दोनों सम्यक् हैं। वह चारित्र संयमका नाम न पा सकेगा, संयमरूप चारित्र व्रतावस्थामें ही होगा। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रके दो भेद पृथक-पृथक स्वीकार किये हैं, सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण, इसके समर्थनमें अन्य प्रमाण भी देखिये—

---

१. पञ्चाध्यायी अध्याय २, श्लोक ४२६ से ४४६

२. यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भव पद्धतिः —रत्नकरंडश्रावकाचार श्लोक ३

षट्खंडागम खंड १ भाग ९ पुस्तक ६ के २२ वें सूत्रकी टीकामें इसका स्पष्ट विवेचन है। मूलपाठ इस प्रकार है—

पापक्रिया निवृत्तिश्चारित्रम्। घादिकम्माणि पावं। तेसिं किरिया मिच्छत्ता-ऽसंजम कशत्रया तोसिमभावो चारित्रम्। इसका अर्थ यह है कि पापाक्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। घातिया कर्म पाप रूप हैं। पापक्रियायें तीन हैं, मिथ्यात्व असंयम, कषाय। इनके अभावको चारित्र कहते हैं।

श्री धवलाके उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व पाप है, अविरति पाप है तथा कषाय पाप है और कषायोंमें अनंतानुवंधी कषाय है वह भी पाप है, पापक्रिया-की निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व और अनंतानुवंधी कषाय रूप पापको निवृत्ति हुई है। अतः उसके चारित्र अवश्य है यह उक्त प्रमाणसे प्रमाणित है। अन्य कषायोंके अभावमें वही चारित्र संयमाचरण रूप हो जाता है। यदि षट्खण्डागम धवलाकारको मात्र संयमभाव ही चारित्र नामसे इष्ट होता तो मिथ्यात्वको असंयमको तथा कषायोंमें अनंतानुवंधीको पापरूप न लिखते। या फिर वे चारित्रका लक्षण पापनिवृत्ति न करते, संयम ही चारित्र है, ऐसा लिखते। अतः सिद्ध है कि चारित्र व्यापक शब्द है जो मिथ्यात्व और अनंतानुवंधीके अभावसे अवि-रत सम्यग्दृष्टिके भी है और अन्य कषायोंके, तथा तज्जन्य असंयमके अभावसे ऊपर गुणस्थानोंमें भी होता है। अनंतानुवंधीका व्यापार चारित्रके विषयमें निष्फल नहीं है अनंत कालीन असंयमके प्रवाहकी धारा वहाने वाली कषायको निष्फल कहना विरुद्ध है। यह भी धवलामें प्रतिपादित हैं[1]।

आचार्य कुन्दकुन्दने जैसे आचरण या चारित्रके दो भेद सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण किये हैं उसी प्रकार धवलाकारको भी इष्ट है, यह उक्त उद्धरणसे सिद्ध है।

अतः यह स्वीकार करने योग्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टिके संयम भावके विना भी सम्यग्चारित्र होता है। उसे आचार्य कुन्दकुन्द सम्यक्त्वाचरण कहते हैं[2]। तथा उसे ही पञ्चाध्यायीकार तथा अन्य ग्रन्थकार स्वरूपाचरण कहते हैं। नाममें अंतर है। पर सम्यग्दृष्टि अविरतीके भी सम्यग्चारित्र गुणके अस्तित्वमें सभी आचार्य सहमत हैं।

स्वसंवेदन और उसकी प्रत्यक्षता—

आचार्य अमृतचंद्रने तत्वार्थसारके प्रथम अध्यायमें मतिज्ञानके छः भेद गिनायें हैं। उनमें सर्वप्रथम स्वसंवेदनको ही गिनाया है। तत्पश्चात विज्ञान, स्मरण, प्रत्य-भिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान ये पाँच भेद गिनाये हैं[3]।

---

१. ण चाणन्ताणुवन्धिचउक्कवावारो चारित्ते णिप्फलो, अपच्चक्खाणादि अणन्तोदयपवाहकार-णस्स णिप्फलत्त विरोहा —षट्खण्डागम, धवला पु० ६ सू० २२ टीका

२. चारित्रप्राभृतकी गाथा ३ से १२

३. स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा
प्रत्यभिज्ञान मूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ॥ —तत्वार्थसार श्लोक १९

स्वात्मसंवेदन ही सम्यग्दर्शन है और वह स्वात्म संवेदन या स्वसंवेदन "प्रत्यक्ष' है, ऐसा अन्य ग्रन्थोंमें भी वर्णित है। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा प्रत्यक्ष है तो क्या वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है ? आत्मा तो अरस, अरूप, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है। वह इन्द्रियसे प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकती। न स्वात्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष है और न पर का आत्मा इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष जाना जाता है। इन्द्रिय मनोज्ञान दोनोंकी गणना परोक्ष प्रमाणोंमें है, प्रत्यक्षमें नहीं। अवधि, मनःपर्यय ज्ञानको एकदेश प्रत्यक्ष तथा केवलज्ञानको सर्वदेश प्रत्यक्ष कहा गया है। मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं ऐसा सूत्रकारका उपदेश है अतः मति श्रुतज्ञानी इन्द्रिय मनोज्ञानसे आत्माको प्रत्यक्ष नहीं करता। अवधि मनः पर्यय भी रूपी पदार्थोंको ही जानते हैं अरूपीको नहीं, अतः वे भी आत्मा को प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ नहीं हैं। अब एकमात्र केवलज्ञान ही पांच ज्ञानोंमें है जो मूर्त अमूर्त सभी पदार्थोंको युगपत् सर्वदेश प्रत्यक्ष करता है अतः वह केवलज्ञानका ही प्रत्यक्ष विषय है। केवलज्ञानी स्वात्मा और परमात्मा दोनोंको प्रत्यक्ष जान सकते हैं। पर स्वात्मज्ञान तो सम्यग्दृष्टिको जो चतुर्थ गुणस्थान वाला है उसे भी होता है, यद्यपि वह मति श्रुतज्ञानी ही है। सहज ही प्रश्न होता है कि फिर उसे स्वका प्रत्यक्ष संवेदन कैसे होता है। **इसका समाधान पञ्चाध्यायीकारने किया** है। वे लिखते हैं कि मति ज्ञानावरणके भेदोंमें एक स्वानुभूत्यावरण भी है जिसका क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होने पर ही होता है, उसके पूर्व नहीं होता। यह स्वानुभूत्यावरण स्वानुभूति न ह्ने-में निमित्त है। इसकी गणना मतिज्ञानके अंतर्गत ही स्वीकारकी गई है। तथापि उसके लिए स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शब्दका ही उपयोग ग्रन्थमें सर्वत्र किया गया है[1]।

इस पर प्रकाश डालने वाले अनेक आगम प्रमाण नीचे दिये जा रहे हैं—

श्री **समयसार जी संवर अधिकार** गाथा १८९ की टीका समाप्तिके बाद श्री जयसेनाचार्यने दो गाथाएं और लिखी हैं और उनकी टीका भी की है। संभवतः उन दो गाथाओंमें दूसरी गाथाकी टीका इस विषय पर प्रकाश डालती है[2]। जिसका अर्थ यह है कि "शुद्ध निश्चय नयसे, रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन रूप भाव-श्रुतज्ञान,

---

१. अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः
   न तत्क्षतिरसत्यंत्र सिद्धमेतज्जिनागमे —पञ्चा० अ० २ श्लोक ८५७
   तथा तत्त्सार्थसार अ० १ श्लोक १९-२०

२. यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपम् भावश्रुतज्ञानम् शुद्धनिश्चयेन परोक्षमिति भण्यते, तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं, तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति। केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति। किन्तु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयिति ? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छंति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव, पश्चात्परमसमाधिकालेप्रत्यक्षो भवति। तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः। एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्न परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतं॥
   —समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा १९९

केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है, तथापि सर्वसाधारणको होने वाला जो इन्द्रिय मनोजनित सविकल्पज्ञान होता है उसकी अपेक्षा वह प्रत्यक्ष है। इस कारण आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है, केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष है। सर्वदा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता। सोचो कि चतुर्थ कालमें भी केवली भगवान् क्या आत्माको हाथमें लेकर दिखलाते हैं? वे भी दिव्य ध्वनिसे कहते हैं। दिव्यध्वनि सुननेके कालमें सुनने वालोंके लिए आत्माका स्वरूप परोक्ष ही होता है, तत्पश्चात् श्रोता लोग परमसमाधि स्वीकार करते हैं। उस ध्यानस्थ अवस्थामें वह उनको प्रत्यक्ष होता है-अनुभव गोचर होता है, वैसा आज भी हो सकता है। इस प्रकार परोक्ष आत्माका किस प्रकार ध्यान किया जा सकता है, इसका समाधान करते हुए दो गाथाएं समाप्त हुई।)

ऊपरके शब्द जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीकाके भाषानुवादकार श्री आचार्य ज्ञानसागर महाराजकृत अनुवादसे ज्योंके त्यों लिये गये हैं। इससे प्रमाणित है कि सम्यग्दृष्टिके रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान होता है, और वह मतिज्ञान रूप परोक्षके अंतर्गत इन्द्रिय मनोजनित ज्ञानकी अपेक्षा जो सविकल्प है उससे भिन्न निर्विकल्परूप प्रत्यक्ष है। भगवान् केवलीकी दिव्यध्वनिमें आत्माका स्वरूप सुनकर ध्यानस्थ अवस्थामें श्रोताओंको वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है अर्थात् अनुभवमें आता है और ऐसा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष **आज भी हो सकता है।**

इसी तरह श्री **नियमसारजीमें** जीवाधिकारकी गाथा ११-१२ में जो आचार्य पद्मप्रभ मलधारीदेवकी संस्कृत टीका है, उसमें जहाँ शुद्धाशुद्ध ज्ञानके स्वरूपके भेद बताये हैं वहां लिखा है कि—

(१) अत्र सहजज्ञानं शुद्धन्तस्तत्त्व परमतत्त्व व्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्षम्। केवलज्ञानं सकल प्रत्यक्षम् अवधिज्ञानं मनपर्ययज्ञानश्च विकल प्रत्यक्षम्।

(२) उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेकं निज परम तत्त्व निष्ठ—सहज ज्ञान-मेव.... ।

(३) अपि च पारिणामिक भाव स्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहज ज्ञानादपरमुपादेयं न समस्ति।[1]

उक्त लेखका तात्पर्य यह है कि 'प्रत्यक्ष' तीन प्रकारका है (१) स्वरूप प्रत्यक्ष (२) सकल प्रत्यक्ष (३) विकल प्रत्यक्ष।

(१) स्वाभाविक ज्ञान जो शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप है परमतत्त्वमें व्यापक होनेसे **स्वरूप प्रत्यक्ष** है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। तथा अवधि, मनः—पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष है।

---

१. केवल मिंदियरहियं.... गाथा ११ नियमसार जीवाधिकारकी संस्कृत
सण्णाणंचउमेयं.... गाथा १२ टीका

(२) इन ज्ञानोंमें साक्षात् मोक्षका मूल एक निज परमतत्त्व निष्ठ सहजज्ञान ही है। तथा—

(३) सहजज्ञान पारणामिक भाव रूप स्वभावके कारण, भव्य जीवका परम स्वभाव होनेसे उस सहजज्ञानके अतिरिक्त और कुछ उपादेय वस्तु नहीं है।

यहां स्वसंवेदनज्ञानको स्वरूप प्रत्यक्ष लिखा गया है। इस सहज पारणामिक स्वरूप निज शुद्धात्मकी अनुभूतिको आचार्यने प्रत्यक्ष ही कहा है।

(४) समयसारकी अपनी टीकाके प्रारंभिक मंगलाचरणमें भी आचार्य अमृतचन्द्रने जिस समयसार (शुद्धात्म तत्त्व) की वन्दनाकी है उसे **'स्वानुभूत्या चकासते'** अर्थात् वह स्वानुभूतिमें स्वयं प्रकाशमान है, ऐसा निरूपित किया है।

(५) श्री **प्रवचनसारके मंगलाचरण**की टीका करते हुए अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं—**एष स्वसंवेदन-प्रत्यक्षो दर्शनज्ञानसामान्यात्माहं श्री वर्द्धमान देवं प्रणमामि।** यह मैं दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप **स्वसंवेदन प्रत्यक्ष** आत्मा हूँ सो मैं श्री वर्द्धमानदेवको प्रणाम करता हूँ।

उक्त उद्धरणोंमें भी आचार्य अमृतचन्द्र अपने स्वसंवेदनज्ञानको 'प्रत्यक्ष' शब्दसे ही उल्लिखित करते हैं। इसी गाथाकी अपनी संस्कृत टीकामें श्री **जयसेनाचार्यने** भी ग्रन्थके प्रारंभमें यह लिखा है—

(६) एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमनाः **स्वसंवेदन प्रत्यक्षः**। अर्थात् ग्रन्थ करनेके उद्यत मन वाला मैं यह स्वसंवेदनसे प्रत्यक्षीभूत हूँ। यह कहना यहां संगत न होगा कि "यह स्वसंवेदन ज्ञान मुनियोंको ही होता है क्योंकि दोनों टीकाकार यति पदारूढ़ हैं, श्रावकके लिए तो ऐसा विशेषण नहीं दिया गया है" क्योंकि इसी टीकामें 'शिवकुमार' जिनके निमित्त ग्रन्थका प्रारंभ किया है उनके विशेषणोंमें भी यह लिखा है—

अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमार नामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृत विपरीतचतुर्गतिसंसारदुःखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः……… ।

शिवकुमार महाराजको भी 'स्वसंवित्ति' थी। अतः तज्जन्य परमानन्दैक लक्षण सुखका अनुभवी था अतः वह संसार परिभ्रमणके दुखसे भयभीत था, समुत्पन्न परम भेद ज्ञानके प्रकाशका अतिशय जिसे प्राप्त था—ऐसा वर्णन जयसेनाचार्यने किया है।

(७) समयसार गाथा ५ की आत्मख्याति टीकामें एकत्व विभक्त आत्माके दर्शन करानेकी प्रतिज्ञा, जहाँ ग्रन्थकारने की है, वहां यह भी बताया है कि **स्वानुभव प्रत्यक्ष** द्वारा परीक्षा करके ही स्वीकार करना। किन्तु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेणपरीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं।

(८) **प्रवचनसार** गाथा ३३ की टीकामें श्री जयसेनाचार्य लिखते हैं—

संसारी विवेकीजनः पुर्निशास्थानीय संसार पर्याये प्रदीप स्थानीयेन रगादि विकल्प रहित परमसमाधिता निजात्मानं पश्यति।

यहां उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि केवली सूर्य समान केवल ज्ञानसे भगवान् आत्माको देखते हैं। इसी प्रकार संसारी विवेकी जन रात्रिमें प्रदीपकी तरह रागादि विकल्प रहित निजात्माको, परम समाधि रूप भाव श्रुतज्ञानसे देखते हैं। इसीकी उत्थानिकामें यह भी स्पष्टीकरण किया है—

(९) "**यथा निरावरण सकल व्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेन आत्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरण-एक देश व्यक्ति लक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्ति बीजभूतेन स्वसंवेदन ज्ञान रूप भावश्रुतेनापि आत्मपरिज्ञानं भवति**" जैसे निरावरण सकलार्थ प्रकाशक केवलज्ञानसे आत्माका परिज्ञान होता है उसी प्रकार केवलज्ञानके लिए बीजभूत (कारणभूत) सावरण एक देश प्रगट रूप स्वसंवेदन ज्ञानरूप भाव श्रुतज्ञानसे भी आत्म परिज्ञान होता है।

(१०) **प्रवचनसार** गाथा ८६ की टीकामें आचार्य जयसेनने लिखा है— **तथैवानुमानेनवा तथाहि अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्ध बुद्धैक स्वभावः परमात्माऽस्तीति कस्माद्धेतोः निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति।**

इस देहमें निश्चयनयसे शुद्धबुद्धैक स्वभाव परमात्मा है। यह निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु से अनुमानित होता है, सुखादिकी तरह। अनुभव तो प्रत्यक्ष ही होता है। "**पच्चक्खो अणुभवो जम्हा**" —बृहत् नयचक्र—२६६

(११) समयसार गाथा ७३ की टीकामें अमृतचन्द्र स्वामी लिखते हैं—**अहमयमात्मा प्रत्यक्षम् अक्षुण्णमनन्तं चिन्मात्रं ज्योतिः एकः**······ । यह 'प्रत्यक्ष' मैं आत्मा पवित्र अनन्त चैतन्यज्योतिस्वरूप अनाद्यनंत नित्य उदयको प्राप्त विज्ञानघन स्वभाव वाला एक हूँ। अमृत कलशोंकी परमाध्यात्म तरङ्गिणी नामक टीका शुभचन्द्राचार्य कृत संस्कृत भाषामें है। "उसके रागाद्याः वा इत्यादि" ३७ वें कलशकी टीकामें 'सर्व एवास्यपुंसः' शब्दके अर्थमें लिखा है—'**अस्य प्रत्यक्षस्य पुंसः**' अर्थात् इस प्रत्यक्ष आत्माको जो रागादि भाव भिन्न ही है।

(१२) वृहद्द्रव्यसंग्रहमें मिथ्यादृष्टिका जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उससे सम्यग्दृष्टिका प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजपरमात्माका श्रद्धान है, यह स्पष्ट हो जाता है।[1]

(१३) मतिज्ञान परोक्षज्ञान है, उसकी गणना प्रत्यक्षमें नहीं है तब उसके भेद स्वरूप स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमसे होने वाली स्वानुभूति जो सम्यग्दृष्टिके होती है, उसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जाय, ऐसा प्रश्न पञ्चाध्यायीमें भीं उठाया गया है।[2] उसका

---

१. सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्म प्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्व नवपदार्थेषु·······यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिः—वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की सं० टीका।

२. पञ्चाध्यायी अ. २ श्लोक संख्या ४६०-४६१

समाधान भी इस प्रकार दिया है कि मतिश्रुतज्ञान पर पदार्थके जाननेमें परोक्ष है, परन्तु स्वसंवेदन करनेमें प्रत्यक्ष है। दर्शन मोहनीयके उपशमादिसे स्वानुभूतिमें मति-ज्ञान प्रत्यक्ष है।[1]

यह स्वानुभूति ही 'धर्म है' जो सम्यक्त्व स्वरूप है, शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप है, जिसका फल अक्षय क्षायिक सुख है।[2] आत्मानुभूति ही आत्मख्याति है और आत्म-ख्याति ही सम्यग्दर्शन है।[3]

इन सभी आगमोंसे यह प्रमाणित है कि सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव, या स्वसंवे-दनको प्रत्यक्ष ही माना गया है। सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ जैसे प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यादि गुण होते हैं उसी प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, स्वानु-भवज्ञान, वैराग्य, भेद विज्ञान, ज्ञान चेतना[4] आदि गुण भी उसे प्राप्त होते हैं और वे गुण उससे ऊपरके सभी गुणस्थानोंमें भी होते हैं। यह सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है।[5]

आत्माके जिस यथार्थ स्वरूपका सम्यग्दृष्टि ने दर्शन किया है, वही उसके लिए साध्य है। वर्तमान पर्यायमें मिथ्यात्व अनंतानुबंधी रहित होनेसे तन्मात्र ही शुद्ध है। संयमभावके अवलम्बनसे उसी लक्ष्यकी साधना करता है तथा निष्कषाय भावकी ऊपर-ऊपर अभिवृद्धि होती है, अतः पर्याय शुद्ध भी बनता जाता है, वह लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर बढ़ता है और बारहवें गुणस्थानमें तथा तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानमें वे सभी गुण, जो प्रत्येक आत्मामें शक्ति रूप थे, पर्यायरूपमें अभिव्यक्त हो जाते हैं। यह पुरुषार्थ सम्यक्त्वके साथ संयमभावका है, जिसे यथाख्यात चारित्र कहा है।

सम्यग्दर्शन ही सब पुरुषार्थों की जड़ है। अतः सभी प्रयत्नोंसे सर्वप्रथम उसे प्राप्त करना चाहिए। उसके प्राप्त होने पर आगेका मार्ग सुगम हो जाता है।

इस प्रकार स्वानुभूति, स्वसंवेदन, स्वात्मोपलब्धि, स्वरूपाचरण,-शुद्धोपयोग, स्वात्मसंवेदन-प्रत्यक्ष आदि जो वर्तमानमें चर्चित विषय हैं, उनका विवेचन आगमके प्रमाणोंके साथ किया गया। विद्वज्जन इन प्रमाणोंके आधार पर उक्त विषयोंको समझने तथा जिज्ञासुजनोंको समझानेका प्रयत्न करेंगे।

---

१. सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि प्रत्यक्षं स्वानुभूतेतु हङ्मोहोपशमादितः —पञ्चा० ४६२ अ २

२. धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धः स्वानुभवोऽथवा।—पञ्चा-२ श्लोक ४३२

३. ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेन एको जीव एव प्रद्योतते। एवमसौ एकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेन अनुभूयतएव। या तु अनुभूतिः सा आत्मख्यातिरेव आत्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शन-मेव इति समस्तमेव निरवद्यम्।—समयसारगाथा १३ की अमृतचंद्रीय टीका—

४. एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्र मारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वंछ तद्गुणाः ॥९४०॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्यं भेदविज्ञान मित्याद्यस्तीह किं बहु ॥९४१॥

५. सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ॥१९८॥—पञ्चा० अ० २

इस टीकाके लिखनेका निमित्त क्या था उसका प्रतिपादन प्रारम्भमें किया जा चुका है। द्वितीय-आवृत्तिमें यथा स्थान कुछ आवश्यक प्रश्नोत्तर भी बढ़ाए हैं।

इस संस्करणके प्रकाशनमें कुछ अनावश्यक विलम्ब हुआ है। प्रूफ संशोधनकी व्यवस्था न बन पानेसे प्रथमावृत्तिमें कुछ अधिक त्रुटियां हो गई थीं, इस आवृतिमें उन्हें दूर करनेका प्रयत्न किया है।

इस आवृत्तिके प्रूफ संशोधनका सारा कार्य श्री नीरजजी जैन एम. ए. सतनाने स्वयं करनेकी उदारताकी है। ग्रन्थ बनारसमें छपता था, और नीरजजी सतना रहते हैं, अतः बनारससे प्रूफोंके सतना आने तथा बनारस वापिस जानेमें विलम्ब भी होता था। श्री नीरजजी समाजसेवी लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् एवं पुरातत्त्ववेत्ता हैं, अनेक सामाजिक प्रमुख संस्थाओंके मानद सदस्य तथा पदाधिकारी हैं। उन्हें उन संस्थाओंकी सेवाएँ भी मध्यकालमें आ जाती थीं, अतः बाहिर भी जाना पड़ जाता था, इससे भी प्रूफ संशोधनमें विलम्ब हो जाता था। इस वर्ष तो भगवान बाहुबली सहस्राब्दि समारोहकी समितिकी बैठकोंमें उन्हें अनेक बार बैंगलोर, श्रवणबेलगोला, दिल्ली, बंबई आदि जाना पड़ा है, अतः इन दिनों ग्रंथका कार्य नहीं हो सका, साथ ही मध्यान्तरमें प्रेसके मालिक श्री फागुल्लको भी अन्य कार्य व्यस्तता आ गई इससे भी विलम्ब हो गया।

इस विलम्बकी भी चिन्ता श्री नीरजजीको थी अतः वे स्वयं चि० अमरचन्द एम. ए. के साथ बनारस जाकर कई दिन वहाँ रहे और ग्रन्थको शीघ्र तैयार करानेका पूर्ण प्रयत्न किया है, फिर भी इस विलम्बके कारण पाठकोंको असुविधा हुई है उसके लिए मुझे खेद है। ग्रन्थके संशोधन तथा संवर्धनमें श्रीमान् ब्रह्मचारी पं० माणिकचंद्रजी चवरे तथा श्रीमान् पं० धन्यकुमारजी भोंरे कारंजाका अधिकसे अधिक सहयोग प्राप्त हुवा है तथा प्रेस कापी करनेमें तथा प्रूफ संशोधनादि शेष सभी कार्योमें श्री नीरजजी एवं श्री अमरचन्दका पूर्ण सहयोग प्राप्त हुवा है। श्री मनोहरलालजी जैन एम. ए. एल. एल. बी. बी. ई. डी. रिटायर्ड आर. ई. एस. अजमेरने भी कुण्डलपुर आश्रममें १५ दिन साथ रहकर मुझे अपेक्षित सहयोग प्रदान किया है। इन सब सहायक सज्जनोंका मैं आभारी हूँ।

ग्रन्थ प्रकाशिनी संस्थाके अधिकारी तथा सञ्चालक स० सिं० धन्यकुमारजी, अभयकुमारजी, जयकुमारजीके भी हम अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने उक्त संस्थाकी ओरसे इस द्वितीयावृत्तिको भी लागतके आधे मूल्य पर पाठकोंको उपलब्ध करानेकी उदारता दिखाई है, ग्रन्थके स्वाध्यायी सज्जन श्री लक्ष्मीचंद्रजी जैन, लक्ष्मी साड़ी भंडार जबलपुरने रु० ५०१) तथा श्री चम्पाबाई श्री स्व० ज्ञानचन्दजी जबलपुरने रु० ५००) तथा स० सिं० धन्यकुमारजी कटनीने भी अपनी ओरसे ग्रन्थके प्रकाशनमें रु० १२५१) की सहायता देकर अपनी जिनवाणी सेवाका परिचय दिया है, उनके भी हम आभारी हैं।

यह द्वितीय संस्करण पाठकों, स्वाध्याय प्रेमियों तथा जिज्ञासु अध्यात्मरसिकोंके हाथमें पहुंच रहा है। इसमें मैंने अपनी शक्तिभर मनोयोग पूर्वक तज्ज्ञ विद्वानोंका मूल्यवान सहयोग लेकर ग्रन्थके पुनरीक्षण और संशोधन पूर्वक प्रकाशनका प्रयत्न किया है फिर भी मेरे अज्ञान व प्रमादसे कुछ त्रुटियाँ रह जाना सहज संभव है, उन सबको सुधार लेनेका पाठकोंसे करबद्ध अनुरोध करता हूँ, तथा अपनी उन त्रुटियोंके लिए क्षमा याचना करता हूं।

कटनी —जगन्मोहनलाल शास्त्री

३१-१०-८०,

आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि का परिचय

प्राय: ग्रन्थके आदिमें मंगल-निमित्त-हेतु-प्रयोजन-तथा कर्ताके उल्लेखकी प्राचीन परम्परा है। आचार्य अमृतचन्द्रने इस आध्यात्मिक टीकामें समयसार (शुद्धात्मा) की ही वन्दनाकी है। मंगलाचरणके बाद उन्होंने अपने चैतन्य स्वरूपकी एकतासे अभिन्न तथा परसे भिन्न, समयसारका प्रतिपादन करनेके प्रयोजनसे उक्त टीका ग्रन्थका प्रारंभ किया है। इस तरह केवल मंगल और प्रयोजन मात्रका उल्लेख कर अन्य हेतु आदि कारणोंका इसीमें समावेश कर दिया है। कर्त्ताका परिचय देनेमें वे स्वयं मौन हैं।

ग्रन्थके अन्तमें भी उन्होंने अपनी कोई परिचयात्मक प्रशस्ति नहीं लिखी, किन्तु निम्न श्लोक देकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया है—

'स्वशक्ति संसूचितवस्तुतत्वैः व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः' ॥

अर्थात्—जिन शब्दोंने इस समयसारकी व्याख्याकी है उन्होंने अपनी सहज योग्यतासे ही वस्तुतत्वको प्रतिपादित किया है। अमृतचन्द्रसूरि स्वयं अपने स्वरूपमें निष्ठ हैं, अत: उसकी इसमें कोई कृति नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पंचास्तिकायकी टीका भी अमृतचन्द्राचार्य कृत है। उसके अन्तमें भी उन्होंने केवल उक्त श्लोक लिखकर टीकाकी समाप्ति कर दी है।

इन दोनों ग्रन्थोंकी टीकाओंके अंतमें लिखित उक्त श्लोकसे टीकाकारका केवल नाम ही प्रकाशमें आता है। प्रवचनसार भी कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति है और उसकी टीका भी श्री अमृतचन्द्राचार्यने लिखी है। इस टीकाके अंतमें जो अंतिम छन्द उन्होंने लिखा है उसके आदिके दो पादोंसे भी केवल उनके नामकी सूचना मिलती है—

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्यातु गुम्फे गिराम्।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरितिमा मोहाज्जनो वल्गतु ॥

अर्थात्—लोक अपने मोहसे अमृतचन्द्रसूरिको इस टीकाका व्याख्याता न कहें, किन्तु वाणीके गुच्छकोंकी यह कृति है। यह अपने और विश्वके हितके लिए ही है। इस कृतिसे, स्याद्वाद विद्याके बलसे, तथा विशुद्ध ज्ञानकी कलासे निराकुल शाश्वत आत्मतत्वको प्राप्त कर एक स्वतत्व ही सबके हृदयमें बोले।

तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थसिद्धयुपाय भी आचार्य अमृतचन्द्र जीकी स्वतंत्र रचनाएं हैं। तत्त्वार्थसारके अंतमें निम्नलिखित श्लोक निबद्ध है—

वर्णाः पदानां कर्त्तारो, वाक्यानांतु पदावलिः।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि पुनर्वयम् ॥

वर्णोंके द्वारा पद, पदोंके द्वारा वाक्य और वाक्योंसे यह शास्त्र बना है, वे ही इसके कर्त्ता हैं हम इसके कर्त्ता नहीं हैं।

पुरुषार्थसिद्धयुपायके अन्तमें मात्र इतना ही लिखा है—

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥

अर्थात्-विविध वर्णोंसे पद, पदोंसे वाक्य और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र बना है, इसे हमने नहीं बनाया। इन दोनों रचनाओंमें उन्होंने अपना नाम भी प्रकाशित नहीं किया।

प्रायः ग्रन्थकार ग्रन्थके आदिमें या अंतमें अपनी गुरु परम्परा, संघका नाम ग्रन्थके बनानेका निमित्त और रचनाका समय आदिका उल्लेख करते हैं, जिससे ग्रन्थ-कारका परिचय प्राप्त हो जाता है। परन्तु अमृतचन्द्रसूरि अपनी आध्यात्मिकताकी गंभीरतासे स्वरूपमें ही स्थित रहे, अतः परिचय प्राप्त करनेसे उन्होंने हमें वंचित कर दिया। कहीं कहीं कार्य विशेषके उल्लेखमें टंकित शिलालेखोंमें भी तत्कालीन आचार्योंका परिचय प्राप्त हो जाता है, परन्तु अमृतचंद्रजीके संबंधमें वह भी अप्राप्य है। कभी कभी अन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थों भाष्यों वा टीकाओंमें भी भिन्न ग्रन्थकारोंके उल्लेख मिल जाते हैं, इनके संबंधमें वह भी उपलब्ध नहीं है, अतः अमृतचन्द्रसूरिका प्रामाणिक परिचय देनेमें हम असमर्थ हैं। इनकी आध्यात्मिक निष्ठा, जिसका कि परिचय उनकी रचनाओंसे स्वयं मिलता है, उनका अन्तः परिचय देती है। आचार्य-महाराजके परिचयके लिए वही पर्याप्त है, फिर भी उपलब्ध प्रमाणों और संकेतोंका सहारा लेकर उनका लौकिक परिचय यहां प्रस्तुत करनेका हम प्रयत्न कर रहे हैं।

ग्रन्थ प्रशस्तियोंके आधारसे—

वीर सं० २४३९ में परमश्रुत प्रभावक मंडल वम्बईकी ओरसे प्रवचनसारका प्रकाशन हुआ। इस ग्रन्थके अन्तमें दो प्रशस्तियां छापी गई हैं, जिनका शीर्षक है—'अथ टीकाकारस्य प्रशस्तिः'। परीक्षण करने पर यह बात सामने आई कि दोनों प्रशस्तियां टीकाकारोंकी नहीं हैं, किन्तु दोनों टीकाओंके विभिन्न प्रतिलिपि कारोंकी हैं। वे ही इस ग्रन्थके अन्तमें उक्त शीर्षकोंसे छाप दी गई हैं। उनमेंसे दूसरी प्रशस्ति, जो आचार्य जयसेनकी प्रशस्ति कही जाती है, वह वस्तुतः चारुभट नामके किसी श्रावक प्रतिलिपिकारकी है। इसके प्रारंभमें उसने सबसे प्रथम आचार्य कुमुदचन्द्र, तत्पश्चात् मूल संघमें श्री वीरसेनाचार्य, इनके बाद सोमसेन और उनके शिष्य जयसेन आचार्यकी वन्दनाकी है। इस परसे यह संभावनाकी गई है कि यह आचार्य जयसेन-की प्रशस्ति होगी जो कि समयसार तथा प्रवचनसारकी तात्पर्यवृत्तिके टीकाकार हैं। फिर भी यह निश्चय रूपसे कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकाओंके अन्तमें स्वयं अपनी कोई प्रशस्ति नहीं लिखी। इसी प्रशस्तिके लेखक चारुभटने उक्त प्रकारसे जयसेनाचार्यको वन्दना करनेके पश्चात् अपने स्वयंका परि-चय इस प्रकार दिया है कि मैं साहु मालूका पौत्र तथा साहु महीपतिका पुत्र चारुभट

हूँ। अपने पिताकी भक्ति वशात् समयप्राभृतको पुष्ट करता हूँ तथा अपने गुरु त्रिभुवन चन्द्रकी वन्दना करता हूँ। इस प्रशस्तिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि चारुभट प्रतिलिपिकार ही था। हो सकता है कि उसे जयसेनाचार्यकी पूर्व परम्पराका ज्ञान हो अतः उसने प्रारम्भमें उनकी वन्दनाकी हो। इस प्रशस्तिके आधार पर विद्वानोंने जयसेनाचार्यकी गुरु परम्पराका निर्णय किया है। यदि यह प्रशस्ति आचार्य जयसेनने स्वयं लिखी होती तो वे न तो अपनी गुरु परम्पराके साथ स्वयं अपनी वन्दना करते और न अपने परिचयमें अपने पितामह और पिताके नामके साथ अपना गृहस्थावस्थाका नाम देते। ऐसी परम्परा जैनाचार्योंकी नहीं है।

इसी प्रकाशनमें जो प्रथम प्रशस्ति छापी गयी है वह गोपाचल (ग्वालियर) देवपत्तनके पट्ट पर बैठने वाले काष्ठासंघके त्रयमाथुरान्वय, पुष्कर गणके भट्टारकोंसे सम्बन्धित है। इस प्रशस्तिमें सर्व प्रथम नयसेन भट्टारकका नाम है, पश्चात् उनकी शिष्त परम्परामें धर्मचन्द्र भट्टारक तक दस पीढ़ियोंके नाम दिये गये हैं। प्रतिलिपिकार ब्र० हरिराज इस परम्पराकी सातवीं पीढ़ीके भट्टारक पद्मकीर्तिके शिष्य हैं इसका भी उल्लेख उन्होंने इस प्रशस्तिमें किया है।

यह प्रशस्ति वि० सं० १४६९ में वीरमदेवके राज्यकालमें लिखी गई है। इसमें उल्लिखित भट्टारक परम्परामें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिका नाम नहीं है। **ऐसी स्थितिमें यह प्रशस्ति अमृतचन्द्रसूरिकी हैं, और वे काष्ठासंघके हैं, यह किसी प्रकार फलित नहीं किया जा सकता है।** वस्तुतः दोनों प्रशस्तियां प्रतिलिपिकारोंकी हैं। भ्रमसे उन्हें टीकाओंके अन्तमें लिखी देखकर टीकाकारोंकी प्रशस्ति मानकर शीर्षक दे दिया गया है।

डा० उपाध्येका मत—

प्रवचनसारका एक प्रकाशन वि० सं० १९९१ में हुआ। इसकी विस्तृत भूमिका प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान डा. ए. एन. उपाध्येने अंग्रेजीमें लिखी है। इसमें उन्होंने प्रवचनसारके टीका कर्ता आचार्य अमृतचन्द्रसूरिका परिचय देनेका प्रयत्न किया है। डा० उपाध्येके सामने भी ऐसे कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं थे, जिससे वे कोई अन्तिम और यथार्थ निर्णय देनेमें समर्थ हो सके हों। उस भूमिकामें जो कुछ लिखा है उसका शब्दशः हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या अमृतचन्द्राचार्यने प्राकृतमें भी लिखा है ? संभवतः उन्होंने लिखा हो उसका आधार यह है कि—

१. उनकी टीकाएं इंगित करती हैं कि वे प्राकृतके अच्छे ज्ञाता थे।
२. समयसारकी टीकाकी किसी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमें एक प्राकृत गाथा लिखी मिलती है जो सम्भवतः उनके द्वारा रची गयी होगी।
३. मेघविजय गणी अपने प्राकृत श्रावकाचारमें लिखते हैं कि अमृतचन्द्रने कुछ प्राकृत गाथाएँ भी लिखी हैं।

एक गाथा जिसे अमृतचन्द्रकी रचना कहा गया है, ढाढसी गाथा कही गई है। जिसके लेखकके **बारेमें कुछ भी पता नहीं** है, सिवाय इसके कि वह काष्ठासंघसे सम्बन्धित रहा होगा। यदि मेघविजय गणीकी यह मान्यता सत्य मानते हैं कि 'सम्भवतः ढाढसी गाथाके लेखक अमृतचन्द्र होंगे' तो उस स्थितिमें सम्भव है कि वे काष्ठासंघके सम्बन्धित रहे होंगे।" परन्तु यह **सब काल्पनिक आधार पर ही आधारित है**। एक टीकाकारके रूपमें अमृतचन्द्रजी की स्थिति वास्तवमें महान् है। आध्यात्म कविके रूपमें वे अद्वितीय और अनुपमेय हैं। किसी भी पूर्व अथवा पश्चात्के जैन लेखककी उनसे तुलना नहीं की जा सकती" (प्रवचनसार अंग्रेजी भूमिका पृष्ठ ९४)

ढाढसी गाथाका परीक्षण—

डा. ए. एन. उपाध्येने अपने उक्त लेखमें "एक ढाढ़सी गाथा समयसारकी किसी प्रतिके अन्तमें पाई जाती है" ऐसा उल्लेख मेघविजयगणीके लेखके आधार पर किया है। वह कौन सी गाथा है और कहाँ की प्रतिमें वह पायी गई है, उसका उल्लेख न तो मेघविजयगणीने किया और न डा० उपाध्येने ही किया। आजतक समयसारके बाइस प्रकाशन हो चुके हैं, उनमें किसीमें भी ऐसी कोई गाथा नहीं पाई जाती। अतः यह सम्भावनाकी जाती है कि उपाध्येजीको स्वयं भी उस गाथाका कोई पता न था। किसी अन्य टिप्पणके आधार पर ही उन्होंने अपने आलेखमें उसका समावेश कर लिया।

"ढाढसी गाथा" नामक ३८ श्लोकोंका एक प्रबन्ध, श्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित "तत्त्वानुशासनादि संग्रह"में सम्मिलित है। इसके ऊपर इस प्रकारका शीर्षक छापा गया है—

"अज्ञातनामकाष्ठासंघ भुक्ताचार्यकृता ढाढ़सी गाथा"

मात्र इस शीर्षकसे ये गाथायें काष्ठासंघसे सम्बन्धित मान ली गई हैं। संभवतः ये गाथायें उपाध्याय महोदयके सामने नहीं आईं। यदि आई होतीं और वे इन्हें पढ़ते, तो इस शीर्षकको गलत ही मानते। ढाढसी गाथाका लेखक कौन है, यह भले ही उन गाथाओंके आदि और अन्तमें नहीं बताया गया, तथापि गाथाओंमें कथित विषय वस्तु स्वयं इसका प्रमाण है कि—लेखक संघ भेदोंके पक्षपातसे रहित कोई तटस्थ व्यक्ति ही है। उस प्रबन्धमें उन्होंने लिखा है कि—"काष्ठासंघ, मूलसंघ तथा निष्पिच्छ संघ कोई तारने वाले नहीं हैं। आत्माको आत्मा ही तारता है अतः आत्माका ही ध्यान करना चाहिये।"

संघो को वि ण तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झाएह॥

—ढाढसी गाथा नं० २०

लेखकने यह भी लिखा है कि सर्व प्रथम मणि, धातु, रत्न, लेप, शिला तथा काष्ठमय प्रतिमाएँ जो पुण्यवान भव्य पुरुषोंने प्रतिष्ठितकी हों, वे ध्यानके आलंबन

भूत हैं, सो प्राथमिक अवस्थामें इनके अवलम्बनसे ध्यान करना चाहिये, पीछे बार-बारके अभ्याससे निरालम्ब ध्यान भी करना चाहिये। ऐसा करनेवाला लीलामात्रमें सिद्धिको प्राप्त होता है।

मणिरयणधाउलेवा सिलकट्ठमयघडिय पुण्णवन्तेहिं।
सालंवझाणमित्तं पयट्ठिया तेहिं भव्वेहिं ॥१३॥
पढमालम्बेषा य पच्छादो भावणा निरालंवे।
थूलच्चं कदव्भासो मुहुसज्जाइज्ज लीलाए ॥१४॥
—ढाढसी गाथा प्रबंध से

इस प्रकार ढाढसी गाथा प्रबन्ध के लेखकने अपना प्रबन्ध निष्पक्षरूपसे आत्मध्यानकी प्रेरणास्वरूप छत्तीस गाथाओंमें लिखा है। अन्तमें सैंतीसवीं गाथा है जिसमें उक्त छत्तीस गाथाओंके बाँचने और पढ़नेकी प्रेरणा दी है। वस्तुतः यहाँ ग्रंथकी समाप्ति हो चुकी है, तथापि उसके अन्तमें अड़तीसवें नम्बर पर निम्न एक गाथा और छापी गई है जो आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारके प्रथम अध्यायमें क्रमांक अस्सीसे ली गई है—

जो जाणदि अरहन्तं दव्वत्थ गुणत्थ पज्जयत्थेहिं।
सो जाणइ अप्पाणं मोहोखलुजाइ तस्सलयं ॥

इस गाथामें यह बताया है—"जो अरहन्तको द्रव्यगुण पर्यायिसे जानता है, वही आत्माको जानता है। उसीका मोहक्षय होता है।" ढाढसी गाथामें जिस सालम्ब और निरालम्बकी प्रेरणा ध्यानकी गई है उसीके समर्थनमें कुंदकुंद आचार्यकी यह गाथा टिप्पणके रूपमें दी गई होगी। इससे यह भी अनुमानित होता है कि उक्त प्रबन्धका लेखक मूलसंघके अग्रणी आचार्य कुन्द-कुन्दका अनुगामी है, या कमसे कम उनके साहित्यका अध्येता और समर्थक है।

पट्टावलियोंके आधारसे—

नंदि संघकी पट्टावलीमें यह उल्लेख है कि यह पट्ट विक्रम संवत् ४ में आचार्य भद्रबाहुसे प्रारम्भ हुआ। इनकी शिष्य परम्परामें वि० सं० १४२ में लोहाचार्य हुये और लोहाचार्यके बाद यह पट्ट दो शाखाओंमें विभक्त हो गया। एक पूर्वपट्ट हुआ जो मूल संघके नामसे प्रसिद्ध हुवा और दूसरा उत्तर पट्ट। काष्ठासंघकी पट्टावली लोहाचार्यसे प्रारम्भ होती है जो त्रेपन पीढ़ी तक चली है। अन्तिम भट्टारक मुनीन्द्र कीर्ति जी वि० सं० १९५२ में दिवंगत हुए। उनके बाद यह पट्ट समाप्त हो गया।

कारंजाके काष्ठासंघ मंदिरमें श्री मुनीन्द्रकीर्त्तिजीका चित्र आज भी गद्दीपर स्थापित है। इस मंदिरमें एक पुरानी पोथी है, जिसमें लाड़वागड़गच्छ की विरुदावली पेज १२८ पर अंकित है। यह विरुदावली संवत् १७७३ में लिखी गयी है। इसमें लोहाचार्यसे लेकर प्रतापकीर्ति; तककी तीस पीढ़ियां अंकित हैं। यह पट्टावली त्रेपन पीढ़ियों वाली पूर्वकी पट्टावलीसे भिन्न है। **काष्ठासंघकी इन दोनों पट्टावलियोंमें भी**

आचार्य अमृतचन्द्र सूरिका नाम नहीं है, काष्ठा संघ की मान्यता यही है। अतः यह निश्चित होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र काष्ठासंघसे सम्बन्धित नहीं थे।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरिका काल—

आचार्य अमृतचन्द्रका काल विक्रम सं० ९६२ का है तथा वे नन्दि संघसे सम्बन्धित थे। यह निम्न लिखित आधारों पर निश्चित होता है।

सन् १९०४ में पंचास्तिकायका एक प्रकाशन पं० पन्नालालजी बाकलीवालके सम्पादकत्वमें हुआ था। उसकी भूमिकामें उन्होंने लिखा है कि 'अमृतचन्द्रसूरि वि० सं० ९६२ में नन्दिसंघके पट्टपर हो गये हैं।' पं० मनोहरलालजी द्वारा सम्पादित प्रवचनसार, सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ है उसमें भी उन्होंने यही मत व्यक्त किया है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १, पृष्ठ १३७ पर श्री जैनेन्द्रवर्णीने अमृतचन्द्रसूरि का काल नन्दिसंघ पट्टावलीके अनुसार वि० स० ९६२ से १०१५ तकका लिखा है, और इस प्रकार सूचित किया है कि वे नन्दिसंघके पट्टपर ५३ वर्ष पर्यन्त रहे।

तेरहवीं शताब्दीके सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० आशाधरजीने अपनी अनगार धर्मामृत की टीका वि० सं० १२८५ में पूर्ण की। अपने इस ग्रंथमें उन्होंने दो जगह अमृतचन्द्र-सूरिका समयसारकी टीकाके कर्त्ताके रूपमें उल्लेख किया है। अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थसिद्धयुपायके 'लोकेशास्त्राभासे'.......आदि श्लोकका भी उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अमृतचन्द्राचार्य आशाधरजीसे पूर्व हो चुके हैं।

पद्मनन्दि पंचविंशतिकाके कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दिका समय वि० सं० १०७५ के बाद तथा वि० सं० १२४० के पूर्व माना गया है।

ये आचार्य पद्मनन्दि आचार्य अमृतचन्द्रसूरिके समयसारसे प्रभावित थे। इसी पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाकी एक टीका कन्नड़ भाषामें है जो किसी पद्मनन्दि व्रतीके द्वारा लिखी गई है। उन्होंने लिखा है कि—"इस ग्रन्थके कर्त्ता आचार्य पद्मनन्दि आचार्य अमृतचन्द्र रूपी चन्द्रमाकी चन्द्रिकाके द्वारा विकसित नेत्रकमलोंसे अवलोकित, अशेष अध्यात्म तत्त्वके वेदी थे। उनके मूल शब्द ये हैं—

"श्रीमदमृतचन्द्रचंद्रिकोन्मीलितनेत्रोत्पलावलोकिता शेषाध्यात्म तत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना.......।"

पद्मनन्दि पंचविंशतिकाकी अंग्रेजीकी लिखी हुई प्रस्तावनामें इसकी विस्तार से सिद्धिकी है। उक्त कथनसे अमृतचन्द्रसूरिका काल वि० सं० १०७५ के पूर्व सिद्ध होता है।

आचार्य अमितिगतिका काल वि० सं० ९७५ से १०२५ तक माना गया है। उनकी कृतियोंमें भी आचार्य अमृतचन्द्रसूरिकी रचनाका प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है, अतः सिद्ध है कि आचार्य अमृतचन्द्र अमितिगतिसे पूर्ववर्ती हैं।

६. 'धर्मरत्नाकर' नामक ग्रन्थके लेखक एक जयसेन नामके आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थकी ५६ गाथायें ज्यों की त्यों उद्धृत की हैं। इस ग्रन्थकी समाप्ति वि० सं० १०५५ में हुई है, ऐसा ग्रन्थके निम्न लिखित अंतिम श्लोक से सिद्ध है—

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतांयातः सर्वलोकरहाटके॥

अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि वि० सं० १०५५ से पूर्ववर्ती हैं।

७. डड्ढा नामक कविके द्वारा रचित एक संस्कृत 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ है। इसके श्लोक आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकर ग्रन्थमें उद्धृत हैं, अतः इस कविका काल आ० जयसेनसे पूर्व है। इस संस्कृत पंचसंग्रहमें आचार्य अमृतचन्द्रके तत्वार्थसारके श्लोक उद्धृत हैं, अतः सिद्ध है कि जयसेनसे पूर्व डड्ढा कवि, तथा इनसे पूर्व अमृतचन्द्राचार्य हुए हैं।

इन सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें आचार्य अमृतचन्द्रका काल जो वि० सं० ९६२ दिया गया है, वह निर्विवाद है। परमाध्यात्म तरंगिणीकी प्रस्तावनामें पंडित गजाधरलालजी ने, तथा पुरुपार्थसिद्ध्युपायकी प्रस्तावनामें पं० उग्रसेनजी रोहतक ने, तथा भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परंपरा नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थमें स्व० पं० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने भी उक्त मतका ही समर्थन किया है।

टीकाओंमें गाथा संख्याओंका अन्तर

आचार्य कुन्दकुन्दकी रचनाओंमें समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय, इन तीनों ग्रन्थोंके ऊपर आचार्य अमृतचन्द्रजीकी एवं आचार्य जयसेनजीकी संस्कृत टीकाएँ पायी जातीं हैं। परन्तु दोनों टीकाकारोंकी टीकाओंमें, मूलग्रन्थकी गाथाओंकी संख्यामें अन्तर पाया जाता है। प्रवचनसारमें छत्तीस गाथाओंका, समयसारमें सत्ताइस गाथाओंका और पञ्चास्तिकायमें आठ गाथाओंका अन्तर है, अर्थात अमृतचन्द्र जीने इन इकहत्तर गाथाओंकी टीका नहीं लिखी। जयसेनचार्यजी ने इन सभी गाथाओंकी टीका लिखी है।

प्रवचनसारकी भूमिका लिखते हुए डा. ए. एन. उपाध्येने इन गाथाओंकी टीका अमृतचन्द्रसूरि द्वारा न किये जाने पर कुछ अपनी आनुमानिक स्थापनाएँ दी हैं, वे इस प्रकार हैं—

प्रवचनसारकी एक टीका अमृतचन्द्राचार्यकी है जिसमें क्रमशः ज्ञानतत्व नामक प्रथमाधिकारमें ९२, द्वितीयाधिकारमें १०८, और तृतीयाधिकारमें ७५ गाथाएँ हैं। कुल २७५ गाथाएँ हैं। आचार्य जयसेनके सामने आचार्य अमृतचन्द्रकी टीका थी पर उन्होंने क्रमशः १०१, ११३ और ९७ गाथाएँ मानकर, कुल ३११ गाथाओंकी टीका

लिखी है। कन्नड़ टीकाकार बालचन्द्र तथा प्रभाचन्द्रने भी जयसेनका ही अनुगमन किया है। यहाँ यह तथ्य विचारणीय हैं—

(१) किन्हीं औद्देशिक मानदण्डोंके आधारपर यह निर्णय करना कठिन है कि कौन सी गाथाएँ मूल लेखककी हैं; और कौन सी गाथाएँ पश्चात् जोड़ी गई हैं।

(२) किसी गाथापर शंका करनेके लिये इतनी साक्षी ही पर्याप्त है कि वह गाथा किन्हीं अन्य ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। किन्तु यह निर्णयात्मक साक्ष्य नहीं हो सकता, क्योंकि संभवतः परम्परासे आगत बहुत सी गाथाएँ स्वतन्त्र रूपसे भी शामिल कर ली जाती हैं। ऐसी स्थितिमें सुरक्षित रास्ता तो यह होगा कि अतिरिक्त गाथाओंके स्वभाव और विषय वस्तुके बारेमें देखा जाय, तथा देखा जाय कि ग्रन्थमें उनका क्या स्थान है।

(३) प्रवचनसारके प्रथमाध्यायमें ९, दूसरेमें ५ और तीसरेमें २२ गाथाएँ अतिरिक्त हैं। प्रथम द्वितीयाध्यायकी छूटी गाथाएँ नमस्कारात्मक या मध्यम स्वभाव वाली हैं। वे रहें या न रहें, कुछ विशेष सामग्री नहीं जोड़ती। किन्तु भाग २ की ४ थी गाथा व तीसरे अध्यायकी ३ से १७ तककी गाथाएँ जो आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा ग्रहण नहीं की गईं, वे अतिरिक्त जानकारी देने वाली गाथाएँ हैं।

(४) ध्यानमें रखना होगा कि इन गाथाओं द्वारा जो अतिरिक्त जानकारी दी गई है वह कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंकी विषय वस्तुसे मिलान खाती है या नहीं ? यदि उनके अन्य ग्रन्थोंसे असंबद्ध विषय है, तो इन गाथाओंको शंकित दृष्टिसे देखा जा सकता है। यदि संवद्धता है तो उन्हें स्वीकार करने योग्य माना जा सकता है। पारम्परिक स्थापनाओंमें पुनरुक्ति असामान्य नहीं मानी जाती।

(५) मुझे इस तर्कमें कुछ अधिक बल नहीं दिखाई देता कि ये गाथाएँ आचार्य कुन्दकुन्दकी लिखी हुई, बनाई हुई या संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि उनकी विषय-वस्तु, कुन्दकुन्दकी विषयवस्तुसे मेल खाती है।

—डा० उपाध्ये द्वारा लिखित (प्रस्तावना पृ० ४८-४९)

आलोचनात्मक प्रकाश—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अमृतचन्द्रने इन गाथाओं को अपनी टीकाओंमें क्यों शामिल नहीं किया ? विश्वसनीय मूल और शाब्दिक अनुवाद करना उनका लक्ष्य न था। उनकी टीका ऐसे शाब्दिक भाष्यके समान है जिसमें उन्होंने प्रवचनसारकी विषय वस्तुको विस्तार दिया है, और अतिरिक्त जान-कारियाँ क्रमिक ढंगसे दी हैं। यदि उनका यही लक्ष्य होता तो मध्यस्थ गाथाओंको शामिल करनेकी चिन्ता वे न करते।

अमृतचन्द्रके द्वारा अपने ग्रन्थोंमें वहुतसी अन्य पुरानी प्राकृत गाथाओंको स्थान दिया गया है। कुछ गाथाएँ हैं जो उन्होंने अपने प्रवचनसारकी टीकामें सम्मिलित नहीं की हैं, **किन्तु उनकी जानकारी उन्हें थी।** यहाँ कुछ कारण समझमें नहीं आया कि ये गाथाएँ अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें क्यों शामिल नहीं की, जब कि गाथाओंका

भाव उन्होंने अपने दूसरे ग्रन्थोंमें लिया है। उदाहरणके लिये प्रवचनसार भाग २ गाथा २, का भाव तत्वार्थसार भाग ३ श्लोक ४ से, तथा प्रवचनसार भाग ३ की गाथा-१२-१८-१९, पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें श्लोक १११-११२-६७-६८ से मिलती हैं। भाग ३ की गाथा १।२ बहुत प्राचीन हैं, कई प्राचीन ग्रन्थों में पायी जाती हैं।

यह कहना उचित न होगा कि हम यह सोचें कि उन्होंने किसी पूर्वाग्रह वश ऐसा किया होगा क्योंकि ऐसा सोचनेके लिए हमारे पास अत्यल्प साक्ष्य हैं। तीसरे समूहकी ये गाथाएँ श्वेताम्बर मान्यताके विरुद्ध पड़ती हैं। जैसे साधुके लिए भिक्षा-पात्रका होना, उसी भवसे स्त्रीमुक्ति होना आदि।

मेरा तात्कालिक अनुमान तो यह है कि अमृतचन्द्र अत्यधिक आध्यात्मिक होनेके कारण साम्प्रदायिक विवादसे दूर रहना चाहते होंगे, और इसीलिये अपनी टीकाको कुन्दकुन्दके उच्चविचारोंके साथ सभी सम्प्रदायोंके लिए स्वीकार्य बनानेके भावसे, स्पष्ट और साम्प्रदायिक कटु आलोचनात्मक आक्रमणसे वे बचे रहे अतः उन्होंने उन गाथाओंकी टीका नहीं की। (—प्रवचनसार—अँग्रेजी प्रस्तावना पृष्ठ ४८ से ५१)

उक्त प्रस्तावनाके तथ्योंकी समीक्षा

प्रवचनसारकी वे गाथाएँ जो अमृतचन्द्रसूरि द्वारा ग्रहण नहींकी गयीं, ३६ हैं। यहाँ उनपर विचार आवश्यक प्रतीत होता है। देखना है कि क्या वे मूलग्रन्थकी गाथाएँ हैं या क्षेपक हैं।

प्रथमाध्यायमें ९ गाथाओंकी टीका नहीं हुई। ये गाथायें नमस्कारात्मक हैं जो बीच-बीचमें आई हैं। वस्तुतः प्रवचनसारके प्रथम अध्यायमें आये ज्ञानतत्वप्रज्ञापन, शुद्धोपयोग अधिकार, ज्ञानाधिकार, सुखाधिकार, शुभपरिणामाधिकारके प्रसंगमें, इन गाथाओंका कथन या वर्णन प्रासंगिक नहीं है। यदि आचार्यकी यह पद्धति होती, तो इसी ग्रन्थके दूसरे और तीसरे अध्यायमें १०८ तथा ७५ गाथायें हैं, वहाँ भी इसी क्रमसे बीच-बीचमें १८–२० नमस्कारात्मक गाथायें आतीं—पर ऐसा नहीं पाया जाता।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने मूलग्रन्थकी गाथाओंकी व्याख्या की है, क्षेपक गाथाओंकी नहीं की। यह हो सकता है कि उनके सामने जो प्रति हो, उसमें ये क्षेपक गाथाएँ ही न लिखी गई हों। **किसी अन्य प्रतिमें वे क्षेपक गाथाएँ हों, और वह प्रति** जयसेनाचार्यके सन्मुख हो, अतः उन्होंने उनकी भी टीका कर दी हो।

आचार्य कुन्द-कुन्दकी ग्रन्थ रचना शैली भी ऐसी नहीं है कि वे ९२ गाथाके प्रकरणमें विषय वर्णनके बीच-बीचमें बार-बार नमस्कारात्मक गाथा लिखें, अतः सम्भवतः ये मूलग्रन्थकी गाथायें नहीं हैं, वरन क्षेपक गाथायें हैं जो किसी लिपिकारने अपनी प्रतिमें कभी लिख ली होंगी, समयान्तरमें ये ग्रन्थमें जुड़ गई।

इन ३६ गाथाओंमें कौन मूल लेखककी हैं, यह निर्णय कठिन नहीं है। जिन गाथाओंके मध्यकी गाथायें छूटी मानी जाती हैं, उनके पूर्व और उत्तरकी दोनों गाथाओंके बीच विषय सम्बन्ध यदि टूटता है तो उस गाथाको ग्रन्थका अंश अवश्य माना जा सकता है। यदि विषय सम्बन्ध नहीं टूटता, गाथा कुछ अलग ही विषयका प्रतिपादन करती हैं, या पुनरुक्त रूपताको लिए हैं, तो वे क्षेपक हैं। मूलग्रन्थकी नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अन्य ग्रन्थोंमें उन गाथाओंका उपलब्ध होना यही प्रमाणित करता है कि वे अन्यत्रकी हैं। यदि वे अन्य ग्रन्थ, कुन्दकुन्द स्वामीके कालसे पूर्वके आचार्यों द्वारा रचित हैं, तो वे उद्‌धृत होनेसे क्षेपक ही हैं। यदि उनके बादके ग्रन्थकारोंके हैं तो भी वे क्षेपक हैं। मूलग्रन्थमें सम्मिलित कोई गाथा यदि कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थमें निबद्ध हों तो लेखककी मूलकृति है, जैसे—"तिसिदं बुभुक्खिदं" आदि प्रवचनसारमें क्षेपक है वह पञ्चास्तिकायमें १३७ नं० पर मूल गाथा है।

इसके सिवाय भाग २ की कुछ गाथाओंको, 'मध्यमस्वभाव वाली हैं' ऐसा उपाध्याय महोदयने लिखा है, तथा यह बताया है कि वे यदि ग्रन्थमें रहें तो कुछ सामग्री नहीं जोड़तीं और न रहें तो कोई कमी नहीं खटकती।

विचारना यह है कि जो गाथायें कुछ सामग्री नहीं देतीं और जिनके अभावमें कोई कमी नहीं रहती क्या वे आचार्य कुन्दकुन्दकी प्रौढ़ रचनाके सामने स्वयं अपनी अनावश्यकताको प्रदर्शित नहीं करतीं? फिर भी यदि वे किसी प्रतिमें पाई जाती हैं तो उन्हें किसी अध्ययनार्थी लेखककी स्वेच्छासे, अन्यत्रसे संगृहीत क्षेपक गाथाएँ माननेके लिए आपका उक्त कथन ही पर्याप्त है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्य कृत समयसारकी आत्मख्याति और तत्त्वप्रदीपिकामें भी २७ गाथाओंका अन्तर है। आत्मख्यातिमें २७ गाथाएँ कम हैं और तत्त्वप्रदीपिकामें २७ अधिक हैं। पञ्चास्तिकायमें भी दोनोंमें ८ गाथाओंका अन्तर है। इन तीनों ग्रन्थोंमें ७१ गाथाओंका अन्तर इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि अमृतचन्द्रसूरिने परीक्षण करके ही अपनी टीकाके लिये मूलगाथाओंका ग्रहण किया और उन पर ही टीका लिखी है। इन अतिरिक्त गाथाओंका अन्तः परीक्षण करने पर, ये क्षेपक गाथाएँ ही हैं, यह तथ्य महान् इतिहासज्ञ स्व० स्वनामधन्य पं० जुगल-किशोर जी मुख्तार द्वारा संयोजित वा सम्पादित प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पुरातन जैन वाक्य सूची' में भी प्रतिपादित है।

श्री पं० बलभद्रजीने पूज्य एलाचार्य उपाध्याय विद्यानन्दिजीके सान्निध्य में, समयसारका एक प्रामाणिक संस्करण, कुन्दकुन्द भारती देहलीसे सन् १९७८ में प्रकाशित किया है। उसकी भूमिकामें यह स्पष्ट किया है कि तात्पर्यवृत्तिकी अतिरिक्त गाथाओंमें कई गाथाएँ अप्रासांगिक हैं, पुनरुक्त हैं, और अन्य ग्रन्थों की हैं। इस संस्करणका संशोधन बाइस प्रकाशित प्रतियोंसे, तथा पैंतीस ताड़पत्रीय या हस्त-लिखित प्रतियोंसे किया गया है। इसमें अतिरिक्त क्षेपक गाथाको मूल नहीं माना

गया। दिनांक २७-१०-८० को पूज्य आर्यिका ज्ञानमतीजी द्वारा सञ्चालित शिक्षण शिविर देहलीमें श्री पं० वलभद्रजी न्यायतीर्थसे मेरी प्रत्यक्षवार्ता भी हुई। उन्होंने यह वताया कि हस्तलिखित समयसार (मूल) की दो प्राचीन प्रतियाँ मिलीं। एक अजमेरसे दूसरी मूड़विद्रीसे। इन दोनों प्राचीन प्रतियोंमें समयसार की वे २७ गाथाएँ नहीं पायीं गयीं। पञ्चास्तिकाय और समयसारकी क्षेपक गाथाओंकी भी यही स्थिति है। उनमें भी पूर्वगाथाके भावके समर्थनमें ऐसी ही उत्थानिका देकर क्षेपक गाथाएँ पायी जाती हैं। समयसारमें मात्र एक शब्द का परिवर्तनकर गाथा ३२ को ही क्षेपक गाथाके रूपमें से उल्लिखित किया गया है, वह गाथा इस प्रकार है—

जो मोहं तु जिणित्ता णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं परमट्ठ[वियाणिया विंति ॥३२॥

ऐसी ही दो गाथा समयसारमें मूलगाथा ११५ के वाद क्षेपकरूपमें छपीं हैं, इनके मात्र पूर्वार्ध शब्द परिवर्तित हैं उत्तरार्ध वही है जो इस प्रकार हैं—

१. जो संगं तु मुइत्ता णाण सहावाधियं मुणदि आदं।

२. जो धम्मं तु मुइत्ता णाण सहावाधियं मुणदि आदं।

उपरोक्त ४ और ५ में डा. ए. एन. उपाध्येने जो अतिरिक्त जानकारी देने-वाली गाथाएँ लिखी हैं वे कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंकी विषय वस्तुसे मिलान खाती हैं, अतः वे गाथाएँ कुन्दकुन्दकी नहीं हैं इस तर्कमें अधिक वल नहीं दिखाई देता, ऐसा लिखा है।

विचारणीय यह है कि लेखकके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसने दूसरे ग्रन्थोंमें जो विषय लिखा है वह विषय अपने सभी ग्रन्थोंमें उसने लिखा ही जाये। आचार्य अमृतचन्द्रको भी उन गाथाओंको लिखने और टीका करने में क्या वाधा थी?

आलोचनात्मक प्रकाशमें डा० उपाध्येने अतिरिक्त जानकारी देनेवाली गाथाओंको टीकामें शामिल न करनेका कारण उनकी आध्यात्मिक निष्ठा और प्रवृत्तिके कारण वे साम्प्रदायिक विवादसे दूर रहना चाहते होंगे, यह अनुमान किया है। आचार्य अमृतचन्द्रका जो आध्यात्मिक जीवन था उससे ऐसा अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। परन्तु उसका यह कारण भी डा. सा. के पूर्व कथनसे स्वयं वाधित है, जहाँ वे लिखते हैं "कि उन्हें कोई पूर्वाग्रह नहीं था उन्होंने उन गाथाओंके भाव अन्य ग्रन्थोंमें लिये हैं।" जव अन्य ग्रन्थोंमें वही भाव लिए हैं तव साम्प्रदायिक विवादसे वे दूर रहना चाहते थे, यह कथन स्वयं वाधित है। तत्वार्थसार भी अमृत-चन्द्राचार्य कृत ग्रन्थ है, उन्होंने उसमें श्वेताम्वर मान्यताओंको विपरीत मिथ्यात्वमें ही शामिल किया हैं—

सग्रन्थोऽपि निर्ग्रन्थः ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवं विधायत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥५-६॥

इससे श्वेताम्बर मान्यताओंका स्पष्ट खण्डन होता है। डा० उपाध्येने प्रवचनसारमें अतिरिक्त गाथाओंका वर्गीकरण करके जो निष्कर्ष निकाला है, यदि वे समयसार और पञ्चास्तिकायकी अतिरिक्त गाथाओं पर भी ध्यान देते, जो अमृतचन्द्राचार्य द्वारा सटीक नहीं हुई हैं, तो उक्त निष्कर्ष न निकालते, किन्तु उन्हें स्वयं भी क्षेपक गाथाके रूप में ही स्वीकार करते।

डा० उपाध्येके लेख अपनी कथित मर्यादाके भीतर ही हैं। उनके लेख से कहीं यह ध्वनित नहीं होता—कि" आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार चारित्र चूलिकामें स्त्री मुक्ति निषेध सम्बन्धी गाथाओंको मूलमें शामिल कर उन पर टीका इसलिए नहीं लिखी कि 'आचार्य अमृतचन्द्रको स्त्री मुक्ति निषेधका प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं था'।

आ० अमृतचन्द्रने पद-पद पर दिगम्बरत्वको ही स्पष्टतः मोक्षमार्ग माना है, सवस्त्रताको नहीं। जो पुरुषकी वस्त्रादि उपाधियोंको अन्तरंग बहिरंग छेद मानता हो, वह ग्रन्थकार स्त्री मुक्तिके निषेधको इष्ट न मानता हो, यह मानना भ्रम है। इस प्रकरणमें क्षेपक १०-११ गाथाएँ स्त्री मुक्तिके निषेधकी हैं, सभी गाथाओंमें स्त्रियोंकी प्रमाद दशाको ही उसका हेतु बताया गया है। आ० अमृतचन्द्र इससे सहमत थे। उन्हें भी स्त्री मुक्ति अमान्य थी। प्रवचनसार गाथा ४४ में केवलीके स्थान निषद्या, विहार, धर्मोपदेशकी क्रिया स्वाभाविक है, यह वर्णन किया है। इस प्रसंगमें कुन्दकुन्द स्वामीने दृष्टान्त दिया है—

'मायाचारोव्व इत्थीणं।' आचार्य अमृतचन्द्रने इसकी टीकामें लिखा है—**'यथा महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविध योग्यता सद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनावगुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते।'** अर्थात् स्त्रियोंको प्रयत्नके बिना भी उस प्रकारकी योग्यताके सद्भावसे स्वभावभूत ही मायाके आवरणसे आवरित व्यवहार प्रवर्तित होता है। क्या इस सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए आचार्य, उनकी मुक्तिका निषेध इष्ट न मानेंगे ?

आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें गाथा १६ में मुनियोंका आचार कैसा होना चाहिये यह स्पष्ट किया है—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥

"निश्चय मार्गका अनुसरण करने वाले, पर वस्तुके सम्पर्क जनित करम्बित आचारसे पराङ्मुख मुनियोंकी, परसे सम्पूर्ण विरति रूप अलौकिक वृत्ति होती है।"

इससे स्पष्ट है कि सवस्त्र मुक्ति अमृतचंद्राचार्यकी मान्यतामें नहीं है, फिर स्त्री मुक्तिके निषेध करने वाली गाथाओंकी टीका करनेसे उनके विरत होनेका प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

प्रवचनसारमें करणानुयोग चूलिका, की गाथा २२२ में, वहिरंग उपाधिका त्याग, अन्तरंग छेदके प्रतिषेधके लिए ही है, यह बताया है। २२१ गाथामें बाह्य उपाधि ही अन्तरंगच्छेदका कारण है इसका ही विस्तार है। दोनोंके बीचमें कोई टूट नहीं है, सुसम्बद्धता है। इन दोनोंके बीचमें ही ३ अतिरिक्त गाथाएँ हैं, जिनमें वस्त्र-भाजन आदि रखने पर आरम्भ होता है, यह प्रतिपादन है। जो उन दोनों गाथाओंमें कथित विषयकी पुनरुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्दने स्वयं २२१ के कथित विषयका विस्तार गाथा नं० २२२/२२३ में किया है, अतः मध्यकी तीन गाथाएँ अतिरिक्त हैं, और क्षेपक हैं।. मूलग्रन्थकी नहीं हैं, किसी अन्य ग्रन्थकी हैं जो उक्तार्थके समर्थन रूप हैं। इन अतिरिक्त गाथाओंमें स्त्री मुक्तिके निषेधके समान पात्र रखनेका भी निषेध किया है। यदि यह माना जाय कि अमृत चन्द्राचार्यको स्त्री मुक्ति निषेध इष्ट न था तो यह भी मानना होगा कि भिक्षा पात्रको रखनेका भी निषेध उन्हें इष्ट नहीं था।

जबकि गाथा २२४ में बताया है कि जो देहको भी परद्रव्य होनेके कारण परिग्रह मानता है, वह साधु अन्य वस्तुको परिग्रह क्यों न मानेगा ? गाथा २२५ में यह बताया है कि जिनमार्गमें यथाजातरूप-गुरुवचन-विनय और सत्राध्ययन ये ही उपकरण हैं। आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसकी टीकामें यह भी स्पष्ट किया है कि श्रामण्य पर्यायके लिए सहकारीको ही उपकरण माना गया है, अन्यको नहीं।" वस्तुतः वहिरंग नाग्न्यरूप पुद्गल, वचनपुद्गल-शब्दात्मकसूत्र पुद्गल और विनीतताके अभिप्रायरूप-चित्त पुद्गल, में कोई भी आत्मधर्म नहीं है।

दोनों गाथाएँ परस्पर सुसंबद्ध हैं। इस प्रकरणमें स्त्रीमुक्ति विधान व निषेध का प्रकरण ही नहीं हैं। इन दोनोंके बीच अतिरिक्त स्त्रीमुक्ति निषेधक गाथाएँ अप्रासंगिक हैं। अतः वे क्षेपक ही हैं। इन अतिरिक्त गाथाओंकी विषयवस्तु आचार्य अमृतचन्द्रको इष्ट नहीं थी, ऐसा यदि निर्धार किया जायगा, तो यह भी मानना होगा कि प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकायकी अतिरिक्त सभी गाथाओंकी विषय-वस्तुसे भी वे सहमत न थे। तव तो यह भी कहना होगा कि जैनधर्म के अनेक सिद्धान्त वे नहीं मानते थे। क्या यह मानना यथार्थ होगा ? हम देखते हैं कि उनके ग्रन्थों में सभी सिद्धान्तों को पूर्ण मान्यता दी गई है तथा उनका प्रतिपादन किया गया है।

यथार्थ यह है कि पुरातन समयमें व्यक्ति अपने पठनपाठनकी दृष्टिसे ग्रन्थकी प्रतिलिपि कर लेता था। यदि प्रकरणके अनुसार उसी अर्थकी प्रतिपादक कोई अन्य गाथाएँ कहीं मिलीं तो उन्हें भी अपनी प्रतिमें लिख लेता था। 'उक्तं च' करके उद्धृत गाथा तभी लिखी जाती थी जब लेखक आचार्य अपनी बातकी पुष्टिको किसी अपनेसे पूर्वज प्रसिद्ध आचार्यके ग्रन्थका प्रमाण देते थे। प्रतिलिपिकार जिन गाथाओंको उद्धृत करते थे उसमें 'उक्तं च' शब्दका उल्लेख करना आवश्यक नहीं था। वे प्रायः ग्रन्थका नाम भी नहीं देते थे। इससे यह फलित होता है कि वे अधिक गाथाएँ इसी प्रकार कभी जुड़ गई होंगी। वे मूलग्रन्थ की नहीं हैं किन्तु क्षेपक हैं,

अतः उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्यकृत भाष्यमें नहीं पाई जाती। जयसेनाचार्य यह निर्णय नहीं कर सके कि ये गाथाएँ मूल हैं या क्षेपक, तथापि जो सामने थीं सवपर उन्होंने टीका लिख दी। आचार्य जयसेनने अपनी समस्त टीका आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकाका आलंबन लेकर ही की है। उनका आचार्य अमृतचन्द्रके प्रति वहुमान था।

आचार्य अमृतचन्द्र दिगम्बरता के कट्टर पोषक थे, उसे ही वे मोक्षमार्ग मानते थे। सवस्त्र मुक्ति माननेवाले ही अगत्या स्त्रीमुक्तिका विधान करते हैं क्योंकि सवस्त्र मुक्तिमें स्त्री पुरुषकी मुक्ति भेदकी स्वीकारताका कोई हेतु शेष नहीं रह जाता।

आचार्य अमृतचन्द्रने कहाँ-कहाँ अपने भाष्यमें सवस्त्र मुक्तिका निषेधकर, दिगम्बर अवस्थाको ही मोक्षका साधन माना है, इसके पुष्ट प्रमाण उनकी टीकाके शब्दोंमें प्रवचनसार चारित्र चूलिकामें देखिये।

चारित्र चूलिकाकी गाथा २०४ की टीकामें लिखा है—

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति।

गाथा २०५-२०६ की टीकामें वे लिखते हैं—

आत्मनो हि तावत् आत्मना यथोदित क्रमेण यथाजात रूपधरस्य जातस्य अयथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः। तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसन भूषण धारणस्य मूर्धजव्यञ्जन पालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्त्वं च भवत्येव तदेतद्बहिरंगं लिङ्गम्।

इसका हिन्दी अर्थ पं० हेमराजजी पांडे कृत, जिसे आधुनिक भाषाका रूप पं० मनोहरलालजीने दिया है, वह इस प्रकार है—

यथाजातरूप (निर्ग्रन्थपने) पद को रोकनेवाले राग-द्वेष-मोह भाव हैं। उनका जब अभाव होता है तब यह आत्मा आप हीसे परिपाटी (क्रम) के अनुसार **यथाजात रूपका धारक होता है।** उस अवस्थामें इस जीवके रागादि भावों के वढ़ानेवाले जो **वस्त्र आभूषण हैं, उनका अभाव** तथा सिर डाढ़ी के वालोंकी रक्षाका अभाव होता है। निष्परिग्रह दशा होती है। पाप क्रियासे रहित होता है और शरीर मण्डनादि क्रियासे रहित होता है। अर्थात् जैसा मुनिका स्वरूप वाह्य दशा कर होता है वैसा ही वन जाता हैं यह द्रव्यलिंग जानना।

जो श्रामण्य मुनिपदका अभिलाषी है उसे किस प्रकारसे द्रव्यलिंग धारण करना चाहिये उसका यह वर्णन है। उसे यथाजातरूपधारी होना चाहिये। यथाजात शब्दका अर्थ यह है कि **उत्पत्तिकी अवस्था जैसी भूषणवस्त्र रहित नग्न होती हे वैसा रूप उसका होना चाहिये** यही व्याख्या अमृतचन्द्रसूरिने की है। प्रवचनसार श्लोक २१५ की टीकामें वे लिखते हैं—श्रामण्य पर्याय सहकारि कारण शरीर वृत्ति

हेतु मात्रत्वेनादीयमाने ···· भवते ···· क्षपणे ···· गिरीन्द्र कन्दरप्रभृतावावसथे ···· विहार कर्मणि ···· श्रामण्यपर्याय सहकारि कारणत्वेनाप्रतिपिध्यमाने केवल देह मात्रे **उपधौ** ···

यहाँ मुनि पर्यायके लिए सहकारी क्या-क्या है जिन्हें साधु ग्रहण करता है, उसकी चर्चा की गई है। भोजन-उपवास-विहार, गिरि कन्दरा आवास, तथा मुनि-पर्यायके लिए सहकारी कारण होनेसे केवल देहमात्र उपधिका निषेध नहीं है। इससे सिद्ध है कि अन्य कोई उपधि श्रामण्य पर्यायके लिए आवश्यक नहीं है। वस्त्रादि सभी उपधियोंका प्रतिषेध है। वस्त्रको मुनिपर्यायका विरोधी माना है, उसे उपधि नहीं बताया, देहमात्रको ही उपधि लिखा गया है इस कथन से भी वस्त्रका स्पष्ट निषेध हुआ।

प्रवचनसार श्लोक २२२ में लिखा है कि—

आत्मद्रव्यस्य द्वितीय पुद्गलद्रव्याभावात् सर्व एव उपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः। अयंतु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहण-विसर्जनविषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वात् छेद प्रतिषेध एव स्यात्।

आत्मद्रव्यके लिये पुद्गलद्रव्य मात्र द्वितीय वस्तु है, तब सभी उपधि प्रतिषिद्ध हैं।····श्रामण्यपर्यायके लिये सहकारी कारण शरीर है। शरीरकी वृत्ति संयम साधक हो, इसके लिए आहार नीहारका ग्रहण, विसर्जन आदि है, अतः उसे स्वीकार करते हैं। शरीर संयमसाधक होनेसे उसका त्याग संभव नहीं है अतः तत्साधक अनिवार्य आहारका ग्रहण ही स्वीकार किया है वस्त्रादि नहीं।

श्रामण्य पर्याय सहकारि कारणत्वेनाप्रति सिध्यमानमानेऽत्यन्तमुपात्त देहेऽपि परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः, किन्तु उपेक्ष्य एव। (गाथा २२४)

मुनि पर्यायके लिए सहकारी कारण शरीर को ही उपधिमान मानकर उसका निषेध नहीं किया फिर भी वह अत्यंत उपात्त (स्वयं प्राप्त) देह भी परद्रव्य होनेसे उसे भी परिग्रह माना और यह बताया कि उसपर अनुग्रह करना योग्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह भी उपेक्ष्य ही है। मात्र उससे मुनिपदकी साधना कर लेना चाहिए। जहाँ शरीर मात्र भी परिग्रह उपेक्ष्य है वहाँ अन्य वस्त्रादि परिग्रहको स्वीकारनेकी मान्यता कैसे दी जा सकती है?

इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात् परम—नैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम्। (गाथा २२४) **सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपोपेक्षितयथाजातरूपत्वेन वहिरंगलिङ्ग भूताः कायपुद्गलाः। (गाथा २२५)। केवलदेहमात्रस्योपधेः।** (गाथा २२८)

इत्यादि अनेक स्थलोंमें यथाजातरूप तथा परमनैर्ग्रन्थ्यको ही मान्यता दी है। तत्वार्थसारमें भी इसी प्रकारके अनेक उद्धरण हैं, जहाँ स्पष्ट रूपसे वसनादि रहित यथाजात दिगम्बर रूप ही साधुका है, अन्य उपधिका निषेध है ऐसा प्रतिपादन अमृतचन्द्राचार्यने किया है। चूंकि स्त्री वस्त्रका त्याग नहीं कर सकती अतः उनको महाव्रतित्व ही नहीं है। यह अमृताचन्द्राचार्यको इष्ट न होता तो वे वस्त्रका निषेध मोक्षमार्गके लिये अनिवार्य कैसे मानते ? **अतः यह शंका भी निर्मूल है कि अमृतचन्द्राचार्यको स्त्री मुक्तिका विरोध इष्ट नहीं था इसलिए उन्होंने जयसेनाचार्य टीकामें स्वीकृत उन दस गाथाओंकी टीका नहीं की।**

आचार्य अमृतचन्द्रजीको जो इष्ट नहीं होता वे उसका डंकेकी चोट खण्डन करते। दबी भाषामें या मौन भाषामें उसका समर्थन करते यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है। उनकी लेखनीमें सौष्ठव, हेतु परकता, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, आगमोक्तता उनके सभी वाक्योंसे टपकती है।

आचार्य अमृतचन्द्रकी टीकायें कितनी प्रौढ़-रसवान, सुसंबद्ध अपने विषयका अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन करनेवाली हैं, उनके संबंधमें एक जैनेतर विद्वान्ने अपने उद्गार एक विद्वद् गोष्ठीमें सम्मानपूर्वक प्रकट किये थे। उनसे पूछा गया कि आप भारतके माने हुए संस्कृतके दिग्गज विद्वान् हैं, सभी संस्कृत साहित्य आपकी दृष्टि-पथमें आया ही होगा, आपको संस्कृतकी सर्वश्रेष्ठ कृति कौनसी लगी ? इस प्रश्नके उत्तरमें उन्होंने कहा था—

'कालिदास और माघकी कृतियाँ यद्यपि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं, तथापि जैन साहित्यकारोंमें एक अमृतचन्द्रसूरि हुए हैं, जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार पर संस्कृत टीका बनाई है। वास्तवमें यह टीका नहीं है अपितु समयसार पर महाभाष्य है। इसकी उच्चकोटिकी भाषाकी छटा हृदयग्राही है तथा विद्वतापूर्ण है। मैं संस्कृत साहित्यकी रचनाओंमें इसे सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। यह केवल भाष्यकलाके ही कारण नहीं, बल्कि इसलिये भी कि संसारमार्ग दूर करने वाले अध्यात्मको इन्होंने अपनी रचनामें साहित्यके नवरसों युक्त नाटकके रूपमें प्रस्तुत किया है। यह कार्य कितना जटिल है इसका विचार जब करता हूँ तो मैं इसे उनकी इस कृतिको आश्चर्यकारी मानता हूँ जो संस्कृत साहित्यमें अपूर्व है, अद्वितीय है।

भगवान् महावीर तीर्थंकर द्वारा समुपदिष्ट पूर्ण अपरिग्रहत्वकी पराकाष्ठा दिगम्बरत्वमें ही है। भगवान्के इस दिव्य संदेशको आचार्य कुन्दकुन्दने सूत्रबद्ध किया, तथा आचार्य अमृतचन्द्रने उन सूत्रोंका अवगाहन कर जो अमृतका रस अपनी टीका या कलशोंसे प्रसारित किया है उसके दर्शन टीकामें पदपद पर होते हैं। इस स्थितिमें स्त्री मुक्ति या सपरिग्रहीकी मुक्तिकी मान्यताके खण्डनकी गाथाओंकी टीका करनेसे विरत होकर प्रकारान्तरसे उस मान्यताका मौन समर्थन आचार्य अमृतचन्द्र करेंगे यह कल्पना ही विचित्र लगती है।

'अध्यात्म' शब्द शुद्धआत्माके सिवाय अन्य सबका निषेधक है। शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्ष है। आत्म-भिन्न पदार्थों तथा उनके प्रति लगावसे शुद्धात्म प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र इसके पूर्ण समर्थक थे। उनके सम्बन्धमें अन्यथा सोचना ही भ्रमपूर्ण है। आचार्य अमृतचन्द्रको उनके पश्चात् होने वाले सभी आचार्योंने आध्यात्मिक जगत्में सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है। आचार्य अमृतचन्द्रका लौकिक दृष्टिसे परिचय इस लेखमें उल्लिखित अनेक प्रमाणोंके आधार पर सिद्ध हो चुका है कि वे नंदिसंघके आचार्य थे और उस पद पर वि० सं० ९६२ से १०५३ तक आरूढ़ रहे। उनका यथार्थ आत्मपरिचय उनकी टीकाओं तथा कलशों का शब्द शब्द दे रहे हैं।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

■

ग्रन्थ-अधिकार-अनुक्रमणिका

■

नोट--प्रश्नों और उसके समाधानोंकी सूची अन्यत्र प्रकाशित है।

卐 श्री वर्द्धमानाय नमः 卐

अध्यात्म-अमृत-कलश

श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसार कलशोंकी स्वात्म-प्रबोधिनी टीका

■

टीकाकार का मंगलाचरण

दिव्येन ध्वनिना येन, सर्वप्राणि हितं कृतम्।
दुष्षमे पंचमे काले, तं वीरं प्रणमाम्यहम्॥

इस दुष्षम पंचमकालमें जिन्होंने अपनी दिव्य-ध्वनिके द्वारा, समस्त प्राणियोंका महान् उपकार किया है, उन श्री वीर जिनेश को मैं नमस्कार करता हूँ।

■

कलशकार का मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥१॥

अन्वयार्थ—(**चित्स्वभावाय**) चैतन्य ही है स्वभाव जिसका ऐसे (**समयसाराय भावाय**) शुद्धात्मस्वरूप पदार्थको जो (**स्वानुभूत्या चकासते**) अपनी स्वानुभूतिसे प्रकाशमान होता है तथा (**सर्वभावान्तरच्छिदे**) जो सम्पूर्ण पदार्थान्तरोंसे सर्वथा भिन्न है, (**नमः**) उसे नमस्कार करता हूँ। अथवा सम्पूर्ण पदार्थोंके ज्ञायक केवलज्ञानकी प्राप्तिके अर्थ नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—मैं अमृतचन्द्र (नामक आचार्य) समय (सम् + अय) सम् अर्थात् अपने निज एक स्वभावको लिए हुए, अयते = जाता है—परिवर्तित होता है, उसे 'समय' कहते हैं[1] ऐसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप पदार्थोंमें जो अपने लिए सारभूत, अपने गुण पर्यायोंसे संयुक्त, उत्पाद-व्यय-रूप होकर भी अपने ध्रौव्य स्वभावको न छोड़नेवाला, ऐसा जो समयसार भूत शुद्ध आत्मा, उसकी ग्रन्थके प्रारम्भमें वन्दना करता हूँ।

यह शुद्धात्मा निजके स्वानुभवसे प्रकट परिचयमें आता है। वह स्वयं चैतन्य (ज्ञायक) स्वरूप—उपयोगमय स्वरूपवाला है। अन्य समय पदार्थ शुद्ध होते हुए भी जड़ स्वरूप हैं, ज्ञानदर्शन उपयोगसे भिन्न हैं। इसीलिए शुद्धात्मा स्वरूप समयसार सम्पूर्ण भावान्तरों, पदार्थान्तरोंसे सर्वथा रहित है। यद्यपि षट् द्रव्योंमें पुद्गल जड़ और रूपी द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चारों भी जड़ हैं, किन्तु अरूपी हैं। इन पाँच द्रव्यों का व्यवच्छेद (निराकरण) तो हो ही जाता है, क्योंकि ये आत्मा नहीं हैं। परन्तु हमारी तरह अन्य अनन्त आत्माएँ जो ज्ञायकस्वरूप, स्वयं चैतन्य भावको लिए हैं उनका भी निराकरण होता है, क्योंकि वे भी हमारे लिए भावान्तर हैं, मेरी निजात्मासे भिन्न हैं। स्वानुभूतिमें केवल स्व-स्वरूप की ही अनुभूति होती है। पर (अन्य) आत्माओंकी नहीं होती। अतः उनका भी यहाँ निराकरण किया है। शेष बचा जो निज शुद्धात्मा उसके प्रति नमन है।

(१) **प्रश्न**—यहाँ प्रश्न होता है कि मंगलाचरणमें अपनी निज शुद्धात्माकी वंदना की, सो वर्तमान अवस्था में आचार्य अमृतचन्द्रजी भी संसारी अवस्थामें हैं, शुद्धात्मा तो नहीं हुए। यदि शुद्धात्मा हैं तो वंदना क्यों करते हैं? कोई शुद्धात्मा अपनी वन्दना करे ऐसा तो शास्त्रमें उल्लेख नहीं है। वंद्य वंदक भाव तो दो में होता है। यहाँ स्वयं वंद्य और स्वयं वंदक हैं, यह कैसी बात है?

समाधान—नमस्कार इष्टदेवको किया जाता है। इस अध्यात्म ग्रंथको प्रारंभ करते हुए आचार्य अपनी वर्तमान अशुद्ध पर्यायका अनुभव करके वंदना करनेवाले वंदक बने, और द्रव्यार्थिक नयसे वर्तमानमें भी अपने आत्मद्रव्यको कर्म, नोकर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्मसे भिन्न, शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दमय मानकर उस आत्माकी वंदना की। अतः उसे वंद्य बनाया। तात्पर्य यह है कि आत्मा, द्रव्यशक्तिकी दृष्टिसे सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे तथा सम्पूर्ण पर निमित्तजन्य अपने विकार भावोंसे रहित, शुद्ध अपने एकत्व में स्थित है। यद्यपि वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, किन्तु पर्यायदृष्टिको गौणकर, द्रव्य कैसा है, ऐसा द्रव्य दृष्टिसे देखें तो वह शुद्ध है। जैसे सुनार सोनेकी अशुद्ध डलीमें भी शुद्ध सोनेका अनुभव—कसौटी पर कसकर कर लेता है। यह जान लेता है कि इस चार तोलेकी डलीमें तीन तोला शुद्ध सोना है, और एक तोला अन्य पदार्थोंका मिश्रण है जो सोना नहीं है। यद्यपि उसकी वर्तमान पर्याय उस अशुद्धस्वर्णकी डली स्वरूप है तो भी भेद ज्ञान की पैनी दृष्टिसे, वह शुद्ध स्वर्ण कितना है, यह जान लेता है। इसी प्रकार भेद विज्ञान जिनको प्राप्त है, अतः जिनकी दृष्टि पैनी है, ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव अपने उस भेदज्ञानके आश्रयसे, अपने स्वरूपको शुद्ध द्रव्यके रूपमें पहिचान लेते हैं, और उसमें सम्बन्धको प्राप्त कर्म-नोकर्म भावकर्मको, ये मेरे निजमें दिखाई देने पर भी, मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं, ऐसा जान लेते हैं। उपरान्त

१. समयत एकोभावेन स्वगुण पर्यायान गच्छतीति निरुक्तेः।—समयसार गाथा ३ (आत्मख्याति टीका)

जैसे सुनार उस मिश्रणको दूर करनेका प्रयत्न कर शुद्ध सोना निकाल लेता है, उसी प्रकार भेद-ज्ञानी शरीर, द्रव्यकर्म तथा तदुभयनिमित्तजन्य रागादि भावकर्मोंको अपने स्वरूपसे भिन्न जानकर, उन्हें अपनेसे भिन्न करनेका प्रयत्न (चारित्र ग्रहण रूपमें) करके, आत्माको शुद्ध बना लेता है। आचार्य अपनी वर्तमान पर्यायको छोड़ शुद्धपर्यायको पाना चाहते हैं। अध्यात्मीका वही इष्टदेव है, अतः यहां उसकी वन्दना की है।[1]

'सर्वभावान्तरच्छिदे' का यह भी अर्थ है कि ज्ञान स्वप्रकाशक तो है ही परन्तु व्यवहार नयसे पर प्रकाशक भी है। जब आत्मा शुद्धपर्यायको अपनेमें प्रकट कर लेता है तब संसारके सम्पूर्ण पदार्थ उसके ज्ञानके ज्ञेय बन जाते हैं, अर्थात् उन सबको जान लेता है। आचार्य इस अर्थमें भी इस पदका प्रयोग करते हैं कि मैं अपनेमें उस केवलज्ञानको प्रकट करनेके लिए भी उस शुद्धात्मा की वन्दना करता हूँ।

भगवान् सिद्ध परमात्मा जो सिद्धालयमें विराजमान हैं वे भी कभी संसारी थे, और अपने समस्त विकारोंका नाश कर अनन्तगुणोंके धाम बने हैं। वे भी समस्त भावान्तरोंसे भिन्न किन्तु सम्पूर्ण भावान्तरोंके ज्ञाता हैं, अतः वे समयसार रूप बने हैं। समयसारकी वन्दनासे उनकी भी वन्दना स्वयं हो जाती है। अपनी स्वानुभूतिके आधारसे सम्यग्दृष्टि जीव उनके भी स्वरूपका समान अनुभव करता है और उन जैसा केवलज्ञानी बनना चाहता है, अतः उनकी वन्दना करता है।

व्यवहारनयसे उन सिद्ध परमात्माओंकी वन्दना इष्ट है, और निश्चयसे निज परमात्मा (शुद्धात्मा) जो द्रव्यार्थिक नयसे शुद्ध—द्रव्यके रूपमें सिद्धात्माओंके स्वरूप-सम हैं उनकी, वन्दना करते हैं।

यह अध्यात्मशास्त्र है। **अध्यात्मशास्त्र निश्चयनय प्रधान है, व्यवहारनय इसमें गौणरूपसे वर्णित है। इसीलिए इसका निजशुद्धात्माकी वन्दनाका अर्थ ग्रन्थके अनुरूप है तथापि गौणरूपसे** इष्टदेव सिद्ध **परमात्मा**के प्रति भी वन्दनाका भाव निहित है।

जिसे आत्माकी पवित्रता इष्ट है जो शुद्धता प्राप्तकर सिद्ध (निष्पन्न) हो गये हैं, जिनमें सम्पूर्ण स्वरूपकी सिद्धियाँ हैं, असिद्धता नहीं है, उसे उन आत्माओंके प्रति स्वयमेव आकर्षण (स्नेह) होगा। अतः उनकी वन्दना भी शुभराग है। सो यद्यपि शुभराग शुभबन्धका हेतु है तथापि वह अशुभ रागादिसे निवृत्तकर निजके पुरुषार्थको जगानेमें कारण होता है, अतः **कथंचित् उपादेय** है। **सर्वथा हेय नहीं, न सर्वथा उपादेय** है। **परन्तु निजका पुरुषार्थ** जो **स्वानुभूति-स्वात्मज्ञान स्व-रमणरूप** है, वही साधन रूपमें **सर्वथा उपादेय** है। इसीलिए अध्यात्म शास्त्रमें उसे प्रमुख बनाकर ही वर्णन करते हैं।

श्रीशुभचन्द्राचार्यने परमाध्यात्म तरङ्गिणीमें समयसार शब्दमें रत्नत्रय तथा पंच परमेष्ठी का अर्थ भी घटितकर सबकी वन्दना की है ॥१॥

आगे शुद्धात्मके स्वरूपकी प्रतिपादक अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके प्रति, आचार्य अपनी भावना प्रकट करते हैं—

---

१. एक आत्मामें उपास्य भाव व उपासक भाव ऐसा द्वविध्य अन्यत्र कलश १५ में स्वीकार किया गया है।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्त्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।२।।

अन्वयार्थ—(**प्रत्यगात्मनः**) पर द्रव्योंसे भिन्न अपने स्वरूपके एकत्वमें स्थित आत्माके (**अनन्त धर्मणस्तत्वं**) अनन्तधर्मोंके रहस्यको (**पश्यन्ती**) प्रकाश करनेवाली (**अनेकान्तमयीमूर्तिः**) अनेकान्तस्वरूपता ही जिसकी मूर्त्ति है ऐसी जिनवाणी, (**नित्यमेव**) सदाकाल (**प्रकाशताम्**) संसारके प्राणिमात्रके हृदयमें प्रकाशित हो।

भावार्थ—भगवान जिनेन्द्रकी वाणी वस्तुमात्रको 'अनेक धर्मात्मक' प्रतिपादन करती है। आत्मतत्त्व भी अपने स्वरूपास्तित्वको सदाकाल धारण करता है, इसलिए अस्तिधर्म रूप है। वह परास्तित्वको कभी स्वीकार नहीं करता, अतः परका उसमें नास्तित्व भी है। इसी प्रकार आत्म-तत्व भी अनेक धर्मात्मक है। इस रहस्यको जिनवाणी प्रकाशित करती है। यह अनेकान्तस्वरूप जिनवाणी समस्त प्राणियोंके हृदयमें इस सत्यको प्रकाशित करे।

यह आशीर्वादात्मक मंगलाचरण है।

(२) **प्रश्न**—अनेकान्त क्या वस्तु है ? और जिनवाणीकी क्या कोई मूर्ति है ? वह मूर्ति हृदयमें कैसे प्रकाश करती है ?

समाधान—जो एक नहीं—बहुत है—उसे 'अनेक' शब्दसे कहा जाता है, 'अन्त' शब्दका अर्थ धर्म या गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपनेमें अपने स्वरूपके अस्तित्वको रखता है, अतः अस्तिरूप भी है। और वह पर द्रव्यके अस्तित्वको कभी स्वीकार नहीं करता—इसलिए परकी उसमें नास्ति भी रहती है।

यदि स्वरूपता भी पदार्थमें हो और पररूपता भी हो, तो उसकी स्वरूपता नहीं टिक सकती। जैसे हाथी अपने गुणधर्म आकार प्रकारके अस्तित्वको रखता है, उसका त्याग नहीं करता अतएव वह हाथी है, साथ ही साथ उसमें घोड़ेके गुणधर्म आकार प्रकारादि नहीं रहते इससे उसमें घोड़ापनेका अभाव अर्थात् नास्तित्व है। यदि हाथी है तो वह घोड़ा नहीं है, यदि उसमें घोड़ा-पना है तो वह हाथी नहीं रहेगा।

इसी प्रकार जीवमें जीवका गुणधर्म है वह उसका अस्तित्व है—और पुद्गलादि द्रव्यों तथा उनके गुणधर्मोंका अस्तित्व उसमें नहीं है—अतः परका नास्तित्व है। फलतः जीव अनेक धर्म-वाला है।

जीव अनादिसे अनन्तकालतक अपने द्रव्यरूपका त्याग नहीं करता अर्थात् वह अजीव अचेतन कभी नहीं होता। सदाकाल अपने अस्तित्वमें रहता है अतः वह 'नित्य' है।

परिणमन स्वभावी वही जीव संसारमें कर्मनिमित्तसे **नर नारका**दिरूप पर्यायोंमें सदा उलटता-पलटता है, सदाकाल एक ही अवस्थामें नहीं रहता, इससे वह 'अनित्य' रूप भी है।

सिद्धावस्थामें भी प्रति समय अर्थ पर्याय रूप परिणमन होनेसे वे भी कथंचित् अनित्य रूप हैं। इस प्रकार नित्य-अनित्यरूप अनेक धर्मात्मक हैं। इसी प्रकार आत्मद्रव्य एक है, अखण्ड

है, असंख्य प्रदेशात्मक होकर भी कभी उसके **प्रदेश भिन्न नहीं होते** अतः द्रव्यकी दृष्टिसे 'एक' रूप है।

वही आत्मा प्रदेश भेदोंकी अपेक्षा—तथा गुणभेदकी अपेक्षा—अथवा बदलनेवाली नाना अवस्थाओंकी अपेक्षा 'अनेकरूप' भी है। फलतः एक अनेकरूपसे अनेकान्तात्मक है। इन तीन उदाहरणोंसे आत्मा परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंका आधारभूत धर्मी है।

यह अनेकान्तात्मकता केवल आत्मामें ही नहीं है, किन्तु छहों द्रव्योंमें अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यानित्यत्व एकानेकत्वादि अनेक धर्मरूपसे पाई जाती है। अध्यात्मशास्त्र होनेसे यहाँ आत्माकी अनेकान्तात्मकताकी चर्चाकी गई है।

जैनमतसे भिन्न मतावलम्बी पदार्थको अनेकान्तात्मक न मान कर कोई उन्हें अस्तिरूप कहते हैं, कोई नास्तिरूप। इसी प्रकार कोई वादी आत्माको एक रूप ही मानते हैं, और कोई अनेक रूप। कोई वादी आत्माको नित्य मानते हैं, तो कोई उसे क्षणिक अनित्य रूप मानते हैं। ये सब एक एक धर्म स्वरूपताको पदार्थमें स्वीकार करनेके कारण 'एकान्तवादी' हैं।

जिनेन्द्र सर्वज्ञने पदार्थोंको अपने केवलज्ञान द्वारा प्रत्यक्षरूपसे अनेक धर्मात्मक पाया है। अतः जैसा पदार्थका स्वरूप है, वैसा प्रतिपादन किया है। उनकी वाणी सत्यार्थ प्ररूपक होनेसे सर्वजीव मात्रके लिए हितकर है। इसी हित भावनासे उस अनेकान्तमयी जिनवाणी सरस्वतीकी आशीर्वादात्मक वन्दना की है।

(३) **प्रश्न**—सरस्वतीका वर्णन लोकमें हंसवाहिनी, मयूरवाहिनी, वीणा-पुस्तक धारिणी, महिलाके रूपमें किया जाता है, सो क्या वह यथार्थ नहीं है।

समाधान—जिनवाणी **कोई मूर्तिमान देवी या मानवी महिला नहीं है।** वह तो **शब्दात्मक** है। वक्ता अपने ज्ञानका दान वाणीके माध्यमसे करता है। वस्तुतः यह कथन भी व्यवहारका है।

यथार्थमें ज्ञानका दान नहीं हो सकता, अन्यथा दाता ज्ञान रहित हो जायेगा। ज्ञानी अपने ज्ञान तत्त्वको श्रोताको शब्दके माध्यमसे समझाता है और श्रोता उसके निमित्तसे अपने ज्ञानको स्वपुरुषार्थसे विकसित करता है। वाणी शब्द शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे स्त्रीलिंग है, अतः कविजनोंने उसे स्त्रीका रूपक दे दिया है, वह स्त्री नहीं है। रूपकको यथार्थ मान लेना भाषा साहित्यकी पद्धतिकी अनभिज्ञता है।

अतः वाणी वाणीरूप, शब्दात्मक है। वह वाणी प्रकाश रूप रहो ऐसा मंगल वचन कहा है। भवनवासिनी देवियोंमें किन्हींके नाम बुद्धि-लक्ष्मी-सरस्वती पाए जाते हैं, तथा उनकी मूर्तियाँ भी पायी जाती हैं पर यहाँ उनकी वन्दना नहीं है, न वे ज्ञानका दान देती हैं। ज्ञान आत्मगुण है वह संसारी जीवोंमें ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे तथा अरहन्तमें उसके क्षयसे प्रकट होता है।

(४) **प्रश्न**—लोकमें यह पद्धति है कि बड़े पुरुष छोटोंको आशीर्वाद देते हैं। यहाँ पर जिनवाणीको **आशीर्वादात्मक** वचन कैसे कहे ?

समाधान—यह वचन वाणीके लिए नहीं हैं, किन्तु आचार्य जगत्के भव्य प्राणियोंके लिए आशीर्वाद देते हैं कि भगवान्‌की यह धर्मोपदेश रूप जिनवाणी सबके ज्ञानके विकासमें निमित्त

कारण रूप वने, अर्थात् इस अनेकान्त स्वरूप प्रतिपादक वाणीके द्वारा जगत्के जीवोंका कल्याण हो, ऐसा वचन ही मंगल रूप है।

(५) **प्रश्न**—भगवान्की वाणी शव्दात्मक होनेसे जड़ रूप है। अतः न तो वह ज्ञानको ज्ञानीसे भिन्नकर श्रोताओंमें ज्ञान भर सकती है और न श्रोता अन्य ज्ञानीके ज्ञानसे ज्ञानी वन सकते हैं ? तव **वचनमें ज्ञान प्रकाशकपना कैसे संभव है। और जो वात संभव नहीं है वैसा मिथ्या (असंभव) आशीर्वाद** आचार्य **क्यों देते हैं ?**

समाधान—यह सत्य है कि वाणीजड़ रूप है। जड़ रूप वाणीमें ज्ञान रूपता नहीं है। भगवान् केवली ज्ञान स्वरूप हैं। उनकी विशुद्धात्मामें जड़रूप वाणीका कोई अस्तित्व नहीं है। यह नियम मात्र भगवान्की वाणीको लागू नहीं है, किन्तु हमारी आपकी वाणी भी जड़रूप है और हमारे आपके ज्ञानसे, उसका विरुद्धजातीय पदार्थ होनेसे, कोई तादात्म्य सम्वन्ध नहीं है, तथापि वक्ता अपने अभिप्रायको प्रकट करनेके लिए वाणीका उपयोग करता है। शव्दोंमें कुछ सहज योग्यता है जो वक्ताके **आन्तरिक भावको व्यक्त करनेमें निमित्त वनती है।** जैसे रोने-चिल्लाने-हंसने-तथा उल्लासकी अवस्थामें प्रकट शव्द, न केवल मनुष्योंमें किन्तु पशु-पक्षी जो अनक्षरी भाषा वोलते हैं उनमें भी वक्ताके आन्तरिक भाव, विषाद व हर्षको प्रकट करते हैं। इसी प्रकार मनुष्य प्राणी, भाषा रूप सांकेतिक अक्षरोंसे भी संकेत ग्रहण कर अभिप्रायको जान लेता है। परीक्षामुख ग्रन्थमें आचार्य माणिक्यनन्दिजीने कहा है—

'सहजयोग्यता संकेत वशाद्धि-शव्दादयोऽर्थप्रतिपत्तिहेतवः'।

अर्थात् स्वाभाविक योग्यता तथा स्थापित संकेतके कारण शव्दादिक अर्थके परिज्ञान करनेमें निमित्त होते हैं। शव्दोंमें यह सहज योग्यता है कि मनुष्य उनमें अपने भावका संकेत कर ले, और उस संकेतित शव्दोंको सुनकर श्रोता उस भावको समझ ले। विभिन्न भाषाओंकी उत्पत्ति मनुष्य जातिके विभिन्न स्थापित संकेतों पर ही वनी है। अनक्षरी भाषामें अक्षर नहीं होते पर ध्वनि विशेषमें भाव विशेषके संकेत रूप वननेकी सहज योग्यता है, अतः वाणी अभिप्रायको व्यक्त करनेमें निमित्त कारण है।

भगवान् यद्यपि निरिच्छ हैं, वे इच्छापूर्वक दिव्य ध्वनि नहीं वोलते। तो भी वचन योग द्वारा जिन वर्गणाओंका ग्रहण होता है उनमें तत्त्व प्रतिपादनकी सहज योग्यता होती है[1]। इस-लिए वह भगवान्की अनेकान्त स्वरूप तत्त्वको प्रतिपादन करनेवाली दिव्य ध्वनि ही शुभकार्यमें निमित्त होनेसे पूज्य है। वह नित्य संसारके प्राणियोंके कल्याण रूप होनेमें निमित्त कारण वने ऐसा यह मंगल वचन है॥ २॥

इन दोनों श्लोकोंसे मंगलाचरण करके ग्रन्थकार ग्रन्थके वनानेके फलकी कामना करते हैं।

---

१. केवलिनां प्रयत्न मंतरेणापि तथाविध योग्यता सद्भावात् स्थानमासनम् विहरणम् धर्म देशना च स्वभाव भूता एव प्रवर्तन्ते।
—प्रवचनसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ४४.
आगे कलश २७८ भी देखिये।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परम विशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते-
र्भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अन्वयार्थ—(**शुद्ध चिन्मात्रमूर्त्तेः**) शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टिसे मैं शुद्ध चैतन्यका पिण्ड हूँ सो मेरे (**पर परिणति हेतोर्मोहनाम्नः अनुभावात्**) परपरिणतिके निमित्त कारण, मोहनीय कर्मके उदयसे (**अविरतम्**) अनादि कालसे (**अनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः**) भावित रागादिकी व्याप्तिसे जो कलुषित हो रही है ऐसी (**मम अनुभूतेः**) मेरी अनुभूतिकी (**समयसार व्याख्यया एव**) समयसार ग्रन्थकी व्याख्याके आश्रयसे या समयसार जो शुद्धात्मा उसकी व्याख्यासे (**परम-विशुद्धिः भवतु**) परमविशुद्धि हो ॥२॥

भावार्थ—प्रत्येक आत्मा आत्म द्रव्यके स्वरूपकी दृष्टिसे, शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभावी सदासे है और सदा काल रहेगा। यद्यपि अनादि कालसे अनन्तकाल निगोदकी अवस्थामें व्यतीत हुआ तथापि **आत्म द्रव्यने अपना स्वभाव नहीं छोड़ा।** यदि छोड़ देता तो वह **आत्म द्रव्य न रह कर द्रव्यान्तर बन गया होता।** तथापि वह अनादि कालसे कर्म निमित्त जन्य रागादि विकार संयुक्त है, और इसीसे इसकी अपने स्वभावसे भिन्न, रागादि विकार संयुक्त परिणति हो रही है। फिर भी वह आत्मद्रव्य अपने द्रव्य स्वभावके कारण परपरिणतिके निमित्त कारणभूत मोह कर्मके दूर होनेपर, अपने सहज शुद्ध स्वभावमें परिणत हो सकता है।

इस स्पष्ट सिद्धान्तके कारण श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि अनेकान्त सिद्धान्तके आधारपर मेरा आत्मा वर्तमानमें शुद्धाशुद्ध रूप है। वह ऐसे—कि मेरा द्रव्य (पर्यायको गौण कर देखें) तो स्वरूपसे ही शुद्ध है। द्रव्यकी शुद्धता (स्वभावशक्ति अपेक्षा) कभी नहीं मिटी, परन्तु चूंकि द्रव्य पर्यायरहित कभी नहीं होता, अतः उसकी पर्यायें अनादि कालसे, मोह कर्मके उदयके निमित्त से, रागादि क्रोधादि विकारयुक्त अशुद्ध रूप हो रही हैं। सो इस ग्रन्थकी व्याख्या करनेका जो भाव है उससे मेरी **परिणति बदलकर परम शुद्ध हो जावे। यही ग्रन्थकी व्याख्याका फल चाहते हैं।**

श्रोताओंकी परिणति भी इस ग्रन्थके अनुमननसे विशुद्धताको प्राप्त हो, वह उसका आनुषंगिक फल है। पर ग्रन्थकार तो उसका फल निज आत्म विशुद्धिरूप ही मानते हैं।

यहाँ जैसे ग्रन्थकारने आत्माको द्रव्य दृष्टिसे या निश्चय स्वभाव दृष्टिसे शुद्ध चैतन्य मात्र कहा, उसी प्रकार व्यवहारनयसे उसे अशुद्ध पर्यायवाला भी कहा। पर्यायाश्रितता सामान्यरूपसे द्रव्यमें सदा रहती है और सदा रहेगी। पर्यायरहित द्रव्य कभी नहीं रहता, तथापि पर्याय परिवर्तन स्वरूप है। सदा एक पर्याय नहीं रहती इसीसे द्रव्य उत्पाद-व्यय रूप अनित्य कहा गया है। जहाँ द्रव्य अपनी अवस्था परिवर्तनके कारण अनित्य है वहीं द्रव्यार्थिक दृष्टिसे नित्यस्वरूप भी है। द्रव्यके अभावमें पर्यायें निराधार नहीं रहतीं। नाना पर्याय परिवर्तन जिसमें होते हैं यदि वह मूलभूत वस्तु विनाशको प्राप्त हो जाय तो पर्यायें भी विनष्ट हो जायंगी। मूल वस्तुके अभावमें

पर्यायें निराधार किसमें प्रगट होंगी ? इस प्रकार दोनोंका सर्वथा अभाव होनेसे जगत् शून्य होगा। पर ऐसा न कभी हुआ, न होगा।

न सतो विनाशः नाऽसदुत्पत्तिः।

सत् = जिसका अस्तित्व है उसका सर्वथा नाश नहीं होता। और जो असत् है = (कभी नहीं था,) उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यद्यपि पर्याय विशेषकी अपेक्षा वर्तमान पर्याय पूर्वमें नहीं थी पर उसकी उत्पत्ति हुई है। अतः असत्की उत्पत्ति तो हुई ऐसी शंका नहीं करनी। कारण यह है कि वर्तमान पर्याय पूर्व कालमें नहीं थी यह सत्य है, परन्तु वह जिस द्रव्यमें हुई है उसमें शक्ति रूपमें सत् थी। अतः असत्की उत्पत्ति नहीं होती। यह सिद्ध सिद्धान्त है।

इसलिए आचार्य श्री अपनी वर्तमान स्वानुभूति सन्मुख दशाको साधक दशा, और उसकी परमविशुद्धि दशाको साध्य दशा बनाकर स्वयंकी द्रव्यकी शुद्धताके बलसे, अशुद्धपरिणति रूप दशाको मिटाकर परम विशुद्ध दशाको प्राप्त करना चाहते हैं। समयसार रूप शुद्धात्माको लक्ष्यकर किए जानेवाले व्याख्यानका मुख्य उद्देश्य उनका यही है। यह स्वयंके लिए भी आशीर्वादात्मक मंगल वचन हैं ॥३॥

उक्त समयसार रूप शुद्धात्माका दर्शन किसे होता है उसे आचार्य निम्न पद्य द्वारा प्रकट करते हैं—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**उभयनयविरोधध्वंसिनि**) व्यवहार-निश्चयादि दोनों नयोंकी परस्परकी विरुद्धताको मिटा देनेवाले (**स्यात्पदाङ्के**) स्यात् पद अर्थात् 'कंथचित्' पदसे चिह्नित (**जिनवचसि**) जिनेशके वचनोंमें (**रमन्ते**) रमण करते हैं (**ते**) वे (**स्वयं वान्तमोहाः**) स्वयम् मोहका वमन अर्थात् त्याग करते हैं और (**सपदि एव**) शीघ्र ही (**अनवम्**) अनाद्यनन्त (**अनय-पक्षाक्षुण्णम्**) नयके पक्षपातसे रहित (**उच्चैः परम ज्योतिः**) उच्च ज्योतिस्वरूप (**समयसारम्**) शुद्धात्मस्वरूप समयसारको (**ईक्षत**) देखते हैं।

भावार्थ—दूसरे कलशमें यह बताया था कि जिनवाणी अनेकान्त तत्त्व प्रतिपादिका है। पदार्थमें परस्पर विरोधी जैसे दीखनेवाले अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि सभी धर्म पाए जाते हैं। वस्तुतः उनमें विरोध नहीं है। किसी अपेक्षासे वे दोनों वस्तुमें पाये जाते हैं। स्यात् पद दोनों नयोंमें दिखाई देने वाले विरोधका ध्वंस करता है।

(६) **प्रश्न**—विरोधी धर्म एक वस्तुमें नहीं रह सकते क्योंकि उनमें विरोध है, शीत और उष्णकी तरह।

समाधान—नहीं उनमें विरोध वास्तविक होता तो एक वस्तुमें न रह सकते। जो एक साथ रहते हैं उनमें विरोध कैसा ?

हुए कहा है कि जैसे कोई ग्रामीण गंदले जलको ही जल मानकर पीता है किन्तु विवेकी पुरुष गंदले जलमें निर्मली डालकर निर्मल जल पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदन रूप भेदभावनासे शून्य मनुष्य, आत्माको मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित ही अनुभव करते हैं, अर्थात् दोनोंके भेदको नहीं जानते। किन्तु सम्यग्दृष्टी निर्मलीके समान निश्चयनयका आश्रय करके शुद्ध आत्माका अनुभव करते हैं।

इस दृष्टान्तसे निश्चय और व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता स्पष्ट हो जाती है। व्यवहारनय अभूतार्थ है इसका मतलब यह नहीं है कि वर्तमान आत्माकी अशुद्ध दशा नहीं है। वह है, किन्तु आगन्तुक होनेसे आत्माके स्वरूपमें नहीं है जबकि शुद्धता आत्मस्वरूप है। अतः शुद्धात्माके अनुभवनसे शुद्धात्माकी और अशुद्धात्माके अनुभवनसे अशुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। इसीसे व्यवहार परमार्थका प्रतिपादक होने पर भी हेय है। किन्तु वह सर्वथा ही हेय नहीं है, प्रारम्भिक दशामें उपयोगी भी है।

अमृत कलश

आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें समयसारके भावको पद्यबद्ध करनेकी दृष्टि से जो पद्य रचे हैं उन्हें 'समयसार कलश' नाम किसने दिया यह तो अन्वेषणीय है, किन्तु जिसने भी दिया उसने उन्हें सर्वथा उपयुक्त नाम दिया है। सचमुचमें अमृतचन्द्रजीके वे पद्य समयसार रूपी मन्दिरके शिखर पर कलश स्वरूप ही हैं। उनपर आचार्य शुभचन्द्रने संस्कृत टीका रची और पाण्डे राजमल्लने भाषा टीका रची। उसीके आधार पर कविवर बनारसीदासने समयसार नाटक रचा और इस तरह आचार्य अमृतचन्द्रके वे पद्य एक स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें प्रवर्तित हुए। वे पद्य इतने मनोरम और भावपूर्ण हैं कि संस्कृत भाषाका साधारण पाठक भी उनका रसास्वादन कर सकता है।

मेरे मित्र तथा सहाध्यायी और सहकर्मा पं० जगन्मोहनलालजीने स्वान्तःसुखाय एक भाषा टीका लिखी जो पाठकोंके सामने है। इस टीकामें अन्वयार्थ और भावार्थके साथ जो प्रश्न-उत्तर दिये गये हैं उनसे इस टीकाका महत्त्व बढ़ गया है। उनके द्वारा पण्डितजीने आजके समयमें प्रवर्तित विवादों और चर्चाओंका ही समाधान करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम उनके उन समाधानोंमेंसे कुछकी चर्चा करेंगे।

नयोंके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए पण्डितजीने लिखा है—

"नय पक्ष दोनों हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनों सही हैं। एक नय अपने पक्षका प्रतिपादन करते हुए भी अपरनयकी सत्यताको जानता है। तथा दूसरा नय भी ऐसा ही करता है। तथापि अनेक जन एक नयको दृष्टिमें रखकर उसके विषयको सत्य तथा अपरको असत्य कहते हैं और विवादमें पड़ जाते हैं। मूल उद्देश्य तो नयों द्वारा उसका स्वरूप जानकर आत्माको पवित्र बनानेका है, उसे भूल जाते हैं और विवादमें पड़ जाते हैं····यद्यपि आगममें पर्यायार्थिक नयको व्यवहारनय कहा है और उसे असत्यार्थ कहा है, सो ऐसा न समझना कि वह सर्वथा मिथ्या वस्तुको प्रतिपादन करता है अतः व्यवहारनयका प्रयोक्ता मिथ्यादृष्टि है।····यहाँ प्रश्न होता है कि फिर

उसे आगममें असत्य क्यों कहा ? उत्तर है कि उसे ही परमार्थ समझना असत्य है।''

पण्डितजीने सत्यार्थका अर्थ निजके लिये उपादेय तथा असत्यार्थका अर्थ निजके लिये अनुपादेय किया है। इसके पूर्वमें उन्होंने लिखा है—'निजकी सत्तासे सम्बन्धित अपने ज्ञायक स्वभावको ही वह सत्यार्थ और निजकी सत्तासे भिन्न समस्त द्रव्य क्षेत्र काल भावको असत्यार्थ मानता है क्योंकि वे उसकी सत्तासे अनुस्यूत नहीं हैं।' जो निजकी सत्तासे अनुस्यूत है अर्थात् आत्माके साथ तादात्म्य है वह सत्यार्थ है; शेष सब असत्यार्थ है। जो सत्यार्थ है वह निश्चयनयका विषय होनेसे निश्चयनय सत्यार्थ है। और व्यवहारनय असत्यार्थ है क्योंकि वह परके संयोगसे जन्य नैमित्तिक भावोंको भी वस्तुका स्वभाव कहता है।

इसपर प्रश्न और समाधान पण्डित जीने इस प्रकार किया है—

प्रश्न—जब आत्मा वर्तमानमें प्रत्यक्ष संसारी, सदेही, कर्म-नोकर्मभाव संयुक्त है तब इसे असत्य कैसे माना जाये ?

समाधान—यह असत्य नहीं है पर जीवकी यह पर्यायमात्र है, स्वभाव नहीं है संसारी दशा कर्मनिमित्त जन्य होनेसे नैमित्तिक विकारी दशा है। स्वाभाविक दशा तो इन संयोगोंके दूर होने पर प्रकट होगी, अन्यत्रसे नहीं आयेगी।

आगे एक प्रश्न और समाधान इस प्रकार है—

प्रश्न—शुद्धात्मामें भले ही रागादि न हो, अशुद्धात्मामें तो उनका अस्तित्व है।

समाधान—अवश्य है और उस दृष्टिसे वह सब सत्य ही है, असत्य नहीं है। किन्तु जड़ कर्मके निमित्तसे उत्पन्न विकार आत्मस्वभाव न होनेसे आत्मद्रव्यकी गणनामें नहीं आता। अतः शुद्धनयके द्वारा अपनी आत्माके सही शुद्ध स्वरूपमें वर्तमान दशामें पाये जाने वाले आत्मभिन्न विकारोंको ओझल करके देखो। ऐसा करनेसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होगी।'

ऊपरके समाधानमें पण्डित जीने विकारको जड़ कर्मके निमित्तसे उत्पन्न कहा है। यह केवल व्यावहारिक भाषा है। यथार्थमें उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है क्योंकि निमित्तकी चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

प्रश्न—जब बिना कर्मोदयके विकार उत्पन्न नहीं होता तब उसका कारण तो कर्मोदय रूप परपदार्थ ही है। यदि स्वयंके कारण हो तो सिद्ध भगवान्में भी स्वयंके कारण विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है। कर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है। उसकी उदय रूप अवस्था कर्ममें होती है अतः कर्ममें ही उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमादि पर्यायभेद बताये गये हैं। यदि कर्मका उदय जीवमें भी उदय रूप हो तो कर्मका क्षय होनेसे जीवका भी क्षय हो जायेगा। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी पर्याय स्वयंकी, उस

समयकी योग्यतासे होती हैं तथापि उन पर्यायोंमें परकी अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्तका अवलम्बन कर, जीव अपनेमें विकारी पर्याय उत्पन्न करता है, यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार उत्पन्न करता है यह कथन, उपचरित कथन, व्यवहारनयका कथन है।

उक्त विषयमें पञ्चास्तिकाय और उसकी टीकामें जो कुछ कहा गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा—

गाथा ५८ की टीकामें अमृतचन्द्र जी लिखते हैं—

अथवा उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप चार अवस्थाएँ द्रव्य कर्मोंकी ही हैं। जीवकी अवस्था तो मात्र एक परिणामरूप ही है। इसलिए उदय आदिके द्वारा होनेवाले आत्माके भावोंका निमित्तमात्र भूत उस प्रकारकी अवस्था रूपसे स्वयं परिणमित होनेके कारण द्रव्य कर्म भी व्यवहारनयसे आत्माके भावोंका कर्त्ता कहा जाता है।

इसपरसे आचार्य कुन्दकुन्दने ही यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया—यदि औदयिक आदि रूप जीवका भाव कर्मके द्वारा किया जाता है तो जीव उसका कर्त्ता नहीं है। किन्तु जीवका अकर्त्तापना इष्ट नहीं है। तब पारिशेष्यसे जीवको द्रव्य कर्मका कर्त्ता-पना प्राप्त होता है। किन्तु वह कैसे हो सकता है, क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा अपने भावको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता?

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्तपक्ष उपस्थित करते हुए आचार्य कहते हैं—व्यवहारसे निमित्तमात्र होनेसे जीव भावका कर्म कर्त्ता है और कर्मका भी जीव भाव कर्त्ता है। किन्तु निश्चयसे न जीव भावोंका कर्म कर्त्ता है और न कर्मका कर्त्ता जीव भाव हैं, किन्तु वे कर्त्ताके बिना भी नहीं होते अतः निश्चयसे जीवके भावोंका कर्त्ता जीव है, और कर्मभावका कर्त्ता कर्म है। इस तरह निश्चयसे जीव अपने भावोंका कर्त्ता और पुद्‌गल कर्मोंका अकर्त्ता है यह जिनागम है।

समयसारके कर्तृ कर्माधिकारमें इसीका विवेचन है, और मोक्षमार्गकी दृष्टिमें उसका विशेष महत्त्व है। जब जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्य हैं तब उनका सम्बन्ध और बन्ध पर्याय कैसे होती है और वह कैसे मिटती है यह मुख्य प्रश्न है। इसका उत्तर इसी अधिकारमें है। जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्‌गल कर्म वर्गणाएँ कर्म रूपमें परिणमन करती हैं और पुद्‌गल कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीवके परि-णाम होते हैं। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। फिर भी जीव और पुद्‌गलमें परस्परमें कर्त्ता-कर्म भाव नहीं है। क्योंकि न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है और न कर्म जीवके गुणोंको करता है। किन्तु उन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिकपना होनेसे परिणाम होता है। दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव मात्रका निषेध नहीं है क्योंकि परस्परमें निमित्त-मात्र होनेसे ही दोनोंका परिणाम होता है। इस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण व्यवहार नयसे जीव पुद्‌गल कर्मका कर्त्ता भोक्ता और पुद्‌गल जीव भावका कर्त्ता कहा जाता है। परमार्थमें जीव न तो पुद्‌गल कर्मको करता है और न पुद्‌गल कर्मको

भोगता है। यदि जीव पुद्गल कर्मको भी करे और भोगे तो वह दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्त्ता वन जायेगा, क्योंकि उसने अपने परिणामको भी किया व भोगा और पुद्गल कर्मको भी किया व भोगा। और एक द्रव्य दो द्रव्योंकी क्रियाका कर्त्ता नहीं होता, जो ऐसा नहीं मानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

पण्डित जीने पृष्ठ ८० पर प्रश्नों और समाधानके रूपमें इसपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। यह सव कथन किसीकी कल्पनासे प्रसूत नहीं है। यह तो समयसार का ही हार्द है। जो उससे अनभिज्ञ हैं और वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करते उन्हें ही यह भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। और यह भ्रम संसारका कारण वना हुआ है। आश्चर्य यही है कि जो संसारके कारण भ्रमजालको छोड़ना या छुड़ाना चाहते हैं वे भी व्यवहारनयके भ्रमजालको ही परमार्थ मानकर उसीमें उलझे रह जाते हैं। व्यवहारका मोह उनसे नहीं छूटता।

पण्डित जीने भी लिखा है—"अवतक रागका कारण कर्मोदय और कर्मका कारण जीवका राग मानते आये हैं। अतः उक्त कथन सामान्यतया लोगोंको, जो कुछ आगमके अभ्यासी हैं, उनके भी मनमें नहीं वैठता। इसका कारण यह है कि परमें कर्तृत्व वुद्धिकी जो भूल अनादिसे चली आती है उसीके परिप्रेक्ष्यमें आगमका अभ्यास किया है। जिसके कारण, निमित्त कारणको ही मुख्य कारण मान वैठे हैं, अन्तरंग कारणको, जो मुख्य है, उसे गौण कर रखा है। अथवा उसकी कारणताको लँगड़ा कारण समझा है, और यह समझा है कि उसका लंगड़ापन निमित्त ही मिटाता है।

यद्यपि कार्यमें अन्तरंग वहिरंग दोनों कारण माने गये हैं तथापि अन्तरंग कारण मुख्य कारण है और वहिरंग कारणको उपचारसे कारण माना गया है। वह यथार्थ कारण नहीं है। परन्तु अनादिकी भूलसे जो परको ही कर्त्ता माननेका भ्रमपूर्ण ज्ञान चला आता है, उसके कारण अन्तरंग कारणकी कारणता उपेक्षित हो गयी है और वाह्य निमित्त कारणमें ही कर्तृत्वकी मान्यता दृढ़ हो गई है। यह मान्यता आगमाभ्यास करने पर भी दूर नहीं हुई। आगमका अर्थ भी अपनी मान्यताके अनुसार लगा लिया जाता है।" (पृ० ९९)

पण्डित जीका उक्त कथन यथार्थ है। इसीसे प्रचलित विवाद नहीं मिटते।

शुभोपयोग और पुण्यवन्ध

आजकी चर्चाका एक मुख्य विषय शुभोपयोग और पुण्यवन्ध भी है। अशुभोपयोगसे पापवन्ध और शुभोपयोगसे पुण्यवन्ध होता है। वह सर्वसम्मत आगमिक सिद्धान्त है। अशुभोपयोग और पापवन्धको सव एक स्वरसे हेय ही मानते हैं। अतः उसमें भी कोई विवाद नहीं है। विवादका विषय है शुभोपयोग और पुण्यवन्धकी उपादेयता। अशुभोपयोग और पापवन्धकी तुलनामें शुभोपयोग और पुण्यवन्ध उपादेय हैं, इसमें भी कोई विवाद नहीं हो सकता।

व्रतोंका धारण शुभोपयोग है और उसका फल स्वर्गादि है। व्रतोंका धारण न करना अशुभोपयोग है और उसका फल नरकादि है। संसारमें रहते हुए यदि नरकादि

गतिमें कालयापन करना पड़े तो उससे तो स्वर्गादिमें कालयापन करना श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। ग्रीष्ममें एक आदमी धूपमें और एक छायामें खड़ा हो, उन दोनोंमें छायामें खड़े होनेवालेको श्रेष्ठ ही कहा जायेगा। यतः व्रतोंके धारण करनेसे पुण्यवन्ध होता है अतः व्रतोंका धारण करना भी हेय है यह कथन उनके लिये तो उपयुक्त हो सकता है जो अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमें संलग्न हैं। किन्तु जो अशुभपयोगमें आसक्त हैं, या उसे नहीं छोड़ सकते हैं, उनके सम्मुख अशुभोपयोगको छोड़नेपर वल न देकर, मात्र शुभोपयोगकी हेयतापर ही जोर देना उचित नहीं है। इसीसे विवाद वढ़ता है। सिद्धान्ततः यह ठीक है कि अशुभोपयोगकी तरह शुभोपयोग भी मोक्षार्थी के लिए हेय है। क्योंकि दोनों ही उपयोग अशुद्ध हैं। अन्तर इतना ही है कि अशुभोपयोगमें कषायकी तीव्रता होती है और शुभोपयोगमें कषायकी मन्दता होती है। अतः एकसे पापबन्ध होता है तो दूसरेसे पुण्यबन्ध होता है। किन्तु बन्धका निरोध हुए विना मोक्ष नहीं होता और बन्धका निरोध कर्म संन्यासके विना नहीं होता। इसीसे कलशमें कहा है—

'संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।'

अर्थात् मोक्षार्थीको समस्त शुभाशुभ कर्म त्याग देना चाहिये। जहाँ समस्त कर्मोंके त्यागकी बात कही गई हो वहाँ पुण्य और पापके भेदकी कथाको स्थान कहाँ ?

इसपरसे यह शंका उठाई गई है, जो प्रायः उठाई जाती है, कि मिथ्यादृष्टि की शुभाशुभ क्रियाएँ वन्धका कारण भले हों, किन्तु सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ तो मोक्षका कारण हैं। सभी मोक्षार्थी साधु षष्ठादि गुणस्थानोंमें सकल संयम रूप चारित्रको धारण करते हैं। यदि संयमको वन्धका कारण कहेंगे, तो लोग संयमके मार्गको छोड़ असंयमी हो जायेंगे।

इसका समाधान करते हुए पण्डित जीने लिखा है—जव सम्यग्दृष्टि की शुभ-क्रियाएँ भी बन्ध का कारण हैं तव सम्यग्दृष्टि शुभ क्रियाओंको छोड़कर असंयमी वन जाये यह कभी भी संभव नहीं है। जो तत्त्वज्ञानकी चर्चा तथा स्वाध्याय करनेवाले उक्त उपदेशको पाकर संयम छोड़ असंयमी वनते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि वस्तुको यथार्थ रूपसे जानता है। उसे सम्यग्ज्ञान है अतः वह तो असंयमको छोड़ संयमी ही बनेगा, फिर शुभभाव रूप सराग संयमको भी छोड़ वीतरागी निश्चय-चारित्री बनेगा। असंयमी नहीं बनेगा। आगे पं० जीने इसे और भी विस्तार से स्पष्ट किया है। अन्तमें लिखा है—'उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि एकान्ततः बाह्य चारित्र मात्रसे मोक्ष नहीं होता। किन्तु जो अशुभ परिणतिको छोड़ शुभ परिणिति रूप आचरणके द्वारा स्वरूप साधनका प्रयत्न करते हैं वे जीव शुभाशुभ कर्मसे ऊपर उठकर स्वयं शुद्धोपयोग रूप परिणतिमें लीन होते हैं वे अप्रमादी ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

क्या शुभोपयोगको परम्परासे मोक्षका कारण कहा जा सकता है ? इसके उत्तरमें जयसेनाचार्यने गाथा १४६ की अपनी टीका में कहा है—'जो भोगाकांक्षासे व्रत, तप, दान पूजादि करता है वह भस्मके लिये रत्नराशिका दाह करता है। उसका व्रतादि व्यर्थ है। किन्तु जो शुद्धात्म भावना की साधनाके लिये बहिरङ्ग व्रत, तप, दान, पूजादि करता है वह परम्परासे मोक्षको प्राप्त करता है।'

व्यवहारके पक्षपाती उक्त कथनके उत्तरार्ध पर तो जोर देते हैं किन्तु पूर्वार्धको भुला देते हैं।

व्रतादि क्या संवरके भी कारण होते हैं ? तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें शुभास्रवका वर्णन है और उसके प्रथम सूत्रमें हिंसादि पापोंके त्यागको व्रत कहा है। इस परसे सर्वार्थसिद्धि टीकामें पूज्यपाद स्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि व्रतको आस्रवका हेतु कहना ठीक नहीं है इसका अन्तर्भाव तो संवरके कारणोंमें किया गया है। आगे नौवें अध्यायमें संवरके हेतु कहेंगे। उनमें से दस धर्मोंमें से संयमधर्ममें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है। इसके उत्तरमें स्वयं पूज्यपाद स्वामीने कहा है कि संवर का लक्षण तो निवृत्ति है, किन्तु व्रत तो प्रवृत्ति रूप है। हिंसा, झूठ, चोरी आदिको त्यागकर अहिंसा, सत्यवचन, दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। दूसरे व्रतोंका अभ्यासी साधु सुखपूर्वक संवर करता है इसलिये व्रतका पृथक् उपदेश किया है।'

अतः सिद्धान्तके अनुसार भी व्रताचरण शुभास्रवका कारण है इसीसे पूज्यपाद स्वामीने अपने समाधि तन्त्रमें कहा है—

'अव्रतोंसे पाप और व्रतोंसे पुण्यका आस्रव होता है और दोनोंके विनाशसे मोक्ष होता है। इसलिये मोक्षार्थीको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये।'

जब मोक्षार्थीके लिये व्रत भी त्याज्य है तब व्रतोंसे होनेवाला पुण्यबन्ध कैसे उपादेय हो सकता है। पापबन्धकी दृष्टिसे ही पुण्यबन्ध उपादेय कहा जा सकता है किन्तु मोक्षके लिये तो दोनों ही अनुपादेय या हेय हैं। तत्त्वार्थसारमें अमृतचन्द्रजीने कहा है 'हेतु और कार्यमें भेद होनेसे पुण्य और पापमें भेद है।' पुण्यका हेतु शुभ भाव है और पापका हेतु अशुभ भाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है। किन्तु दोनों ही संसारके कारण हैं अतः दोनोंमें निश्चयनयसे कोई भेद नहीं है।

अमृतचन्द्रजीने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायके अन्तमें भी इस विषयकी चर्चा की है। वह लिखते हैं—

'असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥

अर्थात् 'एकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही रत्नत्रयके विपक्षी रागादिकृत हैं।'

यह अर्थ श्लोकके तीन चरणोंका है और इसमें कोई विवाद नहीं है। किन्तु

आजके विद्वान् चतुर्थचरणको भी इन तीनोंके साथ मिलाकर अर्थ करते हैं कि वह पुण्यबन्ध (कर्मबन्ध) अवश्य ही मोक्षका उपाय है। बन्धका उपाय नहीं है। किन्तु चतुर्थ चरण पृथक् है। एक देश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत क्यों है? रत्नत्रयकृत क्यों नहीं है? इसका उत्तर ग्रन्थ-कारने चतुर्थचरणसे दिया है। वह कहते हैं कि जो मोक्षका उपाय है वह बन्धका उपाय नहीं है। आगेके श्लोकोंमें वह अपने इस कथनका समर्थन करते हुए कहते हैं कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है उतने अंशसे बन्ध नहीं है। जितने अंशमें रागादि है उतने अंशमें बन्ध है। योगसे प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध होते हैं। कषायसे स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध होते हैं। रत्नत्रय तो न योगरूप है, न कषायरूप है, तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है। एकदेश रत्नत्रयके रहते हुए जो पुण्यास्रव होता है वह तो उनके साथ रहनेवाले शुभोपयोग का अपराध है।

इस सब कथनके प्रकाशमें उक्त श्लोकके अर्थको देखना चाहिये। विपक्षकृत कर्मबन्धको मोक्षका उपाय कहनेसे तो उसके बादका सब कथन असंगत हो जाता है।

आज व्यवहार, निमित्त, शुभोपयोग और पुण्यके पक्षपाती आगमके अर्थमें कैसा विपर्यास कर रहे हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सिद्धान्त हो या अध्यात्म, दोनोंमें दृष्टि भेद होनेपर भी मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही एक मोक्षमार्गको कहते हैं। सिद्धान्त और अध्यात्मके मोक्षमार्ग भिन्न-भिन्न नहीं हैं। एकका काम व्यवहार प्रधान है तो दूसरेका निश्चय प्रधान है। अमृतचन्द्रजीने लिखा है—व्यवहार भी परमार्थ मात्रका ही प्रतिपादन करता है, उसके अतिरिक्त किंचित् भी नहीं कहता। फिर भी वह प्रतिषेध्य है—हेय है। क्यों है? इसके समाधानमें जयसेनाचार्य कहते हैं—

'जो निश्चय मोक्षमार्गमें स्थित हैं उनका नियम से मोक्ष होता है। किन्तु व्यवहार मोक्षमार्गमें जो स्थित हैं उनका मोक्ष होता भी है और नहीं भी होता। यदि मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंका उपशमादि होनेसे शुद्धात्माको उपादेय मान-कर वर्तता है तो मोक्ष होता है अन्यथा नहीं होता। जो पूर्वोक्त शुद्धात्म स्वरूपको उपादेय नहीं मानता उसके सात प्रकृतियोंका उपशमादि नहीं होता।

अतः व्यक्तिगत विरोधके कारण सिद्धान्तका घात करना उचित नहीं है। इससे तो धर्मकी रक्षा न होकर धर्मका विनाश ही होता है।

पण्डित जगन्मोहनलालजी आजके विद्वानोंमें एक ऐसे विद्वान् हैं जो निश्चय और व्यवहारका सन्तुलन जीवनमें और व्यवहारमें रखते हैं। वे कोरे शास्त्रज्ञ नहीं हैं और न व्यक्तिगत राग-द्वेष के वशीभूत हो शास्त्रोंके अर्थमें अनर्थ करते हैं। इसके साथ ही वे सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक हैं और निष्ठा के साथ ही अपने आचारका पालन करते हैं। उन्हें केवल इह लोककी ही चिन्ता नहीं है परलोक की भी चिन्ता है। उनका संयमी जीवन इसका प्रमाण है। वे कुशल वक्ता और निस्पृही विद्वान्

हैं। उनके द्वारा समयसार कलशों पर रचित यह टीका अवश्य ही आजके द्वन्द्वमें पड़े हुए स्वाध्याय प्रेमी जिज्ञासुओंको उस द्वन्द्वसे निकाल कर स्वात्मबोध करानेमें सहायक होगी।

उनकी इस टीकाका प्रकाशन कटनीके श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिरकी ओरसे हो रहा है। मन्दिरोंके द्रव्यका सदुपयोग यदि जिनवाणीके प्रकाशन और प्रचारमें किया जाये तो वह शास्त्रानुकूल और समयानुकूल है इसके लिये उक्त मन्दिरके निर्माताओंके उत्तराधिकारी स० सि० धन्यकुमारजी, अभयकुमारजी, जयकुमारजी और उनका समस्त परिवार धन्यवादका पात्र है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

से होती है। थोड़े शब्दोंमें कहें तो 'जोड़-तोड़' दो शब्दोंमें ही संसार मोक्ष का स्वरूप है। मुक्तिका अर्थ छूटना है। छूटना विना बंधके नहीं होता, अतः तब बंध भी सत्य है ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है। कहना होगा कि वह अपने स्वरूपमें सत्य है, पर मोक्षमार्गीके लिए अनुपादेय (हेय= त्याज्य) है। अतः उसके लिए वह बाधक है अतः असत्य है। कुछ नहीं है।

(१४) **प्रश्न**—पर्यायदृष्टि सम्यग्दृष्टिकी है कि नहीं, अन्य दृष्टि न भी हो।

समाधान—पर्यायें संसारी जीवकी परनिमित्त जन्य अशुद्ध हैं, अशुद्धपर दृष्टि रखनेपर अशुद्धात्मा पाएगा। शुद्धपर दृष्टि होनेपर शुद्धात्माको पाएगा। पर्यायें अनेक हैं, द्रव्य एक है। आत्मा संसारमें नानापर्यायोंमें परिवर्तित हो रहा है पर सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि पर्यायों को गौण करके आत्माके त्रिकालोद्भव अपने शुद्ध स्वरूप पर है।

दृष्टांत १—पनघट पर पानी भरनेवाली पनिहारिनें जैसे आपसमें बात करती हुई अपने माथेपर दो-दो तीन-तीन घट रखकर चलती हैं। वे बातें करती हैं, उत्तर देती हैं, पर प्रति पदमें ध्यान इस बात पर है कि घट न गिर जावें। उन्हें सम्हालती रहती हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसारमें रहते काम करते हुए भी, अपनी दृष्टि केवल निज उपादेयपर रखता है। उसकी सम्हालमें भूल नहीं करता।

दृष्टांत २—निष्णात नृत्य करनेवाली नृत्यकारिणी पूरे रंगमंचपर फिरती है, नानाचेष्टायें करती है, पर संगीत तथा वाद्योंके स्वरोंके साथ पैरोंका मेल न विगड़ जाय इसका पूरा ध्यान रखती है। जहाँ ताल टूटता है उसके पैरोंकी क्रियायें भी ताल टूटनेका संकेत देती हैं, वेताल वह कभी नहीं होती। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसारमें विविध चेष्टारूप नृत्य करता है पर अपनी **अन्तरात्माके संगीतकी** ध्वनि **उसके भीतर गूँजती** रहती है, उसे वह **स्वप्नमें भी** नहीं **भुलाता**।

निज स्वभावकी दृष्टि जिसे प्राप्त हुई है वह तो अनादिकी भूलको-भ्रमको-निद्राको-नशाको छोड़कर सावधान-जागृत हुआ स्वात्मबोधको प्राप्त हुआ है। वह अब कैसे उस अनुभव निधिको पाकर फिर उसे भूलकर रंक बनेगा? अतः सब कुछ जानता हुआ भी कुछ नहीं जानता, सब देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता। एक अपनेको ही जानता और देखता है।

(१५) **प्रश्न**—प्रमाण-नय-निक्षेप पदार्थोंके अनुगमनके कारण हैं। यदि सम्यग्दृष्टि केवल आत्माको जानता है तो प्रमाणसे जानता है? या नयसे? या निक्षेपसे? या उनके किन्हीं भेद-प्रभेदोंसे। यदि इनसे नहीं जानता तो उसका जानना प्रमाणविरुद्ध-नयविरुद्ध-निक्षेपविरुद्ध होनेसे अप्रमाण है। कल्पित है। मिथ्या है

इसका समाधान निम्न पद्यसे श्रीअमृतचन्द्राचार्य स्वयं करते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

---

(१) सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥ —समयसारगाथा १८६

अन्वयार्थ—(**सर्वंकषे अस्मिन् धाम्नि अनुभवं उपयाते**) सम्पूर्ण तेजोंको नीचा कर देनेवाले इस आत्मानुभवके तेजके अनुभव आने पर (**नयश्रीः न उदयति**) नयोंकी लक्ष्मीका उदय नहीं होता (**प्रमाणम् अस्तमेति**) प्रमाण भी अपने भेद प्रभेदों सहित अस्त हो जाते हैं। (**निक्षेप चक्रम् अपि**) चारों निक्षेपोंका समुदाय (**क्वचित् याति**) कहीं चला जाता है (**इत्यपि न विद्मः**) हम यह भी नहीं जानते। (**अपरम् किम् अभिदध्मः**) और ज्यादा क्या कहें उस समय (**द्वैतमेव न भाति**) दूसरा कोई पदार्थ सामने नहीं आता। अद्वैत आत्मा ही प्रतिभासित होता है ॥९॥

भावार्थ—यहाँ सम्यग्दृष्टिके अनुभवकी वात है। सोने वालेसे पूँछे—कि क्यों भाई सो रहे हो ? यदि उत्तर देता है कि—हाँ, तो समझो झूठ वोलता है, सो नहीं रहा। यदि सोता होता तो उत्तर कैसे देता ? वह तो जाग रहा है। इसी प्रकार **निजविशुद्धात्माका** जव अनुभव **अपने पूर्ण** तेजसे **उदित होता** है तव **वह सर्वंकषधाम** है। अर्थात् ऐसा तेज है, जिस तेज के सामने दूसरे तेज नहीं ठहरते। तव उसके सिवाय सव अस्त हो जाते हैं। अस्त हो जानेका यह **तात्पर्य नहीं** है कि **उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता** है। **नहीं, उनका अस्तित्व उसकी दृष्टिमें उस समय** नहीं **आता**। यदि **आवे तो समझ लो** वह **अनुभवकी यथार्थ** भूमिका **पर नहीं** है।

सम्यक् ज्ञानी पुरुष आत्मरुचिमें जागते हैं, अनात्मरूप पदार्थोंमें सोते हैं। मिथ्याज्ञानी अनात्मरूपमें जागते व आत्मरूपमें सोते हैं।

यह यथार्थ है कि अनुभव सही वही है जिसमें अनुभूत पदार्थके सिवाय अन्य कुछ दिखाई न दे। यदि उपयोग क्षणभरको भी लौटता है तो उतने क्षण वह अनुभव विहीन है।

जव कोई व्रती या अव्रती सामायिक या जाप जपने वैठता है और अपने चित्तको पञ्च-परमेष्ठीकी भक्तिमें लीन कर देता है या तत्त्वविचारणामें लीन हो जाता है, तव उसे यह पता नहीं लगता कि वह कहाँ है ? क्या कर रहा है। यदि उसका मन लौटकर पीछे देखता है कि कहाँ है वह, तो समझ लीजिए कि उसी क्षण वह अपने ध्यानसे अलग हो गया; क्योंकि ध्याताने ध्येय छोड़कर अपनी ध्यान-पद्धतिपर विचार करना प्रारम्भ कर दिया है। कहना चाहिए कि ध्याता अपने पूर्ण ध्यानमें हो तो केवल ध्येयपर ही दृष्टि टिक जाती है, अन्य सब पदार्थ दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं।

दृष्टिसे ओझल हो जानेका यह अर्थ नहीं है कि उनका अभाव हो जाता है। अथवा जिस प्रमाण-नय-निक्षेपकी अपेक्षा वह अनुभव करता है वह अनुभव प्रमाण-नय-**निक्षेपके विरुद्ध हो गए, ऐसा नहीं** है। ध्येय उसका प्रमाणसिद्ध है अथवा किसी नय विशेषका विषय है, या किसी निक्षेप की अपेक्षा लेकर चल रहा है। पर जो चल रहा है, उस समय दृष्टि (विचारणा) केवल उसकी ध्येय-पर ही है। वह किसी प्रमाण या नय निक्षेपका विषय है, इसके विचार करनेका अवकाश ही वहाँ नहीं है। तटस्थ व्यक्ति उस अनुभव करने वालेके अनुभवके अतिरिक्त उसके स्थान, समय, प्रमाण, नय आदिका विवेचन कर सकता है। पर विवेचन करने वाला उस अनुभवसे दूर है। इसका कारण यह है कि उपयोग एक समयमें एक ज्ञेयपर रहता है, अनेकपर नहीं।

(१६) **प्रश्न**—तव तो अनेक पदार्थोंका कभी ज्ञान ही संभव नहीं है जव कि हर समय एक ज्ञानका विषय एक ही होगा।

समाधान—बात तो ऐसी ही है। पर हमें अनेकका ज्ञान होता है यह भी सही है। इसका यह अर्थ है कि **ज्ञानोपयोग भी वे अनेक हो** जाते हैं और उनकी **अत्यन्त शीघ्रगामी चंचलताको** हम **स्वयं भी** नहीं **पकड़ पाते**। अतः अनेक **क्षणवर्त्ती** नाना **उपयोगोंको** एक **उपयोग मानकर** उसके **विषयको** यह **ज्ञान नानारूप जानता है**, ऐसा मानते हैं। संसारी जीवके क्रमवर्ती ज्ञानकी यही स्थिति है। हाँ केवलीका ज्ञान ही एक क्षणमें नानापदार्थोंका एक साथ ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु संसारीका नहीं।

यह सिद्ध हुआ कि जैसे सूर्यका तेज प्रकट होनेपर चंद्रमा इतना फीका पड़ जाता है कि जिसे "आक-पात-सम-रंक" हिन्दी भक्तामरमें कहा है। दीपक बिजली लेम्प आदि सम्पूर्ण पास रखे हुए प्रकाश भी उसके तेजमें विलीन हो जाते हैं और लोगोंको केवल एक ही प्रकाश दीखता है। तारागण तो प्रयत्नके बाद भी अपना अस्तित्व तक नहीं बता पाते, इसी तरह शुद्धात्माके अनुभवके समय उसके सिवाय अन्य कुछ प्रतिभासित नहीं होता, अकेला (अद्वैत) वही प्रकाशमान होता है।

श्री पं० दौलतरामजीने छहढालामें इसी बातको लिखा है—

'परमाण-नय-निपेक्षको न उदोत अनुभवमें दिपे'।

(१७) **प्रश्न**—अनुभवके समय उसे प्रमाण नय निक्षेप न दिखें तो न दिखें, पर वह अनुभव क्या अप्रमाण है ? यदि नहीं तो किस प्रमाण या नयका विषय है ?

समाधान—वह शुद्धनयका विषय है। इसी बातको आचार्यश्री निम्न पद्यमें प्रकट करते हैं :—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०॥

अन्वयार्थ—**(आत्मस्वभावम् परभावभिन्नम्)** आत्माका स्वभाव परभावोंसे भिन्न है : **(आपूर्णम्)** वह अपनेमें परिपूर्ण है **(आद्यन्तविमुक्तम्)** आदि अन्तरहित अर्थात् अनाद्यनन्त है। **(एकम्)** एक-अर्थात् द्वैतभावसे रहित है **(विलीन संकल्प विकल्पजालम्)** संकल्प और विकल्पोंके भेदोंके जालसे रहित है **(प्रकाशयन्)** आत्माके ऐसे स्वरूपको प्रकट करता हुआ **(शुद्धनयः)** शुद्धनय **(अभ्युदेति)** उदयको प्राप्त होता है। अर्थात् जब शुद्धनय प्रकट होता है तब आत्माका ऐसा शुद्ध निजस्वरूप प्रतिभासित होता है ॥१०॥

भावार्थ—आत्मा अपने स्व (निज) भावमें है। वह पर द्रव्योंके स्वभावसे सर्वथा भिन्न है। जो जिसका 'स्व' है वह परसे भिन्न होना ही चाहिए, यह तर्कसंगत बात है। इसीलिए आत्मा, पर द्रव्यों तथा पर-द्रव्योंके भावोंसे पृथक् ही है। तथा कर्म-नोकर्म-निमित्तजन्य जो विकारभाव आत्मामें होते हैं वे भी उसके 'स्व' भाव नहीं हैं, अतएव उनसे भी आत्मा भिन्न है।

परभावोंको या रागादिभावोंको आत्मासे अलग कर दिया जायगा तो **आत्मा शून्य हो जायगी, ऐसी आशंका** नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह अपनेमें अपने स्वभाव **भावसे आपूर्ण** (भरी हुई) है, कहीं भी कोई जगह उसमें स्वभावसे शून्य नहीं है। घड़ा यदि आपूर्ण भरा हो तो उसमें और जलकी गुंजाइश नहीं है, और भरा जाय तो वह गिर जायगा। इसी प्रकार आत्मा नामका पदार्थ कुछ रिक्त हो तो परभाव उसमें प्रवेश पा सकेंगे। पर ऐसा होता नहीं है; क्योंकि वह **अपने असाधारण गुण चैतन्य रूपी जलसे** भरा **पूर्णघटके समान** है। **भावान्तर उसके पास आवे तो वे बिखर जायेंगे, उसमें उन्हें स्थान न मिलेगा।**

वह आत्मस्वभाव, **आत्मामें शक्ति रूपमें, अनादिकालसे** है और **अनंत काल** तक रहेगा। कभी जुदा न होगा। **अनादिसे कर्म-नोकर्मकी संयोगी दशामें उसका स्वभाव विकार रूप परिणत** है पर वह वर्तमान विकारी पर्याय है। **द्रव्यका स्वभाव द्रव्यमें शक्तिरूपमें सदासे** है। स्वभाव उत्पन्न नहीं होता, यदि उत्पन्न हो तो **वह नैमित्तिक भाव होगा स्वभाव नहीं होगा** ।

आत्मा एक है, इसका अर्थ है कि वह 'शुद्ध' है। जो अपनेमें एक होता है वही लोकमें भी शुद्ध कहा जाता है। जैसे शुद्ध घी, शुद्ध दूध इत्यादि। पर की संगतिसे ही वह अशुद्ध कहा जाता है, क्योंकि मिश्रण से उसकी विकृतावस्था हो जाती है। तथापि घी व दूध मिश्रित दशामें भी घी और दूध है, वे अन्य द्रव्य नहीं वन जाते। यदि वह अन्य द्रव्य वन जावे तो जो वन जावे वह तद्रूप ही हो जायगा। वह अशुद्ध घृत भी न कहलायगा। इसी प्रकार दूधमें यदि पानी मिल जायगा तव मिश्रित दशामें भी वह जितना दूध मिला है उतना तो दूध ही है जितना पानी मिलाया है उतना पानी ही है। न दूध पानी वना, न पानी दूध वना। यदि तीन पाव दूधमें एक पाव पानी है तो अविवेकी उसे एक सेर दूध कहेगा, पर विवेकी जान लेता है कि दूध तो उसमें तीन पाव ही है। इसी प्रकार आत्मा, कर्म-नोकर्मके साथ भले ही एक क्षेत्रावगाही हो तथापि ज्ञानी उसमें आत्मा कितनी है और संयोगी पदार्थ कितना क्या है इसकी पहिचान कर लेता है।

दूधमें शर्करा मिला देनेपर दूध-पानी दोनोंका स्वाद मीठा हो जाता है, पर ज्ञानी जानता है कि मीठा स्वाद शर्कराका है, सोंधा स्वाद दूधका है, और पनीला स्वाद इसमें पानी का है। **अज्ञानी तीनोंको** एकमेक **समझ कर पी जाता** है, भेदभाव नहीं जानता।

ज्ञानी जानता है कि क्रोधकी अवस्थामें 'मैं परपुरुषपर वैरभाव करता हूँ तो मेरा शरीर थर-थर काँपता है।' इसमें मैं क्रोध कर रहा हूँ यह जानना तो मेरा ज्ञानभाव है, क्रोध करना वुरा है यह भी ज्ञान जानता है। क्रोध मेरा विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नहीं, क्योंकि वह न सदासे है और न सदा रहता है। वैर भी मेरा विकारी भाव है। क्रोधके विकारसे उसका जन्म हुआ है, क्योंकि मैंने इस व्यक्तिमें अनिष्ट कल्पना की। शरीर जड़ नोकर्म है, मैंने जव विकारको अपनाया तो शरीरमें भी विकृति हो गई है। ज्ञानीको ऐसा विचार आता है और वह स्वभाव-परभाव-विकारीभाव सबको ज्ञानके वलपर पहिचान लेता है। अज्ञानी ये सब नहीं जानता। वह तो क्रोधमें ऐसा भी कहता है कि "मैं अपनेसे तुमको एक कर दूँगा" तुम्हें पीस दूँगा। मिटा दूँगा। यह तो तीव्र क्रोध है जिसके कारण गलत वात कहता है। और मैं गलत हूँ ऐसा जानता भी नहीं है। ज्ञानी, पर में निजकी कल्पना जिसे संकल्प कहते हैं, तथा कषायके या ज्ञेयके आधार पर होने-वाले विकल्प, इन सव संकल्प विकल्पोंसे रहित शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा जानता है।

शुद्धनयके बलसे उसे अपने स्वरूपका साक्षात्कार (अनुभव) प्राप्त होता है अतः आत्माको **परसे भिन्न निजके एकत्वसे** अधिक परिपूर्ण अनाद्यनन्त **संकल्पविकल्पसे रहित**, ज्ञायक स्वरूप शुद्ध शांत रूपमें देखता है।

सभी पदार्थ ज्ञेय हैं, उनका जाननेवाला ज्ञान है। **ज्ञान ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। वह स्वयंको भी जानता है।** दीपक जैसे परको प्रकाशित करता है और स्वयं दीपकको देखनेके लिए अन्य दीपंककी आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार ज्ञान भी स्वपर प्रकाशक है।

पदार्थोंका निर्णय ज्ञान ही करता है ज्ञानके विना उनका अस्तित्व भी है, यह कैसे जाना जायगा ?

ज्ञान सही भी होता है और गलत भी। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जाने, वह सही (सत्य-सम्यक्-प्रमाण) ज्ञान है, और पदार्थ कुछ अन्य प्रकार है और ज्ञान उसे अन्य प्रकारसे जाने वह गलत (असत्य-असम्यक्-मिथ्या-अप्रमाण) ज्ञान है।

सत्यज्ञानसे निर्णीत पदार्थबोध **हितकर** है। **असत्यज्ञानसे** निर्णीत पदार्थवोध धोखा देनेवाला होनेसे **अहितकर** है। यह प्रमाण ज्ञान पदार्थको सम्पूर्ण रूपसे अपना ज्ञेय वनाता है, पर नय उसके एकांशको ही विषय वनाता है। दोनों ज्ञान सत्य हैं। वस्तुके एक देशका प्रतिपादक भी नय सत्यांशका प्ररूपक है। साथ ही अन्य अनेक सत्यांश जो वस्तुमें हैं उनका वह निषेधक नहीं है। कलश चारकी व्याख्यामें भी इनका संक्षिप्त स्वरूप कहा जा चुका है।

द्रव्य जितने हैं वे सदा काल अनाद्यनन्त अपने-अपने स्वभावका ही स्पर्श करते हैं—अन्य भिन्न द्रव्योंका नहीं। चाहे वे स्वजातीय द्रव्य हों या विजातीय द्रव्य हों। अतः द्रव्यार्थिक नय उसके अनाद्यनन्त शुद्धस्वभाव वाले अंशको ही वताता है। वर्तमानमें जो कर्मनिमित्तजन्य विकारी पर्यायें हैं उनका प्रतिपादन नहीं करता न उनका निषेध करता है। वह अपनी वात करता है। **पर्यायार्थिक नय क्रम-क्रमसे होनेवाली** परिवर्तनशील अवस्था पर **दृष्टि रखता है, द्रव्यपर नही। दोनों नय द्रव्य** और **पर्यायके भेदको लक्ष्य में रखकर विषयका प्रतिपादन करते हैं। दोनों अंश** सत्य हैं।

अनादिसे जीवकी **एकांतसे पर्याय दृष्टि है अतः पर्यायको ही द्रव्य मानता है** इस एकान्तका फल यह है कि वह अपनी मानव पर्यायकी उत्पत्तिमें अपनी उत्पत्ति और पर्यायके नाशमें अपना भी सर्वथा नाश समझता है और इस **मिथ्या** धारणासे हर्ष-विषादको प्राप्त होता है। पं० दौलत-रामजी अध्यात्मके वड़े विद्वान् थे। विक्रमकी १९वीं शताब्दीमें हुए हैं। अपनी छोटी किन्तु धर्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए रसायन स्वरूप पुस्तक छह ढालामें लिख गए हैं—

तन उपजत अपनी उपज जान।
तन नसत आपनो नाश मान।

इसे अज्ञान लिखा है। मिथ्यादृष्टिकी ही ऐसी मान्यता होती है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं तो एक ज्ञायक स्वभावी अमूर्तिक आत्मद्रव्य हूँ। शरीर पौद्गलिक जड़भूत द्रव्य है, अजीव है, मेरे स्वरूपसे भिन्न है। संसारी अवस्थामें इसकी प्राप्ति वंधनरूपमें—कारागृह रूपमें है। यदि किसी व्यक्तिको उसके अपराधोंके फलस्वरूप कारागृहमें वंद किया गया है, वह उसे अपना आनन्दका दिन माने तथा कारागृहसे मुक्तिके दिनको शोकदिवस माने तो लोकके व्यवहारमें

सज्जन पुरुष उसे अज्ञानी समझेंगे। इसी प्रकार कर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कष्ट जिस शरीरके माध्यमसे प्राप्त होते हैं उस कर्मदण्डके फलस्वरूप शरीरकी प्राप्तिमें 'हर्ष' और उसके वियोगमें 'विषाद' माननेवाला पुरुष भी उसी कोटिमें है, वह उससे उवर नहीं पाया।

(१८) **प्रश्न**—तीर्थंकरका जन्मकल्याणक मनाया जाता है क्या वह गलत मान्यता है[1]।

समाधान—नहीं। तीर्थंकरका वह अंतिम जन्म है इस जन्मसे ही उन्होंने जन्मका अन्त किया है। इस प्रसन्नताका सूचक वह कल्याणक माना जाता है। चौवीसमेंसे उन्नीस तीर्थंकर अपने जन्म दिवस पर ही संसारसे विरक्त हुए हैं। अर्थात्—देहसे ममत्व छोड़ा है।

ज्ञानीको जन्म दिवस पर यह सोचना चाहिए कि मेरे इतने वर्ष व्यर्थ गए। मुझे आत्म-कल्याण करना चाहिए न कि देहके जन्मका उत्सव करना चाहिए। देहकी प्राप्तिमें हर्ष मानना अनन्त जन्मोंको निमंत्रण देना है।

(१९) **प्रश्न**—जबकि आत्मा वर्तमानमें प्रत्यक्ष संसारी सदेही कर्म नोकर्म भावकर्म संयुक्त है तव इसे असत्य कैसे माना जाय ?

समाधान—यह असत्य नहीं है। परन्तु जीवकी यह विकारी पर्यायमात्र है। जीवका स्वरूप नहीं है। इस संयुक्तताको दूर करना हो तो उससे पूर्व यह जानना भी तो उचित है कि ये संयुक्त हैं[2]। इन संयोगोंको भिन्न करना है, तव मेरी निर्मल दशा प्रकट होगी। संसारी दशा कर्मनिमित्तजन्य होने से नैमित्तिक विकारी दशा है। स्वाभाविकी दशा तो इन संयोगोंके दूर होनेपर प्रकट होगी। वह अन्यत्रसे आयगी नहीं। द्रव्यका स्वभाव जो छिपा है, वह प्रकट होगा। उदाहरण स्वरूप ऐसा समझें—एक श्वेत वस्त्र है। उसे लालरंगसे रंग दिया गया है। इस अवस्थामें उसकी श्वेतता रक्तिमामें परिवर्तित है। वर्तमान में उसकी लालिमा सत्य है, यथार्थ है, पर क्या यह वस्त्रका त्रैकालिक स्वरूप है ? या लालरंगके निमित्तसे नैमित्तिक अवस्था है। यह एक प्रश्न है।

आप स्वयं कहेंगे कि लालिमा वर्तमानमें सत्य होते हुए भी सर्वथा सत्य नहीं, क्योंकि वस्त्र सदासे ऐसा नहीं है, और रंग दूर होनेपर भी लाल नहीं रहता। अतः वह उसकी परके कारण विकृत दशा है। अव दूसरा प्रश्न होता है कि सावुन या अन्य द्रव्योंके द्वारा धुलाई करनेपर वस्त्र सफेद हो जाता है। तो यह विकृत दशा है क्या ? उत्तर मिलेगा, नहीं। वह स्वरूपसे श्वेत था अतः सावुन-सोडा आदिके योगसे उसका ऊपरी रंग दूर हो गया अतः श्वेत है। प्रश्न—जैसे रंगकी लालिमासे लाल था, वैसे क्या अव सावुन की सफेदीसे वस्त्र सफेद रंग गया है क्या ? उत्तर होगा, नहीं, सफेदी उसका स्वभाव था जो लालरंग दूर करदेने पर प्रकट हुआ है।

---

१. आगे कलश १५५ की टीका भी देखिये।

२. भावकर्म, रागादिभाव आत्माके स्वभाव भाव नहीं। कर्मोदय के निमित्त से आत्मामें उत्पन्न हुए हैं, अतः कर्म संयोग में होनेसे इन संयोगजभावों को यहाँ संयुक्त कहा गया। जिनका वियोग हो जाता है वे संयोगी ही थे, इस नियम से भी उन्हें संयुक्त कहा जायगा। तथापि आत्मसत्ता से भिन्न स्थिति न होने से उनमें आत्मा के साथ कथंचित् तादात्म्य संबंध भी कहा जा सकता है।

(२०) **प्रश्न**—यदि श्वेत स्वभाव वस्त्रका था तो कहाँ छिपा था ? हमने वस्त्रके एक-एक तंतुके रेशे-रेशे को अलगकर देखा था। सफेदी उस अवस्थामें दिखाई नहीं दी; फिर यह कहाँसे आगई ?

समाधान—स्वयं विचारिये कि यदि श्वेतता शक्ति की अपेक्षा भी उसके स्वभावसे मिट गई होती तो प्रयोगसे भी प्रकट न होती।

इसी प्रकार जीव यद्यपि वस्त्रकी तरह पहिले श्वेत नहीं था। शुद्ध नहीं था। उसके साथ कर्मादि संयोग तो है और जब संयोग दूर हो जाता है तो सिद्धावस्थामें वह संयोगजन्य विकारोंसे पृथक् शुद्ध स्वभावी प्रकट हो जाता है। इससे सिद्ध है कि जो प्रकट हुआ है वह शक्ति अपेक्षा द्रव्यमें पूर्व ही था।

सम्यग्दृष्टि इसी प्रकार शुद्धात्माका भेद ज्ञानके बलपर अनुभव करता है। उसकी इस भेदक दृष्टिको ज्ञाता पुरुष 'शुद्धनय' कहते हैं।

ऐसे अपने शुद्ध स्वभावका अनुभव करने वाला भले ही अनुभवन कालमें 'मैं शुद्धनयका अवलंबन कर रहा हूँ' ऐसा न जाने, पर अनुभव करने वाली वह दृष्टि 'शुद्धनय' की दृष्टि है ऐसा आचार्य कहते हैं। तथा संसारी प्राणियों को उपदेश करते हैं कि इस शुद्धनयका अवलंबनकर शुद्धात्माका अनुभव करो।

(२१) **प्रश्न**—जब जिनेन्द्रका उपदेश अनेकान्त रूप है, क्योंकि पदार्थ स्वरूप स्वयं अनेकान्त है, और इसीलिए अनादिकालसे जिनकी पर्यायैकान्त दृष्टि थी उसे छोड़नेका उपदेश किया है फिर उन्हीं आचार्यों ने **पर द्रव्यसे भिन्न पर (रागादि) भावोंसे भिन्न** आत्माका शुद्धनयसे अनुभव करनेका उपदेश दिया सो यह तो विपरीत ही हुआ। **यह निश्चयका एकान्त है दोनों एकान्त मिथ्यात्व हैं ?**

समाधान—तुम्हारा कथन यथार्थ नहीं है। कारण यह कि **आचार्य** निश्चयके एकान्त का **उपदेश** नहीं दे रहे, यदि ऐसा होता तो एकान्त **अद्वैतका समर्थन करते।** जो व्यक्ति आत्माको वर्तमान दशामें भी पूर्ण शुद्ध माने, वह निश्चयका एकान्तवादी है। आचार्य तो यह कहते हैं कि तू अपनी **पर्यायैकान्तताको छोड़ इस तरफ दृष्टि दे।** बिना ऐसा **उपदेश** किये **पर्यायमूढ़ता नहीं** जाती और यथार्थ **द्रव्य** स्वरूप नहीं **भासता,** इससे इसपर जोर दिया है। इसका यह तात्पर्य नहीं **निकालना** कि **पर्यायका सर्वथा अभाव** कराया। किन्तु पर्यायको **गौणकर** इतना ही नहीं, द्रव्य **पर्याय भेदको भी,** जो कि यथार्थ है, **गौणकर, अभेददृष्टि से थोड़ा अपने स्वरूपका भी तो विचार** कर। जब अपना स्वरूप **जाननेमें** आया, **तब कहते हैं कि 'यह तेरा स्वरूप है'।** अब **पर्यायको देख** तू कहाँ है ? और तेरा क्या **कर्त्तव्य** है ? **उसी कर्त्तव्य की पालना** ही **चारित्र है। इस तरह** स्वरूप **दर्शन** कराकर, अशुद्ध **पर्याय मिटा** कर, शुद्ध **पर्यायको प्रकट करानेका उपदेश है।**

आचार्य कहते हैं कि एक बार तो अपनी दृष्टि स्वरूपको पहिचाननेको कर। 'शुद्धनय' के अवलोकनसे देखे बिना वह स्वरूपकी पहिचान होगी नहीं। जब तू उसका अवलोकन करेगा तो क्या दीखेगा उसका वर्णन करते हैं—

नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जिस शुद्धनयमें (**अमी बद्धस्पृष्टभावादयः**) ये बद्धस्पृष्ट आदि विशेषण (**एत्य प्रतिष्ठाम् न हि विदधति**) आकर प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होते (**किन्तु उपरि तरन्तः**) किन्तु ऊपर तैरते ही नजर आते हैं। (**जगत अपगतमोहीभूय**) अतः जगत्के प्राणियो, मोह रहित होकर (**समन्तात् द्योतमानम्**) सब ओरसे प्रकाशमान (**तमेव सम्यक् स्वभावम्**) उस यथार्थ आत्मस्वभाव को (**अनुभवतु**) अनुभव करो ॥११॥

भावार्थ—शुद्धनयका स्वरूप शुद्धपदार्थको दृष्टिमें लेना है। यह बात ऊपर बताई जा चुकी है। उस शुद्धनयकी दृष्टिसे आत्मा कर्म-नोकर्मसे न बंधी है न छूटी है अर्थात् आत्मामें उनका प्रवेश नहीं है। किंतु अपनेसे ही अनन्य (अभिन्न) है। यद्यपि पर्यायें (नर-नारकादिरूप) आत्मामें हैं तथापि वे स्थिर नहीं, आगन्तुक हैं। यदि वे स्वभावरूप होतीं तो सदाकाल अनन्य रहतीं। पर ऐसा नहीं होता। अतः आत्मा अनन्यरूप है। **अपनी विविध अवस्थाओंके रूपोंमें सदैव एक स्वभावसे नियत है।** वह अनियत स्वभाव नहीं है कि कभी उपयोगस्वभाव हो, कभी जड़स्वभाव, **किंतु सदैव ज्ञायक स्वभाव है।**

यद्यपि आत्मा अनन्तगुणस्वभाव रूप है, तथापि अखण्ड है। गुण आदि विशेषणोंसे खण्ड-खण्ड रूप नहीं है। **सर्वगुणव्यापक सामान्य रूप विशाल वस्तु है। आत्मा जब अपने ही गुण पर्याय-भेदोंसे भेदरूप नहीं है, तब परसे संयोगीभावोंके प्राप्तिकी चर्चा ही नहीं करनी चाहिए, अतः असंयुक्त है।**

इस प्रकार आत्मामें यद्यपि व्यवहारनयसे कर्मबद्धता-शरीरस्पर्शता विविध पर्यायोंमें विविधरूपता—**अनियतता** विविधगुणोंके विशेषणोंसे विशेषता तथा संसारी अवस्थामें कर्म-नोकर्म तथा कर्मोदयनिमित्त रागादि भावकर्म से संयोगरूप परिणति भी है तथापि यदि आत्माको शुद्ध-नयकी अपेक्षासे इन सब विशेषणोंसे भिन्न, एकमात्र स्वभाव दृष्टिसे देखें, तो ये विशेषण ऊपर-ऊपर रह जाएंगे, स्वभावमें इनकी स्थितियाँ—(महत्ता) नहीं है[1]। अतः इन स्थितियोंको, जो पाई भी जाती हैं, दृष्टिसे ओझल करके देखनेसे जीवका सम्यक्स्वभाव दृष्टिगोचर होगा ?

(२२) **प्रश्न**—जो विशेषण जीवमें दिखाई देते हैं उन्हें ओझल कैसे किया जाय ? यह तो ऐसे ही है कि जैसे कोई कहे कि तेरे घरमें सर्प है पर तू ऐसा समझ कि तेरा घर सर्प रहित है। ऐसा माननेसे तो धोखा होगा। वह सर्पसे बचनेका कोई प्रयत्न नहीं करेगा ?

---

१. शुद्ध नयका स्वरूप समयसार (गाथा १४) में इस प्रकार बताया गया है—
जो पस्सदि अप्पाणं अबद्ध पुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥

समाधान—ऐसा नहीं है जो दिखाई देता है। उसे आत्मस्वभाव तो न समझो। यदि कोई सर्पको भी घरका ही अङ्ग मान ले तो सर्प को क्यों निकालेगा? उसे वह तभी निकालेगा जब उसे अपने घरसे भिन्न (बाधक) समझेगा। इसी प्रकार कर्म-नोकर्म आत्मासे संयुक्त और भावकर्म आत्मा में दिखाई देते हैं, मात्र इतनेसे ही उन्हें आत्माका स्वभाव मान ले तो उन्हें दूर करनेका प्रयत्न क्यों करेगा? अतः संयोगी भावोंमें और संयोगज विकारी भावोंमें परत्वबुद्धि कर उनके रहते हुए भी उन्हें इसलिए ओझल करो कि वे हैं तो, पर मेरे निज स्वभावसे भिन्न हैं। मेरे स्वभावमें उनकी महिमा नहीं, किन्तु आत्माकी महिमा उनसे भिन्न है।

(२३) प्रश्न—कर्म-नोकर्म तो पुद्गलजन्य हैं अतः उनको दृष्टिसे ओझल कर आत्माकी पहिचान की जा सकती है, पर रागादि तो कर्मके भाव नहीं, कर्ममें नहीं होते, आत्माकी सत्तामें होते हैं। जो आत्मसत्तासे अभिन्न सत्तावाले हैं उन्हें दृष्टिसे ओझल कैसे किया जाय?

समाधान—भावकर्म भी जड़ स्वरूप है, शुद्ध आत्मस्वरूप नहीं है। यद्यपि वे आत्मामें उत्पन्न होते हुए पाए जाते हैं तथापि उनकी उत्पत्ति भी परसंयोग जन्य ही है।

(२४) प्रश्न—संयोग दो द्रव्योंका ही होता है। भावकर्म स्वतंत्र सत्ता वाले छह द्रव्योंमें कोई द्रव्यजाति नहीं है, तब उनका आत्मासे संयोग कैसे कहा जाय। वे तो आत्म-सत्तासे एकात्मक होनेसे यथार्थमें तादात्म्यरूपसे आत्मामें हैं।

समाधान—यह सही है कि 'द्रव्ययोरेव संयोगः'। दो द्रव्योंका पारस्परिक संबंध संयोग-संबंध कहलाता है, परन्तु संयोगी अवस्थामें जो आत्मामें रागादि विकार होते हैं वे क्या आत्म-स्वभाव हैं? यदि नहीं हैं तो वे क्या हैं? इसका विचार गंभीरतासे कीजिए। वे आत्म स्वभाव नहीं हैं, पुद्गलमें भी पाये नहीं जाते हैं। तो उनकी क्या स्थिति है? किस द्रव्यमें वे गिने जायेंगे? यह विचारणीय है। स्थिति यह है, कि द्रव्य कर्मके भेदोंमें राग-क्रोध-मान-माया आदि नामधारी कर्मभेद हैं। ये नाम उनके क्यों हैं? इसलिए कि उन प्रकृतियोंमें तत् तत् प्रकारकी अनुभाग शक्तियाँ हैं। इसलिए अपनी-अपनी शक्तियोंके आधारपर वे कर्म ही रागकर्म, क्रोधकर्म हैं। उनकी उदयावस्थामें जीवके गुण विकारी हो जाते हैं ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अतः कर्म तो जड़द्रव्य ही हैं उनके अनुभागरूप भावकर्मको भी, संयोगज होनेके कारण, जड़रूप कहा गया है।

(२५) प्रश्न—भावकर्म तो आत्माके विकारी भावोंको कहते हैं। आपने जड़कर्मके साथ उनका संबंध बताया है तब यथार्थमें उनकी सत्ता कहाँ है।

समाधान—भावकर्म दो प्रकार है। जड़द्रव्यमें भी वह वैभाविकभाव हैं। आप यथार्थमें पूछते हो तो यथार्थ तो निश्चयनय कहलाता है। उसे शुद्धनय भी कह सकते हैं। वह तो वस्तुको अपने निज स्वरूपकी दृष्टिसे ही देखता है। अतः न शुद्ध पुद्गल द्रव्यमें रागादि अनुभाग शक्ति पाई जाती, और न शुद्ध जीवमें रागादि भाव पाए जाते। परमाणु शुद्ध पुद्गल द्रव्य है उसमें रागादि शक्ति नहीं, इसी प्रकार सिद्ध भगवान्में भी रागादि नहीं है। यह तो जीवके और कर्मके परस्पर संयोगजनित अवस्थामें अपने-अपने द्रव्यके विकारभाव हैं। जब हम शुद्धनयसे शुद्ध-जीवको देखते हैं तो वे शुद्धजीवके स्वभावमें नहीं दिखाई देते अतः उनको जड़ कहा।

(२६) **प्रश्न**—शुद्धात्मामें भले ही रागादि न पाया जावे अशुद्धात्मामें तो उसका अस्तित्व है ही।

समाधान—अवश्य है। और उस दृष्टिसे वह सब सत्य ही है, असत्य नहीं। तथापि क्या वे ज्ञानात्मक हैं? नहीं, शुद्ध **चैतन्य** स्वरूपसे भिन्न अज्ञान स्वरूप हैं। अतः शुद्ध **चैतन्य ही चैतन्य है।** बाकी सब जो शुद्ध **चैतन्य नहीं हैं वे अचेतन जड़ हैं। इसीसे रागादिको जड़ कहा है।** दूसरी पद्धतिसे विचार कीजिए तो जो 'स्व' नहीं है वह पर है। उदाहरणसे समझिए। मार्गमें जाने वाले एक देशव्रती श्रावकको सोनेकी मुहर मिली, उसने वहाँ आने जाने वालोंसे पूछा—यह किस की है। सभीने कहा—हमारी नहीं है। व्रती सोचता है कि इनमें इसका कोई स्वामी नहीं है। तथापि यह पर है। किसकी है? किसीकी हो, अपनी नहीं है। अतः उसे छोड़कर आगे चल देता है। यह व्रतीका निर्णय है। अव्रती तो यह भी निर्णय कर सकता है कि जब इसका **अन्य स्वामी नहीं तो मैं ही इसका स्वामी हूँ।** पर **उसका यह जानना सत्य है क्या?** नहीं है। इसी प्रकार जो मेरे शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे भिन्न है, वह चेतन न होनेसे अचेतन है, जड़ है।

वैभाविक शक्ति सिद्धात्माओं में भी है, पर वहाँ उनका वैभाविक परिणमन नहीं है। रागादिरूप वैभाविक परिणमन कर्मोदय निमित्तक है। वह संसारी जीवमें ही है। इसीलिए रागादि रूप विकारी परिणमन, आत्मस्वभाव नहीं हैं। अतः **शुद्धनयके** द्वारा अपनी आत्माके सही शुद्ध **स्वरूपमें, वर्तमान दशामें पाए जाने वाले आत्म-भिन्न विकारोंको ओझल करके देखो। ऐसा करनेसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति होगी; अन्यथा नहीं।**

एक दृष्टान्त। किसी नगरमें आप जैनधर्मशाला खोज रहे हो, तो मार्गमें आस पास सैकड़ों मकान-दुकानें-धर्मशालाएँ-मंदिर-गाड़ी-घोड़े-मोटरें-ठेले-देखते जाते हैं। तथापि आपकी दृष्टि उनपर नहीं टिकती, उन्हें अपने लक्ष्य 'जैनधर्मशाला' से भिन्न जान छोड़ते जाते हैं। वे भी तो इसी नगरमें हैं, इस तर्कपर आप उन्हें धर्मशाला मानकर वहाँ सामान नहीं रखते। यदि भूलकर किसी-के मकानको धर्मशालाके स्वरूपमें मिलालें और घुस जावें, तो निकाल दिए जायँगे। यदि फिर भी न चेतेंगे तो राजकीय दण्ड पावेंगे, जेल जायँगे, या पागल समझे जायँगे। वहाँ तो सबको देखते हुए भी यह धर्मशाला नहीं है, ऐसा मानकर छोड़ते जायँगे, और जब धर्मशाला आ जायगी तब उसे ठीक-ठीक पहिचानकर उसका आश्रय करेंगे।

इसी प्रकार आत्मस्वरूप पहिचानने चले हो, तब मार्गमें जो भी स्वभाव भिन्न पदार्थ दिखाई दें उन्हें जीव न मानकर, छोड़ दो। और उन सबसे भिन्न जब अपना अखंड ज्ञायक स्वभाव दीखे, उसे ही निज स्वरूप पहिचान उसका आश्रय करो, ऐसा आचार्यका उपदेश है।

(२७) **प्रश्न**—कर्म, नोकर्म भावकर्मसे भिन्न अबद्ध अस्पृष्ट आत्म-स्वभावको मान लेना तो उचित है, यह बात समझमें आ गई। परन्तु **पर्यायभेद गुणभेद** ये तो **आत्मामें ही हैं** इनसे **भिन्न करना तो, सर्वथा अनुचित है।** आपने आत्मामें **'अनन्य' अविशेष'** 'नियत' असंयुक्त ये चार विशे-षण दिए हैं, जो कि **उचित नहीं प्रतीत** होते। आत्मा अन्य द्रव्योंकी तरह **सामान्य-विशेषात्मक है। प्रमाण ज्ञान** तो पदार्थको ऐसा ही जानेगा। श्रीमाणिक्यनन्दि आचार्य यही प्रतिपादन करते हैं-

"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"।

अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म पाए जाते हैं और ऐसा पदार्थ ही 'प्रमाण' का विषय है। प्रमाण सच्चे ज्ञानको कहते हैं। कहा है—**"सम्यक्ज्ञानं प्रमाणम्"।**

इसके विरुद्ध जो मत पदार्थको एकान्तसे सामान्य रूप या मात्र विशेष रूप मानते हैं वे नित्यैकान्तवादी हैं—या एकान्तसे अनित्यवादी हैं, और जैनागम उनका कथन प्रमाणकोटिमें नहीं गिनता। ऐसी अवस्थामें आत्माको सामान्य, गुणभेद पर्यायभेदसे रहित मानना एकान्तवाद है। ऐसे निश्चयैकान्तको मानना आगम विरुद्ध है। यह कथन जैनाचार्योंके विरुद्ध है?

समाधान—ऐसा होता यदि 'शुद्धनय' **नयरूप न होकर—एकान्त पक्षको ग्रहण करता।** आचार्य अमृतचंद्र स्वामीने इसी कलशमें कहा है कि **बद्ध स्पृष्टादि विशेषण आत्मामें ऊपर-ऊपर तैरते हैं, स्वभावमें प्रवेश नहीं करते, प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं करते। ये द्रव्यमें नहीं हैं ऐसा नहीं कहा। उन्हें दृष्टिसे ओझल करके शुद्धात्माको देखनेका उपाय बताया है। होते हुए भी, उन्हें ओझल (गौण) करनेको कहा है। उनके अस्तित्वका निषेध नहीं किया।** आत्मस्वभावको उसकी अखंडता-को, तब तक नहीं जाना जा सकता **जबतक आप व्यवहार दृष्टिको गौण न करें।** व्यवहार नयसे आत्मा नर-नारकादि रूप पर्यायोंमें अन्य-अन्य रूप देखी जाती है। भिन्न-भिन्न देहोंमें तत्प्रमाण होनेसे संकोच विस्तारके कारण 'अनियत' स्वरूप है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणोंके कारण 'भेद रूप' है। कर्मोपाधि जनित विकारोंसे राग-द्वेष सहित होनेसे 'संयुक्त' है। तथापि यहाँपर आचार्य आपकी अनादि कालीन व्यवहारपरक-भेदपरक तथा संयोगी दृष्टिको गौण करके, आत्माको असंयुक्त, अभेद रूपमें देखनेकी प्रेरणा करते हैं। उसे समझनेसे अपने स्वभावका बोध होता है। और फिर वर्तमान अशुद्धावस्थाको जो कि आचार्यश्रीको अशुद्धनयकी अपेक्षा सम्मत है, दूर कर, इस अवस्थामें भी आत्माकी **शुद्धताको जीव प्राप्त कर सकता है। ऐसा आत्म-वस्तुका स्वरूप** अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अभेद तथा असंयुक्त जानकर हेय-**उपादेयका भेद करके, हेयका त्याग व उपादेयका ग्रहण करानेका उपाय स्वरूप शुद्धनयका प्रतिपादन किया है।** व्यवहारका एकान्त छुड़ाया है, तथा शुद्धनयका विषय जो अब तक न समझा और न समझना चाहा था, उसे ग्रहण कराया है।

अब आचार्य उस परमात्मा स्वरूप आत्माको एक बार देखनेकी प्रेरणा करते हैं—

**भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधीः
यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥**

अन्वयार्थ—(**अहो यदि कोऽपि सुधीः**) अरे! यदि कोई बुद्धिमान पुरुष (**हठात् मोहं व्याहत्य**) अपने त्रिकरण रूप जबरदस्त पुरुषार्थसे मोहको दूर कर (**भूतं भान्तम् अभूतम्**) भूतकालीन वर्तमानकालीन, और भविष्यकालीन तीनों समयोंके (**बन्धं**) कर्मबंधको (**रभसात् निर्भिद्य**) भेद ज्ञानके बलसे शीघ्र भेदकर (**अन्तः कलयति**) अपने अन्तरंगको देखता है। तो उसे (**नित्यं कर्म-कलङ्कपङ्कविकलः**) सदा अनाद्यनन्त एक ज्ञायक स्वभाव वाला, कर्मके कलंकों (दोषों) से रहित (**आत्मानुभवैकगम्यमहिमा**) अपनी आत्माके स्वानुभवसे ही जिसकी महान् महिमा जानी जा सकती है (**अयमात्मा**) ऐसा यह आत्मा (**स्वयं शाश्वतः देवः**) जो स्वयं शाश्वत देव है, परमात्मा है, (**ध्रुवम् व्यक्तम् आस्ते**) निश्चयसे प्रकट अनुभवमें आयेगा ॥१२॥

भावार्थ—संसारी प्राणी देह तथा कर्मसे संयुक्त और रागादि भाव कर्मरूप परिणत वर्तमानमें है, तथापि उन्हें दृष्टिसे (भेदक दृष्टिसे) **गौण करे**। उदयमें आने **वाले रागादिको** पुरुषार्थसे अपनेसे भिन्न जाने, अर्थात् उपयोगमें रागादि विभाव भाव न लावे, ऐसा करने वाला बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि देखे कि शेष मेरे भीतर क्या बचा ? तो उसे ज्ञात होगा कि सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, किन्तु जो बचा है वह अपना निज स्वभाव बचा है। वही तो शुद्ध आत्मा है। ऐसा देख सकनेकी जिसे योग्यता प्राप्त है वही भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि है। उसे स्वयं अपना स्वानुभव होता है, और वह देखता है कि परमात्मा तो मैं स्वयं हूँ, अर्थात् परमात्मस्वभाव मेरे भीतर पड़ा है। अभी मैंने इसके साथ कर्म-नोकर्म भावकर्मको मात्र **दृष्टिसे गौण किया था** तो मुझे **आत्मनिधि तो दिखाई** दे गई। अब यदि अपनी सत्ताके साथ जो कर्म आदिका **संयोगीभाव** है, उस संयोगको मिटा सका तो मेरी **शाश्वतिक परमात्मदशा सदाको प्रकट हो जायगी**। जो परमात्मा बन चुके हैं, वे पूज्य हैं, पर वे तो पर-परमात्मा हैं। **मेरा निज परमात्मा तो मेरेमें है। तब मैं उसका आदर क्यों न करूँ ?** मेरा लाभ तो उसके आदरमें है। पर-परमात्मा तो आदर्श हैं इससे उनका आदर करते हैं। पर-परमात्मा और निज परमात्मामें समान स्वरूपता है। स्वरूप दृष्टिसे कोई भेद नहीं है **तब मैं दीन होकर क्यों फिर रहा हूँ**। मेरे आंगनमें मेरी निधि गड़ी है, दिखाई दे रही है तब मिट्टी दूरकर उसे क्यों न उखाड़ लूं, दीन दरिद्र बनकर पराई आशा क्यों कर रहा हूँ। देखो ? कैसा पुरुषार्थ आचार्य ससारी प्राणीका जगा रहे हैं। निधिपर मिट्टीकी तरह ही आत्मापर कर्म नोकर्म आदि हैं इसीसे उन्हें ऊपर ऊपर तैरनेवाला पूर्व कलशमें लिखा था।

(२८) प्रश्न—रागादि भाव तो भीतर तैर रहे हैं, **कर्म**-नोकर्म भले ही ऊपर तैरते हों। तब दोनों को ऊपर तैरनेवाला क्यों कहा जाता है ?

समाधान—इन सबका **स्वभावसे भेद है। स्वभावमें इनका प्रवेश नहीं है। यदि** रागादि स्वभावमें प्रवेश कर जाते **तो स्वभावका समूल नाश हो** जाता, तब सिद्धावस्थाको कोई प्राप्त नहीं कर सकता। अनादिसे **विभाव परिणत होकर** भी यदि **स्वभाव** शक्तिरूप **जागृत** है तो फिर यही **कहा जायगा** कि ये **जीवमें ऊपर ही तैरते हैं। उनकी अपेक्षा छोड़नेपर जीवको** स्वयं **जो स्वानुभूति होती है वही सम्यग्दर्शन है।**

आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

> **आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या**
> **ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।**
> **आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-**
> **मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥**

अन्वयार्थ—(**शुद्धनयात्मिका**) शुद्ध नय स्वरूप (**या आत्मानुभूतिः इति**) यह जो आत्मानुभूति है (**इयमेव किल**) यही निश्चयसे (**ज्ञानानुभूतिः**) ज्ञानानुभूति है। (**इति बुद्ध्वा**) ऐसा जानकर (**आत्मानम् आत्मनि सुनिष्प्रकम्पं निवेश्य**) अपनी आत्माको अपनी आत्मामें अचलरूपसे स्थित कर देखने पर मालूम होगा कि यह आत्मा (**समन्तात् नित्यम् अवबोधघनः**) सब ओरसे सदा ज्ञानमय ही (**एकः अस्ति**) एकमात्र है ॥१३॥

भावार्थ—पिछले कलशमें शुद्धनयसे आत्मानुभूतिकी वात कही थी और उसे सम्यग्दर्शन रूप वताया था। अब इस कलशमें कहते हैं कि शुद्धनयकी दृष्टिसे जो आत्माकी अनुभूति हुई, वही ज्ञानकी अनुभूति है। क्योंकि आत्मा परसे भिन्न होनेपर जव केवल एकत्वभावको प्राप्त हुआ तब संयोगसे भिन्न होनेपर स्वयं अपने निज एकत्वभावमें प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप ही प्रकट हुआ।

आत्मा सव ओरसे ज्ञानघन स्वभाव है। किसी वस्तुको देखें तो वह लम्वाई चौड़ाई और मोटाई रूप क्षेत्रमें व्यापक पाई जाती है। इसीलिए किसी वस्तुका क्षेत्रफल लंवाई-चौड़ाई-मोटाई-को गुणन करनेसे होता है। जैसे एक लोह पिंड २ फुट लंवा, १ फुट चौड़ा, और २ फुट ऊँचा है तो २ × १ × २ = ४ फुट स्थान घेरा और वह चारों फुट लोहमय है, अन्य रूप नहीं। इसी प्रकार आत्माको शुद्धनयसे देखनेपर लंवाईमें भी ज्ञानरूपता; चौड़ाईमें भी ज्ञानरूपता, तथा मध्यमें भी ऊँचाई पर्यन्त ज्ञानरूपता है। फलतः ज्ञानसे ही ठोस है, कुछ अन्य द्रव्य उसके क्षेत्रमें नहीं है, इससे उसे अववोधघन कहा। इस तरह आत्माको इस कलश द्वारा सम्यग्ज्ञानरूपता प्रदान की। द्वादशांग रूप समस्त श्रुतमें यही एकतत्त्व प्रतिपादित है जो उपादेय है। हेय तत्त्वोंका भी विवेचन द्वादशांगमें है, पर वह सव हेय रूप ही जानना उचित है ॥१३॥

अब आचार्य उस सहज चैतन्यके आलंवनकी प्रेरणा करते हैं—

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्वहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्वते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

अन्वयार्थ—(**अखण्डितम्**) खण्ड-भेद रहित (**अनाकुलम्**) किसी अन्यकी आकुलतासे रहित (**अन्तर्वहिः अनन्तम् ज्वलत्**) अन्तरंग और वहिरंग दोनों प्रकारसे अनन्त दीप्तिको धारण करने-वाला (**सहजम् सदा उद्विलासम्**) स्वभावसे ही सदा उन्नत है विलास जिसका(**चिदुच्छलननिर्भ-रम्**) चैतन्य की उठती तरंगोंसे भरा हुआ (**सकलकालम् यत् उल्लसत् लवणखिल्यलीलायितम् एकरसम् आलंबते**) नमककी डली जैसे एक क्षारभावसे परिपूर्ण है उसी तरह यह भी, उसी एक चैतन्यरससे सदा परिपूर्ण एक रसरूप है (**परम् महः**) ऐसा परम-उत्कृष्ट तेज (**नः अस्तु**) हमे प्राप्त होवे ॥१४॥

भावार्थ—जिस ज्ञानानन्दमय आत्माको ज्ञानानुभूति रूप कहा था, उस ज्ञानानुभूति रूप परम तेज की प्राप्ति हमें होवे, ऐसी भावना करते हैं। कैसा है वह ज्ञानतेज ? जो ज्ञेयाकारोंको जानते हुए भी उनसे खण्डित नहीं होता, अपने एक निजस्वरूपमें ही रहता है। ज्ञेयभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता।

जैसे दीपक या सूर्यका प्रकाश, सन्मुख रखे समस्त पदार्थोका जुदा जुदा ज्ञान करा देता है, पर स्वयं नानारूप नहीं होता। घटज्ञान पटज्ञान आदि व्यावहारिक भेद केवल कथन मात्र हैं, ज्ञान तो एक ही है। जैसे गंगाजल विविध पात्रोंमें रखनेसे नानारूप कहा जाता है, पर है तो एकमात्र एक स्वरूपही गंगा जल। इसी प्रकार ज्ञानमें भेद न होनेपर भी ज्ञानमें केवल भेद व्यव-हार है. पर परमार्थसे तो ज्ञान खंडित नहीं है। इसी प्रकार रागादि भावोंके कारण संसारी जीवमें

आकुलता होती है पर वह आकुलता रागादि रूप है, ज्ञानरूप नहीं। राग तो अज्ञानभाव है। अज्ञानभावकी आकुलता ज्ञानभावमें यथार्थमें आरोपित नहीं हो सकती।

इस तरह अखण्ड-अनाकुल चैतन्य रससे परिपूर्ण अन्तरंग वहिरंग अपनी **अनन्तदीप्तिसे प्रकाशमान सदा एक रस चैतन्य तेज हमें प्राप्त हो।**

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ॥
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अन्वयार्थ—(**एषः ज्ञानघनः आत्मा**) आत्मा इसप्रकार ज्ञानघनस्वरूप है जो (**सिद्धिम् अभीप्सुभिः**) सिद्धि प्राप्त करनेवालोंके द्वारा (**साध्यसाधकभावेन द्विधा**) साध्य साधक ऐसे दो रूप होने पर भी (**एकः**) जो एक है ऐसा आत्मा (**समुपास्यताम्**) उपासना करने योग्य है।

भावार्थ—आत्मा ज्ञानघन है, चैतन्य धातुका ठोस पदार्थ है। उस आत्मा की सिद्धि हमें प्राप्त हो ऐसी जिनकी इच्छा है वे साध्यसाधक भावसे दो प्रकार भी अपनी एकत्वप्राप्त आत्मा की उपासना करें।

आत्माकी वर्तमान अपूर्ण अवस्था तो उपासक है। अपने जिस पूर्ण स्वरूपकी वह उपासना करती है, वह उपास्य है। अर्थात् एक ही आत्मामें शुद्ध निश्चयनयसे कथित सिद्ध समान निज शुद्धात्मद्रव्य ही उपास्य है, अर्थात् प्राप्त करने योग्य है, सेवा करने योग्य है, आदर करने योग्य है, पूज्य है। उसकी वर्तमानपर्याय दृष्टिसे जो अशुद्धावस्था, संयुक्तता है वही उपासक है। उक्त कथन के अनुसार, स्वयं उपास्य और स्वयं उपासकभावको प्राप्त होनेसे साध्य-साधक दो प्रकारकी कही जानेवाली भी आत्मा अपने स्वरूपमें एकत्वको लिए हुए है अतः एकरूप है। उस एकरूपताकी उपासना करो। निर्विकल्प, निर्भेद, अखण्ड आत्मा, शुद्धोपयोग परिणति द्वारा प्राप्य है।

आत्माके द्वैविध्यको बताकर अब उसका त्रैविध्य बताते हैं :—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वात् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥
परमार्थेन तु व्यक्त-ज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) यह आत्मा (**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वात् मेचकः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों रूपोंको धारण करनेसे मेचक है। अर्थात् तीनरूप (**नानारूप**) है। तथा (**स्वयं एकत्वतः अमेचकः**) स्वयं अपने स्वरूपकी एकताके कारण अमेचक है—नानारूप

नहीं है। तथा (**प्रमाणतः समम्**) प्रमाणसे मेचक अमेचक युगपत् दोनों ही है ॥१६॥ (**एकोऽपि**) एक होने पर भी (**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः**) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीन रूप परिणत होता है, अतः (**त्रिस्वभावत्वात्**) तीनरूप परिणमन करनेके कारण (**व्यवहारेण**) पर्यायार्थिकनयसे (**मेचकः**) नानास्वरूप है ॥१७॥ (**परमार्थेन तु**) परमार्थदृष्टिसे, शुद्धनिश्चयनयसे देखा जाय तो (**व्यक्तज्ञातृत्व-ज्योतिषैककः**) प्रकट रूप जो अपनी ज्ञानज्योति उसके कारण एक रूप होनेसे तथा (**सर्वभावान्तर-ध्वंसि स्वभावत्वात्**) सम्पूर्ण द्रव्यान्तर तथा तन्निमित्तजन्य विकारी रागादिभावोंका ध्वंस-अभाव स्वभाव होनेके कारण अमेचक है ॥१८॥

(**आत्मनः मेचकामेचकत्वयोः चिन्तया एव अलम्**) अथवा आत्मा मेचक है या अमेचक अर्थात् भेदरूप है या अभेदरूप—इसकी चिन्ता ही छोड़ दो। इससे कुछ लाभ नहीं है। (**दर्शन-ज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिः न च अन्यथा**) आत्मसिद्धि तो ज्ञान-दर्शन-चारित्रसे ही होती है अन्यथा नहीं होती ॥१९॥

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यकी अपेक्षा तो आत्मा अमेचक अर्थात् एक स्वभाव या अभेदरूप ही है। स्वभावमें नानाभेद नहीं होते। तथापि ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप पर्यायमें परिणमन करता है अतः पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे तीन पर्यायरूप है, भेदरूप है अतः मेचक है।

मेचक शब्द पंचवर्णरत्नके लिए आता है। कहा भी है कि—"**पञ्चवर्णं भवेद्रत्नम् मेचकाख्यम्**" अर्थात् पाँचों वर्णवाले रत्नको मेचक रत्न कहते हैं। प्रकारान्तरसे '**मेचकशब्द विविधरूपता**' के अर्थमें आता है। यहाँ मेचक शब्दका विविधरूपता ही अर्थ लिया गया है। आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमता है अतः उसे भेद दृष्टि या पर्याय दृष्टिसे मेचक कहा गया है। वह अपने निज एक स्वभावमें ही रहता है, अन्य स्वभावरूप नहीं परिणमता, अतएव परमार्थसे ज्ञानज्योतिमात्रको धारण करने तथा विभावों तथा अन्य द्रव्य स्वभावों से भिन्न रहनेके कारण 'अमेचक' है।

इस प्रकार अमेचक और मेचकत्वकी चर्चा आपेक्षिक दृष्टिसे करनेके बाद आचार्य कहते हैं कि दोनों पक्षोंकी चर्चाको वादाविवादका विषय बनाकर उसमें ही मत उलझे रहो, उससे कोई लाभ नहीं है। तुम्हें तो 'आत्मप्रसिद्धि' करना है अर्थात् आत्मा को अपनी ही प्रसिद्धि प्राप्त हो जावे; ज्ञान हो जावे ऐसा तुम्हारा उद्देश्य है, तो तुम दर्शन-ज्ञान-चारित्रका प्रतिपालन कर उसे प्राप्त करो, विवादकी चर्चासे दूर रहो।

नय पक्ष दोनों हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे दोनों सही हैं। एक नय अपने पक्षका प्रतिपादन करते हुए भी, अपर नयकी सत्यताको भी जानता है, तथा दूसरा नय भी ऐसा ही करता है। तथापि अनेक जन एक नयको दृष्टिमें रखकर उसके विषयको सत्य तथा अपरको असत्य कहते हैं और विवादमें पड़ जाते हैं। मूल उद्देश्य तो नयों द्वारा उसका स्वरूप जानकर आत्माको पवित्र बनानेका है, उसे भूल जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि **अभेदनयकी दृष्टि तो आत्माके त्रिकाल** अभेद स्वरूपको वर्णन करती है, अतः आत्माका रूप तो वह है। **अभेदनय** अपेक्षासे भेद करता है वह अपेक्षा पर्यायकी है। यद्यपि आगममें **पर्यायार्थिकनयको व्यवहारनय** कहा है और उसे असत्यार्थ कहा है, **सो ऐसा न समझना कि वह सर्वथा मिथ्यावस्तुको प्रतिपादन** करता है अतः व्यवहारनय **का प्रयोक्ता मिथ्यादृष्टि है।** किन्तु ऐसा समझना कि व्यवहारनय व्यवहारी जनोंको वस्तुको

विशेषताओं अर्थात् पर्यायोंको दिखाकर शुद्ध अभेद आत्माकी पहिचान कराता है इसलिए वह भी **व्यवहारी जनों का बोध** प्राप्त करनेके लिए **परमोपकारी** और **कल्याणकारी** है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि फिर उसे आगममें असत्य क्यों कहा ? उत्तर यह है कि उसे ही परमार्थ समझना असत्य है । ऐसा समझना चाहिए कि यद्यपि आत्मामें भेद नहीं है—**अभेदरूप है, पर उस अभेदरूपको समझनेके लिए**—उसीकी **ज्ञानदर्शनादि पर्यायोंसे** उसे **जानना** है । जिस **अभेद** को जानता है वह तो सत्यार्थ है वह ध्येय है और जिन भेदोंसे जाना जाता है उनकी उपयोगिता तब तक है, जब तक वह अभेदरूप आत्मा का बोध नहीं कर सका । बोध करनेके बाद उसे अभेद स्वयं सत्यरूप प्रकाशित होता है और भेद स्वयं लुप्त हो जाता है । उसे वह वस्तुमें नहीं दिखाई देता । इस दृष्टिसे उसे असत्य कहा है । ऐसा यथार्थ अभिप्राय समझकर विवाद न कर व्यवहारका अवलंबन कर उसे समझना फिर परमार्थ एकत्व समझमें आ जावेगा । क्योंकि आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणामस्वरूप ही है उनसे भिन्न नहीं है ॥१६-१७-१८-१९॥

साध्यसिद्धिका उपाय फिर बताते हैं—

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया-
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

अन्वयार्थ—(**कथमपि**) किसी नय विशेषकी अपेक्षासे (**समुपात्तत्रित्वमपि**) तीनपनेको प्राप्त करके भी (**एकताया, अपतितम्**) अपनी एकताको न छोड़नेवाली (**इदम् आत्मज्योतिः**) ऐसी यह आत्मज्योति जो (**अच्छम् उद्गच्छत्**) स्वच्छताके साथ ऊपर छलांग मारती है तथा जो (**अनन्त चैतन्यचिह्नम्**) अनाद्यनन्त चैतन्य लक्षण वाली है, उसे हम (**सततं अनुभवामः**) निरन्तर अनुभव करते हैं । उस साध्य आत्माकी सिद्धिका एक यही प्रकार है (**अन्यथा साध्य-सिद्धिः**) आत्मानुभवके सिवाय दूसरे प्रकारसे साध्यकी सिद्धि (**न खलु न खलु**) नहीं हो सकती, नहीं हो सकती ॥२०॥

भावार्थ—शुद्धनय रूपसे आत्मा एक "ज्ञायक स्वभाव" है । पर्याय परिवर्तनकी दृष्टिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव है । ये तीनों पर्यायसे कहनेमें तीन हैं तथा आत्मा उन तीनोंसे भिन्न नहीं है । फलतः चाहे आत्माको एक स्वभावी कहो या त्रिस्वभावी कहो कोई फरक नहीं है । उसके **ये तीन पर्यायगत स्वभाव काल्पनिक नहीं हैं यथार्थ हैं, पर है उनकी सीमा पर्याय रूपमें, पर्यायको गौण करें तो ये तीनों भेद नहीं हैं ।**

(२९)·**प्रश्न**—जैसे द्रव्यार्थिक नयसे पर्यायको गौण कर 'असत्यार्थ' कहते हैं वैसे पर्यायार्थिक-को प्रमुख करनेपर अभेद दृष्टि भी गौण है, तब क्या उस समय द्रव्यको भी असत्यार्थ कहा जा सकता है या नहीं । न्याय तो समान होना चाहिए ।

समाधान—न्याय समान है तथापि पर्यायार्थिककी दृष्टिमें द्रव्य यद्यपि गौण है पर असत्यार्थ नहीं है, क्योंकि द्रव्य तो त्रैकालिक सत्य है । वह प्रत्येक पर्यायके साथ रहता है परन्तु **पर्याय सदाकाल त्रैकालिक नहीं रहती । अतः वह क्षणिक होनेसे त्रिकाल अबाधित स्वरूप सत्य नहीं है**

द्रव्य **पर्यायका स्वरूप ही ऐसा** है। यहाँ कोई किसी पक्षको या पक्षकारको सत्य, या किसी पक्ष या पक्षकारको असत्य नहीं कहा जा रहा है। किन्तु पदार्थ व्यवस्था ही इसी प्रकार है कि **द्रव्य त्रिकाल** सत्य है, और **पर्याय तत्काल** मात्र सत्य है, बादमें नहीं। **अतः असत्य कही गई।** यदि पर्याय **सामान्यकी अपेक्षा देखा जाय तो बिना पर्याय द्रव्य त्रिकालमें कभी नहीं रहता। पर पर्याय तो अनेक हैं, वे क्रमवर्ती हैं, सदा विनश्वर हैं, जबकि द्रव्य त्रिकाल एक है, अक्रमवर्ती है, सदा अविनश्वर है।**

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि अपेक्षा दृष्टिसे ही आत्माकी त्रिविधता है, परमार्थसे तो वह उन तीनोंसे अभिन्न ही है। समझनेके लिए तीनपना है, वस्तुमें तो तीनोंमें एकपना अभेदपना है। इसलिए ही **कथमपि** शब्दका उपयोग किया है। व्यवहारापेक्षया त्रित्व (तीनपना) प्राप्त करके भी आत्मा अपनी एकता द्रव्यरूपतासे गिरती नहीं है—उसे छोड़ती नहीं है। जब कि पर्याय विशेषको अन्य-अन्य समयोंमें छोड़ देती है। वह ज्योति स्वरूप प्रकाशमान आत्मा परकी भिन्नताके कारण स्वच्छ रूपमें ही प्रकाशमान है। उसमें परद्रव्यका, उसके स्वरूपका, उसकी पर्यायोंका, और तत्पर्याय निमित्त जनित विकारी भावोंका भी प्रवेश नहीं है—अतः अविकारी है। अनादि-कालसे ही अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपको धारण करने वाली उस आत्माका निरन्तर अनुभव मैं करता हूँ, आप भी करो। ऐसा करनेपर ही आप उस शुद्धात्माके दर्शन कर सकोगे; पा सकोगे, तद्रूप परिणतिको प्राप्त कर सकोगे।

यदि आपने व्यवहारका आलंबन कर निश्चयका स्वरूप नहीं जाना, उसमें प्रवेश नहीं किया, मात्र व्यवहारमें निमग्न रहे तो आपको आत्मसिद्धि किसी भी प्रकार नहीं प्राप्त हो सकती। द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुके होनेपर भी अपनी अशुद्ध पर्यायसे भिन्न, तथा पदार्थान्तरसे भिन्न, तथा गुणभेदसे भिन्न असाधारण चिह्न उपयोगमयी आत्माका प्रतिभास, उक्त पद्धतिपर ही हो सकता है अन्यथा नहीं ॥२०॥

जो उक्त प्रकारसे इस आत्माकी अनुभूति प्राप्त करते हैं वे ही अविकारी बनते हैं ऐसा कथन निम्न पद्यमें करते हैं—

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावैः स्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

अन्वयार्थ—(ये) जो जीव (**स्वतो वा अन्यतो वा**) स्वयं बुद्ध होकर या अन्य ज्ञानी द्वारा प्रतिबोध पाकर (**कथमपि हि**) किसी भी उपायसे भी (**भेदविज्ञानमूलाम् अनुभूतिम्**) भेदज्ञान हेतुक स्वानुभूतिको (**अचलितम्**) स्थिरतापूर्वक (**लभन्ते**) प्राप्त कर लेते हैं। (**त एव**) वे ही (**प्रतिफलननि-मग्न-अनन्तभावैः स्वभावैः**) अपनेमें प्रतिबिंबित हुए अनन्त स्वभाव वाले पदार्थोंसे (**मुकुरवत् संततं अविकाराः स्युः**) दर्पणकी तरह अविकारी होते हैं ॥२१॥

भावार्थ—आत्माको विकारों से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप बनानेका उपाय एकमात्र भेद-विज्ञान है। यह भेदविज्ञान किन्हीं जीवोंको जन्मान्तरमें प्राप्त संस्कारोंके बलसे स्वयं हो जाता

है, और किन ही जीवोंको अन्य भेदविज्ञानी वीतरागी गुरुके उपदेशसे वस्तुस्वरूप समझनेपर होता है। जैसे भी हो—उन सव प्रयत्नोंसे जो जीव भेदविज्ञान अर्थात् शरीर तथा कर्म दोनोंसे भिन्न स्वरूप आत्माका बोध प्राप्त करता है उसे ही अचल रूपसे स्वानुभूति होती है।

जिसे स्वानुभूति प्राप्त हो जाती है वे ही जीव सम्यग्दृष्टि हैं। उन्हें आत्माका सच्चा दर्शन हुआ है। ऐसे ही जीव जव उस स्वानुभूतिमें अविचलित रूपसे स्थित हो जाते हैं तव **ऐसे वीतराग सम्यक्त्वके धारी पुरुष लोकालोकको अपने ज्ञानमें प्रतिबिंवित पाते हैं।** ऐसा होनेपर भी वे उन पदार्थोंके **आत्म-निमग्न होनेपर भी विकारी नहीं होते।**

जैसे स्वच्छ दर्पणमें सन्मुख रहने वाले विविध प्रकारके पदार्थ प्रतिविंवित होते हैं। काले-पीले-नीले-लाल-हरित सभी पदार्थ दिखाई देते हैं तथापि दर्पण काला-पीला-नीलादि विविध वर्ण-विकारोंको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय भी अन्य समयोंकी तरह केवल स्वच्छ ही रहता है। दर्पण यदि स्वयं लाल पीला हो जाय तो पदार्थोंका प्रतिविंव उसमें नहीं आ सकता। फिर भी दर्पणमें लालिमा पीतिमा निमग्न है ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार विशुद्धात्मानुभूतिके वलसे जिन्हें वीतराग चारित्र पूर्वक केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई है। उनके ज्ञानमें समस्त लोक अलोकके चराचर पदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिफलित हैं, तथा वे ज्ञानमें निमग्न दिखाई देते हैं, तथापि ज्ञान उन सवसे भिन्न अपने विशुद्ध स्वभावमें है, वह उनके प्रतिविंवोंसे मलिन नहीं हुआ है।

ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिविंबित हों यह ज्ञानका स्वभाव है, विकार नहीं। विकार परनिमित्त होनेपर प्रकट होता है। यद्यपि वह प्रकट स्वयंमें स्वयंके कारण होता है, परके कारण नहीं तथापि पर निमित्त न हो तो उत्पन्न नहीं होता।

(३०) **प्रश्न**—जव विना कर्मोदयके विकार उत्पन्न नहीं होता, तव उसका कारण तो कर्मोदय रूप पर पदार्थ ही है। यदि स्वयंके कारण उत्पन्न हो तो सिद्ध भगवान्में भी स्वयंके कारण विकारी भाव उत्पन्न होना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है। इस प्रश्नका समाधान कर चुके हैं फिर भी सुनिए। कर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, उसकी उदय रूप अवस्था कर्ममें होती है, अतः कर्ममें ही उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशमादि आदि पर्यायभेद वताए गये हैं। यदि कर्मका उदय जीवमें भी उदयरूप हो, कर्मकी उपशमावस्था जीवमें उपशमावस्था हो तो कर्मका क्षय होनेसे जीवका भी क्षय हो जायगा। अतः सिद्ध है कि प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी पर्याय अपनी स्वयंकी योग्यतासे होती है, तथापि उन पर्यायोंमें परकी अनुकूलता निमित्त होती है। उस कर्मोदय रूप अनुकूल निमित्तका अवलंवन कर जीव अपनेमें विकारी पर्याय उत्पन्न करता है यह उसका विपरीत पुरुषार्थ है। निमित्त विकार कराता है ऐसा कथन उपचरित कथन—व्यवहार नयका कथन है। निश्चयका कथन ऐसा नहीं है। सिद्ध भगवान्में भी वैभाविकी शक्ति है जो संसारी दशामें थी। संसारी दशामें निमित्तकी अनुकूलतामें उसका विभावरूप परिणमन होता था, अव शुद्धावस्थामें उसका स्वभावरूप परिणमन होता है। अतः उनमें विकार नहीं होता। विकार जीवकी पर्याय है। जीव ही कर्त्ता है। परन्तु वह कर्मोदयको निमित्त बनाकर विकार करता है। कर्त्ता स्वयं है। पर्याय परिणमन पदार्थका स्वभाव है। यदि उसे द्रव्यका स्वभाव न माना जाय तो संसारी जीव 'जीव द्रव्य' ही न रहेंगे, क्योंकि उनमें स्वयं कोई परिणमन होता नहीं—परिणमन उनका स्वाभाव ही नहीं—वह तो पर (कर्म) के कारण होता
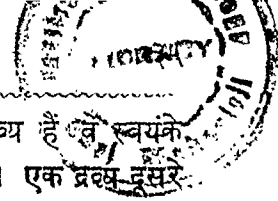
है—वह कराता है; इस प्रकार द्रव्यपनेके अभावका प्रसंग आयगा। जितने द्रव्य हैं वे स्वयंके कारण उत्पाद-व्यय ध्रुव स्वभाव वाले हैं। स्वभाव परकी अपेक्षा नहीं करता। **एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके परिणमन करानेमें अकिंचित्कर है, मात्र निमित्त हो सकता है, कर्त्ता नहीं।**

(३१) **प्रश्न**—जैसे रात्रिमें दीपकका प्रकाश हमारे पठन-पाठनमें निमित्त है। पुस्तक निमित्त है। पाठक भी निमित्त है। इन निमित्तोंके होने पर शिष्य विद्या पढ़ता है, इनके बिना वह नहीं पढ़ सकता। यही कारण है कि "इस पाठकने विद्या पढ़ाई" "पुस्तक ने ज्ञानोत्पन्न किया।" "दीपकने पुस्तक दिखाई" यह कहा जाता है। यह सब कथन मिथ्या है क्या ?

समाधान—यह सब व्यवहार-कथन है, परमार्थ नहीं। परमार्थसे तो **जीवने अपनी योग्यतासे** पढ़ा। दीपक रहने पर भी यदि वह देखना नहीं चाहता, पुस्तक रहने पर भी उसे नहीं पढ़ता, पाठककी मौजूदगीमें भी यदि अपना उपयोग नहीं लगाता तो बताइए ये निमित्त क्या करेंगे ? इनके बिना नहीं पढ़ सकता था ये सही है, पर ये पढ़ाते हैं, यह गलत है। फल यह निकला कि निमित्त कारण तब निमित्त कारण कहलाते हैं जब उनका अवलंबन कर जीव अपना कार्य करे। करना उसे है, परको नहीं करना। **अपने काम करनेमें जिसे अपने अनुकूल समझे उन निमित्तोंका अवलंबन कर ले, पर करना उसे स्वयं पड़ेगा। दूसरे निमित्त कारण आपका काम नहीं कर जायेंगे।**

सारांश यह कि परके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। कर्त्ता कर्म संबंध परके साथ व्यवहार मात्र है, परमार्थ नहीं।

(३२) **प्रश्न**—तब **व्यवहारसे निमित्त कर्त्ता है यह तो यथार्थ है** ?

समाधान—व्यवहारमें निमित्तको कर्त्ता कहा जाता है, यथार्थमें कर्त्ता है नहीं।

(३३) **प्रश्न**—तब व्यवहार नयका कथन मिथ्या है केवल निश्चय ही सत्य है। ऐसी स्थितिमें व्यवहारको नयत्व कैसे प्राप्त होता है ? उसमें और **मिथ्याज्ञानमें क्या** अन्तर है। यदि अन्तर है तो दोनों नयोंका विषय सत्यार्थ मानना चाहिए।

समाधान—मिथ्याज्ञानमें और व्यवहार नयमें महान् अन्तर है वह इस प्रकार है :—

मिथ्याज्ञान मिथ्याको सम्यक् कहता है और सम्यक्को मिथ्या कहता है। **व्यवहार नय ऐसा नहीं कहता।** वह परमार्थसे **मिथ्याको भी किसी निमित्तकी अपेक्षा सम्यक् कहते हुए उसकी अयथार्थताको जानता** है। जैसे 'घीका घड़ा' कहने वाला मिथ्या ही कह रहा है, क्योंकि घीका घड़ा नहीं है, वह मिट्टीका घड़ा है। पर व्यवहारमें उसे 'घीका घड़ा' **घीके रखनेके निमित्तसे कहते हैं। सम्यक् व्यवहारी जानता है कि यथार्थ तो इससे विपरीत है। यह यथार्थमें मिट्टीका है, घीका नहीं है, तथापि लोकका व्यवहार चलानेके लिए ऐसा व्यवहार करता है।** कथन करनेवाला और सुनने वाला दोनों व्यवहार करते हुए भी व्यवहारकी असत्यताको और परमार्थकी यथार्थताको जानते हैं, इसीसे वह व्यवहार नय कहलाता है। यदि व्यवहारी अपने व्यवहारकी असत्यताको न पहिचाने, और उसे ही परमार्थ मान ले तो वह मिथ्याज्ञानी हो जायगा।

उदाहरणसे समझें—मेरा शरीर, मेरा मकान, मेरी पत्नी, मेरा धन, मेरी जमीन, ये सब व्यवहार कथन जैन भी करते हैं और अन्य भी। सम्यग्दृष्टि भी करते हैं और मिथ्यादृष्टि भी। अन्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा यह कथन परमार्थसे तो सत्य नहीं है, ये सब पर

पदार्थ हैं, मेरे किंचित् भी न कभी थे, न होंगे। तथापि व्यवहारमें ऐसा कथन किया जा रहा है। **मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं** विचारता। वह तो—**ये मेरे हैं, मैं इनका यथार्थ स्वामी हूँ ऐसा मानता है, अतः उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान है।**

मिथ्याको—असत्यको सत्य माने वह मिथ्यादृष्टि, और परमार्थको ही सत्यार्थ जाने, तथापि व्यवहारी जनोंमें **आपेक्षिक रूपसे उसका दूसरे रूप व्यवहार करे वह व्यवहारनयका ज्ञाता है। व्यवहारनय यथार्थ सत्यार्थको जानता हुआ उसे गौण कर आपेक्षिक सत्य कहता है अतः व्यवहार-नय भी नयत्वको प्राप्त है और सम्यक्नय है।** उसे आपेक्षिक सत्य कह सकते हैं, मिथ्याज्ञान आपेक्षिक सत्य भी नहीं है यही दोनोंमें महान् अन्तर है। एकका स्वामी सम्यग्दृष्टि है अपरका मिथ्यादृष्टि है।

शुद्ध स्वात्मानुभूति सम्यग्दर्शन है[1], और भेद विज्ञान उसकी जड़ है। यह स्वात्मानुभूति तथा भेद विज्ञान शुद्ध निश्चयके अवलंबनसे होता है वह सम्यग्दर्शन स्वरूप है। **व्यवहार नया-श्रित** जो जीवका लक्षण है उससे संसारी **अशुद्ध जीवका बोध** होता है, **व्यवहार चारित्रके पालनके** लिए संसारी **जीवोंका ज्ञान भी आवश्यक है। उनके जाने विना दया या अहिंसाका यथार्थ पालन नहीं हो सकता।** अतः **व्यवहारनयकी उपयोगिता अपने स्थानपर है और निश्चयनयकी उपयोगिता अपने स्थानपर। ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जो स्वानुभूतिमें रमण करते हैं वे परपदार्थोंके ज्ञाता होकर भी विकारी नहीं होते।**

दर्पणके सामने आग जल रही हो तो प्रतिविम्वरूपमें दर्पणमें देखी जा सकती है, ठीक उसी रूपमें ज्वाला छोड़ती हुई जैसी कि अग्निपदार्थमें है। तथापि उष्णतादि गुण अग्निमें ही हैं, दर्पणमें नहीं। इसी प्रकार स्वच्छज्ञानीके ज्ञानमें नानापदार्थ 'जो अनेक संसारी प्राणियोंके विकारके निमित्त कारण हैं' ज्ञेयरूप होकर भी उसके लिए विकारके निमित्त नहीं वनते।

जवतक स्वात्मभिन्न पदार्थोंमें अपनेसे भिन्नताका बोध नहीं हुआ, तवतक मोहमदिराके नशेमें अपनेको भूला हुआ प्राणी परपदार्थ स्त्री-शरीर-धन-परिवार-बाग-वगीचे आदिमें ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूं, अथवा भविष्यमें मैं इनका स्वामी होऊँगा, ये मेरे अधीन होंगे, मेरे भोगोपभोग योग्य होंगे, अमुक दुकान-मकान-बाग-वगीचा मेरा था, मैं इनका स्वामी था, इस प्रकार भूत वर्तमान-भविष्यके संकल्प-विकल्पोंके झूलेमें झूलता रहता है। आचार्य इसपर दुःख प्रकट करते हुए उपदेश करते हैं—

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं-
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः-
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

---

१. 'अशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत'।
—समयसार गाथा ६ (आत्म० टीका)।

'सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्'। —पञ्चाध्यायी २ (४०३)।

'स्वानुभूति सनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः'। —पञ्चाध्यायी २ (४१५)।

अन्वयार्थ—(**जगत्**) यह समस्त जगत् याने जगत्के प्राणी (**इदानीम्**) अब (**आजन्मलीढं मोहम् त्यजतु**) अनादिकालसे चले आए अपने मोहको छोड़ें। तथा (**रसिकानाम् रोचनम्**) आत्मरसके रसिक पुरुषोंको रुचनेवाले (**उद्यत् ज्ञानम्**) इस उत्पन्न भेदविज्ञानको (**रसयतु**) चखें। (**इह**) इस जगत्में (**क्वापि काले**) किसी भी समय (**एकः आत्मा**) यह एकमात्र आत्मतत्त्व (**अनात्मना साकम्**) आत्मभिन्न पदार्थोंके साथ (**कथमपि**) किसी भी प्रकार (**तादात्म्यवृत्तिम्**) एकात्मकताको (**न किल कलयति**) नहीं प्राप्त होता यह निश्चित है ॥२२॥

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने प्रदेशोंमें, '**स्वक्षेत्रमें**' अपनी-अपनी पर्यायोंमें, '**स्वकालमें**' अपने-अपने भावोंमें, '**स्वभावमें**' अपने गुणसमुदायमें '**स्वद्रव्यमें**' रहता है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यके प्रदेशोंको नहीं अपनाता, न अपने प्रदेशोंका परित्याग करता है। दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप नहीं परिणमता, न दूसरे द्रव्योंको अपनी पर्यायरूप परिणमाता है। **अपने-अपने स्वभावमें रहता है पर-स्वभाव नहीं अपनाता। अपने गुणपर्यायरूप द्रव्यमें रहता है; अन्य द्रव्यरूप नहीं बनता।**

जब ऐसी स्थिति है तब परद्रव्योंके प्रति जो मोह है, **उन्हें अपनाने की बुद्धि है, उसका त्याग करो**, और आत्मरसके जो रसिक हैं उन्हें पसन्द आनेवाले आत्मानन्दका रस ही चीखो। वही कल्याणकारी है, यही सम्भव है। परका अपनाना तो असम्भव है। जो हो नहीं सकता, उसे करनेवाला पुरुष अन्तमें पछतायगा। संसारमें दुःखका मूलकारण परको अपनाना—और परके कर्तृत्वका भ्रम है। **अनादिकालीन यह भ्रम ही जीवको घुमाए है।**

(३४) **प्रश्न**—जीवको मोहकर्म घुमा रहा है। अनादिकालसे कर्मने इसे पराधीन कर रखा है अतः आठकर्मको नाश करना चाहिए। जब कर्म नष्ट होंगे तो ज्ञान स्वयं पैदा होगा। ऐसा कहना क्या यथार्थ है?

समाधान—ऐसा कथन व्यवहारनयका है, यथार्थ नहीं है। परमार्थमें तो जीव न जड़कर्मको घुमाता, न जड़कर्म आत्माको घुमाते हैं, जीव **अपनी भूलसे पराधीन है। उसे परने अपने अधीन** नहीं **कर रखा,** वह **परके साथ** सम्बन्धकर स्वयं **उसके आधीन होने से पराधीन** है। **परस्पर** संश्लेष तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है इतना फँसाव है[1]। जैसे हथकड़ीकी कड़ियों को आपसमें मिलाकर ताला लगा देते हैं पर कैदीका हाथ उनमें फँसा है। हथकड़ीने नहीं फँसाया। बन्धन तो हथकड़ीकी एक कड़ीका दूसरी कड़ीसे है, दोनोंमें ताला फँसाया है, फिर भी उनमें हाथ फँसा है, ताला हाथमें नहीं लगा। **इसी प्रकार आत्मा कर्मके साथ नहीं बँधी।** आत्माका कर्मके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप श्लिष्ट सम्बन्ध ही बंध कहा जाता है, तथा कर्म का कार्मण वर्गणाओं के साथ स्कंधात्मक सम्बन्ध होता है[2]। अतः निश्चयकी दृष्टिमें कर्मका सम्बन्ध कर्मके साथ है[3] ऐसा कहा जाता है। कर्मवर्गणाओंके साथ दूसरी **कर्मवर्गणा** बँधी हैं। **जबतक स्वेच्छासे परद्रव्यको अपनाता है तबतक पराधीन होकर स्वयं दुःख भोगता है।**

जब आत्मा अनात्माके साथ एकरस नहीं हो सकता तब उसका प्रयत्न ही मिथ्या प्रयत्न,

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ६५-६७ की टीका देखिये।

२. समयसार गाथा ६९-७० की टीका देखिये।

३. समयसार गाथा १६९ आत्मख्याति टीका देखिये।

है, अतः मोहका—भ्रमका त्यागकर अपनेमें सावधान होकर आत्मानन्दका अकथनीय सुख उठावें। जब एक बार वह आनन्द अनुभवमें आ जायगा तब संसारके सब रस फीके लगेंगे। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियके विषयोंके प्रति आकांक्षा नहीं रखता, यही उसका निष्कांक्षित अंग है जो सम्यग्दर्शनका अविनाभावी है।

कविवर दौलतराम जीने कितना सुन्दर कहा है—

जब निज आतम अनुभव आवै।

रस नीरस हो जात ततक्षण, अक्ष विषय न सुहावै। जब निजआतम अनुभव आवै।

आचार्य भव्य प्राणियोंको उस आत्मानुभवके रसको चखनेकी प्रेरणा करते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि किसी प्रकार भी हो यह जीव एक बार उसका अनुभव तो करे। यदि एक बार भी कर लेगा तो फिर कभी छोड़ेगा नहीं। इसी भावको निम्न पद्यमें प्रकट करते हैं।

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३॥

अन्वयार्थ—(*अयि*) *अरे बन्धु!* (**कथमपि मृत्वा**) *किसी भी प्रकारसे रचपचकर* (**तत्त्व-कौतूहली सन्**) कुतूहल मात्रसे भी तत्त्वको जाननेकी इच्छा करके (**मुहूर्त**) एक मुहूर्त मात्रके लिए ही सही (**मूर्तेः पार्श्ववर्ती भव**) शरीरका पड़ोसी बन जा। (**अथ**) तथा (**पृथक् विलसन्तम्**) शरीरसे भिन्न जिसका विलास है ऐसे (**स्वं समालोक्य**) अपनी आत्माको देखकर (**अनुभव**) उसका तद्रूपमें अनुभव कर। (**येन**) ऐसा करनेसे (**मूर्त्या सह एकत्वमोहम्**) शरीरके साथ जो तेरे एकपनेका मोह भाव है उसे तू (**झगिति त्यजसि**) शीघ्र ही छोड़ देगा ॥२३॥

भावार्थ—'अयि' शब्द बहुत प्रिय और मीठा शब्द है। साहित्यमें उसका प्रयोग 'अयि कोमलालापे' पंक्ति द्वारा कोमल प्रिय सम्बोधनमें किया है। आचार्य संसार-सागरमें डूबते हुए प्राणीपर दया करके बड़े मिष्ठ शब्दोंमें उसे सम्बोधन करके समझाते हैं कि—

ए मेरे बन्धु! जरा थोड़ी देरके लिए तो मेरी बात मान ले। साल दो सालको? नहीं। एक-दो माहको? नहीं। दिन दोको? नहीं, मात्र एक मुहूर्त्तको अर्थात् ५.१० मिनिटको ही मान ले। तुझे विश्वास न हो तो केवल कौतूहलवश होकर मान ले। यदि तुझे हमारी बात सत्य न जँचे तो छोड़ देना। एक बार मान तो ले। क्या मान लें? यह मान ले कि शरीर तू नहीं है—शरीर तेरा नही है। उसकी सत्ता तुझसे सर्वथा भिन्न है। वह तू नहीं है, वह तेरा पड़ोसी ही है।

(३५) **प्रश्न**—भिन्न तो नहीं दिखाई देता।

समाधान—भाई पड़ोसी अपने पड़ोसमें दिनभर पड़ा रहता है दूसरोंको पता नहीं चलता कि ये घरका स्वामी है, या पड़ोसी है? इसी तरह शरीर के साथ तेरा ऐसा संयोग है कि उसके प्रदेशमें तू है, और तेरे प्रदेश-प्रदेशमें वह है। इससे तुझे शरीरसे भिन्न अपना स्वरूप प्रतीत नहीं हो रहा है। पर मान तो सही कि यह तेरा घरका स्वामी नहीं है—पड़ोसी है। परम्परा से ही

तेरी उसके साथ अनादि की घनिष्टता चली आ रही है, तो भी यह तो मानकर चल कि पड़ोसी से तेरे कितने भी अच्छे प्रेमके सम्बन्ध हों पर वह पड़ोसी है। तू तो उसे ही अपना रूप मान बैठा है, अपने **अस्तित्वको ही भूल बैठा है। उसे पड़ोसी तो क्षणभरको ही मान ले।** यदि **तू ऐसा मानकर** चलेगा तो तुझे तत्काल अपने ज्ञानानन्द विलासी आत्माका स्वरूप बोध हो जायगा। यदि एक बार भी सत्यका दर्शन हो गया तो तेरा उद्धार हो गया।

तू संसारमें दुखी तो इसीलिए है कि परमें निज बुद्धि करता है; और निजको भूल गया है। जैसे कोई आजन्मके लिए सपरिवार कैदकी सजा भोग रहा हो, उसे जेलमें सन्तान हो जाय, तो बड़े होनेपर वह सन्तान जेलको ही अपना घर मानती है, उसे घरका पता नहीं है। उसे किसी बुद्धिमान्ने घर और जेलका भेद समझाया, पर उसे तो जेलसे ही मोह था, अतः छोड़ना न चाहा। भयभीत होता रहा, कि न जाने इस आश्रयको छोड़ने पर क्या-क्या दुःख उठाना पड़े, अतः वह जेलखाना नहीं छोड़ना चाहता था। उसे अनुभव तो सदासे जेलका है, जिसे वह अपना घर मानता है। घरकी स्वतन्त्रताका उसे अनुभव नहीं है इससे उसीमें मगन है।

कोई बुद्धिमान् पुरुष उसे उसका गृहदर्शन करा दे, भले ही क्षण भरको करा देवे तो वह शीघ्र जेल छोड़ने और घर जाने पर तत्पर हो जायगा। इसी प्रकार संसारी प्राणीने सदा शरीर ही देखा है। उसकी इच्छाएँ सदा उसकी साज सज्जामें रही हैं। उसने उसे निजका ही स्वरूप माना—अतः उसीकी सेवा करता रहा। किसी बुद्धिमान्ने शरीरको पृथक् और आत्माकी पृथक्ता-की चर्चा की तो उसे न सुहाई। उसने सोचा कि ये अनुभव विरुद्ध बात कह रहे हैं। आत्मा-शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। आचार्य ऐसे भोले प्राणीको समझाते हैं कि भाई एक मुहूर्त (अधिकसे अधिक ४८ मिनिट) के लिए भी मानतो, कि यह शरीर तू नहीं है, ये तेरा पड़ोसी है। उसका रूप देख और अपना देख, तुझे तत्काल ज्ञात होगा कि शरीरका मोह व्यर्थ है। वह न तेरा है न तू उसका है। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। ऐसा ज्ञान करनेके बाद फिर तुझे आत्माकी महिमा प्रतीयमान होगी।

(३६) **प्रश्न**—आपका यह कथन शास्त्र विरुद्ध है। कारण यह है कि यदि शरीर और आत्मामें भेद होता तो आचार्य भगवान तीर्थंकरकी स्तुति शरीरके आधार पर क्यों करते? तीर्थंकर स्तुतिमें तो कहा है—

> **कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये**
> **धामोद्दाममनस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।**
> **दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात् क्षरन्तोऽमृतं**
> **वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधराः तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥**

अन्वयार्थ—(**ये**) जो तीर्थंकर प्रभु (**कान्त्या एव**) अपनी देहकी कान्तिसे ही (**दशदिशः स्नपयन्ति**) दशों दिशाओंको स्नान करा रहे है (**ये**) जो (**धाम्ना**) अपने तेजसे (**धामोद्दाममनस्विनां**) तेजस्वी स्वाभिमानी सूर्यादिकके भी तेजको (**निरुन्धन्ति**) रोक देते हैं। जो (**रूपेण**) अपने सुंदर स्वरूपसे (**जनमनः**) जनताका चित्त (**मुष्णन्ति**) चुरा लेते हैं। तथा (**दिव्येन ध्वनिना**) अपनी पवित्र दिव्य वाणीसे (**श्रवणयोः**) दोनों कानोंमें (**साक्षात् सुखम् अमृतम् क्षरन्तः**) साक्षात् सुखदायक

अमृत वरसाते हैं। (ते) वे (**अष्टसहस्रलक्षणधराः**) एक हजार आठ शुभ लक्षणको धारण करनेवाले (**तीर्थेश्वराः सूरयः**) धर्मके मार्ग प्रदर्शक तीर्थङ्कर प्रभु (**वन्द्याः**) वन्दना करने योग्य हैं ॥२४॥[1]

भावार्थ—यहाँ भगवान् जिनेन्द्रकी स्तुति की गई है। इसमें वताया गया है कि श्री जिनेन्द्र तीर्थंकर प्रभुकी क्या महिमा है।

जिनके शरीरकी कान्ति दशों दिशाओंमें फैल रही है। जो अपने प्रभामण्डलको चारों ओर विखेर रहे हैं। अपने तेजके द्वारा संसारके समस्त तेजस्वी पदार्थोंको जीत रहे हैं। जिनके तेजके सामने सव तेज फीके पड़ जाते हैं। जिनका मनोहारी सुन्दर कामदेवसे भी श्रेष्ठतम रूप जन-जनके मनको मोहित करता है। जिनकी दिव्य मनोहारिणी वाणी कानोंमें अमृत उड़ेलती है, जिसे पशु पक्षी भी मुग्ध होकर सुनते हैं। विवुध जन भी मंत्र मुग्धसे हो जाते हैं। एक हजार आठ शुभ लक्षणोंसे जो लक्षित हैं। ऐसी महिमा वाले जिनेन्द्र किसके द्वारा पूज्य नहीं है ? अर्थात् वे त्रिलोक पूज्य हैं।

इस स्तुतिमें जो कुछ कहा गया है वह भगवान् तीर्थंकरकी स्तुतिके रूपमें कहा गया है। यदि आत्मा और शरीरका एकत्व न होता तो शरीरके रूप-तेज-प्रभाव, सहस्र-लक्षणकी वात तीर्थंकरकी स्तुतिमें क्यों कही जाती।

यह कथन किसी ऐसे नासमझका नहीं है जो मिथ्यादृष्टि है और भ्रमवश शरीर और आत्माको एक मानता है। यह स्तुति जैनाचार्योंकी कृतियोंमें पाई जाती है जो षष्ठम सप्तम गुण स्थानवर्ती सम्यक् **चारित्री महापुरुष** हैं। अतः देहसे **भिन्न आत्मा है ऐसा प्रतीत नहीं होता।** और भी देखिये—

चौवीस तीर्थंकर प्रभुके भिन्न-भिन्न वर्णोंका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार वर्णित है—

द्वौ कुन्देन्दुतुपारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ।
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभाः
ते संज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥

इस शार्दूलविक्रीडित छंदमें भी, जिसे हम पूजा पाठमें रोज पढ़ते हैं, वताया गया है कि—

दो तीर्थंकर प्रभु तो कुन्द-पुष्पके अथवा वर्फके या चन्द्रमाके या चन्द्रहारके समान श्वेत वर्ण हैं। दो प्रभु इन्द्रनीलमणिके समान नील वर्ण वाले हैं। दो तीर्थंकर वन्धूक पुष्पके समान लाल वर्णके हैं। दो प्रभु प्रियंगफलके समान हरित वर्ण हैं। शेष १६ तीर्थंकर भगवान् तप्तायमान सुवर्णके वर्णके हैं।

विविध वर्णके ये सव तीर्थंकर जन्म-मृत्युसे रहित हैं वे ज्ञान सूर्य हैं। देवादि द्वारा पूज्य हैं। वे भगवान् हमें सिद्धिके प्रदानकर्ता होंवे।

---

१. 'सूरयः' यह विशेषण तीर्थंकर प्रभुका ही है। वे मोक्षमार्ग उपदेशक हैं ऐसा राजमल जी ने अपनी टीकामें लिखा है। जयचन्दजी ने आत्मख्याति की भाषा वचनिका में भी ऐसा ही अर्थ किया है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'सूरयः' पद को आचार्य मानकर लिखा है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में 'तीर्थङ्कराचार्य्यस्तुतिः' शब्द दिये हैं। भिन्न-भिन्न नहीं लिखे।

ऐसा आशीर्वाद प्राप्त करने स्वरूप मंगलाचरण हैं।

(३७)प्रश्न—वे जन्म-मरणसे रहित तीर्थंकर पद प्राप्त केवलज्ञानी विविध वर्णके हैं ऐस यहाँ बताया गया है। यह देह आत्मा एक न होती तो ऐसा वर्णन क्यों किया जाता ?

समाधान—यह सत्य है कि जैनाचार्योंने ऐसी स्तुति की है। परन्तु यह स्तुति **व्यवहार नयके अवलंबनसे की है।** नयकी अनभिज्ञता होनेसे ही इस प्रकार सन्देह होता है, अतः नय **विवक्षा समझ लेनी चाहिए।**

व्यवहारमें देहके आश्रयसे भी आत्माका वर्णन किया जाता है क्योंकि **व्यवहारमें हमें शरीर दीखता है—आत्मा नहीं।** अतः शरीरके **आश्रयसे भी आत्माका वर्णन करना यह व्यवहार है,** परमार्थ नहीं। भले ही शरीर दीखता हो, आत्मा न दीखती हो पर लक्षण **भेदसे** परमार्थमें दोनोंकी पहिचान जुदी-जुदी हो जाती है, और उनमें **भेदरूपसे प्रत्येकको जानना निश्चयनयका विषय है।** ऐसा होनेपर भी व्यवहारनयका प्रयोक्ता जानता है कि **मेरा देहाश्रयसे आत्माका वर्णन करना उपचरित है, यथार्थ नहीं है।** ऐसा समझकर जो कुछ कहता है उसका असद्भूत रूप भी **सद्भूतके ज्ञानसाधक होनेसे नयकी श्रेणीमें आता है।**

जैसे कोई अपने पुत्रको "यह राजा है" ऐसे उत्कृष्ट वचनोंका प्रयोग करता है। पर वह जानता है कि मैं स्वयं राजा नहीं हूँ, तब मेरा पुत्र राजा कैसे होगा ? है तो वह भी रंक ही, तथापि उत्तम लक्षणों और आदतोंके कारण उसे अच्छे काम करनेमें उत्साहित करनेको वैसा शब्द प्रयोग करता है, और सभी व्यवहारीजन उसका समर्थन भी करते हैं; पर उनका यह कथन व्यव-हारनयका कथन है क्योंकि वे परमार्थको जानते हैं कि यह राजा नहीं, किन्तु अपेक्षासे उसे 'राजा' कहते हैं।

इसी प्रकार आचार्य यह जानते हैं कि यह तीर्थंकरप्रभुका सच्चा वर्णन नहीं है, केवल देहका वर्णन है, तथापि जनसामान्यकी दृष्टि उनकी तरफ आकर्षित हो, अतः देहाश्रित महत्त्वका वर्णन करते हैं। इसका अर्थ देह-आत्माकी एकता नहीं, किन्तु जिनकी ऐसी उत्कृष्ट देह है उनकी आत्माकी महिमाका क्या कहना ? ऐसा अभिप्राय सूचन करना है।

निश्चय दृष्टिसे देखें तो शरीरके वर्णनसे आत्माका कोई यथार्थ वर्णन नहीं होता किन्तु आत्माके अनन्त चतुष्टयादि गुणोंके वर्णनसे ही उनकी आत्माका माहात्म्य जाना जाता है। उदाहरणके लिए किसी नगरकी सुन्दरताका वर्णन करनेसे उसके राजाकी महत्ता आँकी जाती है कि वह कितना बड़ा राजा है। वस्तुतः राजा और नगर भिन्न-भिन्न हैं।

इसी प्रकार शरीरके अतिशयोंसे आत्माकी उत्कृष्टताका अनुमान कराया जाता है। वस्तुतः शरीर भिन्न और तीर्थंकरकी आत्मा भिन्न है **इसलिए शरीर स्तुतिसे परमार्थमें तीर्थंकर स्तुति नहीं होती।** जैसे किसी नगरका वर्णन कवि करता है—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

भावार्थ—यह नगर इतना विशाल है कि आकाश-पाताल और भूमि सबके भीतर व्यापक है। वह इस प्रकार कि इसका कोट इतना ऊँचा है कि इसने ऊँचाईमें सम्पूर्ण आकाशको उदरस्थ

कर लिया है। इस नगरके उपवनोंकी पंक्तियोंने सम्पूर्ण भूमितलपर अपना विस्तार जमा लिया है। तथा इस नगरकी परिखा (**खाई जो कोटके चारों ओर सुरक्षा हेतु बनाई जाती थी**) इतनी गहरी है मानों पातालको भी पिए जा रही है ॥२५॥

यह नगरकी विशालताका वर्णन उत्प्रेक्षालंकारके आधारपर किया गया है। नगरका कितना भी विशाल वर्णन हो पर वह नगरका है, **नगर के राजाका नहीं है**। नगरकी **विशालता** और शोभाके आधारपर **राजाकी** उत्तमताका दर्शन **उपचारमात्र** होगा, **परमार्थ नहीं**। परमार्थमें **तो राजामें कोट-परिखा-उपवन** नहीं हैं।

इसी प्रकार जिनेन्द्रके शरीरके वर्णनका दूसरा उदाहरण देखिए—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रका उत्कृष्टरूप, क्षोभरहित गम्भीर समुद्रके समान है। जैसे समुद्र जब गम्भीर होता है तो वह विकार (**उछाल**) रहित होता है स्थिररूप होता है। समुद्रका सम्पूर्ण अंग (जल) स्वाभाविक लावण्य (**खारापन**) लिए होता है। इसी प्रकार जिनेन्द्रका रूप भी सदा अविकारी—स्थिर और स्वाभाविकरूपसे सर्वाङ्ग लावण्य तेजपूर्ण है। वह जयवन्त वरतो ॥२६॥

जिनेन्द्रका यह वर्णन शरीरकी विशेषताओंको लेकर किया गया है। शरीरकी **स्तुति जिनेन्द्रकी यथार्थ स्तुति** नहीं है तथापि **व्यवहारनयसे ऐसी** स्तुति **की** जाती है। **ऐसे व्यवहारका हेतु तीर्थंकरका विशिष्ट शरीर हैं। निश्चय** स्तुति **तो आत्मगुणोंके आधारपर की गई** स्तुति **ही हो सकती** है।

भगवान् जिनेन्द्र अपने रागादि विकारोंपर विजय प्राप्त करनेवाले मोक्षमार्गी जीवोंमें सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्होंने इन्द्रिय विषयोंको त्यागकर अतीन्द्रिय आनन्द तथा अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त किया है। **मोहादिको** जीता ही नहीं, उसे **मूलसे मिटा दिया** है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, वीतराग हैं, अनन्तगुण के पुंज हैं, इत्यादि आत्मगुणोंकी स्तुति ही केवलीकी स्तुति वस्तुतः है।

(३८) **प्रश्न**—भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं यह तो मान्य है, पर उनके अनन्तगुण कौन-कौन से हैं?

समाधान—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति, अमूर्त्तत्व, अरस, अगंध, अस्पर्शत्व आदि भगवान्‌के अनन्तगुण हैं।

(३९) **प्रश्न**—अनन्त चतुष्टय तो भगवान्‌के गुण हैं, पर शेष अमूर्तत्वादि तो धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं? इन गुणोंसे यदि पूज्यता है तो धर्म, अधर्म, आकाश आदि भी पूज्य माने जाना चाहिये?

समाधान—प्रत्येक द्रव्यमें कुछ साधारण गुण होते हैं, कुछ असाधारण गुण होते हैं। अनन्तचतुष्टय भगवान्‌के असाधारण गुण हैं। अमूर्तत्वादि जो गुण अन्य द्रव्योंमें भी पाए जाते हैं, वे उनके साधारण गुण हैं।

(४०) **प्रश्न**—भगवान्‌की पूज्यता इनमेंसे असाधारण गुणोंके कारण ही मानी जायगी या साधारण गुणोंके कारण भी पूज्यता है ?

समाधान—भगवान्‌की पूज्यता उनके असाधारण गुणोंके कारण ही है। फिर भी साधारण गुण भी उनमें पाये जाते हैं, अतः गुणोंमें उनकी भी गणना है।

(४१) **प्रश्न**—सचेतन द्रव्य तो जीवमात्र हैं, उनमें ज्ञान-दर्शन, सुखादि स्वाभाविक शक्तियाँ असाधारण रूपमें पाई जाती हैं, अतः सभी जीव पूज्य हैं। भगवान् ही क्यों पूज्य हैं ?

समाधान—वे भगवान् हैं, हम आप साधारण संसारी जीव हैं, अतः संसारी प्राणी अपने दुर्गति परिभ्रमणरूप संसारकी दुःखमय परम्परा मिटानेको उनकी पूजा करता है जिन्होंने संसार परिभ्रमणसे छूटकर, अनन्त चतुष्टयके रूपमें, अपने ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको प्राप्त कर लिया है।

(४२) **प्रश्न**—क्या उनकी पूजासे हमारा संसार परिभ्रमण मिट जायगा ? तब तो सभी जिन-भक्त इसी भवसे मोक्ष चले जाँयगे ?

समाधान—पूजासे मोक्ष नहीं होता, मोक्षके लिए आत्म-निरीक्षण; आत्म-श्रद्धा, आत्म-ज्ञान और तदनकूल आचरण जीवको करना पड़ता है।

(४३) **प्रश्न**—यह तो मान्य है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षके मार्ग हैं, तब भगवान्‌की पूजाका प्रयोजन मोक्ष कैसे माना जाय ?

समाधान—पूजाका अर्थ है, जिन्होंने रत्नत्रयके आधार पर अपने संसार परिभ्रमणका अन्त कर लिया है, उनका अनुकरण हमें भी करना है, ताकि हम भी उस मार्गपर चलकर मोक्ष पा सकें। उनके प्रति आदरभाव ही पूजा है।

(४४) **प्रश्न**—पूजा तो अष्टप्रकारी बताई गई है। जल चन्दनादि द्रव्य, पूजा द्रव्य हैं। उनका समर्पण ही पूजा माना गया है। तब आपने अनुकरणको पूजा कैसे लिखा ?

समाधान—उन गुणोंकी प्राप्तिकी भावना ही अष्टद्रव्योंके समर्पणके समय की जाती है। यह बात पूजाके प्रत्येक पदके मन्त्रके साथ विहित है। उसे समझकर ही पूजा करनी चाहिये।

(४५) **प्रश्न**—तब तो उक्त गुणों की प्राप्ति की भावना ही करनी चाहिये, पूजा-पाठ और द्रव्य समर्पण से क्या प्रयोजन है ?

समाधान—गृहस्थ अपनी भावनाको वृद्धिगत करनेके लिये, इन बाह्य आलंबनोंको भी ग्रहण करता है, तथा सामायिक आदिके कालमें बिना द्रव्य अर्पणके भी भावना करता है। दोनों पद्धतियाँ हैं। द्रव्य पूजासे भी अधिक भावना सामायिकादि काल में होती है, अतः गृहस्थको दोनों पद्धतियाँ अंगीकार करनी चाहिये।

(४६) **प्रश्न**—जब द्रव्य-पूजाकी अपेक्षा सामायिक आदि भावपूजा भावनाओंकी दृष्टिमें साक्षात् कारण है तब द्रव्यपूजा क्यों की जाय ? यह तो व्यर्थका खर्च तथा आडम्बर है।

समाधान—संसारके विषयोंमें, परिवारके मोहमें, उनकी विषय साधनामें, खर्च सार्थक, और पूजा में निरर्थक है, ऐसा आपका अभिप्राय ज्ञात हुआ। सोचिये क्या इन्द्रिय भोगरूप

विषय और मोहजन्य कार्य ये सार्थक आत्महितके कार्य हैं ? और उनसे द्रव्य बचाकर जिन पूजामें लगाना व्यर्थ व्यय है ? आपका ऐसा सोचना गलत है।

(४७) **प्रश्न**—भगवान् तो वीतराग हैं, न खाते हैं, न पीते हैं, न भोगते हैं, तब वह खर्च तो व्यर्थ व्यय ही है। जो खाते पीते हैं उनके लिये व्यय सार्थक हैं ?

समाधान—गृहस्थ द्वारा अपना द्रव्य अपने विषय भोगोंसे बचाकर, पूजामें व्यय करना ही, उस द्रव्यका सदुपयोग है। द्रव्यका राग छोड़े बिना पूजा बनती नहीं और द्रव्यका राग छोड़ना वीतराग मार्गमें जानेवालेके लिए प्रथमाभ्यास है। रागीजीव खानेपीनेमें, विषय भोगमें खर्च हो वह सार्थक है, ऐसा सोचकर ही संसारके रागकी अभिवृद्धिको जीवनकी सार्थकता मानता है। किन्तु यह सार्थकता होगी संसारी मार्ग को बढ़ानेके लिए, मोक्षमार्गके लिए नहीं।

यदि खाने पीने वालों को समर्पण करना ही पूजा हो तब तो आप रोज अपनी व अपने परिवार की पूजा करते ही हैं।

(४८) **प्रश्न**—हमारा अभिप्राय ऐसा नहीं है। अभिप्राय यह है कि वीतराग तो लेते नहीं और देते भी नहीं, अतः इनकी पूजा निरर्थक है। अन्य देवी देवता तो पूजा ग्रहण भी करते हैं और प्रसन्न होकर देते भी हैं, अतः यदि द्रव्य अर्पित करके पूजा करना ही है, तो इन देवी देवताओं की करना श्रेष्ठ है।

समाधान—सरागीकी पूजासे सरागभावकी जागृति होगी और वीतरागीकी पूजासे वीत-राग भाव जागृत होगा। आपका हित राग भावमें है, या वीतराग भावमें, यह प्रश्न है। यदि राग ही परिपुष्ट करना है तो यह अपना संसार परिपुष्ट करनेकी बात है, मुक्तिकी चर्चा भी इस मार्गसे अत्यन्त दूर है।

(४९) **प्रश्न**—जैन शास्त्रोंमें भी तो वीतराग भगवान्‌की पूजाके साथ, यक्ष-यक्षिणी, क्षेत्रपाल, भैरव, पद्मावती, ज्वालामालिनी आदि सैंकड़ों देवी देवताओं की पूजा का विधान, वीत-रागी आचार्योंने किया है। तो क्या यह सब वृथा है ?

समाधान—मोक्षमार्गमें यह सरागी देवोंका पूजन-सम्मान, श्रद्धा, भक्ति, बाधक हैं, साधक नहीं। मिथात्व है, सम्यक्त्व नहीं। संसार परिभ्रमण का मार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं। दिगम्बर जैन आचार्योंने ऐसा विधान नहीं लिखा—कुछ शिथिलाचारी भट्टारकोंने, जो अपनेको मुनि दिगम्बर और आचार्य लिखते थे, ऐसा विधान किया है। वे लेखक वास्तवमें न मुनि थे, न दिगम्बर जैनाचार्य। अतः उक्त कथनी जिनागमके अनुकूल नहीं है। वीतरागी बननेके लिए सरागीकी पूजा प्रत्यक्ष विरुद्ध कार्य कारणभाव है। लेने-देनेकी बात भी मिथ्या है। देवोंके लिए भोगोपभोगका पदार्थ वह है ही नहीं जो मनुष्योंके लिए है। देव अमृतभोजी हैं। अतः पूजा द्रव्य ग्रहण नहीं करते। तथा स्वर्ग विभूति वहाँकी स्थायी व्यवस्था है, वे उसमेंसे किसीको कुछ दे नहीं सकते अतः देनेकी बात भी मिथ्या है।

(५०) **प्रश्न**—पञ्च-कल्याण प्रतिष्ठा पाठोंमें कल्याणकोंकी विधियोंमें शासन देवोंकी पूजाका विधान पाया जाता है। तब उसे मिथात्वकी क्रिया कैसे माना जाये ?

समाधान—प्रतिष्ठा-शास्त्रोंमें शासन देवताओंकी स्थापनाका जो विधान आता है वह उनकी पूजाके लिए नहीं है। प्रतिष्ठामें प्रधान पूजक सौधर्म इन्द्र होता है। वह भगवानकी इन्द्र-

ध्वज आदि पूजनमें शासन देवताओंको बुलाकर सेवकरूपमें विविधकार्योंके लिये नियुक्त करता है। उन देवताओंकी पूजन नहीं करता।

इन्द्र या पूजक द्वारा शासन देवताओंके लिए अर्घ्यदानकी जो बात है वह उन देवताओंकी पूजा हेतु नहीं है किन्तु जिनेन्द्र पूजामें, जिस प्रकार इन्द्र भगवानको अर्घ्यदान करता है, उसीप्रकार भगवानको चढ़ानेके लिए देवताओंको भी पूजन द्रव्य, अर्घ्य आदि देता है। हम लोग भी इसीप्रकार पूजा करते समय उपस्थित श्रावकोंको अर्घ्य आदि सामग्री देकर भगवानकी पूजामें सहयोगी वनाते हैं।

कुछ लोगोंका तर्क है कि शासन देवता सम्यक्दृष्टि जीव हैं, जिनेन्द्रके भक्त हैं, इसलिए उनकी पूजन करना अनुचित नहीं है। यह तर्क असंगत है क्योंकि प्रथम तो जैनमात्र व्यवहार-सम्यक्दृष्टि हैं, उन सबकी पूजा करना भी अभीष्ट मानना पड़ेगा। दूसरे, इन्द्र अपने आज्ञानुवर्ती सेवक भवनवासी देवोंकी पूजा करे यह कल्पना कैसे संभाव्य है? तीसरी आपत्ति यह है कि ये भवनवासी देव सम्यक्दृष्टि ही होते हों ऐसा कोई नियम नहीं है। जन्मकी अपेक्षा तो मिथ्यादृष्टि जीव ही भवनत्रिकमें जन्म धारण करते हैं। कोई जीव वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर ले तो भी, ऐसे सम्यक्दृष्टि जीव, जिनेन्द्र भगवानके सिवाय अपनी पूजा करनेवालेको क्या सम्यक्दृष्टि या विवेक-वान् मानेंगे? अतः शासन देवताओंका पूजन कुदेव पूजन है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा सागार-धर्मामृत आदि अनेक ग्रन्थोंमें इसका स्पष्ट आदेश है।

सम्यक्दृष्टि देवोंको पूजनेकी बात करें तो अनुदिश और अनुत्तरवासी देव नियमसे सम्यक्-दृष्टि होते हैं। तव मुख्यरूपसे उनका ही पूजन करना होगा। भवनवासी तो वहाँ भी पीछे ही रह जायेंगे। यह विकल्प ही निर्मूल है। देवोंने व्रती मनुष्योंकी पूजा तो की है, परन्तु व्रती-श्रावकों द्वारा अव्रती देवोंकी पूजन सर्वथा असंगत है।

कुछ लोग ऐसा तर्क उठाते हैं कि आचार्य समन्तभद्र, अकलंक देव, सीता आदि पुराण पुरुषोंकी रक्षा और सहायता शासन देवताओंने की थी। उन्हें ऐसा विचार करना चाहिये कि इन पुराण पुरुषोंने उस समय शासन देवताओंकी आराधनाकी थी या अपने व्रत और धर्मपर दृढ़ रहकर भगवान जिनेन्द्र का स्मरण किया था? इसप्रकार यह निश्चित है कि सिर्फ वीतरागदेव ही पूज्य हैं। उन्हींकी पूजासे मोक्षका मार्ग मिलता है। वीतराग देवके अनन्तगुणात्मक स्वरूप और परम पवित्र आत्माकी श्रद्धा-भक्तिसे, उनके आराधक स्वयं अनन्त गुणस्वरूप परमात्म-पद प्राप्त करते हैं।

(५१) **प्रश्न**—तब आप बताते क्यों नहीं कि वे अनन्त गुण कौनसे हैं? आप तो अनन्त चतुष्टयके चार, या सिद्धोंके आठ गुण गिनाते हैं, अनन्त गुण कहाँ दिखाई देते हैं? उनके नाम वताइये। नाम न भी वता सकें तो वे गुण अनन्त हैं इसका प्रमाण तो दीजिये।

समाधान—सही है, आपको अपनेमें व अन्य व्यक्तियोंमें वे गुण नहीं दिखाई पड़ते, पर अवगुण तो दिखाई पड़ते हैं? उनकी तो नामावली आप गिना सकते हैं।

(५२) **प्रश्न**—अवश्य गिना सकते हैं। दोष तो अनन्त हैं, पर गुण अनन्त नहीं?

समाधान—जो अनन्त दोष दिखाई देते हैं वे उन आत्मीक गुणोंके ही विभाव परिणमन हैं। स्वभाव परिणमनको गुण, और विभाव परिणमनको दोष कहते हैं। वे सभी दोष दूर होनेपर

उनका स्वभावरूप परिणमन ही, अनन्त गुणोंके रूपमें आत्मामें प्रगट होगा। भगवान् तीर्थंकरने अपने तप-तेजके बलपर, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके बलपर, उन क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, विश्वासघात, हिंसा, असत्य, कूट-कपट, असदाचार आदि दुर्गुणों पर विजय पाई है, अतः उनका गुणरूप स्वाभाविक परिणमन हुआ है, इसलिये उनके गुण भी अनन्त हैं।

नामावली तो इसी आधारपर रखी जा सकती है। अतः दुर्गुणोंके विरुद्ध, अक्रोध, अमान; अमाया, अलोभ, अहिंसा, सत्य, सरलता, सदाचार आदि नाम लिए जा सकते हैं।

(५३) **प्रश्न**—ये सब तो निषेधात्मक गुण बताए। विध्यात्मक बताइए ?

समाधान—इन्हींके विध्यात्मक नाम भी रखे जा सकते हैं जैसे—ऊपर सरलता, सदाचार, सत्य गिनाये गये हैं वैसे ही दया, क्षमा, संतोष, संयम, तप, त्याग आदि नाम भी रखे जा सकते हैं। इनमें कुछ गुण सन्मार्ग स्वरूप हैं और कुछ मार्गातीत होनेपर प्रगट होते हैं।

(५४) **प्रश्न**—आप मार्गातीत होनेपर प्राप्त होनेवाले गुणोंके नाम बताइये।

समाधान—जो मार्गातीत हो चुके वे अपने सामने नहीं हैं, जो उस अवस्थामें हैं उनमें वचन व्यवहार नहीं है, तब नाम कैसे रखे जायें ? आप तो अनन्त दुर्गुणोंको ही अनन्त गुणोंका विपरिणमन मानकर, उन गुणोंकी संख्या निर्धार कर लें। केवल नामोंके व्यवहार न कर सकनेकी स्थितिमें, उनके अस्तित्वसे इंकार नहीं किया जा सकता। जैसे गुड़-शक्कर-मिश्री-आम खरबूजा द्राक्षा आदि सब पदार्थ मीठे हैं, इतना मात्र आप कह सकते हैं। इनके स्वाद भेदका अनुभव करते हुए भी, नाम नहीं बता सकते, पर अनुभव गलत नहीं मानते। ऐसे ही अनुभवके व अनुमानके आधारपर, आत्मामें अनन्तगुण मानना अनिवार्य है। अपने उन अनन्त दोषोंको दूरकर गुणोंको प्रगट करनेमें जिन्होंने पूर्णता प्राप्त की, उन भगवन्तोंके गुणोंकी उपासना ही आत्मोत्थानके लिए आवश्यक है। चूँकि संसारी प्राणी चर्मचक्षुवाला है, साकार पदार्थको ही देख पाता है, निराकारका मात्र अनुमान कर सकता है, अतः उनके निराकार स्वरूपकी स्तुति, प्रशंसा या आदरभाव, गुण-दर्शनके आधारपर जो की जाती है, वह निश्चय स्तुति है। वर्तमान देहादिको देखकर उसमें पाई जानेवाली अन्य साधारण विशेषताओंके आधारपर स्तुति, व्यवहारनयसे स्तुति मानी जाती है। यह निर्णय जानना चाहिये। आत्म द्रव्य निश्चय ही देहादि पुद्गल द्रव्यसे भिन्न है, फिर भी उसमें एकता मात्र व्यवहार पक्ष है, इसी बातको आचार्य आगामी कलशमें प्रतिपादन करते हैं।

निश्चयसे शरीरका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है—

एकत्वं व्यवहारतो न पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्
नुःस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेत्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

अन्वयार्थ—(**कायात्मनोः**) शरीर और आत्माकी (**एकत्वं**) एकता (**व्यवहारतः**) व्यवहार-नयसे कही जाती है (**न पुनः निश्चयात्**) परमार्थसे एकता नहीं है। (**वपुषः स्तुत्या**) इसलिए शरीरकी स्तुतिसे (**नुः स्तोत्रम्**) आत्माका स्तोत्र (**तत्तत्त्वतः न**) यथार्थ स्तोत्र नहीं है। (व्यव-

हारतः अस्ति) व्यवहारसे है। (**निश्चयतः चितः स्तोत्रम्**) निश्चयसे आत्माकी स्तुति (**सा चित्स्तुत्या एव** भवति) चैतन्यगुणोंकी स्तुतिसे ही होती है। (**अतः**) इसलिए (**तीर्थंकरस्तवोत्तरबलात्**) तीर्थंकरको स्तुति शरीराधारपर की है इस व्यावहारिक कथनके बलसे (**एवं आत्माङ्गयोः एकत्वं न भवेत्**) आत्मा और शरीरकी एकता नहीं हो सकती है।

भावार्थ—शरीर आत्माको मिलाकर उसे जीवपनेका व्यवहार लोकमें किया जाता है तथा इसी लोकभाषामें ग्रन्थकार भी व्यवहारमें ऐसा वर्णन कर देते हैं। इसका कारण है कि व्यवहारी-जनोंको यदि उनके व्यवहारकी भाषामें न समझाया जाय तो उपदेश देना ही सम्भव नहीं है। तथापि व्यवहार वचन कहते हुए भी आचार्य निश्चय तत्त्व ही समझाते हैं—ताकि यथार्थताका बोध हो जाये। भगवान् तीर्थंकरका चैतन्यस्वरूप आत्मा, मोहादि विकारोंसे रहित, अपने स्वरूपसे एकत्वरूप, अखण्ड चैतन्यानंद ज्ञायक स्वभाव है यह निश्चय स्तुति है, ऐसा इस छन्द द्वारा स्पष्ट करते हैं—

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकारसे (**परिचिततत्त्वैः**) तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा (**नयविभजनयुक्त्या**) नयविभागकी युक्तिसे (**आत्मकायैकतायाम्**) आत्मा और शरीरकी एकताका पक्ष (**अत्यन्तं उच्छादितायाम्**) अत्यन्त उच्छिन्न करनेपर (**स्वरसरभसकृष्टः**) अपने स्वरससे शीघ्र आकृष्ट हुआ (**प्रस्फुटन्**) प्रकटरूप (**एक एव बोधः**) एक आत्माका ज्ञान (**अद्य कस्य बोधं न अवतरति**) आज किस समझदार की समझमें न उतरेगा ॥२८॥

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त कलशोंमें यह भलीभाँति दरशा दिया कि **आत्मा और शरीर वास्तवमें भिन्न-भिन्न चेतन-जड़ ऐसे दो** द्रव्य हैं, किसी भी समय, किसी भी प्रकार एक हो नहीं सकते। उनकी एकता **मात्र व्यवहार है, परमार्थ नहीं** है। ऐसा **नहीं है कि व्यवहारनयसे वे यथार्थमें एक हैं,** और **निश्चयसे यथार्थमें** पृथक्-पृथक् हैं। **ऐसा अनेकान्त रूप नहीं मानना चाहिए।** दोनों यथार्थ नहीं होते। क्योंकि निश्चयसे वे दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, उनमें मात्र व्यवहारसे बन्धकी अपेक्षा एकता कही जाती है। अनेकता तो द्रव्योंमें यथार्थ है और एकता व्यवहार से है जो सापेक्ष कथन है। ऐसा नयविभागसे समझाए जानेपर हर समझदार व्यक्ति अपने निजरससे परिपूर्ण, कर्म-नोकर्म-भावकर्मसे भिन्न, आत्माका बोध अवश्य कर लेगा।

परभावके त्यागकी दृष्टि आते ही स्वानुभूति प्रकट होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटितिसकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता-
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जबतक (**अत्यन्तवेगात्**) वेगपूर्वक (**अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः**) परपदार्थके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि (**अनवम्**) पुरातन (**वृत्ति**) वृत्तिको (**न अवतरति**) प्राप्त नहीं हो जावे, (**तावत्**) तबतक (**झटिति**) तत्काल ही (**अन्यदीयैः सकलभावैः विमुक्ता**) परद्रव्योंके सकलभावोंसे रहित (**इयम् अनुभूतिः**) यह आत्मानुभूति (**स्वयं आविर्बभूव**) स्वयं प्रकट हो जाती है ॥२९॥

भावार्थ—परपदार्थ और स्वपदार्थके भेदज्ञान होनेपर दृष्टान्तकी तरह परके त्यागकी दृष्टि स्वयं उत्पन्न हो जाती है। जैसे परवस्त्रको भूलसे ले आनेवाला व्यक्ति, जैसे ही 'यह परवस्त्र' है, स्व नहीं, ऐसा भेदज्ञान करता है, उसी समय परके त्यागनेकी दृष्टि भी आ जाती है। और ज्योंही परवस्त्रके त्यागकी दृष्टि आई, तबही स्व-वस्त्रकी पहिचान हुई, और उसे ग्रहणका भाव हुआ।

इसी प्रकार आत्मा शरीरादिसे भिन्न है, ऐसा भेद-विज्ञान हुआ तो परको पर जाना, तथा जानने मात्रसे ही परका त्याग करना चाहिए यह ऊपरके दृष्टान्तके आधारपर दृष्टिमें आया। यह दृष्टि पुरानी न पड़े तबतक स्वानुभूति भी तत्काल प्रकट होती है।

ऐसा बोलनेका मुहाविरा है कि, सूर्य उदय हुआ नहीं कि प्रकाश फैला। यहाँ शब्दार्थ ऐसा नहीं लेना कि सूर्योदयके बिना भी प्रकाश हो गया। किन्तु यह अर्थ लिया जाता है कि सूर्योदयके साथ ही साथ प्रकाश फैल जाता है। इसी प्रकार स्वपरका भेद जाना तो सहज ह परके प्रति त्यागका भाव आया, जैसे ही परके त्यागका भाव आया तत्काल ही एक साथ 'स्व' क्या है इसका भी अनुभव हो गया। दोनों एक कालमें हो जाते है। पुरानी न पड़े का तात्पर्य यह कि परके त्यागका भाव बना रहे उसी समय अनुभूति भी तत्काल आती है।

श्रीभट्टारक शुभचन्द्रजीने अपनी संस्कृतटीकामें 'अनवम्' का अर्थ सत्य किया है।

अनुभूति कैसी है उसका स्वाद बताते है—

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

अन्वयार्थ—(**अहम्**) मैं (**सर्वतः स्वरसनिर्भरभावम्**) सर्वांगमें आत्मरस जो चैतन्यरस उससे भरे हुए (**इह एकम् स्वम्**) इस अपने एक स्वरूपको (**स्वयं चेतये**) स्वयं संचेतन कर रहा हूँ। (**मोहः**) मोहजन्यभाव (**मम कश्चन नास्ति-नास्ति**) मेरे कोई नहीं है, नहीं है। मैं तो (**शुद्धचिद्घनमहोनिधिः अस्मि**) शुद्ध चैतन्य तेजकी निधि हूँ। अथवा शुद्धचैतन्यरसका महोदधि, समुद्र हूँ ॥३०॥

भावार्थ—अनुभूतिमें यह प्रतीत होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं परिवार नहीं हूँ, जमीन मकान धन-धान्यरूप भी मैं नहीं हूँ। इनसे प्रत्यक्ष ही भिन्न हूँ। मैं देखता हूँ तो मस्तकसे पैरतक सर्वत्र एक चैतन्यरस ही मेरेमें भरा है। उसी तेजसे प्रकाशमान हूँ। उसी तेजका पुंज हूँ। उसी तेजकी निधि हूँ; जिसमेंसे चैतन्य-चैतन्यके ही प्रकाशका प्रवाह चला आ रहा है।

मोह राग, क्रोधादि भाव ये भी तो मेरेमें उत्पन्न होते हैं, दिखाई भी दे रहे हैं। अन्यत्र तो दिखाई नही देते, अतः इनसे भिन्न मैं कैसे हूँ ? ऐसा विचार आता है तब मालूम होता है कि ये भाव मेरेमें हैं, आते हैं—जाते हैं, पर ये मेरे स्वभावभाव नहीं हैं। ये मेरी स्वात्माके स्वामी नहीं हैं, ये मेरे न अंशज हैं न वंशज हैं। मैं तो इनसे सर्वथा भिन्न ज्ञायकस्वरूप हूँ। ये रागादि मेरे चैतन्यसे भिन्न हैं, विरोधी हैं, तब ये अचेतन हैं, इनसे तो चैतन्यभाव मलिन ही होता है। जिस मैलसे वस्त्र मलिन दीखे वह मैल वस्त्रका स्वभाव नहीं है। वस्त्रमें दीख रहा है, पर उससे तो वस्त्रका स्वभाव—स्वच्छता ही ढक जाती है। अतः वह वस्त्रका विकार है। इसी तरह रागादि-भावोंसे आत्माका चैतन्यस्वरूप आच्छादित हो जाता है, स्वच्छता मिटती है, मलिनता दिखाई देती है, तब यह मलिनता मेरा स्वभाव नहीं है ? मैं इन मलिनताओंसे भिन्न ज्ञानमय पदार्थ हूँ। चैतन्यधातुका बना हुआ हूँ। सर्व ओर एक चैतन्यरस ही दृष्टिपथमें आता है।

ऐसे विचारोंसे ही अपनी प्रवृत्ति स्वात्मनिष्ठ होती है। यही कहते हैं—

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शन-ज्ञान-वृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

अन्वयार्थ—(इति) इस प्रकार (सर्वैः अन्यदीयैः भावैः सह) सम्पूर्ण अन्य द्रव्योंके भावोंके साथ (विवेके सति) भिन्नताका बोध हो जानेपर (अयम् उपयोगः) यह अपना उपयोग (स्वयम् एकम् आत्मानम् बिभ्रत्) स्वयं अपने एक स्वरूपको ही धारण करता हुआ (प्रकटितपरमार्थैः) प्रकट किया है परमार्थ जिन्होंने ऐसे (दर्शनज्ञानवृत्तैः) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप (कृतपरिणतिः) हुई है परिणति जिसकी ऐसा उपयोग (आत्माराम एव प्रवृत्तः) अपनी सीमा में प्रवृत्त होता है। फिर अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता ॥३१॥

भावार्थ—ऊपरके कथनके अनुसार जब यह अपना उपयोगात्मक ज्ञान अपनेको अन्य समस्त पर द्रव्यों और उनके भावोंसे भिन्न देखता है तब उसे यह भी प्रतीत होता है कि मैं अब स्वयं अकेला हूँ। मेरे साथ ज्ञेय भावमें होकर जो आए थे, वे सब पर थे, मेरे स्वरूपसे भिन्न थे। मेरे साथ तो केवल 'मैं' हूँ। तब आत्मा आत्मविश्वास—आत्मज्ञान और आत्मरमण रूप निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यग्चारित्र रूप परिणतिको प्राप्त हो जाता है। एक बार अपना घर पहिचाना तो फिर परघर नहीं जाता। फिर वह आत्मा अपनी अनन्त गुणगरिमाके बगीचेमें ही रमण करता है, उनके बाहर फिर नहीं जाता। यही सच्चा मोक्ष-मार्ग है।

आत्माके साथ उसका निजस्वभाव 'उपयोग' अनादिसे है, अनन्त कालतक रहेगा। इस दृष्टिसे तो वह आत्माका स्वभाव ध्रुवरूप परम पारिणामिक भावरूप है। यह सामान्य ध्रुवांश अपने अस्तित्वमें किसी कर्मके उदय-उपशम-क्षय-क्षयोपशम आदिकी अपेक्षा नहीं रखता। निगोदसे लेकर सिद्ध भगवान् पर्यन्त जीवमात्रमें वह जीवत्व पारिणामिकभाव सदासे पाया जाता है। यदि आत्मा अपने उस स्वभावपर दृष्टि देवे तो उसका विकास 'केवलज्ञान' रूपमें होता है।

संसारी अवस्थामें ज्ञानके साथ मोहभावकी डांक लगी है, जिससे मोहभाव और ज्ञानभावमें परस्पर भावक, भाव्य, भावरूप प्रवृत्ति देखी जाती है, तथा ममत्व भाव देखा जाता है। जबतक यह भाव्य भावक भाव रहता है तब तक यह जीव पर द्रव्योंमें मोह रागद्वेष या क्रोध मानादि परिणाम करता है। इन सब विकारों से ज्ञान भाव्यमान हो जाता है। यही इस जीवको बंध करानेवाली बात है। यदि इस बन्धनसे छूटना है तो विकारोंके प्रति निर्ममत्व बनना होगा।

पराधीनतामें यदि रागके विषयभूत इच्छित पदार्थ न मिलें, या उनका वियोग हो जाय तो भी रागीका राग नहीं छूटता। इसलिए बाह्य त्याग यदि अन्तरंग परिग्रहके त्यागमें साधक बन जाय तभी उसे बाह्य चारित्रकी या व्यवहार चारित्रकी तथा कारणताकी संज्ञा प्राप्त होती है।

यद्यपि ज्ञानमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि ज्ञानी जानता है कि ये मुझसे भिन्न ही, स्वलक्षण धारण करनेवाले स्वतंत्र पदार्थ हैं। मेरे अन्तस्तत्त्वसे पृथक् होनेके कारण ये बहिस्तत्त्व हैं। इनके साथ ज्ञेय ज्ञायक भाव होनेपर भी मुझे मेरा स्वाद इनसे भिन्न ही प्रतीयमान होता है। मुझे उनसे कोई लगाव नहीं है। मैं स्वयं एक अखण्ड चैतन्य रससे परिपूर्ण आत्मा नाम पदार्थ हूँ। ऐसा विचार आने पर वह स्वात्मनिष्ठ बनता है।

अब ज्ञानरूपी समुद्रमें निमग्न होनेकी प्रेरणा करते हैं—

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका: आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(**विभ्रमतिरस्करिणीं**) भ्रमके परदेको (**भरेण आप्लाव्य**) पूर्ण ताकतके साथ डुबोकर (**एष भगवान् अवबोधसिंधुः**) यह भगवान् ज्ञान समुद्र (**प्रोन्मग्नः**) प्रकट हुआ है। अतएव इसके, (**आलोकम् शान्तरसे उच्छलति**) समस्त लोकमें जिसका शांतरस उछाल ले रहा है (**अमी समस्ता लोकाः सममेव**) उसमें यह सम्पूर्ण जन एक साथ ही (**निर्भरं मज्जन्तु**) परिपूर्ण स्नान करो। अर्थात् सर्व संसारके जीव उस शांतरसमें निमग्न होवें ॥३२॥

भावार्थ—मोह अवस्था एक विभ्रम थी, उसे परदेका रूपक दिया गया है। जैसे परदेकी ओटमें समुद्र जैसी महान् वस्तु भी दिखाई नहीं देती, "सींक मात्रकी ओटमें पहाड़ भी छिप जाता है," इसी प्रकार भ्रमके होनेपर सम्मुख रखे पदार्थ, यद्यपि वे वहाँ स्थित हैं—पर भ्रमवान्को दिखाई नहीं देते, या विपरीत दिखाई देते हैं। यदि भ्रम दूर हो जाय तो उसे यथार्थ दिखाई देगा, और यथार्थ-ज्ञानसे आनंद व शान्ति मिलेगी। मोहका परदा दूर होनेपर आत्माको ज्ञानसमुद्र दिखाई देता है। वह समुद्र बड़ी-बड़ी उछालें भरता है। वह शान्तरससे भरा हुआ है, वहाँ शान्तरस ही उछल रहा है। आचार्य कहते हैं कि भाई ऐसे ज्ञानसमुद्र में डुबकी लगाओ, आनन्द आयगा।

जीव अजीव अधिकार

अब ज्ञानकी महिमा बताते हैं—

> जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
> आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात् विशुद्धं स्फुटत् ।
> आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
> धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोऽऽह्लादयत् ॥३३॥

अन्वयार्थ—(**आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात्**)—अनादिकालसे बद्ध मोह कर्मके बन्धनकी विधिका ध्वंस करके (**विशुद्धं स्फुटत्**) विशुद्धरूपमें प्रकट हुआ—(**ज्ञानम्**) यह विवेक (**जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा**) जीव और अजीवके भेदकी पुष्टदृष्टिसे (**पार्षदान् प्रत्याययत्**) सभासदोंको भेदका विश्वास उत्पन्न कराता हुआ (**अनन्तधाम**) अनन्त तेजस्वरूप (**आत्मारामम्**) आत्मस्वरूप (**महसाध्यक्षेण नित्योदितम्**) अपने प्रत्यक्षस्वरूपसे नित्य उदयको प्राप्त (**धीरोदात्तमनाकुलम्**) धीर-उदात्त और अनाकुलस्वरूप (**मनोऽऽह्लादयत्**) मनको आनन्द देता हुआ (**विलसति**) शोभता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—अनादिकालसे मोहादि कर्मसम्बन्ध जीवके साथ था और उस निमित्तसे जीवका विशुद्ध ज्ञानस्वभाव अप्रकटरूप था। भेदविज्ञानका यह फल है कि वह जीव-अजीवका विवेक कर लेता है। इससे मोहका नाश होता है। विशुद्ध ज्ञान प्रगट होता है।

जैसे किसी रंगमंचपर कोई व्यक्ति राजाका स्वांग धरके आवे और दर्शक उसे न पहिचान सकें तब तो उसका नाटक उसके वेषके अनुसार देखकर हर्ष करते हैं। यदि किसी विवेकीने अपनी विवेकदृष्टिसे उसे पहिचान लिया तो वह लज्जित होकर रंगमंचसे भाग जाता है। 'पहिचानमें आ गया हूँ' ऐसा बोध होनेपर वह पात्र फिर राजाकी भूमिका नहीं निभा पाता। इसी प्रकार जीव और अजीव दोनों एकाकार होकर संसारी जीवोंके ज्ञानपटलपर आते हैं और संसारका रागरंग रचते हैं। यदि कोई विवेकी उनका भेद समझ ले तो वह रागरंग फिर नहीं जमता।

जीव और अजीवके भेदको खोल देनेवाला ज्ञान, शान्तरसमें निमग्न होकर शान्त नृत्य प्रारम्भ करता है। शान्त रसका अभिनय करनेवाला पात्र जैसे 'धीर' होता है, उदात्त होता है तथा चंचल नहीं होता, गम्भीर होता है, वैसे ज्ञान भी उक्त प्रकारसे मनको आनन्दित करता हुआ शोभायमान हो रहा है।

सारांश यह है कि जीव अनादि बन्धनबद्ध था। मोहके दूर होनेपर उसे जब स्वानुभूति हुई तब मोहके आवेगमें जो नाचता था, वह नाचना बन्द हुआ। उसकी विवेक दृष्टिने शरीरादि पर द्रव्यों तथा रागादि भावकर्मोंके स्वरूपसे, आत्माके स्वरूपको भिन्न देखकर, जो भूल थी, मद था, वह दूर कर दिया। उसका वह ज्ञान शान्त रसमें निमग्न हो, शान्त रस रूप नृत्य करने लगा। यह ज्ञानकी महिमा है जो उसने सम्पूर्ण स्थिति ही बदल दी।

जिन्हें विवेक दृष्टि प्राप्त नहीं है, जीवके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, वे रागादि क्रोधादि परिणाम और ज्ञान परिणाममें भेद न कर, रागादि परिणामस्वरूप ही जीवको मान बैठे हैं। कर्मोदयकी तीव्र, मन्द, मध्यमस्वरूप स्थितिमें आत्मविकारोंको ही अपना रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे आगके अंगारोंमें लालिमा भी आगका स्वरूप है, और कालापना भी आगका स्वरूप है। इसी प्रकार ज्ञानादि तथा रागादि दोनों जीवके ही स्वरूप हैं। कोई मानते हैं कि देहसे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। जैसे चार पाये और दो सीरा, दो पाटी, ऐसे आठ काठके संयोगसे खाट बनती है, इसी प्रकार शरीर-रागादि ज्ञानादि भाव सबका संयोग ही, आत्मा है, भिन्न कुछ नहीं है।

उन भेदज्ञान विहीन मनुष्योंको यह विवेक नहीं है कि **रागादि क्रोधादिभाव पौद्गलिक हैं।** कर्मके **उदयादिसे संभाव्य ये तीव्र-मंदादि** परिणाम **कर्मोदय निमित्त जन्य परिणाम हैं। विशुद्ध आत्म-परिणाम नहीं हैं।** देहकी अवस्थाएँ, बाल-यौवन-वृद्धादि पौद्गलिक हैं, वे जीवरूप नहीं हैं—**वर्तमान सुख-दुखादि अवस्थाएँ पौद्गलिक हैं, आत्मस्वभाव नहीं है।** आठ काठके संयोगकी तरह ये शरीरादिकी कर्मजन्य अवस्थाएँ आत्मा नहीं है, किन्तु जैसे खाटपर सोनेवाला खाटसे भिन्न है, इसी प्रकार शरीरादि संयोग प्राप्त जीव शरीरसे भिन्न ज्ञायक स्वरूप है। आत्माके सम्बन्धमें जिनकी विविध भ्रान्तियाँ है उन्हें आचार्य सम्बोधित करते हैं। वे कहते हैं कि भाई! अपने विवेकसे जीव और पुद्गलको भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे पहिचान, और पुद्गल कर्म, नोकर्म-भावकर्मसे भिन्न अपने चैतन्य पिण्ड आत्माका अनुभव तो कर, तुझे उसकी प्राप्ति अवश्य होगी।

इसी बातको निम्न कलशमें दरशाते हैं—

> **विरम किमपरेणाऽकार्यकोलाहलेन**
> **स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।**
> **हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो**
> **ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥३४॥**

अन्वयार्थ—अरे भव्य प्राणी (**अपरेण अकार्यकोलाहलेन विरम**) विविध प्रकारके **अप्रयोजन** भूत कोलाहलको छोड़ दे। (**किम्**) इस कोलाहलसे, विवादसे, तुझे क्या लाभ होना है किन्तु (**स्वयमपि निभृतः सन्**) स्वयं निश्चल हो, एकान्तस्थलमें मौन पूर्वक (**षण्मासम् एकम् पश्य**) छह माह तक उस सर्व द्रव्योंसे भिन्न, एक मात्र स्वसत्तामें निमग्न, आत्माको देखनेका पूर्ण अभ्यास कर। तुझे स्वयं प्रतीत होगा कि (**पुद्गलात् भिन्नधाम्नः पुंसः**) पुद्गलसे भिन्न है स्वयंका चैतन्य तेज जिसका ऐसे पुरुषकी, ऐसी स्वात्माकी, (**हृदयसरसि**) तेरे हृदय सरोवरमें (**ननु किम् उपलब्धिः किं च अनुपलब्धिर्भाति**) प्राप्ति होती है या नहीं होती ॥३४॥

भावार्थ—जो जिस उद्देश्यसे प्रयत्न करता है उसमें उसे सफलता अवश्य प्राप्त होती है। ऐसा नियम है। तदनुसार आत्म स्वरूपकी प्राप्तिके लिए भी आचार्य प्रेरणा देते हैं कि हे भव्य जीव! तू छह माहके लिए तो हमारा कहना मान। सारा जीवन तो विषय सेवन और कषायोंकी पूर्तिमें लगा देता है। अनादि कालसे यह अनन्त संसार इसी प्रकार ही व्यतीत किया है, अब थोड़े समयके लिए हमारी बात मान ले। देख, एक बार प्रयत्न कर। एकान्त स्थानमें बैठ जा—आवागमन

बंद कर। इससे शारीरिक क्रियाओंका निरोध होगा, चंचलताका निरोध होगा। मौनावलंबन कर, क्योंकि वचन प्रवृत्तियाँ भी चंचलता और नानाविकल्पोंके उत्पादनमें सहायक हैं। जब तू इस प्रकारसे एकान्त मौन साधना करेगा, तो शरीर व उसकी क्रियाओंसे भिन्न, वचनादिसे भिन्न, पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे भिन्न, रागादि क्रोधादि विकारोंसे भिन्न, वर्णादिसे भिन्न, अमूर्त **चैतन्य मूर्ति आत्माकी तुझे अवश्य उपलब्धि होगी।** छह मासका समय तो संस्कारमें पड़े हुए विकारोंको दूर करनेके अभ्यासमें लगेगा। यदि उन्हें दूर कर सका तो स्वात्मोपलब्धि तो अन्तर्मुहूर्त मात्रमें होगी।

जैसे यदि कोई बड़ा मकान ध्वस्त हो जावे और उसमें कोई रत्न दब जावे, तब उस रत्नकी प्राप्तिके लिए एकाग्र होकर यदि कोई प्रयत्न करे, तो उसे दस दिन मकानके मलमाको खोदकर फेंकनेमें लगही जायगा। तब उसे रत्नकी प्राप्ति होगी। सो रत्न प्राप्ति तो क्षणभरमें होगी, तथापि उस क्षणको पानेके लिए दस पाँच दिनका समय मलमा हटानेमें लग गया। यदि मलमा न हटता तो मणिका दर्शन संभाव्य न था।

इसी प्रकार स्वात्मोपलब्धि तो एक अन्तर्मुहूर्तमें ही हो जायगी। पर वह अन्तर्मुहूर्त तब प्राप्त होगा जब हृदयमें अनादिकालीन विकारोंके संस्कार जो बैठे हैं, वे दूर हों। उनको हटानेमें यदि छह माह भी लग गए तो भी कुछ समय नहीं लगा। आचार्य परीक्षार्थ प्रयत्न करनेको भव्यजीवोंको उक्त प्रेरणा देते हैं। उन्हें विश्वास है कि यदि यह जीव छहमाह भी प्रयत्न कर ले, तो उसे स्वोपलब्धि अवश्य होगी।

आचार्य कहते हैं कि तेरे साथ बन्धको प्राप्त मोहादिकर्म, तेरे संसार परिभ्रमणके कारण होनेसे दुःखरूप हैं, इनके उदयमें प्राप्त विकारोंमें जो स्वभावका भ्रम है, उसे दूर करना है। यद्यपि ये विकार तेरी आत्माकी सत्तामें ही प्रतिभासमान तुझे हो रहे हैं, और व्यवहारकी भाषामें आत्मामें हैं—आत्माके हैं—ऐसा कहा भी जाता है, पर परमार्थसे देखें तो ये आत्मामें पाये जानेपर भी आत्माके स्वभाव नहीं हैं, किन्तु कर्मोदय निमित्त जन्य आत्माके विकारभाव हैं।

जैसे गेहूँके पौधेको 'गेहूँ' शब्दसे कहा जाता है, पर कहनेवाला जानता है कि यह सबका सब गेहूँ नहीं है। इसमें वृक्षका डंठल है, पत्र है, भुस है, ये सब गेहूँसे भिन्न हैं। इनको छोड़कर जो शेष बचा है वह गेहूँ है, वही खाने योग्य है। समूचा पौधा खाने योग्य नहीं है। विवेकी ऐसा मानकर गेहूँका उपयोग करता है, और साथके सम्पूर्ण निःसार भागको फेंक देता है। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष लक्षणभेदसे आत्मस्वभावको पहिचानकर, पुद्गलस्वरूप शरीरादि पदार्थको निःसार समझकर, उसे छोड़ देता है, तथा अपने ज्ञायकस्वभावको पकड़ लेता है। आचार्य यही प्रेरणा देते हैं—

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

अन्वयार्थ—**(चित्शक्तिरिक्तम्)** चैतन्य स्वरूप शक्तिसे भिन्न **(सकलमपि)** सम्पूर्ण पदार्थों को **(अह्नाय विहाय)** अशेषतः शीघ्र छोड़कर तथा **(चित्शक्तिमात्रम् स्वं)** चैतन्य शक्तिमात्र अपने

स्वयंको (**स्फुटतरम् अवगाह्य**) अच्छी तरह ग्रहण करके (**विश्वस्य उपरि चारु चरन्तम्**) सम्पूर्ण विश्वके ऊपर भले प्रकार विचरते हुए (**इमं परम् आत्मानम्**) इस परमात्म स्वरूप आत्माको (**अनन्तम्**) जो अनाद्यनन्त रूप हैं उसे (**आत्मनि**) अपने भीतर (**साक्षात्कलयतु**) भले प्रकारसे प्रत्यक्ष अनुभव करो ॥३५॥

भावार्थ—आचार्य देव कहते हैं, कि हे भव्य जीवो! आत्म दर्शन करना चाहते हो तो उसका यह मार्ग है कि तुम्हारे चैतन्य स्वरूपके सिवाय, तुम्हें विश्वमें जो कुछ अपने ज्ञानमें दिखाई दे रहा है उसको सर्वथा त्याग करो। यहाँ त्याग का अर्थ है कि अपनी दृष्टि वहाँसे हटा लो, क्योंकि वह सब आत्मा नहीं है। चित्शक्ति मात्र अर्थात् सिर्फ चैतन्य शक्ति रूप जो कुछ है 'वह तुम हो' इसे भलीभाँति समझो।

ऐसा संचेतन करने पर तुम देखोगे कि तुम्हारा पवित्र आत्मा, इस सम्पूर्ण विश्वसे भिन्न है। वह विश्व रूप नहीं है, यद्यपि विश्वके पदार्थोंमें उसकी भी गणना है, पर वह सारे विश्वसे अपनी सत्ता जुदी रखता है। वह अनादि कालसे इसी प्रकार है और सदा काल ऐसा ही रहेगा। विश्वके किन्हीं पदार्थों से उसका मिश्रण नहीं हुआ है, न वह उससे एकाकार हुआ है, न होगा। वह तो सदा चैतन्य मात्र रहा है, और रहेगा। वह सदा कालसे अपने ही अनन्त गुणोंसे, अपनी ही क्रमभावी अनन्त पर्यायों में परिणत होता हुआ वरत रहा है। कभी पर गुणपर्याय रूप नहीं परिणमा, और न अपने गुण पर्यायोंका उसने परित्याग किया। ऐसा चैतन्य स्वरूप मेरा है, यह तुम्हें प्रत्यक्ष, भले प्रकार दिखाई देगा ॥३५॥

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्‌गलिका अमी ॥३६॥

अन्वयार्थ—(**चित्शक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः**) चैतन्य रूप जो शक्ति उससे ही व्याप्त है सम्पूर्ण निज सार जिसका (**इयान् अयम् जीवः**) ऐसा इतना मात्र तो "जीव" है, तथा (**अतः अतिरिक्ताः**) इस चैतन्य स्वरूप जीवसे भिन्न (**सर्वेऽपि भावाः**) सम्पूर्ण भाव (**अमी पौद्गलिकाः**) वे पुद्गल स्वरूप हैं ॥३६॥

भावार्थ—परसे भिन्न निजके स्वरूपका आचार्य दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं कि हे भ्रातः जितनी-जितनी चैतन्य शक्ति तुझे अपने भीतर दिखाई दे रही है—उतनी-उतनी तो तेरा सर्वस्व है। वह अन्य किसीका अंश नहीं है। वह तू स्वयं है और उस चैतन्य स्वरूपसे भिन्न जो क्रोधादि रागादि भाव दिखाई देते हैं वे तुम नहीं हो। तथा देहाश्रित वर्णादि रूप जो दिखाई दे रहा है वह भी तेरे नहीं हैं। वह सब भाव पुद्गलमय हैं।

यद्यपि अपने अज्ञानसे यह आत्मा सारे विश्वको अपनाता है। यह मेरा शरीर है, यह मेरा परिवार है, यह मेरा घर है, यह मेरा खेत है, मेरी दुकान है, मेरा बगीचा है, मेरा कारखाना है, मेरा मुहल्ला है, मेरा गाँव है, मेरा प्रान्त है, मेरा देश है, इस प्रकार सारे संसारसे अपना नाता जोड़ता है। जिनसे अपने विषय सधते हैं—उनसे "मेरा है" ऐसा सम्बन्ध बनाता है। जिनसे अपना राग पुष्ट नहीं होता—उनको भिन्न प्रकारसे अपनाता है। कहता है कि ये मेरे शत्रु हैं, मुझसे विरुद्ध हैं, मुझे हानि पहुँचानेवाले हैं, मेरे क्रोध के विषय हैं, आदिरूपसे उनसे द्वेष रूप सम्बन्ध बनाता है। सम्बन्ध किसीके साथ नहीं छोड़ा। सबसे सम्बन्ध बनाता है, भले

ही उन्हें इष्ट पदार्थोंकी श्रेणीमें स्वीकर किया हो, अथवा अनिष्ट पदार्थोंकी श्रेणीमें रखा हो, पर उनसे अपना सम्बन्ध, शत्रु रूपमें या मित्र रूपमें, अवश्य स्थापित कर रखा है। ऐसी उसकी समझ मालूम होती है कि मानों सारे विश्वके साथ उसका ही सम्बन्ध है, सब उसके लिए ही हैं। आचार्य उसके अज्ञान भावको दूर करनेके लिए उसे आत्मदर्शन कराते हैं। वे कहते हैं कि भाई! जितना तेरे भीतर चैतन्य-चैतन्य मात्र वस्तु है वह तो तेरा रूप है। उसके अलावा जो है वह तेरा रूप नहीं है, सब पुद्गल स्वरूप है।

यद्यपि संसारमें छह द्रव्य हैं। सब पुद्गल नहीं हैं। तुमसे भिन्न अन्य अनेक अनन्तानन्त-जीव हैं, वे भी चैतन्य शक्तिसे परिपूर्ण हैं। वे भी तुम्हारी तरह सारे विश्वसे भिन्न **अपनी निज चैतन्य** सत्तासे **अभिन्न** हैं। वे भी जीव हैं, पर वे तुमसे भिन्न—तुम जैसे ही जीव हैं। उनसे भी तुम्हारी सत्ता पृथक् है। फिर अन्य धर्म-अधर्म-आकाश-काल पुद्गल आदि द्रव्य तो स्वरूपतः तुम्हारी सत्तासे भी भिन्न हैं। उनके साथ सम्वन्ध स्थापित करना तो अज्ञानता-पूर्ण है ही।

काला-गोरा, सुन्दर-असुन्दर, पुष्ट-अपुष्ट दिखाई देनेवाला पौद्गलिक शरीर है; वह तेरा स्वरूप नहीं है। साथ ही जो समय-समयपर तेरेमें, परके अवलम्बनसे राग-द्वेष होते हैं, क्रोध-मान-मायादिरूप परिणाम होते हैं, वे भी तेरा स्वरूप नहीं हैं। भले ही संसारी जीवमें उनकी उत्पत्ति हो, तथापि शुद्धजीवमें उनका अस्तित्व नहीं है, वे **स्वभावसत्तासे भिन्न सत्तावाले** हैं।

प्रत्येक द्रव्य अपने गुणपर्यायोंकी सत्तासे अभिन्न है, तथापि लक्षण भेदसे प्रत्येक गुण और पर्यायकी अपनी-अपनी स्वरूप सत्ता कही जाती है। 'द्रव्यं सत्, गुणः सन् कर्म सत्' ऐसा आगम वाक्य है, इसलिए आत्माके गुणोंकी स्वभावपर्यायें तथा विभावपर्यायें दोनोंकी स्वरूपसत्ता जुदी-जुदी हैं इससे सिद्ध हुआ कि क्रोधादि रागादि भावोंसे ज्ञानभावकी सत्ता भिन्न है। फलतः मेरा आत्मा चैतन्य शक्तिकी सत्तावाला है। जैसे अन्य चेतन तथा अचेतन द्रव्योंकी सत्ता मुझसे भिन्न है, ऐसे क्रोधादि भी भिन्न स्वरूप सत्तावाले हैं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतो पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(**वर्णाद्याः**) रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि (**वा**) अथवा (**रागमोहादयो वा**) राग-द्वेष क्रोध-मोह आदि परिणाम हैं। वे (**सर्व एव**) सभी (**अस्य पुंसः**) इस आत्मतत्त्वसे (**भिन्नाः भावाः**) भिन्न पदार्थ हैं। (**तेनैव**) इसी कारणसे (**स्तत्त्वतः**) तत्त्वकी दृष्टिसे (**अन्तः पश्यतः**) अन्तरंग अनुभव करनेवाले पुरुषको (**अमी**) ये रागादि वर्णादिभाव (**नो दृष्टाः स्युः**) नहीं दिखाई देते, किन्तु (**परं एकं दृष्टं स्यात्**) केवल एक आत्मा ही दिखाई देता है ॥३७॥

भावार्थ—जबकि वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शादि पुद्गलद्रव्यके गुण हैं, तो वे पुद्गलद्रव्यमें ही पाए जायेंगे,[1] जीवद्रव्यमें दिखाई ही न देंगे। इसी प्रकार राग-द्वेष-काम-क्रोध-मोहादिभाव कर्मके उदयके निमित्त पाकर जीवमें होनेवाले औपाधिक विकारीभाव हैं, कर्मोपाधिके विना शुद्धजीवके भीतर नहीं पाए जाते। इससे यह वात स्वयं सिद्ध है कि ये इस शुद्धात्मासे भिन्न ही पदार्थ हैं, अतः जो आत्मदर्शन करता है उसे एकमात्र आत्मा ही दिखाई देती है अन्य कुछ दिखाई नहीं देता।

आत्मदर्शीकी दृष्टि केवल अपने स्वरूपपर ही टिकती है, उसे अन्य सर्व अपनेसे भिन्न प्रतीयमान होते हैं। इनकी भिन्नताकी प्रतीति होना ही "अद्वैत-आत्मा" का बोध है। वेदान्तमें कथित अद्वैतमें और इस जिनोक्त अद्वैतमें भिन्नता है। वेदान्त कथित अद्वैतमें ब्रह्मके सिवाय अन्यसर्वका सर्वथा अभाव है; उनका अस्तित्व ही नहीं है। उनके अस्तित्वकी भासना मिथ्या भासना है, ऐसी वेदान्ती मान्यता है। किन्तु जिनोक्त **अद्वैत वस्तु** स्वभावरूप है। एक वस्तुमें परवस्तुका प्रवेश नहीं हो सकता, अतः वस्तु स्वयं अपनेमें अद्वैत है, द्वैतरूप नहीं। तथैव आत्मतत्त्व भी परसे भिन्न है। परोपाधि जनित विकारोंसे भिन्न अपने शुद्ध एकस्वरूपमें निहित है। अतः स्वयं 'अद्वैत' है। यद्यपि अपनेमें परका अभाव है, तथापि परके अस्तित्वका यहाँ निषेध नहीं। पर भी अपने-अपने स्वरूपमें अद्वैतरूप से विद्यमान है।

अनादि कालसे पुद्गल कर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे, तथा विभिन्न गतियोंमें विभिन्न प्रकारके शरीरसे संबद्ध होनेसे, इस जीवको अपना स्वरूप उनके साथ मिला हुआ भासता है। उनसे भिन्न होते हुए भी अपने शुद्ध स्वरूपकी भासना उसे नहीं है। जब स्वरूपके अनुरूप भाव नहीं भासता तो उसे ही 'भ्रान्ति' कहते हैं।

भ्रान्ति कहो—मिथ्या ज्ञान कहो—एक ही वात है। इस मिथ्या भ्रांतिसे परमें अपने-पनका जो बोध है वह मोह परिणाम है। ये सब भ्रान्तियाँ ही मिथ्या ज्ञान हैं। जीवके साथ उन भ्रान्तियोंका सम्बन्ध तो है पर वे भ्रान्तियाँ जीवके यथार्थज्ञानके अभावकी सूचियाँ हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होने पर ये भ्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और जीवको अपना निज रूप, जो एक मात्र ज्ञायक स्वरूप है, उसका बोध हो जाता है। यही "अद्वैत" सम्यक् अद्वैत है। वस्तुतः परके अस्तित्वका निषेध नहीं है, किन्तु स्व अस्तित्वमें परके अस्तित्वका निषेध है। इस तरह वेदान्तके अद्वैतसे जिनोक्त अद्वैत भिन्न है।

नोकर्म शरीर तो मरणोत्तर कालमें स्वयं भिन्न भासित हो जाता है, पर कार्माण शरीर जो अष्ट कर्मका पिण्ड है, वह आत्माके साथ जन्मान्तर तक जाता है। तथापि उसके भेद-प्रभेद रूप वर्गवर्गणा, स्पर्द्धक, तथा कर्मवर्गणा, स्थिति अनुभागादिस्थान, ये सब पौद्गलिक हैं, जीव द्रव्यसे भिन्न हैं।

कर्मके उदय-निमित्त-जन्य रागादि भाव, तथा उपशम-क्षयोपशम जन्य भाव भी, आत्माके अनाद्यनन्त पारिणामिक भावसे भिन्न हैं। कर्म सापेक्षताकी अपेक्षा वे भी औपाधिक भाव हैं। जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थानादि सर्व भाव जीवमें होते हुए भी, परोपाधि निमित्तजन्य होनेसे, स्वभाव भावमें अन्तर्गर्भित नहीं किए जाते हैं। फलतः जीव एक मात्र अपने अनन्तगुणोंका पिण्ड, अखण्ड-ज्ञायक स्वभावी, अद्वैत-चैतन्य मात्र है। उसका अनुभव करना ही उचित है।

१, अरसमरूपमगंधं अव्वत्तं चेदणा गुणमसद्दं। —समयसार गाथा–४९।

(५५) **प्रश्न**—ग्रंथान्तरोंमें जो जीवके एकेन्द्रियादि रूप, अथवा नर-नारकादि रूप, या मिथ्यादृष्टि सासादनादिरूप भेद, जीवसमास-मार्गणास्थान-गुणस्थान रूपमें किये हैं, क्या उनका ऐसा लिखना अयथार्थ है ?

समाधान—अयथार्थ नहीं है, किन्तु वह कथन व्यवहारनयसे है। निश्चयनयसे ये सब भाव उपाधिनिमित्तजन्य होनेसे, शुद्ध जीव स्वरूप नहीं हैं। यही कारण है कि शुद्धावस्थाप्राप्त सिद्ध भगवान् न तो जीवसमासमें गिनाए गये, न मार्गणास्थानमें उनका स्थान है, और न गुणस्थानोंमें उनकी कहीं गणना की गई है।[1]

फलतः ये सब स्थान संसारी जीवके हैं, अर्थात् अशुद्ध जीवके हैं। अशुद्ध जीवोंको 'जीव' शब्दसे व्यवहृत किया गया है। निश्चयसे जीव इन उपाधियोंसे भिन्न है। उपाधियुक्त जीव, शुद्ध जीव नहीं, अशुद्ध जीव है।

(५६) **प्रश्न**—प्रकारान्तरसे आपने करणानुयोग चरणानुयोगमें वर्णित जीवोंको यथार्थ जीव नहीं माना, उन्हें व्यवहारसे जीव कहा है। साथ ही अध्यात्मग्रंथ व्यवहार नयको तथा उसके विषयभूत पदार्थको अयथार्थ कहता है। तब तो ये सब ग्रंथ भी अयथार्थताके प्ररूपक हुए, अतः प्रमाण कोटिमें नहीं आयेंगे ?

समाधान—ऐसा नहीं है। निश्चयनय, जैसा जीव पदार्थका स्वाश्रित स्वरूप है, वैसा ही जीवका स्वरूप बताता है। सो जैसेको तैसा कहना तो यथार्थ है। व्यवहारनय-जैसा स्वरूप है वैसा न कहकर, वर्तमानमें जिन-जिन उपाधियोंके संयोग पाए जाते हैं उन उपाधियोंके आधार पर जीवके स्वरूपको प्रतिपादन करता है, अतः वह जैसेको तैसा न बतानेसे अयथार्थ है।

तथापि उस व्यवहार नयकी गणना-मिथ्याज्ञानमें नहीं है। मिथ्याज्ञान तो विपरीत, संशय या अज्ञान रूप प्रतिपादन करता है। व्यवहारनय सम्यग्ज्ञानका भेद है। वह पदार्थका जिस अपेक्षा वैसा वर्णन करता है, उस अपेक्षा अर्थात् उस दृष्टिकोणको **साथ रखकर उसका तद्रूप कथंचित् वर्णन करता है, वह एकान्त रूप नहीं है।**

जैसे एक अध्यापक विद्याभ्यास न करनेवाले बालकको, 'गधे हो' ऐसा कह देता है। पर यह कथन सामान्य मूर्खताकी अपेक्षा सापेक्ष कथन है। उसे सर्वथा 'गधा' ही नहीं समझता। अतः वह मिथ्याभाषी नहीं है। परमार्थको जानकर भी अपेक्षा विशेषसे पदार्थका अतद्रूप वर्णन व्यवहार नय है। उसका प्रयोजन यथार्थताका ज्ञान करानेका है, अतः वह सम्यग्ज्ञान है और प्रमाण कोटिमें ही ग्रहण किया जाता है।

यदि यही कथन परमार्थको दृष्टि पथमें न रखकर इस **उपचरित कथनको** ही परमार्थ मान लें, तो वह मिथ्याज्ञान होता है, या मिथ्या कथन होता है। मिथ्याज्ञान व व्यवहार नयमें इतना बड़ा अन्तर है। व्यवहार नय वालेकी दृष्टि गौणरूपसे परमार्थ पर है, उसे ही वह यथार्थ जानता है। पर वर्तमानमें प्रयोजनवश तद्भिन्न व्यवहार करता है। वह उसे परमार्थ कभी

---

१. समयसार गाथा ५० से ५५ तक देखिये।

नहीं मानेगा, किन्तु परमार्थको ही परमार्थ मानेगा। जब कि मिथ्याज्ञानी उस व्यवहारको ही परमार्थ मानता है। अतः व्यवहारनय मिथ्याज्ञानसे सर्वथा भिन्न है।

यह सिद्ध हो गया कि ग्रन्थान्तरोंमें वर्णित जीव का वर्णन अयथार्थ नहीं है क्योंकि वे अशुद्ध परिणतियाँ, भले ही पर निमित्त सापेक्ष हों, पर हैं जीवमें। पर्याय सापेक्ष द्रव्यका वर्णन भी व्यवहारनयमें आता है।

(५७) **प्रश्न**—द्रव्यार्थिक दृष्टिसे पदार्थको अनाद्यनन्त कथन करना भी तो अयथार्थ है, क्योंकि पदार्थ पर्याय रहित केवल द्रव्यरूप ही तो नहीं है, अनेकान्त दृष्टिमें तो दोनों रूप पदार्थ कहना चाहिए न कि केवल द्रव्यरूप ?

समाधान—दोनों रूप पदार्थ है—इसमें संदेह नहीं। न तो वस्तु द्रव्य मात्र है, न केवल पर्याय मात्र—दोनों **दृष्टियाँ परस्पर निरपेक्ष हों तो मिथ्यादृष्टियाँ ही हैं**। ज्ञानका उपयोग एक बार एक पर टिकता है और वचन एक बारमें एक रूप ही कथन कर सकता है। पदार्थ एक रूप है नहीं। अतः यथार्थ जानने या कथन करनेके लिए एक अंगको गौण रूपमें स्वीकार करके और दूसरे ही अंगको प्रमुख करके, जाना या कथन किया जाता है। अतः वे दोनों ही नय कोटिमें गिने जाते हैं।

(५८) **प्रश्न**—जब दोनों नयकोटिमें हैं तब दोनोंको यथार्थ कहना चाहिए। एकको यथार्थ कहना तथा दूसरेको अयथार्थ कहना तो उचित नहीं है। एकान्तवादी ही अपने कथनको यथार्थ और दूसरे कथनको अयथार्थ कहता है। अतः निश्चयनय यदि व्यवहारनयको अयथार्थ प्रतिपादन करता है, तो वह एकान्तवाद है। जब कि व्यवहारनय परमार्थको दृष्टिपथमें रखकर उसे अयथार्थ नहीं कहता। इससे सिद्ध है कि व्यवहारनय ही यथार्थनय है, अनेकान्तस्वरूप है। निश्चयनय, अपरनयका निषेधक होनेसे मिथ्यारूप है।

समाधान—ऐसा नहीं है। निश्चयनय, व्यवहारनयका सर्वथा निषेधक नहीं। किन्तु वह अखण्ड पदार्थके भेदोंको, नहीं स्वीकारता तथा सोपाधिकभावोंको, वे सोपाधिक भाव हैं—निरुपाधि नहीं, ऐसा कहता है। पर्यायभेद पदार्थमें नहीं है ऐसा निश्चयनय नहीं कहता, किन्तु वह कहता है कि पर्यायें नाशवान् हैं—उत्पन्न होकर विलय हो जाती हैं, अतः वे पदार्थकी त्रैकालिकस्वरूप नहीं हैं, तात्कालिकरूप हैं और मेरा विषय त्रैकालिकस्वरूप वर्णन करना है। व्यवहारनयका विषय तात्कालिकस्वरूपका कथन करना है। व्यवहारनय पदार्थको **नग्नरूपमें** नहीं देखता किन्तु उसकी सजावट, जो परके संयोगसे है, उसे भी पदार्थके रूपमें कथन करता है। पर वह पादार्थकी नग्नताको भी जानता है, **दृष्टिमें उसे गौण रखता** है।

निश्चयनय भी सजावटको सजावट जानता है, 'उसे वस्तु स्वरूप है' ऐसा नहीं मानता। वस्तु को नग्नरूपसे ही देखता है। इस प्रकार दोनों नय यथार्थताके प्राप्त करानेमें सहायक होनेसे यथार्थ हैं। तथापि व्यवहारमें सजावटको भी पदार्थके रूपमें मिलाकर कथन करना—निरुपाधि वस्तुको ग्रहण करनेवाले निश्चयकी दृष्टिमें यथार्थ नहीं है। नयोंका स्वरूप ही यह है कि प्रत्येक नय अपने विषयकी मुख्यता रखता है अन्यके विषयको गौणरूपमें स्वीकार करता है। दूसरा नय भी अपने विषयको मुख्य करता है, अन्यको गौणरूपमें स्वीकार करता है। इस **प्रकार दोनों वस्तुके स्वरूपके सापेक्ष संस्पर्शी** हैं।

(५९.) **प्रश्न**—ऐसा है तो अध्यात्मग्रन्थोंमें निश्चयको उपादेय और व्यवहारको हेय क्यों कहा है। दोनोंको उपादेय मानना चाहिए क्योंकि दोनों सम्यक् हैं।

समाधान—व्यवहारको हेय इसलिए कहा है जिससे वस्तुकी यथार्थता समझमें आवे। व्यवहारके कथनमें जो मिलावट है, और कथनमें जो मुख्यताको प्राप्त हो गई है, वह वस्तुस्वरूप नहीं है। उसे वस्तुस्वरूपसे भिन्नकर निहंगवस्तुस्वरूप ध्यानमें आ सके। समस्त संसार व्यवहार विमूढ़ हो रहा है अर्थात् व्यवहारके सापेक्ष या सभेदरूपको ही पदार्थका पूरा यथार्थरूप मान बैठा है। पदार्थके परमार्थरूपको जाननेकी चेष्टा ही श्रेयस्कर है। व्यवहारमें ही अटक जाना श्रेयस्कर नहीं है।

उदाहरणके तौरपर ऐसा समझें। ज्ञानचन्द नामका एक व्यक्ति है। वह श्वेतवस्त्र पहिनता है, लाल पगड़ी लगाता है। व्यवहारीजन उसको उसके उस रूपसहित एकाकारके रूपमें उसे ज्ञानचंद व्यवहार करते हैं। यदि ज्ञानचन्दके उस रूपको परमार्थसे ज्ञानचन्द समझ लिया जाय, और उस पोशाकसे भिन्न ज्ञानचन्दका परमार्थ बोध न हो, तो ज्ञानचन्दको भिन्न पोशाकोंमें नहीं पहिचाना जा सकता। इसलिए ज्ञानीपुरुष पोशाकसे भिन्न जब ज्ञानचन्दको पहिचान लेता है, तब परमार्थसे ज्ञानचन्दको पहिचानता है। तब पोशाकोंका परिवर्तन उसे धोखामें नहीं डालता। इसी प्रकार जीवके यथार्थ स्वाश्रित नग्नस्वरूपको निश्चयनयसे पहिचाननेका प्रयत्न कर लेनेपर उसके कल्याणका मार्ग खुलता है। इससे निश्चयनय कल्याणकारी है।

कर्मोपाधिजन्य एकेन्द्रियादि नर-नारकादिरूप जीव हैं. यह व्यवहारसे है, परमार्थसे नहीं।[1] यदि इसे सर्वथा परमार्थ मान लें तो संसारीदशा त्याज्य न होनेसे मोक्षकी चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। जीवको वर्तमान संसारी अवस्थासे ऊपर उठाना है, अतः उसके वर्तमान पर्यायगत रूपको, ये तेरा निरुपाधि स्वरूप नहीं है—उपाधिनिमित्तजन्य है, उपाधि दूर करनेसे ही तेरे शुद्ध दशा प्रकट होगी, ऐसा ज्ञान प्राप्त कराना आवश्यक है। संसारी दशाएँ जीवकी हैं—यह सत्य है—मिथ्या नहीं है, पर यदि उसे पूर्ण सत्य मान लिया जाय तो, उससे उठा कैसे जा सकता है? निश्चयनय परमार्थ जीवकी यथार्थ शुद्धताको प्राप्त करनेका मार्ग देता है अतः उसका ग्रहण मोक्षमार्गमें उपादेय है, और जिस अवस्थाका परित्याग करना है, वह अवस्था हेय है, इस हेतुसे तत्प्रतिपादक नय भी हेय है।

एकेन्द्रियादि नर-नारकादि अवस्थाएँ कर्मसापेक्ष हैं अतः शुद्ध नयकी दृष्टिसे वे सव अवस्थाएँ जीवकी अर्थात् शुद्ध जीवकी अवस्थाएँ नहीं हैं। शुद्ध जीवसे भिन्न हैं। जिसे हम शुद्ध जीव कहते हैं, निश्चय नयकी दृष्टिमें वही 'जीव' है और तद् भिन्न अशुद्ध जीव उसकी दृष्टिमें जीव ही नहीं है। परनिमित्तोपाधि जनित सम्पूर्ण विकार और विकृत अवस्थाएँ, और तदवस्थारूप पदार्थ, उसकी दृष्टिमें पर पदार्थ हैं, किन्तु एकमेव निजस्वरूप, जो पर रूपसे सर्वथा भिन्न है, वही यथार्थ वस्तु है।

एकेन्द्रियादि अवस्थाएँ पौद्गलिक रूप हैं क्योंकि पुद्गल कर्म-प्रकृतिकी रचनाएँ हैं। इसी अभिप्रायको ग्रंथकार नीचे लिखे छन्दमें प्रकट करते हैं—

---

१. समयसार गाथा ५९–६० देखिये।

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ॥३८॥

अन्वयार्थ—**(यदत्र किंचित्)** यहाँ जो कार्य **(येन निर्वर्त्यंते)** जिससे बने हुए होते हैं **(तत् तदेव स्यात्)** वे उससे ही तन्मय स्वरूप होते हैं। **(कथंचन अन्यत् न)** अन्यरूप किसी प्रकार नहीं होते। जैसे **(रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं)** स्वर्णके द्वारा बनायी गयी म्यान **(रुक्मं पश्यंति)** स्वर्ण रूप दिखाई देती है पर **(असिम्)** तलवार **(कथंचन अपि)** किसी भी प्रकार स्वर्ण रूप **(न)** नहीं है ॥३८॥

भावार्थ—लोक प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा यह कहा जा रहा है कि लोकमें किसीकी तलवारकी म्यान सोनेकी बनी हो, तो 'उसके पास सोनेकी तलवार है' ऐसा कहा जाता है। पर वस्तुतः तलवार तो लौह निर्मित है, स्वर्ण निर्मित नहीं है। केवल उसको रखनेकी खोल, म्यान, स्वर्णमय है, इस अपेक्षा 'तलवार सोनेकी है' ऐसा मात्र व्यवहार है।

इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जाति नामकर्म अथवा नर-नारकादि गति नामकर्मके उदयके निमित्तसे पौद्गलिक एकेन्द्रिय आदि रूप शरीर, या नरपर्यायाकार या नारकपर्यायाकार शरीरकी रचना होती है। पुद्गल परमाणुओं द्वारा रचित इन शरीरोंकी ही यथार्थमें एकेन्द्रिय या नर या नारक संज्ञा है **तथापि व्यवहारतः इन शरीरोंमें रहनेवाले जीवको भी, यह एकेन्द्रिय जीव है, यह नर है, यह नारक है ऐसा व्यपदेश होता है। निश्चयसे शुद्धात्माके स्वरूपसे भिन्न होनेके कारण जीव समास आदि पौद्गलिक हैं।**

जैसे खोलके स्वर्णसे बनाए जाने पर भी उसमें रहनेवाली तलवार वस्तुतः लोहमय है स्वर्णमय नहीं है, इसी प्रकार उस शरीर रूपी खोलमें रहनेवाला जीव भी पुद्गलमय नहीं है, केवल शरीर पुद्गलमय है। व्यवहारतः उस जीवको, शरीर संयोगके कारण, 'एकेन्द्रिय जीव' ऐसा व्यपदेश करते हैं। ऐसा व्यपदेश करने मात्रसे वह जीव पौद्गलिक नहीं होगा किन्तु यह तो वर्णादि रागादि रहित—ज्ञायक स्वरूप-चिदानन्दकी मूर्तिरूप चैतन्य धातुमय पदार्थ है, ऐसा जानना चाहिए। इसी बातको निम्न पद्यमें प्रकट करते हैं—

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नान्यो
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

अन्वयार्थ—**(इदं वर्णादिसामग्र्यं)** यह जो वर्णादि रूप या एकेन्द्रियादि जीवसमासादि रूप सामग्री है वह **(हि)** निश्चयसे **(एकस्य पुद्गलस्य निर्माणं)** केवल पुद्गल द्रव्यका कार्य है **(इति)** यह **(विदन्तु)** समझो। **(ततः इदं पुद्गल एव अस्तु)** इसीलिए वह पुद्गल ही है **(नान्यः)** अन्य नहीं है। **(यतः)** क्योंकि **(आत्मा ततः अन्यः)** आत्मा उस पुद्गलके कार्योंसे व स्वरूपसे भिन्न **(विज्ञानघनः)** ज्ञानघन स्वरूप है ॥३९॥

भावार्थ—संसारी अवस्थामें जीव और पुद्गलका संयोग पाया जाता है। इस सम्बन्धके कारण सामान्यजन दोनोंकी यथार्थ भिन्नताका बोध नहीं कर पाते हैं। लक्षणभेद तथा उपादान कारणके भेदसे आचार्य दोनों द्रव्योंमें उनके कार्योंका पृथक्-पृथक् निर्देश करके उनकी भिन्नता सूचित करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि—रूपरस गन्धस्पर्शादि पुद्गलके लक्षण हैं अतः शरीर निश्चित पुद्गलमय है—यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार जीवस्थान-गुणस्थान-मार्गणास्थान ये सम्पूर्ण **स्थान** भी **कर्मोदय निमित्तसे पुद्गलद्रव्याश्रित** बनते हैं या **कर्मके** क्षयोपशम आदि **निमित्तसे बनते हैं। निरुपाधि जीवद्रव्य इन सबसे रहित है।** यह ठीक है कि जीव इन शरीरादि-के आश्रित देखा जाता है पर ऐसा देखना दृष्टिका भ्रम है। लक्षणभेदसे पहिचान कीजिए तो ज्ञानघन आत्मा इन सबसे भिन्न दृष्टिपथमें आयगा। शरीरस्थ होकर भी शरीरसे भिन्न दिखाई देगा। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

अन्वयार्थ—(**घृतकुम्भः इति अभिधानेऽपि**) 'यह घीका घड़ा है' ऐसा कथन करनेपर भी (**कुम्भः घृतमयः न चेत्**) यदि घड़ा घी निर्मित नहीं बनता तो (**वर्णादिमत् जीवः**) जीव वर्णादिमान् है (**इति जल्पनेऽपि**) ऐसा कथन करने मात्रसे (**जीवः न तन्मयः**) जीव वर्णादिसे तन्मय नहीं होगा ॥४०॥

भावार्थ—लोकमें घृतके रखनेके कारण मिट्टीके घड़ेको भी "घीका घड़ा है" ऐसा उसमें व्यवहार करते हैं, पर यह आपेक्षिक कथन है—परमार्थ ऐसा नहीं है। परमार्थसे वह मिट्टीका ही घड़ा है। इसी प्रकार शरीरस्थ होनेसे जीव काला-गोरा या एकेन्द्रिय नर-नारक कहा जाता है, पर द्रव्यभेदसे देखो तो जीव तो इस पुद्गल प्रकृति से भिन्न—चैतन्यस्वरूप है, वह वर्णादिमय नहीं हो जाता।

किन्तु जीवका स्वरूप तो—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्[1]।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

अन्वयार्थ—(**जीवः**) जीव (**अनाद्यनन्तं**) अनादि अनन्त (**अचलं**) अपने स्वरूपमें स्थिर (**अबाधितम्**) निर्बाधरूपसे (**स्वसंवेद्यम्**) स्वयं संवेदन ज्ञानसे जाननेयोग्य (**स्वयं चैतन्यम्**) स्वयं ही चेतनास्वरूप (**उच्चैश्चकचकायते**) अत्यन्त प्रकाशमान है ॥४१॥

भावार्थ—वर्णादि मोहादिभाव ये **जो जड़रूप हैं**, पौद्गलिक हैं, जीवके लक्षणसे सर्वथा भेद रखते हैं, उनसे सर्वथा भिन्न स्वरूपवाला यह जीव प्रत्येक ज्ञानीको अनुभवमें आ सकता

---

१. स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्। ऐसा भी पाठ है।

है। वह इस प्रकार कि मेरा आत्मा सदासे चैतन्यरूप है, अनन्तकालतक चैतन्यस्वरूप ही रहेगा। अपने स्वरूपके स्थिर रखनेमें उसे कोई बाधा नहीं दे सकता। वह स्वयं भी कभी स्वरूपको त्यागकर अन्यरूप नहीं बनता। वह स्वसंवेदनज्ञानमें बड़े उन्नत रूपमें स्वयं जगमगा रहा है। फिर उसे कौन न देखेगा ?

अमूर्तत्व जीवका लक्षण नहीं है—

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधाऽस्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(यतः) क्योंकि (**अजीवः अपि द्वेधा अस्ति**) अजीवतत्त्व भी दो प्रकारका है (**वर्णाद्यैः सहितः**) पहिला रूप रसादिसहित मूर्त्तीक पुद्‌गलद्रव्य (**तथा विरहितः**) और वर्णादिरहित अमूर्त्तीक जैसे धर्म-अधर्म-आकाशादि द्रव्य। (**ततः अमूर्त्तत्वम् उपास्य**) इसलिए अमूर्तपना जीवका लक्षण है, ऐसा मानकर (**जगत्**) लोक (**जीवस्य तत्त्वम्**), जीवका यथार्थ स्वरूप (**न पश्यति**) नहीं जानता। (**विवेचकैः**) विवेकी ज्ञानी पुरुषोंको (**इत्यालोच्य**) इस प्रकार विचार करके (**न अव्यापी वा न अतिव्यापी**) अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोषोंसे रहित (**व्यक्तम्**) अत्यन्त स्पष्टरूपसे (**व्यञ्जितजीवतत्त्वम्**) जिसने जीवतत्त्वको प्रकट दिखाया है, ऐसा (**अचलम् चैतन्यम् समुचितम्**) कभी नाश न होनेवाला चैतन्य ही जीवका समुचित निर्दोष लक्षण है, सो (**आलम्ब्य-ताम्**) ही अनुभवमें ग्रहण करने योग्य है ॥४२॥

भावार्थ—विवेकी पुरुषोंको आत्मानुभव प्राप्त करनेके लिए आत्माके अनाद्यनन्त **असाधारण गुण चैतन्यका** अवलम्बन करना ही उचित है। उसीके आधारपर **आत्माका स्वसंवेदन होता** है। ज्ञानभाव आत्मामें सदासे है और सभी अवस्थाओंमें रहता है। ऐसी कोई अवस्था नहीं, जब आत्मा चैतन्यभावसे रहित हो। अर्थात ऐसा कोई आत्मद्रव्य नहीं है जिसमें चैतन्य भाव न हो। यदि ऐसा होता तो वह लक्षण 'अव्याप्ति दोष' से दूषित लक्षण होता।

जिस वस्तुका लक्षण उस वस्तुकी सर्व अवस्थाओंमें न पाया जाय, अथवा तज्जातीय समस्त पदार्थोंमें न पाया जाय, तो वह वस्तुका सही लक्षण नहीं है। उसमें **अव्याप्ति नामका** दोष कहा जाता है। चैतन्यगुण सम्पूर्ण जीवोंमें, उसकी सब अवस्थाओंमें, सदासे है, सदा रहेगा अतः वही उसका निर्दोष लक्षण है।

जीव अमूर्त्तीक है, यह सही बात है। उसमें वर्णादि भाव नहीं है, तथापि वह सिर्फ जीवका ही लक्षण नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि अजीव तत्त्वोंमें धर्म-अधर्म, आकाश, काल ये चारों भी अमूर्त्तीक हैं। जो लक्षण वस्तुमें मिलता भी हो, पर भिन्न जातीय वस्तुओंमें भी वह लक्षण मिलता हो, तो वह "अतिव्याप्ति दोष" युक्त लक्षण है; क्योंकि ऐसे लक्षणसे वस्तु इतर वस्तुओं से भिन्न नहीं पहिचानी जा सकती।

उदाहरणके लिए ऐसा समझिए—

यदि कोई प्रश्न करे कि मनुष्यकी पहिचान किन चिन्हों (लक्षणों) से की जाय और यदि दूसरा उत्तर दे कि जिसके हाथ-पैर-कान-नाक-आँखें हों वह मनुष्य है। सो यद्यपि मनुष्यमें ये सब चीजें पाई जाती हैं, पर मनुष्यके सिवाय बन्दर आदि पशुओं में भी ये सब चिन्ह पाये जाते हैं। तब मनुष्यकी पहिचान इन चिन्होंसे नहीं हो सकती। ऐसे लक्षण ही **अतिव्याप्ति** दोष युक्त हैं। इसी प्रकार यद्यपि **अमूर्त्तपना** जीवमें भी पाया जाता है, पर अन्य अजीव द्रव्य धर्माकाशादिमें उस लक्षणकी **अतिव्याप्ति** है, अतः अमूर्त्तपने से जीवका सच्चा सम्पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता।

मनुष्यकी क्या पहिचान है ? इस प्रश्नका उत्तर यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार देवे कि जिसके मूँछें हों वह मनुष्य है तो यह भी मनुष्यका निर्दोष लक्षण (पहिचान) नहीं है, क्योंकि बालकमें, नारीमें और अनेक मुकने मनुष्योंमें मूँछें नहीं होतीं, पर वे मनुष्य जातिके प्राणो तो हैं। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोषकर सहित है। सही निर्दोष लक्षण नहीं है। इसी प्रकार वर्णादिमें आदि पदसे रागादि भी ग्रहण किया है। सो रागादि भी जीवका सही लक्षण नहीं है, क्योंकि रागादि जीवकी सब अवस्थाओंमें सदा नहीं पाया जाता। लक्षण तो सदा पाया जाना चाहिए। रागादि, क्रोधादि भावको जीवकी पहिचानमें लक्षण मानकर उपयोग किया जाय तो जब जीव रागादि न करता हो क्रोधादि न करता हो तो उस अवस्थामें वह जीव न रहेगा ऐसी दोषापत्ति होगी।

अथवा वीतरागी साधुजन, या तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान्, या सिद्धपरमात्मा प्रकट अप्रकट रागादि रहित होनेसे जीवकी श्रेणीमें न आवेंगे, क्योंकि आप रागादि ही जीवका लक्षण मानते हैं तब यह लक्षण **अव्याप्ति दोष** संयुक्त लक्षण होगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि—

वर्णादि-रागादिपना तथा अमूर्त्तपना दोनों जीवके लक्षण नहीं हैं, उनमें **अव्याप्ति अतिव्याप्ति** दोष प्राप्त है। चूँकि अजीव पदार्थ जो जीवसे भिन्न लक्षणवाला है उसमें स्वयं दो भेद हैं—एक तो पुद्गल द्रव्य जो वर्णादि रूप है अतः मूर्त्तीक है, और दूसरे धर्माधर्माकाश काल द्रव्य जो वर्णादि रहित अमूर्त्त द्रव्य हैं। सिद्ध है कि जीवका अमूर्त्तत्व लक्षण माननेपर अजीवमें उस लक्षणकी प्राप्ति होनेसे वह दोषास्पद लक्षण है।

एक**मात्र चैतन्य लक्षण हो** ऐसा है जिसका परित्याग किसी भी अवस्थामें किसी भी जीवको नहीं होता। **अतः वही एक यथार्थ लक्षण आत्मा का है। वह असाधारण चैतन्य भाव ही निज-स्वरूप** है, उसीका आलम्बन करना चाहिए।

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानीजनः) ज्ञानी पुरुष **(जीवात् लक्षणतो विभिन्नम् स्वयं उल्लसन्तम्)** जीवके लक्षणसे भिन्न अपने अचेतन लक्षणसे प्रकाशमान **(अजीवं अनुभवति)** अजीवको पररूपसे अनु-

भवता है परन्तु (**अज्ञानिनः**) अज्ञानी जनोंका (**निरवधिप्रविजृम्भितः**) अनादिकालसे विस्तारको प्राप्त (**अयं मोहः**) यह अज्ञान (**कथं नानटीति**) कैसे बार-बार नाच रहा है यह (**बत**) आश्चर्य है ॥४३॥

भावार्थ—चैतन्य लक्षण वाले जीवसे चैतन्य रहित अजीव भिन्न है। यह भेद, लक्षण-भेदसे बहुत स्पष्ट हो रहा है। ज्ञानी पुरुषोंको दोनों द्रव्योंका पृथक्त्व प्रतीयमान होता है। तथापि अनादि कालसे परके संयोगमें उसके साथ एकत्वको माननेवाले अज्ञानी पुरुषोंको उनका वह मोह कैसे-कैसे नाच करा रहा है, यह आश्चर्यकी बात है।

जैसे नशा करनेवाला कोई व्यक्ति नशेके झोंकेमें मिट्टी और गुड़के भेदको न जानकर दोनों-को एक मानकर, समान रीतिसे कभी गुड़ और कभी मिट्टीके ढेलेको खा लेता है। उसे दोनोंमें स्पष्ट स्वाद भेदके होते हुए भी, अपने नशेके कारण दोनोंमें कोई अन्तर प्रतीयमान नहीं होता। इसी प्रकार अज्ञानी प्राणीको, मोह, कर्मके उदयमें जीव और अजीवका स्पष्ट भी लक्षणभेद प्रतीय-मान नहीं होता। वह दोनोंमें एकत्व बुद्धि करके जीवको अजीवरूप और अजीवको जीवरूप, अथवा दोनोंको जीवरूप या दोनोंको अजीवरूप मानकर विविध क्रियाएँ करता हुआ दिखाई दे रहा है। ज्ञानीजन उसकी इन विविध चेष्टाओंको देखकर मोहकी महिमा पर अथवा जीवकी इस भूल पर आश्चर्य करते हैं, दुख करते हैं, दया करते हैं। ज्ञानीके विचार—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्त्तिरयं च जीवः ॥४४॥

अन्वयार्थ—ज्ञानी पुरुष तो ऐसा विचार करते हैं कि (**अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाटये**) इस अनादि कालसे चले आए हुए अविवेक पूर्ण महान् नृत्यमें (**वर्णादिमान् पुद्गल एव नटति**) वर्णादि लक्षण वाला पुद्गल द्रव्य ही नृत्य करता है (**न अन्यः**) उससे भिन्न लक्षण वाला जीव नृत्य नहीं करता है। क्योंकि (**अयं जीवः**) यह जीव तो (**रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-चैतन्यधातुमयमूर्तिः**) रागादि तथा वर्णादि जो पुद्गल निमित्तजन्य या पुद्गलमय विकार हैं, उससे विरुद्ध जो चैतन्य धातु, उससे बना हुआ है ॥४४॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषको भेद विज्ञानकी पैनी दृष्टि प्राप्त है। वह अनादि कालसे जीवके साथ संयोग रूपसे कर्म और नोकर्मरूपमें चले आए पुद्गल द्रव्यको, अपने स्वरूपसे भिन्न रूपमें देखता है। वह विचार करता है कि चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करने पर भी, उन सबमें पुद्गल द्रव्यकी ही विचित्र स्थितियाँ देखनेमें आई हैं। नाना योनियोंमें देहके साथ परिभ्रमण होने पर भी इस चैतन्य धातुके बने हुए जीवके लक्षणमें—स्वरूपमें कोई अन्तर कभी नहीं हुआ। यह तो अपने स्वरूपको न जाननेके कारण ही पुद्गलके साथ भटकता रहा है। यदि यह अपने निज अखण्ड चैतन्य स्वरूपका एक बार भी अनुभव कर लेता तो पुद्गलके साथ इतना परिभ्रमणका कष्ट न उठाता। पर अविवेकसे उसके साथ भ्रमता रहा। तथापि यह सारा खेल पुद्गलका है। मेरी आत्मा तो सदासे चैतन्यमूर्ति ही है।

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुट–विघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृ द्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा**) ज्ञानरूपी करोंतके बार-बार चलानेकी कुशलताके द्वारा (**यावत्**) जबतक (**जीवाजीवौ**) जीव और अजीव (**स्फुटविघटनं**) स्पष्टरूपसे भिन्न-भिन्न (**नैव प्रयातः**) नहीं हो जाते कि (**तावत्**) तबतक शीघ्र ही (**प्रसभविकसत्**) निजबलसे अत्यंत विकासको प्राप्त हुई (**व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या**) प्रकट अपनी मात्र चैतन्यशक्तिके द्वारा (**विश्वं व्याप्य**) सारे विश्वको व्याप्तकर अर्थात् जानकर यह (**ज्ञातृद्रव्यम्**) ज्ञानीपुरुष (**स्वयम्**) अपने आप (**अतिरसात्**) निजरससे भरा हुआ (**उच्चैः चकाशे**) उन्नतरूपमें प्रकाशमान प्रकट हो जाता है ॥४५॥

भावार्थ—संयोगी पदार्थ किसी तीसरे भेदक पदार्थके निमित्तको पाकर जुदे-जुदे हो जाते हैं। जैसे दो पत्थर जुड़े हों तो उनकी सन्धिके स्थानपर छैनी मारनेसे दोनोंका संयोग जुदा हो जाता है और वे पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। कर्म नोकर्म तथा भावकर्मके साथ जीवका अनादिसे ऐसा संयोग है कि वे अभीतक 'पृथक्-पृथक् हैं' ऐसा जीवकी दृष्टिमें ही नहीं आया। वह उनमें एकत्वका ही बोध करता आ रहा है।

उन्हें पृथक्-पृथक् करनेकी कला तो तब प्रकट होगी जब सर्वप्रथम उनको पृथक्-पृथक् है, ऐसा जान लिया जाय। आगमके अभ्यासकी यदि सुलभता या सुयोग हो, तो उसके आधार-पर लक्षण भेदसे दोनोंको पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है। आगमकी प्रामाणिकतापर अटल श्रद्धा हो, तो जीव और अजीवकी पृथक्-पृथक् ही सत्ता है, इसपर विश्वास आ सकता है। दोनोंके स्वरूप भेदकी श्रद्धा होनेपर 'मेरा ज्ञायकस्वभाव उपादेय है' ऐसा भान होनेपर, उस ओर रुचि उत्पन्न हो सकती है। इसी रुचिको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रकारकी श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ जीव ही अपने उपादेय निजतत्त्वको तथा संयोगी दशामें प्राप्त अन्य द्रव्यको भिन्न-भिन्न कर सकता है, यही कृति वस्तुतः चारित्र है। परके निमित्तसे प्राप्त दुखोंकी परम्पराका यहाँ अन्त हो जाता है यही संसारका अन्त है या मुक्तिकी प्राप्ति है।

जब यह जीव अपने भेद विज्ञान की करौंत चलाता है तो लक्षण भेदका ज्ञान होनेसे, संयुक्त दशामें भी जीव और अजीव पृथक्-पृथक् ज्ञात हो जाते हैं[1]। जैसे ही वे पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा ज्ञात

---

१. यहाँ 'अजीव' शब्द द्वारा 'शुद्ध चैतन्य' से भिन्न समस्त रागादि विकारी भावों को भी, जीवसे भिन्न होनेके कारण, अजीव कहा है। पिछले कलशमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख कर चुके हैं। समय सार गाथा ४४ में, तथा ५० से ५५ तक में भी, स्पष्ट रूपसे रागादि भावोंको जीवसे भिन्न माना है। इसी अपेक्षा इन्हें संयोगज या संयुक्त भाव कहा है। यद्यपि वे जीवमें होते हैं पर अशुद्ध जीवमें ही होते हैं। सत्ता भेद न होते हुए भी उनमें स्वरूप भेद है।

होता है, वैसे ही अपने चैतन्य रससे पूर्ण तथा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञायक आत्मा तत्काल चमकने लगता है, अर्थात् दृष्टिमें प्रकट हो जाता है।

अग्नि संयोगसे जैसे खानिसे निकला अशुद्ध स्वर्ण किट्टिमाको छोड़कर अपने चमचमाते उज्ज्वल स्वरूपसे स्वमेव प्रकाशमान हो जाता है इसी प्रकार भेद विज्ञानके कारण परद्रव्यकी हेयता भासित हो जानेपर, निज उपादेय तत्त्व स्वयं दृष्टिगोचर हो जाता है।

'जब तक जीव और अजीव जुदे नहीं हो जाते, तबतक आत्मा प्रकाशमें आ जाता है' यह वाक्य बोलने की पद्धति है। ऐसा नहीं है कि उनके भिन्न-भिन्न होनेके पहिले आत्मा प्रकट प्रकाशमान हो जाती है, किन्तु उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि **जैसे ही भेद विज्ञानके सतत अभ्याससे जीव और अजीव, नो कर्म, द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पृथक्ता दृष्टिमें आती है वैसे ही तत्काल आत्म द्रव्य अपने स्वभावसे बहुत स्पष्ट झलकमें आ जाता है। तथा इसी भेद विज्ञानके सतत अभ्याससे जीव अपनेसे द्रव्य-कर्म-भावकर्मको भिन्न कर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनता है।**

□ कर्त्ता-कर्म-अधिकार □

जीव रागादिका कर्त्ता है, और रागादिक उसके कर्म हैं। ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं है। इसका स्पष्टीकरण आचार्य करते हैं—

> एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
> इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
> ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं-
> साक्षात् कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्॥४६॥

अन्वयार्थ—(**अहं चित् एकः कर्त्ता**) चैतन्यस्वरूप मैं कर्त्ता हूँ और (**अमी कोपादयः मे कर्म**) ये क्रोधादि मेरे कर्म हैं (**इति अज्ञानाम्**) इस प्रकार कथन करने या समझनेवाले अज्ञानी प्राणियोंकी (**कर्तृ-कर्म-प्रवृत्तिम्**) परके कर्त्ताकर्मकी प्रवृत्तिको, जो भ्रान्तिवश अनादिसे है (**अभितः शमयत्**) सर्वप्रकारसे शमन करके अर्थात् दूर करके (**ज्ञानज्योतिः**) भेदविज्ञानकी प्रकाशमान ज्योति जो कि (**निरुपधि**) उपाधिसे रहित है (**पृथक्द्रव्यनिर्भासि**) सभी द्रव्योंके स्वरूपका पृथक्-पृथक् ज्ञान करानेवाली है (**परमोदात्तं**) सर्वोत्कृष्ट तथा (**अत्यन्तधीरं**) सर्वथा अचल तथा (**विश्वं**) सम्पूर्ण विश्वको (**साक्षात् कुर्वन्**) प्रत्यक्षीभूत करती हुई (**स्फुरति**) प्रकाशमान होती है॥४६॥

भावार्थ—जीव अनादिकालीन अपनी भूलके कारण, संयोगदशाको प्राप्त कर्म नोकर्म और भाव कर्मका, तथा अपने पंचेन्द्रियोंके रागको पुष्ट करनेमें निमित्तभूत अन्यपदार्थोंका, अपनेको कर्त्ता मानकर, उन्हें संग्रह करने तथा उनको अपने अनुकूल परिणमानेका व्यर्थ प्रयास करता आता है। चूँकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है, अतः उस प्रयत्नमें जब सफल नहीं होता तो बेचैन होता है, संक्लेश परिणाम करता है, और स्वयं अपनी इसी भूलके कारण दुखी होता है।

ज्ञानीजनोंको इस कर्तृ-कर्मकी भूलको सब प्रकारसे प्रशान्त करती हुई ज्ञानज्योति, जो कि परम उदात्त है, अत्यन्तधीर है, कर्मोपाधिरहित है, सम्पूर्णद्रव्योंको उनके समस्त गुणपर्यायों सहित जुदा-जुदा जाननेमें समर्थ है और सम्पूर्ण जगत्को प्रत्यक्ष करनेवाली है, वह प्रकट होती है।

इस प्रकारकी ज्ञानज्योति तब प्रकट होती है जब जीव परके कर्तृत्वकी भूल दूर करता है। चैतन्य स्वरूप आत्मा जब अपने स्वरूपको भूलकर, कर्मोपाधि निमित्तके अवलंबनसे अपनेको रागादि या क्रोधादि रूप बनाता है, तब परिणति में ज्ञान भावसे भिन्न, और क्रोधादि भावोंसे अभिन्न होता है। क्रोधादि भाव स्वयं अज्ञान भाव हैं—अतः अज्ञानी अपनी विकारी दशामें कर्म, बन्ध करता है।

यद्यपि आत्मा स्वयं चैतन्यमय है, क्रोधादिमय नहीं है, तथापि अज्ञान भावमें आने पर वह अपने स्वरूप ज्ञानसे भ्रष्ट है। वह अपने स्वभावसे भिन्न तथा परोपाधि निमित्त जन्य विकारी

भावोंसे अपनेको अभिन्न मानकर, क्रोधादि तथा रागादि रूप विकारोंको निर्भय होकर अपनाए हुए वर्तन करता है।

जिस समय उसने अपनी ज्ञानपरिणतिरूप सहज वीतरागताको भुलाकर रागादिरूप परिणमन किया तब उसीमें अपनेको सुखी माना। उसकी इस मान्यताके कारण ही वह रागादिका कर्ता अज्ञान दशामें हुआ है। यदि दोनोंका, अर्थात् अपने स्वभाव और विभावका अन्तर समझ लेवे और स्वभावानुरूप अपना वर्तन करे, तो वह अज्ञानकी भूमिकासे उठकर ज्ञानी बनता है।

गुणस्थान-क्रमसे जैसे-जैसे रागादि भावोंका अभाव होता जाता है, वैसे-वैसे ही ज्ञानी बनता जाता है। जब रागादि भाव सर्वथा छूट जाता है तब 'पूर्ण-ज्ञानी' बनता है। उस ज्ञान ज्योतिमें वह सामर्थ्य प्रकट हो जाती है कि वह सम्पूर्ण विश्वको तथा तद्गत सम्पूर्ण द्रव्योंको, उन द्रव्योंके अनन्तानन्त गुणोंको, तथा उनकी भूत भविष्यत् और वर्तमानकी त्रिकाल गोचर समस्त पर्यायोंको, एक साथ स्पष्ट पृथक्-पृथक् जान सके। भेदविज्ञानकी ऐसी सामर्थ्य है।

(६०) **प्रश्न**—आगम ज्ञानके आधारपर सभी विद्वज्जन जो आगमके अभ्यासी हैं, जानते हैं कि क्रोधादि तथा रागादि भाव भिन्न हैं और चैतन्यभाव मेरा निजस्वरूप है। तो क्या इस आगम ज्ञानसे कर्म बन्ध रुकता है? आगममें तो ज्ञान मात्रसे मुक्ति नहीं मानी किन्तु इसके बाद चारित्र की भी एकता हो तो उसे मुक्तिका मार्ग माना है। पर यहाँ आचार्य ज्ञान मात्रसे मुक्तिकी बात कैसे लिखते हैं?

समाधान—ऐसा नहीं है। **जिन्हें आगम ज्ञान है वे ज्ञानी नहीं हैं, वे मात्र आगमके ज्ञानी** हैं। उन्हें ऐसा मालूम है कि आगममें अमुक-अमुक आचार्योंने क्या-क्या लिखा है। वे आचार्योंके मन्तव्यके ज्ञानी हैं। स्वयंके मंतव्यको ज्ञानरूप नहीं बना सके। अतः जबतक वे रागादि भावसे भिन्न हो, अपनेको ज्ञानमय नहीं बना सकें, तब तक वे **रागी हैं, ज्ञानी नहीं हैं**। जो ज्ञान रागादि आश्रव भावोंमें प्रवृत्त है, वह ज्ञान नहीं है, अज्ञान ही है। तथा जो ज्ञान रागादि भावोंसे निवृत्त है वही यथार्थमें ज्ञान है। इस कथनसे ज्ञानके साथ चारित्र अविनाभाव रूपसे आता ही है।

जैसे किसी करोड़पति की दुकानका मुनीम स्वयं लाखों रुपयोंकी आमदनी करता है—उठाता रखता है। 'मेरी दुकान है' ऐसा कहता है। 'मुझे लाखोंकी आय है' ऐसा कहता है। टोटा होनेपर दुःख भी प्रकट करता है, तथापि वह उस द्रव्यके प्रति निजके स्वामित्वके अभावको खूब जानता है, अतः तत् तत् विषयमें भेद विज्ञानी होनेसे तत् तत् विषयमें सुखी-दुखी नहीं होता। 'मैं सुखी-दुखी हूं' ऐसा व्यवहार मात्र करता है, परमार्थमें वह सुखी-दुखी नहीं होता।

स्वामी लाभमें रहें ऐसी उसकी इच्छा है, वे हानि न उठावें यह भी वह चाहता है, परन्तु यह केवल इसलिए कि स्वामीके लाभमें उसकी वेतन वृद्धि है, और हानिसे उसकी नौकरी भी छूट सकती है। केवल अपने वेतनके लाभालाभका जो रागादि भाव है—उतने अंशमें वह चिन्तावान् है, सुखी-दुखी है, पर सम्पूर्ण द्रव्यके लाभालाभमें वह स्वामीकी तरह सुखी-दुखी नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वह है जो ज्ञानभावका स्वामी हो तथा ज्ञानभाव रूप आचरण करता हो। रागादि भावका स्वामी होकर आचरण करता हो वह रागी है—अज्ञानी है।

जिस कालमें जो वस्तु जिस पर्याय रूप परिणमन करती है उस कालमें उस पर्यायसे तन्मय

होती है। ऐसा सिद्धान्त है।[1] **इस सिद्धान्तके अनुसार मोह, राग परिणत आगम ज्ञानी भी रागी ही है। अतः अज्ञानी ही है, ज्ञानी नहीं।** तब वह कर्म बंधसे कैसे छूटेगा ?

जो अपने स्वभावमें अपनेको स्थिर रखता है उसे ही निश्चयसे चारित्रवान् कहते हैं। आचार्योने ऐसी ही व्याख्या चारित्रकी की है। व्रत-समिति-गुप्ति आदि बाह्यव्रत उस चारित्रके लिए यदि साधन भूत हैं तो उन्हें व्यवहार चारित्रकी संज्ञा है।[2] वह यथार्थ चारित्र नहीं है। चारित्रका साधन होने से चारित्र संज्ञा व्यवहारमें पाता है। अत: सिद्ध है कि मात्र आगमज्ञानी होनेसे कोई ज्ञानी नहीं होता तथा जो यथार्थ ज्ञानी बन जाता है वह ज्ञानमय होनेसे स्वयं यथार्थ चारित्र रूप परिणत है। अत: ज्ञानीके कर्मबन्ध नहीं होता यह यथार्थ है। यह भावकर्मके कर्तृत्वका निराकरण किया ॥४६॥

ज्ञानी कौन है और ज्ञानकी क्या महिमा है इसे नीचे लिखे कलशमें बहुत स्पष्टतया आचार्य कहते हैं—

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयत् भेदवादान्
इदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृ-कर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्म-बन्धः ॥४७॥

अन्वयार्थ—(परपरिणतिम् उज्झत्) पर द्रव्यके संयोगजन्य विकारी परिणतिको त्यागकर **(भेदवादान् खण्डयत्)** विविध विकल्पोंको दूर कर **(इदम्)** यह **(अखण्डम्)** अभेदरूप **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(उच्चैः उच्चण्डम्)** अत्यन्त प्रकाशमान बेरोकटोक-रूपसे **(उदितम्)** प्रकट हुआ है। ऐसी स्थितिमें **(ननु)** निश्चयसे **(कर्तृकर्मप्रवृत्तेः)** कर्त्ता और कर्मपनेकी प्रवृत्तिके लिए **(कथमवकाशः स्यात्)** कहाँ स्थान है ? तथा **(इह)** इस ज्ञानावस्थामें **(पौद्गलः कर्मबन्धो वा)** पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका बंधन भी **(कथं भवति)** कैसे होता है ? ॥४७॥

भावार्थ—ज्ञान जब इस अवस्थाको प्राप्त होकर जीवमें उदित होता है तब जीव शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, तथा रागादि भावकर्मके साथ अपनी अनादिकालीन मोहजन्य एकत्व परिणतिको छोड़ देता है। इतना ही नहीं—द्रव्यगुण-पर्यायादिरूप भेदविकल्पसे भी रहित हो जाता है तथा अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाशमय अभेद आत्माका बोध करता है। ऐसे स्वात्मानुभव-शील आत्मामें रागादिभाव उदित नहीं होते। फलत: वह रागादि परभावोंका कर्ता नहीं होनेसे कर्तृ-कर्मभावकी जो अनादिकालीन प्रवृत्ति थी, उससे स्वयं रहित हो जाता है।

यदि रागदि करता तो रागादिमय होता और उस कर्म निमित्तजन्य अशुद्धपरिणतिका कर्ता कहा जाता। पर **ज्ञानी तो ज्ञानभावपरिणत** है अत: **ज्ञानभावका ही कर्ता है, रागादि पर-**

---

१. परणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥ —प्रवचनसार, गाथा–८।

२. द्रव्य संग्रह गाथा ४५-४६ देखिये।

भावोंका नहीं। अपने अभेदरूप अखण्ड चैतन्यानंद स्वरूप आत्माका अनुभव करता है'[1]—अतः आत्मद्रव्य गुणभेद, पर्यायभेद, या अन्य सोपाधि जन्य भेदभावोंके विकल्पोंसे रहित, निर्विकल्प रूप है। जिसे **यह अवस्था प्राप्त है उसमें स्वकर्तृत्व ही है परकर्तृत्वका अभाव** है। अतः वह न परका कर्त्ता है न पर उसका कर्म है। न पर उसका कर्ता है, न वह परका कर्म है। वह तो अपने चैतन्य भावका ही कर्ता है और उसीका भोक्ता है। कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रत्येक द्रव्यका अपनी निज परिणतिके साथ ही है। कर्तृत्वकी तरह भोक्तृत्व भी अन्यके साथ नहीं है।

जब आत्मा निजात्माकी मर्यादामें है, परको ग्रहण ही नहीं करता—तब परके साथ सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसी अवस्थामें पुद्गल कर्मका उसे बंधन हो, भला इसका अवसर ही कहाँ प्राप्त है ? अर्थात् वह निर्बन्ध ही है। इस **कलशमें द्रव्यकर्मके कर्तृत्वका खण्डन किया।**

(६१) **प्रश्न**—ज्ञानकी इस अवस्थाको प्राप्त करनेका क्या मार्ग है। सहजमें तो संसारी जीवकी प्रवृत्ति रागादि तथा क्रोधादिकरूप पाई जाती है। उससे वह कैसे दूर हो ? यह संसारावस्था कैसे मिटे ? उपाय बताइए।

समाधान—प्रथम तो तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति आगमसे होती है; क्योंकि आगमके प्रतिपादक आचार्य वीतराग देवकी वाणीका ही अनुसरण करते हैं। अतः जिन वीतराग पुरुषोंने अखण्ड कैवल्य प्राप्त किया है उनकी वाणी से ही यथार्थ तत्त्वका बोध सम्भाव्य है। तत्त्वज्ञानकी यथार्थ ज्ञप्तिके विना सन्मार्ग नहीं मिलता। कल्याणप्रद मार्गको पकड़नेके लिए, **ज्ञानमें निर्मलता अवि-परीतपना अवश्य चाहिए,** उसकी **प्राप्तिका मार्ग आगमाभ्यास है।**

आत्म-कल्याणार्थीको आगमके आलंबनसे यह तत्त्वज्ञान पहिले प्राप्त करना चाहिए कि "आत्मा शरीरसे भिन्न वस्तु है।" शरीर जड़ है, अचेतन है, जब कि आत्मा चैतन्ययुक्त द्रव्य है। आत्मा वर्ण रस गंध स्पर्श शब्द रूप नहीं है, इसीलिए पाँचों इन्द्रियोंके; जिनके विषय उक्त पाँचों हैं अगोचर हैं। पुद्गल-शरीर ही वर्ण-रसादिमान् है। इस शरीरका अन्तमें प्रत्येक प्राणीको नियमसे वियोग होता है। फिर भी आत्मा पुनः जन्मान्तर ग्रहण करती है। अनादिसे ही इस आत्माकी यही स्थिति रही है। नव-नव शरीर धारण करना और छोड़ना यही संसार है। इस जन्म-मृत्युसे आकीर्ण जगत्का छुटकारा ही मोक्ष है। जबतक पंचेन्द्रियोंके विषयों तथा क्रोधादि कषायोंके वशीभूत हो आत्मभिन्न पदार्थोंमें राग-द्वेषकी **प्रवृत्ति है तब तक संसार बढ़ता है—कर्म बंधनमें जीव पड़ता है।** यदि यह अपने ज्ञानानंद स्वरूपकी पहिचान कर ले, और यह विचार करे कि—"मैं एक अखण्ड अनन्त गुणोंका भंडार, जीव द्रव्य हूँ।" मैं रागादि विकार विहीन शुद्ध स्वरूप वाला हूँ। अन्य वस्तुओंसे मेरा कोई नाता नहीं है। मेरी निधि तो मेरे ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं।" ऐसा विचार कर यदि अपनी मर्यादामें ही रहे, उसीमें अपना उपयोग स्थिर करे तो अवश्य ही परके संपर्कसे, जो अनादिसे है, दूर होकर, अपनी दुःखरूप संसारावस्था मिटा कर शाश्वत

---

१. अनुभव दो प्रकार का है। चतुर्थादि गुणस्थानोंमें मोहका अभाव है, अतः रागादि परिणति भी अल्प है। वहाँ जीव-तत्त्व चिंतन के रूप में आत्म-चिंतन या स्वानुभव करता है। जो मुनिजन सप्तमादि गुणस्थानोंमें हैं, वे राग परिणति के अभावमें, प्रत्यक्षतः, वीतराग स्वानुभव करते हैं।

सुखमयी निर्वाणकी भूमिका पर पहुँच जाता है। यही एक मात्र उपाय अपनी दुरवस्था मिटानेका है, अन्य नहीं।

अपनी ज्ञानमय अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए जिस प्रकार अपने स्वरूपका तात्त्विक चिन्तन आवश्यक है, इसी प्रकार अपने भीतर पाए जानेवाले विकारी भावोंको दूर करनेके लिए उनका भी **तात्त्विक चिन्तन आवश्यक** है। उनके सम्बन्धमें भी यह विचार करना चाहिए कि "मेरे भीतर ये रागादि क्रोधादि भाव हैं सो ये मेरे निज स्वभाव नहीं हैं।" ये तो पूर्वकर्मके उदय विपाक जन्य हैं। जो अन्यके निमित्तसे उत्पन्न भाव हैं, वे मेरे स्वाभाविक नहीं, किन्तु अस्वाभाविक भाव हैं। जो अस्वाभाविक हैं वे अस्वास्थ्यकर हैं—बीमारी हैं। इस बीमारीको दूर करना होगा। ये भाव अपवित्र हैं—आत्माको मलिन करते हैं—अस्थायी भाव हैं—क्योंकि बनते मिटते रहते हैं, और दुखकी परम्पराको चलाते हैं। इनसे ही संसार है।[1]

इस प्रकार रागादि परभावोंकी **अवस्था का तत्त्वबोध हो तो उनसे विरक्तता होती है। इनसे विरक्त हुए बिना तथा आत्मस्वभावकी रुचिके बिना आत्मानुभव नहीं होता।** आत्मानुभवके बिना सुखका मार्ग नहीं मिलता। संसारी जीव मिथ्यादृष्टि रहकर मिथ्याज्ञानी और आचार भ्रष्ट हो संसार परिभ्रमण ही करता है। अतः कल्याणार्थीको परसे विरक्तता प्राप्त करना स्वहितके लिए आवश्यक है।

इस प्रकार भावकर्मके तथा द्रव्य कर्मके कर्तापनासे रहित आत्मा ही ज्ञानी वनता है ऐसा अग्रिम कलशमें लिखते हैं—

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

अन्वयार्थ—(**इति-एवं**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**परद्रव्यात् परां निवृत्तिं विरचय्य**) रागादि पर द्रव्यसे अत्यन्त निवृत्तिको प्राप्त हुआ तथा (**विज्ञानघनस्वभावम् स्वम्**) ज्ञानसे घनीभूत अपने निज स्वभावको (**सम्प्रति**) अब (**अभयात्**) निर्भय होकर (**परम् आस्तिघ्नुवानः**) उत्तम रीतिसे स्वीकार करनेवाला तथा (**अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्**) अभी तक अपने अज्ञानके कारण परके अर्थात् कर्म-नोकर्म तथा भावकर्मके साथ जो कर्त्ता-कर्मका भाव था उस (**क्लेशात्**) दुखसे (**स्वयं निवृत्तः**) स्वयं छूटा हुआ (**जगतः साक्षी पुराणः पुमान्**) सर्व विश्वको साक्षात् करनेवाला, जाननेवाला यह पुराण पुरुष अनादि निधन आत्मा (**इतः ज्ञानीभूतः चकास्ति**) अब 'ज्ञानका पुंज है' ऐसा प्रतीयमान होता है ॥४८॥

भावार्थ—भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि ने जब जीवकी पवित्रता, जो अनादि कालसे द्रव्य स्वभावगत है उसे जान लिया, आस्रव भाव जो रागादि तथा क्रोधादि परिणाम, उनकी अपवित्रता अस्थिरता तथा अपने स्वभावसे विपरीतताका बोध कर लिया, तथा तदनन्तर पर स्वरूप रागादि-

---

१. समयसार गाथा ७२-७५ देखिये।

भावों, तथा तन्निमित्तभूत रागादि कर्मों, और तदाश्रयभूत संसारके समस्त साधनोंको, अपनेसे सर्वथा भिन्न कर निज स्वभावमें प्रवेश किया—तब वह उत्कृष्ट वीतराग सम्यग्दृष्टि बना। पूर्वमें वह अपने अज्ञानके कारण विकारी भावोंको करता था उनसे कर्तृ-कर्म सम्बन्ध टूट गया। अब उस महान् दुखसे निवृत्त होकर **जगत्का केवल साक्षी मात्र रह गया, और इस प्रकार अपने स्वरूपमें शोभित होने लगा।** वस्तुतः आत्मा रागद्वेषादि अन्तरङ्ग—विकारोंका तथा शरीराश्रित-गौर-कृष्णादि तथा सुन्दर-असुन्दर रूप शरीरके परिणामोंका कर्त्ता नहीं है **क्योंकि वे परद्रव्याश्रित हैं। निज स्वभावाश्रित नहीं हैं।**

जिसकी **जिसके साथ व्याप्य व्यापकता** होती है उन दोनोंमें **ही कर्तृ-**कर्म **भाव** होता है। **अन्यमें नहीं। रागादिकी उत्पत्ति अज्ञानी जीवके साथ व्याप्यव्यापक भाव** रखती है। **ज्ञानी आत्माके साथ नहीं।** इसी प्रकार काला-गोरापना; सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि, नोकर्म रूप शरीरके साथ व्याप्य-व्यापक भाव रखते हैं; क्योंकि शरीर वर्णादि विकार भावोंसे तन्मय है; आत्मा उनसे सर्वथा पृथक् है। पुद्गल द्रव्य जीवकी निजवस्तु नहीं है, उसके साथ जीवका **केवल ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध मात्र** है। चैतन्य स्वरूप यह **आत्मा जगत्का साक्षी मात्र** है, जानना उसका स्वभाव है, तथा जगत्का स्वभाव, ज्ञानमें ज्ञेयरूप होता है। इसीके अन्तर्गत पुद्गल द्रव्य भी उसका ज्ञेय है। इससे अधिक कोई सम्बन्ध पुद्गलके साथ जीवका नहीं है। इसी बातको निम्न पद्यसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

व्याप्य-व्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्य-व्यापकभावसंभवमृते का कर्तृ-कर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एव लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अन्वयार्थ—**(तदात्मनि एव)** तत् स्वरूप पदार्थोंमें ही **(व्याप्य-व्यापकता भवेत्)** व्याप्य-व्यापक भाव होता है। **(अतदात्मनि अपि नैव)** किन्तु जो अतदात्मक हैं उनमें नहीं होता। जब अतदात्मकमें **(व्याप-व्यापकभावसंभवमृते)** व्याप-व्यापक भावकी सम्भावना ही नहीं है तब **(का कर्तृ-कर्म-स्थितिः)** उनमें कर्ता-कर्म भावकी स्थिति कैसे हो सकती है। **(इति)** ऐसी स्थितिमें **(उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण)** उत्कृष्ट जो विवेक, उसका जो सर्वग्रासी तेज उसके भारसे **(तमः भिन्दन्)** अज्ञानांधकारको भेदता हुआ **(ज्ञानीभूय)** स्वयं अपनेको ज्ञानपुंज बनाकर **(स एव पुमान्)** वही आत्मा **(तदा कर्तृत्वशून्यः)** तब परके कर्तृत्वसे रहित **(लसितः)** स्वयं शोभायमान होता है ॥४९॥

भावार्थ—गुण-गुणीमें—द्रव्य-पर्यायमें—सामान्य-विशेषमें व्याप्य-व्यापकता है। ये तीनों भाव एक सत्तात्मक पदार्थमें ही संभाव्य हैं। भिन्न सत्तात्मकमें ये तीनों भाव नहीं पाए जाते। कोई भी द्रव्य अपनी सम्पूर्ण पर्यायोंमें बराबर रहता है। अतः द्रव्यको 'व्यापक', और उसकी पर्यायोंको 'व्याप्य' कहते हैं। यह 'व्याप्य-व्यापक भाव' एक द्रव्य और उसकी तत्स्वरूप पर्यायोंमें पाया जाता हैं। पर जो भिन्न द्रव्य है उसका उन पर्यायोंमें तत्पना नहीं है—अतत्पना है, अतः उस द्रव्यके साथ उन पर्यायोंका व्याप्य-व्यापकपना नहीं पाया जाता। तब उनमें कर्तृ-कर्मपना भी

कैसे संभावनीय हो सकता है ? कभी नहीं। इस सिद्धान्तके अनुसार जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, उनमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो पाया जा सकता है, परन्तु दो द्रव्योंकी पर्यायोंमें परस्पर कर्तृ-कर्म भाव नहीं पाया जा सकता। कारण यह है कि—प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका उत्पादक है, और यह उत्पत्ति उस द्रव्यसे तन्मय होती है। अतएव अपनी पर्यायोंसे वह तन्मय है, उन पर्यायोंमें वह सदा व्यापक रहता है। पर्यायें बदलती हैं पर द्रव्य उसमें वही रहता है, वह नहीं बदलता, अर्थात् अन्य-अन्यरूपमें जैसे पर्यायें बदल जाती हैं वैसे अन्य-अन्य पर्यायोंमें द्रव्य भी अन्य द्रव्यरूप नहीं हो जाता। अतः उन एक द्रव्यात्मक पर्यायोंके साथ उस द्रव्यका व्याप्य-व्यापकभाव होनेसे कर्तृ-कर्मभाव सुनिश्चित है। इसीलिए ज्ञानी जीव भी अपनी ज्ञानादिपर्यायोंसे तन्मय है, अतः ज्ञानपर्यायोंका ही कर्त्ता है।

यद्यपि रागादि पर्यायोंके साथ भी वह तन्मय दिखाई देता है, तथापि वे पर्यायें कर्मोदय सापेक्ष पर्यायें हैं। उनका बहिर्व्याप्य-व्यापकपना, कर्मोदय जो पुद्गलस्वरूप है, उससे है। अर्थात् जब-जब जहाँ-जहाँ कर्मोदय होगा, तब-तब ही तहाँ-तहाँ ही रागादि विकार होगा। यदि कर्मोदय न होगा तो रागादि आत्मामें न होंगे। अतः सिद्ध हुआ कि रागादिपर्यायें पुद्गलकर्मके उदयके साथ व्याप्यव्यापकभाव रखती हैं। जब आत्मा परके साथ एकत्वपनेकी भूल करता है, तब रागादि होते हैं। अतः यदि उनके साथ व्याप्य-व्यापकभाव या कर्तृ-कर्मभाव है तो अपने स्वरूपको भूले हुए अज्ञानीके साथ है। ज्ञानी आत्माके साथ नहीं। अज्ञानभाव तो आत्माका स्वभाव नहीं, अतः स्वात्मानुभव करनेवाला ज्ञानी, कर्मोदयकी स्थितिमें भी विकार रूप परिणत नहीं होता। ऐसी स्थितिमें वह जब रागादि भावकर्मका कर्त्ता नहीं होता तो द्रव्यकर्मका कर्त्ता कैसे होगा ? **द्रव्यकर्मका कर्त्ता तो अज्ञानी भी नहीं होता।** केवल **'मैं परका कर्ता हूँ'** ऐसी **मिथ्या मान्यताके** कारण वह **अपनेको कर्ता कहता** है यही **उसका अज्ञान** है और इस अज्ञानभावका कर्त्ता अज्ञानी जीव है ॥४९॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृ-कर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावद्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव (**इमां स्वपरपरणतिम्**) इस स्वात्मा और पर-पुद्गलद्रव्यकी परिणति याने पर्याय परिणमनको (**जानन् अपि**) पृथक्-पृथक् रूपसे जानता हुआ भी तथा (**पुद्गलः**) पुद्गलद्रव्य (**अजानन् अपि**) स्व-पर परिणतिको नहीं जानता हुआ भी, दोनों द्रव्य (**अन्तः व्याप्तृ-व्याप्यत्वम्**) परस्परमें अन्तर्व्याप्य-व्यापकभावको (**कलयितुम् असहौ**) स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं (**नित्यम् अत्यन्तभेदात्**) क्योंकि दोनों द्रव्योंमें परस्पर सदा अत्यन्त भेद है। संसारी अज्ञानी प्राणीको (**अज्ञानात्**) इस भेदज्ञानके अभावके कारण (**अनयोः**) इन दोनों द्रव्योंमें (**कर्तृ-कर्मभ्रममतिः**) कर्त्ता-कर्मभावकी भ्रमबुद्धि (**तावत् भाति**) तबतक ही प्रतीत होती है (**यावत्**) जबतक (**विज्ञानार्चिः**) सम्यग्ज्ञानकी ज्योति (**क्रकचवत्**) करौंतकी तरह (**सद्यः**) शीघ्र ही (**अदयं**) दयारहित होकर (**भेदम् उत्पाद्य**) दोनोंको अलग-अलग करके (**न चकास्ति**) प्रकट नहीं होती ॥५०॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य दोनों द्रव्योंमें यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जीव अपनी परिणतिको जानता है, पुद्गलकी परिणतिको जानता है, पुद्लकर्मकी उदयजन्य अवस्थाको जानता है, किन्तु पुद्गलद्रव्य न तो अपनी परिणतिको जानता है, न अपने परिणामके फलको जानता है, और न जीव और उसकी परिणतिको जानता है, क्योंकि वह अचेतन जड़ द्रव्य है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध लक्षण धारण करनेवाले जीव-अजीव दोनों द्रव्योंमें, उनके गुणोंमें तथा दोनोंकी पर्यायोंमें, परस्परमें अत्यन्त भेद है। इसलिए उनमें एक दूसरेकी पर्यायोंसे तादात्म्य सम्वन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

प्रत्येक द्रव्यका अपनी पर्यायोंसे ही तादात्म्य स्थापित है। अन्य द्रव्यकी पर्यायके साथ कदाचित् भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता। तब जीवद्रव्यका पुद्गलकी पर्यायसे तथा पुद्गल द्रव्यका जीवकी पर्यायसे तादात्म्य कैसे हो सकता है? इसके अभावमें अन्तर व्याप्य-व्यापकपना भी दोनों द्रव्योंकी पर्यायोंमें नहीं वन सकता। अन्तर्व्याप्यव्यापकभावके अभावमें कर्त्ता-कर्मपना भी इनमें नहीं है। अंतरंग व्याप्यव्यापकभाव किसी भी द्रव्यका अपनी ही पर्यायोंसे होता है यह वात पहिले भी वता चुके हैं। वहिर्व्याप्य-व्यापक भाव जहाँ पाया जाता है वहाँ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। ऐसा व्यवहार यथार्थ कार्य-कारणभाव का, या कर्ता-कर्मभावका नियामक नहीं होता। इसका विशेष खुलासा इस प्रकार है।

द्रव्य उपादान है, पर्याय उपादेय है। अर्थात् द्रव्य कारण है, पर्याय उसका कार्य है। द्रव्यके परिणमनको ही पर्याय कहते हैं। अतः प्रत्येक द्रव्यका कारणपना अपनी पर्यायके प्रति ही है। अन्य द्रव्यकी पर्यायके प्रति कदाचित् भी कारणपना नहीं हो सकता। पर्याय उपादेय है, इसका अर्थ यह है कि वह प्राप्तव्य है, याने प्राप्त होने योग्य है, प्रकट होने योग्य है। वह पर्याय किसे प्राप्त होगी? इस प्रश्नका समाधान है कि वह जिस द्रव्यका परिणमन है उसे ही प्राप्त होगी, अन्य द्रव्यको नहीं। उस द्रव्यके अंशोंमें (**प्रदेशोंमें**) उस द्रव्यके गुणोंको लेकर ही प्रकट होगी, अन्यके नहीं। इसीसे द्रव्यको उपादान कहते हैं और पर्यायको उपादेय।

यह उपादान-उपादेय भाव ही दोनोंका **तादात्म्य** सम्वन्ध कहलाता है। यद्यपि द्रव्य नित्य और पर्यायें अनित्य हैं, ऐसा नयादेशसे कहा जाता है, तथापि द्रव्यको छोड़कर पर्याय उत्पन्न नहीं होती, और न पर्याय मात्रसे रहित कभी द्रव्य होता है। अतएव अपनी **पर्यायोंके साथ द्रव्यका तादात्म्य** सम्वन्ध कहा जाता है। जिनमें तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसी निज पर्यायोंमें द्रव्य व्यापक है, तथा जिन पर्यायोंमें द्रव्य व्यापक है वे पर्यायें उसके लिए व्याप्य हैं।

जो अनेकत्र विस्तारको प्राप्त हो उसे व्यापक कहते हैं, और जहाँ-जहाँ उसका विस्तार हो वे-वे स्थान व्याप्य कहलाते हैं। द्रव्य अनेक पर्यायोंमें फैलता है अतः द्रव्यको व्यापक, तथा जिनमें वह फैलता है उन पर्यायोंको व्याप्य कहा जाता है। इस रीति पर देखा जाय तो यथार्थ अन्तरङ्ग व्याप्य व्यापकभाव, द्रव्य और उसकी पर्यायोंमें ही पाया पाता है। **इसीको परस्परका तादात्म्य सम्बन्ध कहना चाहिए। इनमें ही कार्य-कारण भाव है।**

व्याप्यव्यापक भावका वहिरंग रूप, परद्रव्यकी पर्यायके साथ माना जाता है। उनमें ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। दोनोंको उदाहरण से विचारिए—(१) घट वनता है। मृत्तिकासे,

अतः इन दोनोंका परस्पर अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव है। (२) वस्त्र बनता है सूतसे, अतः इन दोनोंमें भी अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव है। इनमें उपादान उपादेय भाव भी कहा जा सकता है, तथा कार्य-कारण भाव भी कहा जा सकता है; तादात्म्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव ज्ञानी है, ज्ञानोपयोगी है, चैतन्यकी मूर्ति है, अतः ज्ञानोपयोग उसकी परिणति है, कार्य है। उस परिणतिसे ही उसका तादात्म्य है।

यहाँ जिस प्रकार घड़ा बनानेवालेके साथ घटका व्याप्य व्यापकभाव यथार्थ नहीं है; तथा जैसे वस्त्र बनानेवालेके साथ वस्त्रका यथार्थ व्याप्य व्यापकभाव नहीं है, क्योंकि वे दो भिन्न द्रव्य हैं, घटकार चेतन है; घट अचेतन है। इसी प्रकार वस्त्र बनानेवाला चेतन है, वस्त्र अचेतन है। अतः विभिन्न लक्षण वाले होनेसे उनमें न उपादान-उपादेय भाव है, न तादात्म्य है, न कार्य कारणभाव है, न कर्त्ता-कर्मभाव है। तो भी बिना घटकारके घट नहीं बनता, विना जुलाहेके वस्त्र नहीं बनता, अतः इन दोनोंमें विभिन्नता होनेपर भी **बहिर्व्याप्यव्यापकभाव** है। इसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा जाता है। व्यवहारतः इनमें कार्य-कारण भी कहा जाता है।

इस प्रकार व्यवहार करनेवाला यदि परमार्थको जानता हुआ भी, विवक्षा विशेषसे ऐसा कहता है तो वह व्यवहारनयका ज्ञाता है, उसका प्रयोक्ता है। किन्तु यदि परमार्थको नहीं जानता, व्यवहार कथनको ही परमार्थ जानता है, तो वह भ्रम बुद्धिवाला **मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना चाहिए।**

जीव और पुद्गलकर्मका भी परस्पर अवगाहरूप अनादि सम्बन्ध है। तथापि उनका **संयोग सम्बन्ध** है, **तादात्म्य नहीं** है। उनमें एक दूसरेके निमित्तसे परिणमन भी देखे जाते हैं। उन परिणमनोंमें **निमित्त नैमित्तिक** सम्बन्ध अवश्य है, पर **उपादान-उपादेयभाव, कर्त्ता-कर्मभाव नहीं** है।

इनमें कर्त्ता-कर्मपनेका प्रतिभास यह जीव अपने **अज्ञानभावसे करता** आ रहा है। परन्तु **यह भ्रममात्र है, यथार्थ नहीं** है। यह अज्ञानमूलक भ्रमपूर्ण मति तभी तक रहती है जबतक जीवको स्व-परका विवेक नहीं जागता। विवेकीको वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाता है तब भूल मिट जाती है।

इनमें निमित्त नैमित्तिकभाव कैसे बैठता है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जब जीवके पूर्वोपार्जित कर्मोदयकी स्थितिमें, रागादि विकाररूप परिणमन होता है, तब कर्मोदयको निमित्त कहते हैं, और जीवकी रागादि विकारी परिणतिको नैमित्तिकभाव कहते हैं। इसी प्रकार जब जीवके रागादिभाव होते हैं, तब नवीन कार्माण पुद्गल वर्गणाएँ कर्मरूप बनकर, जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त होती हैं। यहाँ जीवके परिणाम निमित्त हैं, और पुद्गलकी जो कर्मरूप परिणति बनी, **जो पहिले नहीं थी**, वह उसका नैमित्तिकभाव है।

इस प्रकार परस्पर दोनोंमें यह **निमित्त नैमित्तिक** सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। इसीका नाम जीवका संसार है। **इसी सम्बन्धका यदि नाश हो जाय तो उसे ही मोक्ष** कहते हैं। इस सम्बन्धके कारण ही कर्मोदयको जीवमें विकारका कर्त्ता, व्यवहारतः कहा जाता है। यथार्थमें विकार तो जीवमें जीवके कारण उत्पन्न होता है, पर वह बिना कर्मोदयके नहीं होता, अतः उसे निमित्त कहते हैं। इसी प्रकार पुद्गलमें कर्मरूप अवस्थाको जीव उत्पन्न नहीं करता, वह तो

पुद्‌गलका परिणमन पुद्‌गलद्रव्यकी ही योग्यतासे होता है। पर जीवपरिणाम यदि निमित्तभूत न हो तो वह नहीं होता; यही इनका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है। दोनों अपनी-अपनी पर्यायोंके साथ तन्मय होनेसे यथार्थतः कर्ता हैं। द्रव्योंकी वे पर्यायें ही कर्म हैं।

निश्चयनयकी दृष्टि इस यथार्थ तत्त्वको जानती है और ऐसा ही वर्णन करती है। सारांश, जीव ही संसारके दुख उठाता है, तथा वही मोक्षके सुखका अधिकारी वनता है। यदि उक्त कथन निश्चयनयका यथार्थ न होता तो पुद्‌गलको भी संसारका दुख और मुक्तिका सुख लाभ होता। पर ऐसा नहीं है। अतः यह सिद्ध है कि स्वपरिणमनका कर्ता-भोक्ता आत्मा है और इसी प्रकार पुद्‌गल भी अपने ही परिणमनका कर्त्ता-भोक्ता है। अध्यात्म दृष्टिसे कर्तृकर्मभाव, एक द्रव्यमें, एक समयवर्ती माना गया है। कार्य कारण भाव आगममें पूर्वोत्तर समयवर्ती कहा गया है।

'जीवने कर्म किया और **कर्मका फल भोगा**' ऐसा भी शास्त्रोंमें कथन आता है। वह **व्यवहारनयसे** कहा गया है **परमार्थनयसे** नहीं। उन आचार्योंने परमार्थको जानते हुए भी जगह-जगह व्यवहारनयका उपयोग करते हुए निरूपण किया है वह व्यवहारीजनोंको परमार्थ तक पहुँचानेके लिए ही किया है।

यदि पुद्‌गल ही जीवको रागीपर्यायमें परिणत करता है इसे यथार्थ माना जाय, तो पुद्‌गल दो द्रव्योंकी पर्यायोंका कर्त्ता होगा। एक अपनी कर्मपरिणतिका, दूसरे जीवकी रागपरिणतिका। इसी प्रकार यदि जीवने कर्म वनाये ऐसा माना जाय, तो जीव अपने रागभावका तथा पुद्‌गलकी कर्म परिणति का, ऐसे दो द्रव्योंकी पर्यायोंका कर्त्ता हो जायगा। परन्तु ऐसा कथन जिनेन्द्र वचनोंसे विपरीत है। जव **पुद्‌गल स्वयं राग-द्वेष भावमय नहीं होता**, तव वह **उसका कर्त्ता है यह कैसे कहा जा सकता है**। इसी प्रकार यदि जीव, कर्म पुद्‌गलका कर्त्ता माना जाय तो उसे वर्णादिमय पुद्‌गलद्रव्यरूप वन जाना होगा। किन्तु ये दोनों वातें प्रत्यक्षसे ही विरुद्ध हैं। अतएव एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायोंका **यथार्थ कर्त्ता नहीं** है, किन्तु जो द्रव्य जिस पर्यायसे **तन्मय होता है वही उसका कर्त्ता** होता है। अन्य द्रव्य नहीं। अन्य **द्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र** हैं। घटकार घटका निमित्त है, कर्त्ता नहीं, क्योंकि वह स्वयं घटमय नहीं होता। इसी प्रकार जीव कभी पुद्‌गल नहीं होता अतः पुद्‌गलकर्मका कर्त्ता नहीं है, और न पुद्‌गल द्रव्य, जीवकी किसी पर्यायका कर्त्ता है, ऐसा सिद्धान्त निर्णीत होता है ॥५०॥

कर्ताकर्मपनेका नियमन परमार्थतः कैसा है इसे आचार्य कहते हैं—

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा, त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

अन्वयार्थ—(यः परिणमति स कर्त्ता) जो पर्यायसे तन्मय होकर परिणमता है, वही द्रव्य उसका कर्त्ता है। **(यः परिणामः)** और जो परिवर्तन हुआ है, **(तत् तु कर्म भवेत्)** वही उस द्रव्यका अर्थात् कर्त्ताका कर्म है। **(या परिणतिः सा क्रिया)** उसमें जो परिणति हुई है वही क्रिया है। **(त्रयम् अपि)** कर्त्ता कर्म क्रिया ये तीनों भी **(वस्तुतया भिन्नं न)** यथार्थमें जुदी-जुदी नहीं हैं, किन्तु तीनों एक द्रव्यरूप ही हैं ॥५१॥

भावार्थ—निश्चयनयसे अर्थात् परमार्थसे द्रव्य, **उसकी क्रिया**, और क्रियाके आधार पर होनेवाली उस द्रव्यकी पर्याय, तीनों एक सत्तात्मक हैं। वे कथनमें तीन हैं, पर जुदी-जुदी सत्तारूप नहीं हैं। **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'** भगवान् उमास्वामीके इस सूत्रने तीनोंको मिलाकर ही एक 'सत्' कहा है। उन्होंने 'सत्' को ही द्रव्यका लक्षण **'सद् द्रव्यलक्षणं'** सूत्र द्वारा बताया है।

सारांश यह हुआ कि जीव द्रव्य भी परिणमन स्वभावी है, और पुद्गल भी। **जीव रागादि-रूप क्रिया करता है तब स्वयं रागी होता है।** अतः जीवद्रव्य, **उसकी क्रिया तथा रागपरिणति तीनों जीवसे अभिन्न** हैं। यहाँ पूर्वमें जिस काल तक जीवने राग क्रिया नहीं **की थी तब उसका कर्त्ता न था।** जब जीव रागी हुआ तो रागपर्यायिका कर्त्ता हुआ। राग पर्यायिकी उत्पत्ति हुई। जब क्रोध रूप बना, तब रागकी पर्यायिका व्यय हो गया, क्रोधरूप पर्यायकी उत्पत्ति हुई, तथापि जीव दोनों पर्यायोंमें स्थित रहा। इस तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों जीवकी सत्तामें ही रहे, यही एक सत्तात्मकता है। इसी प्रकार पुद्गल भी पूर्वमें जो कर्मरूप नहीं था वह अपनी **अकर्म पर्यायको नष्ट कर, कर्मरूप बना।** तब अकर्म पर्यायिका व्यय, और कर्मपर्यायिका उत्पाद हुआ, किन्तु पुद्गल द्रव्यपना दोनों अवस्थाओंमें स्थित है। इस प्रकार उत्पादादि त्रयात्मक सत्ता पुद्गलमें रही। सभी द्रव्योंके परिणमन इसी एक सुनिश्चित अकाट्य नियम पर होते हैं, इसलिए तीनों ही वस्तुसे भिन्न नहीं होते। परिणमन उनमें प्रति समय होता ही रहता है, वह कभी रुक नहीं सकता। यद्यपि इस परिणमनमें पर द्रव्यकी पर्याय निमित्तभूत होती है, तथापि **वस्तु अपने परिणमन स्वभावके लिए उस निमित्तके लिये रुकेगी नहीं। रुक जाय तो परिणमन वस्तुका स्वभाव न होकर विभाव हो जायगा।**

जो स्वाधीन हो वह स्वभाव कहलाता है, जो परके आधीन हो वह स्वभाव नहीं होता, वह विभाव होता है। सो विभावरूप परिणमन भी भले ही परके निमित्तसे हो परन्तु वस्तुकी परिणमनशीलता रूप स्वभावके अभावमें वह परके रहने पर भी नहीं होता। अतः सिद्ध है कि जीव अपने स्वभाव विभाव परिणमनमें स्वयं सक्षम है, उसमें परका कोई दोष नहीं है ॥५१॥

यह बात इस पद्यसे स्पष्ट ज्ञात होती है—

एकः परिणमति सदा, परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यात् अनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

अन्वयार्थ—(**एकः सदा परिणमति**) द्रव्य अकेला ही निरंतर परिणमन करता है। (**परिणामः सदा एकस्य जायते**) परिणमन भी सदा एकका ही देखा जाता है। (**एकस्य परिणति स्यात्**) परिणति क्रिया एक में ही होती है। अतः सिद्ध है कि (**अनेकम् अपि**) कर्त्ता-कर्म क्रियाएँ अनेक होकर भी (**एकमेव**) एक ही हैं अनेक सत्तात्मक नहीं हैं ॥५२॥

भावार्थ—जैसे मृत्तिका घट बनती है। उसमें घट रूप परिणमनको करनेवाली अकेली मिट्टी ही है, कुंभकार नहीं। घट अवस्था मिट्टीकी हुई है, कुंभकारकी नहीं। घट परिणमनमें परिणति रूप क्रिया मिट्टीमें हुई है, कुंभकारमें नहीं। अतः जैसे यहाँ पर तीनोंका अर्थात् कर्त्ता-कर्म और क्रियाका आधार मिट्टी ही है, उसमें निमित्तभूत कुंभकार आधारभूत नहीं है, इसी प्रकार

जीव ही रागादिरूप परिणमनका कर्ता है पुद्‌गल कर्म नहीं। रागरूप परिणमन जीवमें होता है कर्ममें नहीं, तथा जीवमें ही रागादि क्रियाएँ होती है; कर्ममें नहीं[1]। फलतः जीव ही इन तीनोंकी एकताका आधार है, कर्मादि अन्य द्रव्य नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि न रागादिका कर्ता पुद्‌गल है, और न मोह ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मका कर्त्ता जीव है। प्रत्युत अपनी-अपनी पर्यायोंके कर्ता दोनों द्रव्य अपने परिणमन स्वभावके कारण, स्वयं हैं। उनमें एक द्रव्यकी पर्यायमें दूसरा, अर्थात् जीवकी राग पर्यायमें कर्मोदय, और पुद्‌गलकी कर्मरूप पर्यायमें जीवका राग परिणाम, निमित्त मात्र अवश्य है, पर एक दूसरेके कर्त्ता वे नहीं हैं। कर्त्ता स्वयं अपना-अपना द्रव्य है, क्योंकि पर्याय उसमें ही होती है ॥५२॥

दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं बनाते इसका प्रतिपादन निम्न पद्यसे करते हैं—

नोभौ परिणमतः खलु, परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्नपरिणतिः स्यात् यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चयसे (**नोभौ परिणमतः**) दो द्रव्य मिलाकर एक पर्याय नहीं बनाते (**परिणामः उभयोः न प्रजायेत**) एक परिणमन दो का नहीं होता (**उभयोः**) दो द्रव्योंकी (**परिणतिः**) एक परिणति रूप क्रिया (**न स्यात्**) नहीं होती। (यत्) क्योंकि (**अनेकम्**) अनेक द्रव्य (**सदा अनेकमेव**) अनेक ही रहते हैं ॥५३॥

भावार्थ— ऊपर के कलश में जो कहा गया था वह विधिपरक है। इस कलशमें निषेधरूपसे उसीका समर्थन किया गया है। यहाँ यह कहा जा रहा है कि दो द्रव्योंकी एक पर्याय नहीं होती, अर्थात् दो द्रव्योंकी मिलकर एक पर्याय हो ऐसा नहीं होता। कोई पर्याय दो द्रव्योंके आधार पर नहीं होती, अर्थात् दो द्रव्योंमें रहती हो ऐसा भी नहीं है। इसी प्रकार परिणमन रूप क्रिया भी दो द्रव्योंकी एक ही हो ऐसा भी नहीं है।

(६२) **प्रश्न**—मनुष्य देव आदि पर्यायें, जीव और शरीर दोनोंकी मिश्रित पर्यायें हैं, अतः यह कथन तो विपरीत है, प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि जीव चेतन द्रव्य और शरीर पुद्‌गल जड़ द्रव्य प्रसिद्ध हैं।

समाधान—व्यवहारसे दोनोंको मिलाकर मनुष्य पर्याय या देव पर्याय कहते हैं। पर जब द्रव्य दो हैं तब जीव अपनी मनुष्य पर्यायमें है, और शरीर अपनी मनुष्य पर्यायमें है। इसमें दो द्रव्योंकी अपनी-अपनी दो स्वतन्त्र मनुष्य पर्यायें हैं। "मृत मनुष्य" उसे कहते हैं जब मानव अपनी मनुष्य पर्याय समाप्त कर चुका है और सामने केवल शरीरकी मानवाकृति पड़ी है। जो पड़ी है वह शरीरकी (**पुद्‌गलकी**) मनुष्य पर्याय है—जीवकी मनुष्य पर्याय समाप्त हो गई। अतः सिद्ध है कि **दो द्रव्योंकी संयोगी दो पर्यायोंमें एक मनुष्य पर्यायका मात्र व्यवहार था—यथार्थ में ऐसा नहीं था।**

---

१. पुद्‌गल कर्म में पाई जाने वाली अनुभाग शक्ति भी, राग शक्ति या भाव कर्म है। 'तस्सत्ती भाव-कम्मं 'तु'—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६ देखिये। तथापि यहाँ जीवगत रागके कर्त्ता, कर्म, क्रिया की चर्चा है।

(६३) **प्रश्न**—सेना-वृक्ष-पर्वत-समुद्र-नदी-भवन-उद्यान-आदि समस्त पर्यायें अनेक जीव वा पुद्गल द्रव्योंसे बनी हुई देखी जाती हैं। विना अनेक जीव तथा पुद्गलोंके, उनका उक्त व्यपदेश ही नहीं है, अतः सिद्ध है कि अनेक द्रव्योंमें एक परिणमन होता है।

समाधान—सेना-पर्वत-नदी-समुद्रादि एक पर्याय रूप नहीं हैं, किंतु अनेक द्रव्योंकी **अनेक पर्यायोंके समुदायमें उक्त व्यपदेश व्यवहारी जन करते हैं।** सेना अनेक सैनिकोंकी समुदाय रूप संज्ञा है। यदि प्रत्येक सैनिकको देखा जाय तो उसमें वे सब अनेक सैनिक हैं जो अपनी-अपनी पर्यायमें स्थित हैं। सेना मात्र सामान्य व्यपदेश है।

सामान्य दो प्रकारका होता है—**एक द्रव्यगत सामान्य, दूसरा नानापदार्थगत सामान्य।** जैसे एक व्यक्ति अपनी वाल-युवा-वृद्ध नानापर्यायों में व्याप्त रहा, वह अपनी नानापर्यायगत समानताके कारण ही पहिचाना जाता है। यहाँ पर्यायोंकी विभिन्नता होने पर भी व्यक्तिका उसमें एकत्व है, इसे **एक द्रव्यगत सामान्य कहते हैं। इसे ही ऊर्ध्वता सामान्य भी कहते** हैं।

जहाँ नाना पदार्थोंमें समानता पायी जाती है, जैसे नाना सैनिकोंकी एक समान वेशभूषा, वह **नानापदार्थगत सामान्य हैं।** इसे **तिर्यक् सामान्य** भी कहते हैं। इसमें नाना व्यक्ति अपनी-अपनी पर्याय में स्थित हैं, तथापि वे पर्यायें समान आकार प्रकार या गुणोंको लिए हैं, इससे समानताके अर्थ में **एकता का मात्र व्यवहार** है, **परमार्थसे वे एक नहीं हैं।**

इसलिए सेना, वन, आदि गत सामान्यमें नाना द्रव्योंकी एक पर्याय नहीं है, किन्तु नाना द्रव्योंकी नाना पर्यायों में एकताका व्यवहार ही जनसाधारण करते हैं। व्यक्तिशः वे अनेक ही हैं। इस व्यक्तिपरक दृष्टिमें नाना द्रव्यगत सामान्य अवस्तु ही ठहरता है। ऐसा सामान्य, स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें, वैशेषिक मतमें स्वीकृत है, जैनमतमें उसकी स्वतन्त्र सत्तात्मक स्थिति नहीं है।

समानजातीय नाना पुद्गलोंकी स्कंधात्मक पर्यायमें एक पर्यायपनेका भी व्यवहार शास्त्रोंमें वर्णित है। जीवपुद्गलकी नर-नारकादि पर्यायमें, असमान जातीय दो द्रव्योंकी पर्यायका भी व्यवहार किया जाता है। तथापि समानजातीय हो या असमान जातीय, द्रव्य अनेक हैं अतः पर्याय भी वस्तुतः अनेक हैं।

(६४) **प्रश्न**—दो तथा अनेक द्रव्योंमें एक क्रिया देखी जाती है। जैसे हम हाथ पैर चलाते हैं तव आत्मा शरीर दोनोंकी एक हलन-चलनरूप क्रिया होती है। रेल, मोटर चलती है तो वह क्रिया रेल मोटरमें समुदायात्मक नानापुद्गलों की एक क्रिया होती है।

समाधान—ऐसा नहीं है। जब हाथ पैर चलते हैं तब शरीरकी क्रिया, शरीरमें होती है, और जीवकी क्रिया जीवमें होती है। स्थानान्तर प्राप्ति दोनोंकी हुई अतः दोनोंकी पृथक् क्रिया सिद्ध है। रेलके **सभी डिब्बे अपनी पृथक्-पृथक् समान क्रियाओंमें परिणत हैं। सबकी क्रियाएँ भिन्न-भिन्न** हैं। उस **समय उनमें क्रियाकी समानताके कारण एकताका मात्र व्यवहार** है।

(६५) **प्रश्न**—जब आप ऐसा कहते हैं कि जड़ शरीरकी क्रिया जड़में होती है, वह आत्मा-की क्रिया नहीं है, तो ऐसा माननेसे आप संसारमें पापका प्रचार करते हैं, क्योंकि चोरी-व्यभिचार-आदिक कर्म करनेवाला, सारा काम जड़ शरीरकी क्रियासे ही करता है, यदि वह क्रिया आत्माकी

नहीं है, तब वह न अपराधी है, न पापबन्धका कर्त्ता है। ऐसी मान्यतासे आत्माको नरकादि गतिका बन्ध ही न होगा, तब पापसे वह क्यों भयभीत हो ? फलतः पाप-प्रचारके लिए आपका यह सिद्धान्त ही साधनभूत हो रहा है। अतः इसे छोड़कर, दो द्रव्योंकी भी एक क्रिया होती है ऐसा मानना ही उचित है।

समाधान—यह मानना नितान्त भूलभरा है। आत्मा और जड़शरीरकी भिन्न-भिन्न क्रियाएँ कहना ही सत्य और यथार्थ है[1]। चोरी और व्यभिचार शरीरकी क्रियाके आधारपर अनुमानित होता है कि इसकी आत्मा पापी है। **आत्माकी पापक्रियाकी अनुमापक उसकी बाह्य क्रियाएँ** हैं। बाह्य**क्रियाका ही अर्थ** शारीरिक क्रिया है। चोर या **व्यभिचारी** शरीरकी **प्रायोगिक** क्रियाके पूर्व में ही **चोरी** और **व्यभिचारके परिणाम** करता है, और कर्म**बन्धन उसे अपनी उस विकार** परिणतिके कारण **ही होता** है। **शरीरसे क्रिया तो पश्चात् होती** है। आत्मविकार पूर्व होता है—अतः कर्मबन्धन तो शरीर क्रियाकी अनुत्पत्तिकी दशामें हो गया। यदि कोई चोरी और व्यभिचारका परिणाम करे, पश्चात् विघ्न आ जानेसे चोरी और व्यभिचाररूप शारीरिक क्रिया न कर सके, तो क्या वह कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा। अतः दो **द्रव्योंकी दो क्रियाएँ हैं ऐसा कथन ही पाप-पुण्यकी यथार्थ स्थितिका बोधक है। यदि ऐसा न माना जाय** तो **पापका प्रचार अवश्य होगा**। वह इस प्रकार कि कोई दिनरात व्यभिचार की इच्छा व चोरी-की इच्छा करनेवाला व्यक्ति है, पर वह अनेक दिनोंसे अपनी उक्त इच्छाओंके अनुसार, शरीराधार पर अबतक उक्त दोनों पाप नहीं कर सका, वह अपनेको न चोर समझेगा न व्यभिचारी समझेगा। वह तो अपनेको निरपराधी मानेगा, तथा अबंधक मानेगा। पर यह मान्यता आगम विरुद्ध है।

लोकव्यवहारमें चूँकि सामान्य जन, अन्यके अन्तरंगके वे परिणाम जिन्हें आत्माकी क्रिया या विकारी परिणति कहना चाहिए, नहीं जान पाते, अतः उनको अपने परिणामोंके अज्ञात रहने पर, वह अपनेको निरपराधी कहता है। सामान्य जन उसके परिणामके अज्ञानके कारण उसे निर-पराध मान भी लेते हैं। पर यह मान्यता अज्ञानमूलक है। यदि यह अन्यके ज्ञानमें आ जाय कि यह व्यक्ति ऐसे खोटे भाव रखता है, तथा उक्त पापकार्य करनेकी ताकमें रहता है, तो वे भी उसे पापी मानेंगे ?

अतः सिद्ध है कि प्रत्येक जीव अपने परिणामोंके विकारोंके कारण पापी है। शरीर क्रियाके कारण नहीं। वह तो बादमें होती है, पर पाप तो पहिले ही हो चुका है। अतः यदि दो द्रव्योंका एक परिणमन, एक स्वामित्व, एक क्रिया मानी जायगी तो जब एक द्रव्य मात्रका, अर्थात् मात्र आत्माका विकारी परिणमन होगा, तब वह पापी होकर भी अपनेको पापी न मानेगा, ऐसी अनिष्टापत्ति आयगी।

अतः सिद्ध है कि (१) दो द्रव्योंका मिलकर एक परिणमन नहीं होता। (२) एक परिणमनके स्वामी दो द्रव्य नहीं होते, तथा (३) दो द्रव्योंकी एक क्रिया नहीं होती ॥५३॥

कर्त्ता-कर्मकी अपेक्षा इसीको स्पष्ट करते हैं—

---

१. ईर्या समितिसे चलने वाले साधुके पांवतले आकर कोई जीव मर जाये तो साधुको, शरीर क्रिया मात्रसे, बंध नहीं होता।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो, द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक कार्यके-परिणमनके (**हि**) निश्चयसे (**द्वौ कर्तारौ**) दो कर्त्ता (**न स्तः**) नहीं होते। (**एकस्य च**) तथा एक कर्त्ताके (**द्वे कर्मणी**) दो कर्म (**न**) नहीं होते। (**न च एकस्य द्वे क्रिये**) एक द्रव्यकी दो क्रियायें नहीं होतीं। (**यतः**) क्योंकि (**एकम् अनेकम् न स्यात्**) एक द्रव्य दो या अनेक द्रव्य नहीं होता ॥५४॥

भावार्थ—किसी भी पर्यायका कर्त्ता स्वद्रव्य ही होता है। दो द्रव्य मिलकर एक पर्यायके कर्त्ता नहीं होते। जैसे जीव तथा पुद्गल कर्म दो द्रव्य हैं, वे मिलकर किसी एक पर्यायके कर्त्ता हों ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होता तो जैसे जीवमें रागादि विकार हैं, वैसे पुद्गल कर्ममें भी होते। अतः एक पर्यायका एक ही द्रव्य कर्त्ता है, दो द्रव्य नहीं।

इसीसे यह भी सिद्धान्त स्वतः फलित होता है कि एक कर्ताका प्रति समय एक ही कर्म होगा, वह दो कर्मोंका कर्ता नहीं होगा। क्योंकि कोई द्रव्य, अपनी पर्यायका भी कर्ता हो, और अन्य द्रव्यकी पर्यायका भी कर्ता हो, ऐसे दो पर्यायोंका कर्ता हो, ऐसा भी नहीं है।

एक द्रव्यमें दो क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं, एक ही क्रिया होगी। जो उसकी पर्याय होगी, तत्परिणमन रूप ही उसकी क्रिया होगी। जब अन्य द्रव्यके परिणमनरूप उसे परिणमना नहीं है, तब उस सम्बन्धी क्रिया भी अन्य द्रव्यमें ही होगी, उसमें नहीं।

अतः सिद्ध है कि एक द्रव्य, एक ही स्वपर्यायका कर्ता है। एक कर्मका एक ही द्रव्य कर्ता है। एक द्रव्यमें एक ही स्व-परिणति क्रिया होती है क्योंकि एक एक ही रहेगा, वह अनेक नहीं हो सकता।

उक्त ५१-५२-५३-५४, इन चारों पद्यों द्वारा यह सारांश निकलता है कि द्रव्य स्वयं कर्ता है, और वह केवल अपनी पर्यायका ही यथार्थ कर्ता है। पर द्रव्यका और उसकी पर्यायका कर्ता वह कदाचित् भी नहीं होता। पर द्रव्यकी पर्याय, उसमें निमित्त कारण अवश्य होती है, तथापि द्रव्य अपनी पर्यायका तो यथार्थ कर्ता है, अन्य द्रव्यकी पर्यायके लिए वह मात्र निमित्त है। निमित्त यथार्थ कर्ता नहीं है। व्यवहारमें उसे भी कर्ता कहा जाता है। यह कथन व्यवहारका ही है परमार्थ ऐसा नहीं है। ये चारों पद्य ही इस कथनमें आगम प्रमाण स्वरूप हैं ॥५४॥

तथापि अनादि कालसे जीवकी प्रवृत्ति इसके विपरीत है ऐसा भाव निम्न पद्यमें प्रदर्शित करते हैं—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

अन्वयार्थ—(**आसंसारत एव**) यह जीव अनादि कालसे ही अपने स्वरूपकी तथा यथार्थ

तत्त्वकी अज्ञानताके कारण (**अहं परं कुर्वे**) 'मैं परको करूँ' ऐसा मिथ्या विचार करके (**उच्चकैः धावति**) जोरोंसे दौड़ लगाता है। आचार्य कहते हैं कि (**मोहिनाम्**) इन अज्ञानी मोही प्राणियोंका (**इह महाहंकाररूपं तमः**) यहाँ महान् मिथ्या अहंकार रूप यह अज्ञान (**ननु दुर्वारं**) यथार्थमें दुर्निवार है—कठिनतासे दूर हो सकता है। (**तद्भूतार्थपरिग्रहेण**) वह शुद्ध निश्चयके विषयभूत शुद्धात्माके आश्रयसे (**यदि एकवारं विलयं व्रजेत्**) यदि एक ही वार नष्ट हो जाय (**तत्**) तो (**ज्ञानघनस्य आत्मनः**) उस ज्ञानीभूत आत्माको (**भूयः**) पुनः दुवारा (**अहो किं वंधनं भवेत्**) अरे ! क्या वंधन हो सकता है ? कदापि नहीं ॥५५॥

भावार्थ—संसारी प्राणियोंकी अनादिकालसे ही ऐसी दौड़ लग रही है कि परको ऐसा कर लूँ। मोही अज्ञानी पुरुषोंकी यह अज्ञानता दूर होना वहुत कठिन है।

पर संयोग तथा तज्जन्य विकारोंमें ही यह जीव—ये मेरे हैं, ये मेरा भला वुरा करते हैं, अथवा मैं इनका भला वुरा कर सकता हूं, ऐसी भ्रमपूर्ण मतिरूप हो रहा है। संसारी सभी जन ऐसा मान कर ही समस्त व्यवहार करते व उसे ही सत्य मानते हैं। अमुक व्यक्ति मेरे कर्जदार हैं, उन पर मेरा रुपया है। मुझे दूसरोंका इतना देना है। वह मेरा शत्रु है, मेरे इन कामोंमें विघ्न डालता है, इत्यादि नाना प्रकारके संकल्प विकल्प अपने मोह जन्य **अज्ञान पूर्ण अहंकारसे करते हैं।**

(६६) **प्रश्न**—संसारके सत्यतापूर्ण सम्पूर्ण व्यवहारको आप मोहजन्य, अज्ञानपूर्ण मात्र अहंकार कहते हैं, तो क्या आप ही एक वुद्धिमान् हैं ? सारा संसार मूर्ख है ? सत्य तो वह है जो सवके प्रत्यक्ष गोचर हो, अतः संसारियोंका उक्त कथन सत्य है। आपकी यह एकमात्र कल्पना ही असत्य प्रतीत होती है।

समाधान—इसीसे तो कहा है कि **यह महान् अहंकाररूपी अज्ञान दुर्निवार है।** सहज ही दूर नहीं होता। मकान-वाग-वगीचा-व्यापारिक संस्थान—शत्रु-मित्र, ये सवके सव अपनी अखण्ड, नित्यानन्द, ज्ञानघन आत्मासे भिन्न वस्तुएँ हैं। **इनका संयोग मोही अपने विषय कषायरूप विकारोंके वशीभूत होकर करता है।**

यह तो सभी जानते हैं कि जो वस्तु जिसकी होती है वह उससे जुदी नहीं हो सकती। जो जुदी हो जाती है वह उसकी नहीं थी, पर थी, संयोग मात्र थी। संसारी, परके संयोगके होने पर—या अपने प्रयत्न द्वारा परका संयोग जोड़ लेने पर—उन पर पदार्थोंमें "ये मेरे हैं" ऐसा स्वामित्व स्थापित करते हैं। उनका यह स्वामित्वका भाव गलत है। यदि वह उनका वस्तुतः स्वामी होता तो वे सदासे उसके पास होते। फिर उनका कभी वियोग नहीं होता। वे सव उसके अनुकूल ही चलते, प्रतिकूल कोई न चलता।

परन्तु देखा जाता है—कल मकान वनाया था, कुछ समय वाद व्यापारमें घाटा होनेपर मकान साहूकारके यहाँ कर्जमें चला गया। जिस मकान पर राग था—स्वामित्व मानता था—आज उस पर दूसरेका स्वामित्व है, अव वह उसका स्वामी नहीं रहा, दूसरा उसका स्वामी है। सिद्ध हुआ कि यह **स्वामित्व काल्पनिक था** और दूसरेके **पास** भी स्वामित्व **काल्पनिक** ही है। पश्चात् जव ऐसा समय आता है कि दोनों आयु पूर्ण कर जाते हैं तव मकान **जहाँ खड़ा था, खड़ा है,** अव चाहे जो उसका स्वामी वनो, पर वह उसकी कल्पना मात्र होगी। मकानने किसीके

स्वामित्वको कभी स्वीकार नहीं किया। वह तो अपना स्वामी स्वयं रहा, **स्वयंके अस्तित्व पर रह रहा है और रहेगा।** एक दिन वह भी धरतीमें मिल जायगा तब उसके स्वामित्वके दावा करनेवाले खड़े-खड़े उसके खंडहरको देखेंगे। उसे नष्ट होनेसे कोई बचा न सकेगा। बाग-बगीचे संस्थान सदा किसीके पास नहीं रहे। वे सब अपनी-अपनी पर्यायोंमें यथासमय विलीन हुए। उन पर स्वामित्वका दावा करनेवाले अहंकारी, अपनी-अपनी आयुके अन्तमें उनसे वियुक्त हो, अपनी गत्यनुसार पर्यायान्तरको प्राप्त हुए।

यह सब प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। इसे सत्य न मानकर काल्पनिक स्वामित्वको सत्य मानना, यही तो मोही अज्ञानी जीवोंका भ्रम है। जैसे स्वप्नमें संपदा पाकर कोई धनी बना, और उसे उसमें बहुत बड़ा अभिमान पैदा हुआ। स्वप्न भंग होनेपर, अरे यह स्वप्न कल्पना थी सो स्वप्न तो मिटना था, यथार्थ तो सामने है, जागने पर व्यक्ति इसे ऐसा मानता है। इसी प्रकार यह जगत् भी स्वप्नके समान काल्पनिक है। यद्यपि इसमें दिखाई देनेवाली सभी वस्तुएँ सत्य हैं, छहों द्रव्य सत्य हैं, उनकी समय-समय पर होनेवाली पर्यायें तत्कालमें सत्य हैं, संयोगी भाव भी होते हैं अतः सत्य वे भी हैं। तथापि सम्यग्ज्ञान होनेपर, जब स्वपर भेद भासित होता है, तब इनके सम्बन्धसे होनेवाले राग-द्वेष, अहंकार सब मिथ्या हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषको भान होता है।

ऐसा कहना चाहिए कि नशा करनेवालेको नशेकी हालत में जो रंग चढ़ता है, उसमें वह मग्न रहता है; उसे ही यथार्थ मानता है, और सबको झूठा मानता है। पर नशा उतरने पर उसे कोई बतावे कि नशेमें "तुम ऐसा प्रलाप करते थे" तो वह स्वयं कहता है कि मैं उस समय 'आपेमें' नहीं था। इसी प्रकार मोहके नशेमें भी यह संसारी जो कुछ करता है, और जो उसकी मान्यताएँ बन जाती हैं, वह उन्हें सत्य मानता है। जब परको अपना बनाते-बनाते वे अपने नहीं बनते, तब उसे तत्त्वज्ञान जागता है कि मैं व्यर्थ इन्हें अपने मानता था। यह सब मेरा भ्रम था। 'मैं भी आपेमें नहीं था'।

भ्रम अवस्थामें, यह भ्रम है—ऐसा भासित नहीं होता। नशेमें व्यक्ति यह नहीं जानता कि मैं नशेमें हूँ। सोता हुआ व्यक्ति उस कालमें यह नहीं जानता कि मैं सो रहा हूँ। मूर्च्छित व्यक्ति मूर्च्छा की बेहोशीमें यह नहीं जानता कि मैं बेहोश हूँ। यदि इन अवस्थाओंमें उसे यह होश रहे कि मैं क्या हूँ, और यह निद्रा है, या नशा है, तो समझिए कि उसे नशा चढ़ा ही नहीं। वह जागता है, सोता ही नहीं। नशा तो वही कहा जाता है और निद्रा भी गहरी वही है कि व्यक्ति लुट जाय, पर उसे अपनेपनका कोई ज्ञान न हो। ज्ञान तो उसे नशा उतरने—निद्रा भंग होने—स्वप्न टूटने—मूर्छा दूर होनेपर ही होता है। इसी प्रकार संसारी मोही अज्ञानीको, उस दशामें यदि गुरु सच्चा उपदेश देते हैं, तत्त्वज्ञानकी स्थिति उसके सामने रखते हैं, तो उसे ऐसा लगता है कि मैं तो यथार्थ सत्य हूँ और ये गलत हैं, स्वयं चक्कर में हैं। इसीसे घर द्वार छोड़ गली गली भटकते हैं।

रागी वैराग्यको समझ नहीं पाता। वह समझता है कि मात्र इन्हें भोगोपभोग प्राप्त नहीं हैं, या उनका वियोग हो गया है, अतः इनका यह वैराग्य, स्मशान वैराग्य है। साधन सम्पन्न होते तो ये भी ऐसा न कहते। ऐसी मान्यताकी भ्रमपूर्ण स्थितिमें ही ऐसे प्रश्न उठते हैं। किन्तु जब परिस्थिति वश—जिन्हें अपना मानता था वे अपना नाता तोड़ देते हैं, जिनका संबंध किया

था, उनका संयोग कारणविशेषसे छूट जाता है। अर्थात् कर्जके कारण, घाटेके कारण, लुट जानेके कारण, सरकारी कानूनके चंगुलमें फँस जानेके कारण, जब वह उन संगृहीत पदार्थोंके स्वामित्वसे और उनके भोगोपभोगसे वियुक्त हो जाता है—तब ये मेरे हैं—यह स्वप्न टूट जाता है, और उनके वियोगमें दुखी होता है। इस स्थितिमें जो जाग जाता है वह ज्ञानी पुरुष, इस स्थितिका लाभ उठाकर, भ्रमका परित्याग कर, आत्मकल्याण कर लेता है।

जिनकी मोह निद्रा इस मारके बाद भी नहीं खुलती, वे यद्यपि चली जानेवाली सम्पत्तिके वियोगसे ठगाए हैं, तथापि यह कोठी मेरी थी, संस्थान मेरे थे, बंधु मेरे थे, यह जमीन मेरी थी, यह गाँव मेरा था, मैं इनका स्वामी था, ऐसी भूतकालकी रागकी सामग्रीको याद करके रागी बनता है। साथ ही अब पुनः प्रयत्न करूँ कि ये मेरे ही पास आ जावें, अथवा दूसरा मकान बना सकूँ, खरीद सकूँ, घर बसा सकूँ, पत्नीका वियोग हो गया है—दूसरी शादी कर सकूँ। किसीको घरमें रख लूँ। मेरे पुत्र वियोग हो गया है अब फिर पुत्र हो जाय। यदि होनेकी स्थिति नहीं है तो मोही किसीके पुत्रको गोद लेकर, ये मेरा पुत्र है, ऐसा मान लेता है। पुत्रको, जो गोदका है, उसे कहता है कि तुम जिसके पुत्र अभी तक थे, अब उसके नहीं हो, मेरे हो। वे तुम्हारे पिता नह, अब मुझे पिता कहो। पिताकी जगह मेरा नाम लिखाओ। इन सब मिथ्या धारणाओंको सही बनानेका असफल प्रयास करता है। अपनेको भ्रमपूर्ण स्थितिमें जान बूझ कर रखते हुए भ्रमको सत्य, और सत्यको भ्रम मान लेनेका स्वयं दुराग्रह कर, अपनेको धोखेमें रखकर आनंदित होता है। यह सब मोहकी अर्थात् अज्ञान भावकी महिमा है।

आचार्य इन सब स्थितियोंको देखकर कहते हैं कि मोही जीवोंका यह परमें अहंकारका मिथ्याज्ञान दुर्निवार है। तथापि यदि जीव एक बार भी निश्चयनयसे, **द्रव्यार्थिक दृष्टिसे**, पदार्थके अनाद्यनन्त असली रूपको देखे, और नाशवान् पर्यायोंकी अस्थिरताका बोधकर उन्हें स्थिर रखनेका, तथा परपर्यायोंको अपनानेका उसका जो प्रयत्न है, उसकी खोखली स्थितिका ज्ञान कर, इस मोह मिथ्यात्वको भी दूर कर सके, तो उसे अपने यथार्थ ज्ञानानन्द स्वभावका दर्शन हो जायगा। ऐसी स्थितिमें उस ज्ञानघन आत्माको पुनः कर्मका बन्धन नहीं होगा। आचार्य संसारी प्राणीपर करुणाकर, उसकी पर्यायविमूढ़ताको छुड़ाकर, उसे द्रव्यदृष्टिसे पदार्थका त्रैकालिक स्वरूप दिखाना चाहते हैं, जिससे उसका भ्रम दूर हो और वह अपना कल्याण कर सके ॥५५॥

उक्त सब कथनका क्या निष्कर्ष है उसे निम्नपद्यमें बताते हैं—

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) जीव (**आत्मभावान्**) अपने शुद्ध या अशुद्धभावोंको (**करोति**) करता है। (**परः**) तथा आत्मभिन्न परद्रव्य (**सदा**) सदाकाल (**परभावान्**) परभावोंको अपने शुद्धाशुद्ध-पर्यायोंको (**करोति**) करता है। (**आत्मनः हि भावाः**) आत्माके परिणाम तो (**आत्मा एव**) आत्म-द्रव्यरूप ही हैं, तथा (**परस्य ते**) परद्रव्यके वे परिणाम (**पर एव**) परद्रव्यरूप ही हैं ॥५६॥

भावार्थ—ऊपरके कलशोंमें वर्णित प्रकारसे यह निश्चित हो गया कि दो द्रव्योंमें परस्पर संयोग सम्बन्ध, तथा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके रहते हुए भी, जीवके जो भी, परिणाम शुभ या

अशुभरूप, अशुद्धभाव, अथवा परकी उपाधि निरपेक्ष शुद्धभाव होते हैं, वे जीवद्रव्यरूप हैं, क्योंकि जीवमें ही उनकी स्थिति देखी जाती है।

जीवसे भिन्न पुद्गल अथवा अन्यद्रव्य हैं उनके जो भी परिणमन होते है, वे अपनी स्वद्रव्य-की मर्यादामें ही होते हैं, अतः वे परिणमन तद्द्रव्यस्वरूप ही हैं, आत्मरूप नहीं। अतः कार्माण-वर्गणाओंका ही कर्मरूप याने ज्ञानावरणादिरूप परिणमन होता है, आत्माका नहीं।

यद्यपि मिथ्यात्व-रागादि जीवके परिणाम हैं—जीवमें ही होते हैं। तथापि कर्मोपाधिके बिना वे शुद्धजीवमें नहीं होते। जिस कर्मकी उपाधिमें ये भाव होते हैं, उस कर्ममें भी तदुत्पत्तिमें निमित्ततारूप निजपर्याय होती है। अतः मिथ्यात्वरागादि क्रोधादिभावरूप परिणाम, जीवमें होते हैं। **अशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा** उनकी गिनती जीवद्रव्यमें होती है—**शुद्धनिश्चयसे** नहीं। शुद्ध-निश्चयनय द्रव्यको परविरहित, शुद्धद्रव्यके रूपमें देखता है, अतः उसकी दृष्टिमें रागादि आत्मामें नहीं है। पुद्गल निमित्त जन्य होनेसे उनकी गणना जीवमें नहीं है, पुद्गलमें है, ऐसा उल्लेख ग्रन्थमें अन्यत्र किया है।[1]

तथापि यहाँ शुद्धाशुद्धनयका भेद न करके, जीवकी सत्तामें उत्पन्न सभी परिणमनोंकी गणना जीवद्रव्यमें की है। इन जीवगत रागादिभावोंकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत कर्मपुद्गलद्रव्यमें, जो निमित्तपनेकी योग्यतारूप मिथ्यात्व-रागादि-क्रोधादिरूप अनुभाग शक्तियाँ हैं, वे पुद्गलद्रव्यसे तादात्म्य रखती हुई उसीकी सत्ताके परिणमनस्वरूप हैं, अतः उनकी गणना पुद्गलद्रव्यमें ही है।

फलतः राग-द्वेष-मोह आदि जीवरूप भी हैं और पुद्गलरूप भी हैं। जो जीवमें हैं वे जीवरूप, और पुद्गलकर्ममें जो अनुभाग शक्तिरूप हैं वे पुद्गलरूप हैं। उदाहरणके रूपमें देखिए—किसी फोटोग्राफरने आपका समुदायरूपमें फोटो लिया। चित्रमें आपका आकार आपको दिखाई देता है। यदि कोई पूछे इस चित्रमें जो अनेक व्यक्ति हैं, उनमें आप कौन हैं? तो आप अंगुलिके संकेतसे आपके रूपके आधारपर चित्रमें बता देते हैं कि 'मैं यह हूँ'। विचार कीजिए कि आप चित्रमें हैं क्या? यदि आप चित्रमें हैं तो वह तो बोलता नहीं है। जो बोल रहा है वह चित्रसे भिन्न है। इससे सिद्ध है कि आपके चेहरेमें और चित्रमें समान आकार है, पर एक ही आकार नहीं है।

इसी प्रकार पुद्गलकर्ममें जो मिथ्यात्वोत्पत्तिमें निमित्तभूत बननेकी योग्यतारूप-अनुभाग-शक्ति है वह भी भावकर्म है, और जीवमें जो मिथ्याश्रद्धानरूप परिणाम है वह भी **भावकर्म** है, परन्तु **जीवगत भावकर्म जीवकी पर्याय** है, और मोह तथा **ज्ञानावरणादिकर्मगत भावशक्तिरूप परिणमन, पुद्गलद्रव्यका परिणमन** है। इस तरह जैसे आप चेतनात्मक, और आपका चित्र अचेतनात्मक है, उसी प्रकार रागादि भी चेतन-अचेतनात्मक हैं।

इनमें से **आत्मा अपने भावगत रागादि मोहादि विकार भावोंका** कर्ता है। भले ही वह उदयागत कर्मके निमित्तसे हो। पर कर्म जीवमें रागका कर्ता या उत्पादक नहीं है। यदि कहीं

---

१. × × × एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थान···· ···· ····तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् ॥

—समयसारगाथा ५८, ५९, ६० की आत्मख्याति टीका देखिये।

ग्रन्थान्तरोंमें कर्मोदयको जीवगत रागका कर्ता लिखा गया हो, तो वह व्यवहार नयाश्रित कथन है। निमित्त सापेक्ष कथन है। निमित्त निरपेक्ष वस्तुके परिणमनकी दृष्टिसे, वह उसी वस्तुका परिणमन है, उसीसे कथंचित् तादात्म्य रखता है, अन्यसे नहीं।

इसी तरह जीवका जिस समय रागादि रूप विकारी परिणमन है, उस समय कर्मका उदय निमित्त मात्र है और उस रागादि परिणामोंके निमित्तको पाकर कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल, स्वयं ज्ञानावरणादिरूप परिणमन करता है, वह पर्याय मात्र पुद्गल द्रव्यकी है।

इस प्रकार परिणत कर्मवर्गणाएँ, जीवके साथ संबंधको प्राप्त हो जाती हैं, पर उन ही जीवोंके बन्धको प्राप्त होती हैं जो पर द्रव्योंका कर्त्ता अपनेको मानकर, तथा अपने रागादिका कर्ता पर द्रव्यको मानकर, वस्तु तत्त्वकी विपरीत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान, और मिथ्या चारित्र रूप परिणमन करते हैं। जो तत्त्वज्ञानी हैं, स्व-परका भेद जानते हैं, वे अपने भावोंका कर्ता आपको मानकर, अपने अपराधको स्वयं स्वीकार कर, उसका संशोधन कर, कर्मबंधसे मुक्त होते हैं।

परको अपराधी माननेवाला, परको सुधारनेका विकल्प करता है। इससे उसका आत्म-सुधार कभी नहीं होता। परमें उसका कर्तृत्व वस्तु स्थितिसे नहीं है, इसलिए परका कुछ कर पाता नहीं है। फलतः स्वयं संक्लेश रूप रह कर, अज्ञानी अपनी संसार परिभ्रमणकी परम्पराको बढ़ाने वाले, मिथ्यात्व का बंध करता है। ज्ञानी जीव वस्तुकी स्थितिको समझता है अतः वह परको पर वस्तु जान कर मोह नहीं करता, अतः बन्ध नहीं करता। वह वस्तुके स्वभावका मात्र ज्ञाता होता है। पर वस्तुके साथ उसका मात्र **ज्ञेय-ज्ञायक** भाव संबंध है। अतः वह संसारके सम्पूर्ण परिवर्तनको तटस्थ व्यक्तिकी तरह मात्र देखता है, उसमें लीन नहीं होता। इस प्रकारका भेद विज्ञानी, परसे विरक्त होकर परके कर्तृत्व भावको छोड़ देता है। अज्ञानी संसारमें भटकता है ।।५६।।

यही बात इस कलश में स्पष्ट करते हैं—

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ।।५७।।

***अन्वयार्थ*—(यः स्वयं ज्ञानं भवन् अपि)** जो जीव यद्यपि स्वयं ज्ञान स्वरूप है तथापि **(अज्ञानतः तु)** अपने स्वरूपको न जानकर **(सतृणाभ्यवहारकारी)** तृण सहित अन्नको अन्न मानकर खाने वाले पशुकी तरह **(रज्यते)** जीवके स्वभावमें और जीवके विकारों में तथा निमित्त भूत द्रव्यकर्ममें भेद न करके, दोनोंमें एकत्व मानकर राग करता है **(असौ)** वह **(दधीक्षुमधुराम्ल-रसातिगृद्ध्या)** दही, शक्कर आदिके खट्टे मीठे मिश्रित स्वादकी गृद्धतासे **(नूनं रसालां पीत्वा)** शिखरिणी को पीकर उसे **(दुग्धमिव)** दूध मानकर **(गां दोग्धि)** गाय दुहता है। इसी तरह रागी रागको आत्मस्वभाव मानता है ।।५७।।

भावार्थ—यह जीव स्वभाव दृष्टिसे ज्ञान स्वभावी है पर अपना स्वरूप बोध न होनेके

कारण, अज्ञानी है। जैसे किसी व्यक्तिके घरमें पैतृक धन गड़ा है इस निधि का उसे ज्ञान नहीं है, अतः परायी सेवा करके निर्धनताका अनुभव करता है। यद्यपि वह धनी है पर अपने धनीपनके अज्ञानके कारण, निर्धनपनेको भोगता है। यदि उसे कोई जानकार वता दे कि तेरे पूर्वजोंने बहुत सा धन तेरे घरमें अमुक स्थान पर गाड़ रखा है, तू उसका स्वामी है, तो वह तत्काल अपने धनवान्पनेका बोध करते ही निर्धनपनेकी दीनता छोड़ देता है। यद्यपि उसे अभी वह धन प्राप्त नहीं हो सका, पर 'मैं धनी हूँ', ऐसी सुनिश्चित श्रद्धा हो गई, अतः दीनपना मिट गया है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव, स्वरूपका ज्ञान न होनेसे, अज्ञानी हुआ दीनपनेको प्राप्त है। वह अज्ञानी पशु की तरह घास फूस मिले अन्नको ही मिलाकर खाता है। अन्न और घासके स्वादका भेदविज्ञान उसे नहीं है, इसीसे वह पशु अज्ञानी कहलाता है। स्वरूपके अज्ञानी जीवकी भी यही दशा है। वह जीव और शरीरके, या भाव कर्मके भेदको नहीं जानता। दोनोंका एकत्व बोधकर, शरीर ही मैं हूँ, जो राग-द्वेष क्रोध है वह मैं ही हूं, ऐसा मिश्रित स्वाद उसे आया है। उसे यह पता नहीं कि मैं नित्यानन्द स्वभावी हूँ, इसलिए शरीरको अपना रूप मानकर शरीरके नाशमें अपना नाश, और शरीरकी उत्पत्तिमें अपनी उत्पत्ति मानकर, दीन हुआ भयभीत होकर दुखी होता है।

यदि उस निर्धनकी तरह इसे भी अपने ज्ञानधनका भान हो जाय तो इसका भी दीनपना छूट जाय। भले ही तत्काल वह ज्ञानका पूर्ण उपयोग न कर सके, पर श्रद्धामात्र होनेपर भी स्वभावका गौरव आ जाता है और दीनपना छूट जाता है। यह सम्यग्दृष्टिका स्वरूप है।

जैसे वही निर्धन, धन पानेपर उसका पूर्ण उपयोग कर, अन्तर वाहिर दोनोंसे निर्धनपनेसे रहित हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानी भी ज्ञानभावमें रमण करनेपर, वीतरागी हो, परसे पराङ्मुख हो, स्वोन्मुखस्वरूपका द्रष्टा सम्पूर्ण क्लेशोंसे रहित हो जाता है

एक दूसरा दृष्टान्त ग्रन्थकार इस प्रकार घटित करते हैं कि कोई व्यक्ति, स्वाद भेदके अज्ञानकी अवस्थामें, दूध-दही शक्करको मिलाकर वनायी गई शिखरिणीको पी रहा है, और उसे ही गायका दूध समझता है। मिश्रित स्वादकी गृद्धतासे उसे पी रहा है। उसे उन चीजोंका भेदज्ञान नहीं है। वह यह विवेक नहीं कर पाता कि इस शिखरिणीमें दहीकी खटास तथा शक्करकी मिठास है, इस भेदज्ञान के अभावमें 'दूध पी रहा हूं' ऐसा मानता है। अतः शिखरिणी के लिये गाय दोहता है। इच्छा पूर्ण नहीं होने पर दुखी होता है। इसी प्रकार अज्ञानी-शरीर तथा कर्मोदयजन्य विकारोंको, और अपने ज्ञायकस्वभावको, भिन्न-भिन्न पहिचानता नहीं, किन्तु सबको मिलाकर एक मानकर उसमें ही रागी वना है। इसी अज्ञान से दुखी हो रहा है।

द्रव्य कर्मके भेदोंमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि शक्तियाँ कही गई हैं। द्रव्य कर्मके उदयमें जीवमें भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि भाव होते हैं। इस कारण द्रव्य कर्मको 'भावक' और संसारी, विकार परिणत आत्माको 'भाव्य' कहा गया है। अज्ञानी जीव इस भाव्य-भावक में भेद ज्ञान नहीं करता तथा अपनेको उनसे अभेदरूप मानता हुआ स्वयंको विकारी भावरूप अनुभव करता है। यही भाव्य-भावक की संकरता है।

इसी प्रकार ज्ञानमें जाने गये शीत उष्ण आदि धर्मोको, तथा ज्ञेय और ज्ञानके भेदके अभाव-में शीत ज्वर आदि रूप परिणत अपने आपको, अभिन्न मानकर अनुभव करता है। शीत उष्ण

आदि पुद्गलके गुणोंसे, अथवा शरीर आदिसे, अपने आपको अभिन्न मानना, अनुभव करना, यही भाव्य भावक की संकरता है। यही स्वरूपका अज्ञान है।

अज्ञानका भी वहुत बड़ा माहात्म्य है, जिससे जीव अपने स्वरूपको, जो आपमें है, अपनेसे अभिन्न हैं, उसे तो भूल रहा है, और जो अपनेसे भिन्न अतदात्मक शरीरादि हैं उनसे अपनी स्थितिको या तो अभिन्न मानता है, अथवा उसे ही मैं हूँ, ऐसा मानता है ॥५७॥

इस अज्ञानके विलासको दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं—

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगाः
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणात्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥५८॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानात्**) जल और तपाई रेतकी चमकमें भेदज्ञानके अभावसे जनित अज्ञानके कारण (**मृगाः**) हरिण (**पातुं**) पानी पीनेके लिए (**जलधिया**) जल समझकर, (**मृगतृष्णिकाम्**) तप्तरेतकी चमकती हुई आभाके प्रति (**धावन्ति**) दौड़ते हैं। तथा (**अज्ञानात्**) रस्सी और सर्पका भेद ज्ञात न होनेसे (**तमसि**) अंधेरेमें (**रज्जौ**) रस्सीमें (**भुजगाध्यासेन**) सर्पका वोधकर (**जनाः**) अज्ञानी जन (**द्रवन्ति**) भयभीत होते हैं। इसी तरह (**स्वयम् अमी**) ये जीव स्वयम् (**शुद्ध ज्ञानमया अपि**) यद्यपि अपने शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप हैं तथापि (**अज्ञानात्**) स्वरूपके प्रति अपने अज्ञान भावके कारण (**वातोत्तरङ्गाब्धिवत्**) वायुके निमित्तको पाकर उछलने वाले समुद्रकी तरह (**विकल्पचक्रकरणात्**) नाना विकल्पोंमें उलझते हुए (**आकुलाः**) व्याकुल होकर (**कर्त्रीभवन्ति**) उनके कर्त्ता वनने की भावना करते हैं ॥५८॥

भावार्थ—यह प्रसिद्ध है कि जहाँ रेतीले मैदान हैं वहाँ रेत दोपहरमें सूर्यके तेजसे चमकती है। वह तपी हुई चमकदार रेत दूरसे ऐसी प्रतीत होती है कि वहाँ पानी भरा हुआ है। तृषातुर मृगादि पशु उसे पीनेको दौड़ते हैं। वहाँ पानी तो यथार्थमें है नहीं, तथापि अज्ञानके कारण उनने उसे पानी समझ लिया। रेतकी इस चमकका इसीसे 'मृगतृष्णा' ऐसा नाम लोकमें पड़ गया है। ग्रीष्मके आतापमें पिपासासे दुखी मृग, जव उस मृग-मरीचिकाको पानी समझ दौड़ लगाता है, तव भीतर प्यासकी दाह, ऊपर सूर्यका तेज तथा नीचे तपाई रेतका कष्ट, यह सव सहन करके भी, वहाँ जल न पाकर और भी तृषित होकर हाँफने लगता है। वह जैसे-जैसे आगे वढ़ता है वैसे-वैसे आगे-आगेकी रेत चमकसे पानीकी तरह दिखती है, तव और दौड़ता है। जव तक वहाँ पहुँचता है, तव तक और आगेकी रेत चमकनेके कारण भरे तालावके जलका भ्रम उत्पन्न करती है। तृषातुर मृग उस मृगतृष्णाके पीछे दौड़ता-दौड़ता थक जाता है। शरीर सुस्त पड़ जाता है, गिर पड़ता है, और अन्तर्दाहकी अति वृद्धि हो जाने तथा उसे शमनके लिए एक वूँद पानी भी न पानेके कारण, प्राण त्याग देता है। इसी प्रकार यह संसारी प्राणी भी, भ्रमसे विषयों-के प्रति यह समझकर दौड़ लगाता है कि मेरी अन्तर्दाह मिट जायगी; पर वह तो मिटती नहीं, तथापि ऐसी दौड़से विषयोंके चाहकी दाह वढ़ती जाती है, और यह अन्तमें **उनका दास वना हुआ आकुल-व्याकुल होकर** प्राण छोड़ देता है।

दूसरा दृष्टान्त है कि अंधेरेमें न सूझ पड़नेसे किसी सर्पाकारमें पड़ी हुई रस्सीको सर्प समझकर लोग भयभीत होकर भागते हैं। यद्यपि वहाँ भयका कोई कारण नहीं है--वह तो मात्र रस्सी है, तथापि अज्ञानके कारण मिथ्या अध्यवसायसे उसे सर्प मानकर लोग भयभीत होते हैं। उन्हें यदि रस्सीका स्पर्श हो जाय तो 'मुझे सर्पने डस लिया' ऐसे भ्रमसे प्राण भी त्याग देते हैं।

इसी प्रकार वस्तु स्वरूपका अज्ञानी प्राणी, अपने दुख दूर करनेके वास्तविक उपायभूत **निजके कर्तृत्व और परके अकर्तृत्वका ज्ञान न होनेसे**—परको संग्रह करने—उसे अपने अनुकूल बनाकर उसके आलंबनसे दुख दूर करनेके भ्रमसे—परके कर्तापनेका व्यर्थ प्रयास करता है। जैसे मृगतृष्णामें जल असंभव है, वैसे विषयोंमें तथा तत्-कारणभूत पदार्थोंमें भी, सुख असंभव है। तथापि स्वरूपको परमें देखनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव अपनी सम्हाल नहीं करता, किन्तु पर पदार्थो. शरीर-स्त्री-पुत्रादि, धन-सुवर्णादि द्रव्योंका संग्रह करता है, सम्हालता है, और उन्हें अनुकूल बनानेका व्यर्थ प्रयास करता है। वह परद्रव्योंको न अपना बना सकता है न अपने अनुकूल परिणमा सकता है। जैसे शान्त स्वभावी समुद्र वायुके सञ्चारसे क्षुब्ध हो जाता है, तथा अपनी सहज शान्तिको मिटाकर अशान्त बन जाता है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी सहज सुख शान्तिकी अवस्थासे भिन्न, अज्ञान जनित नाना विकल्पोंको करता हुआ, परको करनेमें आकुलित हो दुखी होता है ॥५८॥

जो ज्ञानी होते हैं वे क्या करते हैं इस प्रश्नका समाधान निम्न पद्यसे आचार्य करते हैं—

ज्ञानाद् विवेचकतया तु परमात्मनोर्यो जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

अन्वयार्थ—(यः) जो पुरुष (**ज्ञानात् विवेचकतया**) ज्ञान के विवेकसे (**हंसः**) जैसे हंस (**वाः-पयसोः विशेषम् इव**) जल और दूधका भेद करता है उस प्रकार (**परात्मनोः**) स्व परका भेद (**जानाति**) जानता है (**सः**) वह ज्ञानी (**सदा**) हमेशा (**अचलं**) निश्चल रूपसे (**चैतन्यधातुं अधि-रूढ़ः**) अपने चैतन्योपादान शक्ति पर आलम्बित होकर परको (**जानीत एव**) जानता ही है (**न किंचन अपि करोति**) किन्तु परका जरा भी कर्ता नहीं होता ॥५९॥

भावार्थ—जिसप्रकार अज्ञानी स्व-पर भेदको न जानकर, परका कर्ता अपनेको मानकर, **उस अज्ञानके कारण** परमें प्रयत्न करता है, किन्तु वस्तुस्थितिके विपरीत उसे न कर पा सकनेके कारण दुखी होता है। इस प्रकार स्व-पर भेद विज्ञानी दुखी नहीं होता। किन्तु वह ज्ञानी स्वपरका लक्षणभेद, गुणभेद, सत्ताभेद आदिसे, भेद जानकर जैसे हंस पानी मिले हुए दूधको चोंच डुबोने मात्रसे दूध पानीको भिन्न कर, दूध-दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानी शरीरादि परद्रव्योंको छोड़कर, निज ज्ञायक स्वभावको ग्रहण करता है। वह सदाके लिए अपने चैतन्य-धातुमय सत्ताका अवलंबन कर—**स्वभिन्न पदार्थोंको मात्र अपने ज्ञानका ज्ञेय बनाता है**, अर्थात् मात्र उनको जाननेका कार्य करता है **किन्तु उनका कर्ता नहीं होता** ॥५९॥

ज्ञानकी महिमा ही श्रेष्ठ है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

अन्वयार्थ—(**ज्वलनपयसोः**) अग्नि और जलमें (**औष्णशैत्यव्यवस्था**) अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, ऐसा निर्णय (**ज्ञानादेव**) ज्ञानसे ही होता है। (**ज्ञानादेव**) ज्ञानके द्वारा ही (**लवणस्वादभेदव्युदासः**) व्यंजनसे नमकके स्वाद भेदकी व्यवस्था (**उल्लसति**) प्रकट होती है। इसी प्रकार (**स्वरसविकसत्**) अपने निज चैतन्यरससे विकासको प्राप्त (**नित्यचैतन्यधातोः**) सदा चैतन्यरूप द्रव्यकी तथा (**क्रोधादेश्च**) क्रोधादि विकारोंके (**भिदा**) भेद की व्यवस्थासे (**कर्तृभावम् भिन्दती**) आत्माके परकर्तृत्वके भावको भिन्न करती हुई (**ज्ञानादेव प्रभवति**) ज्ञानसे ही उत्पन्न होती है ॥६०॥

भावार्थ—ज्ञान पदार्थोंके स्वरूप को यथार्थरूपमें देखता है, अतः उसके द्वारा ही अग्नि द्वारा गरम पानीके स्पर्शमें—यह गर्मी अग्निकी है, जलस्वभाव तो शीतल है, ऐसे भेदकी भासना होती है। इसी प्रकार भोजन करनेवाला नानाव्यंजनोंका आस्वाद लेता हुआ भी, ज्ञानके द्वारा यह भेद जानता है कि इसमें नमकका यह स्वाद है, व्यंजनका स्वाद इससे भिन्न है। इसी प्रकार अपने निजरससे अर्थात् अपने चैतन्यस्वभावसे जो परिपूर्ण है वह चेतनद्रव्य है। क्रोधादिभाव शुद्धचैतन्यरससे परिपूर्ण नहीं हैं, चेतनभावके स्वरूपसे उसके स्वरूपमें सर्वथा भिन्नता है, ऐसी भेदकी भासना सम्यक्त्वी जीवको स्वानुभवाश्रित भेद विज्ञानके द्वारा ही होती है ॥६०॥

(६७) **प्रश्न**—यहाँ कोई प्रश्न करे कि ज्ञान भाव और क्रोध भावका भेद ज्ञानी जानता है, और इसीसे ज्ञान भावका कर्त्ता है, तब रागादि भावका कर्त्ता क्या जीव नहीं है?

इस प्रश्नका समाधान निम्न पद्यसे होता है—

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**आत्मा**) जीव (**आत्मानं**) अपनेको (**ज्ञानं अज्ञानम् अपि**) ज्ञान और अज्ञान रूप (**कुर्वन्**) करता हुआ (**अञ्जसा आत्मभावस्य**) यथार्थमें आत्मभावका (**कर्त्ता स्यात्**) कर्त्ता होता है (**परभावस्य**) वह पर द्रव्यकी पर्यायका कर्त्ता (**क्वचित्**) कहीं नहीं होता ॥६१॥

भावार्थ—ज्ञानरूप परिणति भी आत्माकी है और अज्ञानरूप अर्थात् रागादिरूप परिणति भी आत्माकी ही यथार्थमें है,—जड़की नहीं। अतएव आत्मा अपनी दोनों प्रकारकी परिणतियोंका कदाचित् कर्ता है, किन्तु पर द्रव्य, अर्थात् शरीरादि पुद्गल द्रव्यका कर्ता वह कदाचित् भी नहीं होता।

(६८) **प्रश्न**—रागादि भावको पुद्गलके भाव कहा गया था, यहाँ उन्हें आत्मभाव कहा गया है। वहाँ रागादिका कर्ता पुद्गलको कहा था, यहाँ आत्माको ही यथार्थ कर्ता कहा गया। ऐसा विरोध क्यों?

समाधान—जहाँ रागादिको पुद्गल कहा गया है वहाँ शुद्ध निश्चयसे आत्माका व उसके कर्तृत्वका वर्णन है, अतः उस दृष्टिसे आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यका कर्त्ता है। रागादिक शुद्ध चैतन्य रूप नहीं हैं, अतः इनका कर्तृत्व **अशुद्धात्मामें** है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव जब मोह रागादि अज्ञान भाव रूप परिणत होता है तब वह अज्ञानी है, और उस समय उस अज्ञान भावको कर रहा है। अतः अशुद्धोपादानसे वह उस अज्ञान भावका कर्ता, अशुद्ध निश्चय नयसे है। ज्ञानी जीव

ज्ञान भाव ही करता है, रागादि नहीं करता, अतः यह शुद्ध नयसे ज्ञान भावका कर्ता है, रागादिका कर्ता नहीं है[1]। इस प्रकार नय विभागसे दोनों वर्णन समझ लेने चाहिए, इनमें कोई विरोध नहीं है। अज्ञान भी ज्ञानकी विकारी परिणति है। रागादिसे युक्त होने पर उसी ज्ञानकी 'अज्ञान' संज्ञा होती है। किसी भी दशामें हो, आत्मा तो ज्ञान स्वरूप ही है। रागादि होने पर भी रागादि स्वभावी नहीं है तथापि जिस समय जिस पर्यायरूप परिणमता है, उस समय उस परिणमनका वही कर्त्ता होता है ॥६१॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा ज्ञानं**) आत्मा ज्ञान स्वरूप वाला है (**स्वयं ज्ञानं**) अथवा आत्मा स्वयं ज्ञान ही है। (**ज्ञानात् अन्यत्**) ज्ञानसे भिन्न (**किम् करोति**) और क्या करता है? (**परभावस्य**) ज्ञानावरणादि या घटादि कर्मका (**कर्ता आत्मा**) कर्त्ता आत्मा है (**अयम्**) यह (**व्यवहारिणाम्**) व्यवहारी जनोंका (**मोहः**) मोह है, अथवा भ्रम है ॥६२॥

भावार्थ—आत्मा उपयोग लक्षण वाला है, अतः स्वयं ज्ञानरूप है। ज्ञानमय है। सदाकाल चैतन्योपयोगरूप रहता है। शुद्ध दशामें शुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है, और अशुद्ध रागादि युक्त दशामें भी अशुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है। ज्ञानरूपताका परित्याग उसके कभी हो नहीं सकता है।

अनादिकालसे जब जीव निगोद जैसी क्षुद्र पर्यायमें रहा तब भी अक्षरानन्तभाग ज्ञान उसमें था। उस समय भी ज्ञानमें अनन्तांश थे। फिर अन्यान्य पर्यायोंमें भी पर्याय-समास, अक्षर, अक्षर समास, पद, पद-समास, आदि रूपसे ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता गया। अन्तमें वही केवलज्ञानरूपमें प्रकट होता है।

इस तरह सदा काल ही यह आत्मा अपनी चैतन्य पर्यायोंमें जगमगाता रहता है। जैसे अग्नि एक मात्र स्फुलिंगरूपमें हो, या दावानलरूपमें सारे वनमें फैल रही हो, किन्तु उसका जो स्वरूप है वह छोटी बड़ी सब अवस्थाओंमें है। इसी प्रकार यह आत्मा सभी पर्यायोंमें चैतन्य ज्योतिसे जगमगाता हुआ उस चैतन्यभावका कर्ता है, किन्तु **शरीरादि व ज्ञानावरणादि पुद्गल भावोंका कर्ता कदाचित् भी नहीं होता** यह निष्कर्ष है।

जैसे लौकिक जन घट-पटादिका कर्ता कुम्भकार या पटकार है, ऐसा शब्द द्वारा व्यवहृत कर, उनका कर्त्ता कुम्हार या जुलाहाको कहते हैं, पर ऐसा उनका कथन यथार्थ नहीं है, मात्र **उपचार** है। इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियोंका-शरीरका—तथा ज्ञानावरणादिका—कर्ता है, ऐसा कथन उपचारमात्र है। निमित्त कारण की अपेक्षा ऐसा उपचार होता है, पर वह परमार्थसे भिन्न है।

(६९) **प्रश्न**—घटपटादिकर्ता तो कुम्भकारादि हैं, भले ही आप उन्हें निमित्त कर्ता मानो। इसी प्रकार शरीरादि ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलके परिणमनमें आत्मा निमित्त तो है; अतः उपादान **कर्ता न मानो उसे निमित्तकर्त्ता तो मानो। उनमें निमित्त नैमित्तिक भाव तो है?**

---

१. णिच्छयणयस्य एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ —समयसार गाथा ८३।

समाधान—पहिली बात तो यह है कि पर्यायका यथार्थ कर्ता स्वद्रव्य है, परद्रव्य नहीं। परद्रव्य निमित्तमात्र होनेसे यथार्थकर्त्तापनेका नाम नहीं पा सकता। **उपादानकर्त्ता ही यथार्थ कर्त्ता** है। रही **उपचरित या निमित्तकर्त्ता की बात, तो यथार्थमें** आत्माके तत्कालीन **अशुद्धोपयोग व योग ही** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म परिणतिमें **निमित्तभूत कर्त्ता** कहे जाते हैं। जब **आत्मायोग या अशुद्धोपयोगपरिणत नहीं होता तब वह द्रव्य कर्मके परिणमन में निमित्तरूप भी नहीं होता।** जैसे घटपर्यायमें कुम्भकार सदा निमित्त नहीं है, किन्तु जिस **कालमें उसकी इच्छारूप** प्रवृत्ति **तथा तद्विषयक उपयोग,** और तदनुकूल **मन-वचनकायकी क्रियाएँ होती हैं और यदि उस समय मृत्तिकादि उपादान सामग्रीका** संयोग **होता है,** तब वह **घटका निमित्त कर्त्ता** कहलाता **है, सदा नहीं।**[1]

फलतः चेतनद्रव्य, जड़द्रव्यकी पर्यायपरणतिका निमित्तकर्त्ता भी सदा नहीं होता, उसके तत्कालीन योग उपयोग ही निमित्तकर्त्ता होते हैं। आत्मा तो समय-समय अपने शुभ भाव और अशुभभाव करता है, अतः वह उन भावोंका कर्ता होता है। क्योंकि उनका भोक्ता वह है। यदि कर्ता न होता तो उनका फल भी न भोगता।[2]

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका यथार्थकर्त्ता इसलिए नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नवीन गुणोत्पादन नहीं कर सकता। जो जिस गुणस्वभाववाला है, वह अपने गुणस्वभावरूप ही रहता है। अन्य द्रव्यके गुणस्वभावरूपमें बदलता नहीं है।[3]

जब जीव पुद्गलमें अपने ज्ञानादि गुण नहीं दे सकता, तथा पुद्गल जीवमें अपने रूप रसादि गुण नहीं दे सकता, तब उसका कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है। जीवके परिणाम रागादि रूपमें जब होते हैं, तब पुद्गल कार्मण-वर्गणा स्वयं ज्ञानावरणादिरूप परिणत हो जाती हैं। इसी प्रकार पुद्गलकर्मका जब उदयावस्थारूप निमित्त हो, तब जीव स्वयं रागादिरूप परिणत हो जाता है। ऐसी अवस्थामें परस्परकी निमित्ततामात्रसे इन्हें कर्त्ता कहना **उपचारमात्र** है, **परमार्थ नहीं है। व्यवहारनय ऐसा उपचरित कथन करता है** ॥६२॥

यहाँपर प्रश्नोत्तररूप कलश आचार्य स्वयं उपस्थित करते हैं—

जीवः करोति यदि पुदगलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

अन्वयार्थ—(**यदि जीवः पुद्गलकर्म नैव करोति**) यदि जीव पुद्गलकर्म नहीं करता (**तर्हि कस्तत् कुरुते**) तो कौन उसे करता है? (**इत्यभिशङ्कयैव**) ऐसी आशंकासे ही अब (**एतर्हि तीव्र-**

---

१. जीवोण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ —समयसार गाथा १००.

२. जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ —समयसार गाथा १०२.

३. जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ —समयसार गाथा १०३.

रयमोहनिवर्हणाय) प्रश्नकर्त्ताके तीव्र वेगवाले मोहको दूर करनेके लिए (**पुद्गलकर्म कर्तृ**) पौद्गलिक कर्मोंका कर्त्ता (**संकीर्त्यते**) कहा जाता है (**शृणुत**) सुनो ॥६३॥

भावार्थ—जीव ही घट-पटादिका कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है। इसी प्रकार वही पुद्गल कर्मका कर्ता भी है। अचेतनद्रव्य अचेतन होनेसे ही कर्ता नहीं बन सकता, इस विभ्रमको दूर करनेको आचार्य कहते हैं कि कर्मका कर्ता पुद्गल है, जीव नहीं है।

कहा जा चुका है कि जीव चार कारणोंसे बन्धको प्राप्त होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये चारों बन्धके कारण हैं। ये चार सामान्य प्रत्यय हैं। इनके विशेष भेद प्रथमसे लेकर तेरहवें तक गुणस्थान हैं।

प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्वकी मुख्यताके कारण बन्धकर्ता है। दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थानोंमें अविरतिकी मुख्यता है। इनमें मिथ्यात्व भाव नहीं है। दूसरे व तीसरे गुणस्थानमें सम्यक्त्व भाव भी नहीं है, तथापि इन तीनोंमें अविरति परिणाम ही मुख्यतासे बन्धका कारण है। पंचम गुणस्थान देशविरति रूप है। यहाँ एकदेश अविरति है। षष्ठादिगुणस्थानोंकी गणना कषायाधीन गुणस्थानों में की है। अतः दशम गुणस्थान तक कषायोदय बन्धका कारण है। ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ गुणस्थान योगके कारण बन्धकर्ता है। इस तरह उन सामान्य चारके भेद इन तेरह रूप होते हैं।

शुद्ध निश्चयसे तो जीवमें गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमासादि कोई भेद नहीं हैं। क्योंकि ये कर्मके उदयादि निमित्त जन्य भाव हैं, अतः ये शुद्ध नयाश्रित जीवके परिशुद्ध स्वभावसे सर्वथा भिन्न हैं।[1] तर्क यह है कि जो शुद्ध चैतन्यसे भिन्न है, वह चेतनके विपरीत 'अचेतन' है। फलतः इस तर्कके आधार पर एकसे लेकर तेरह गुणस्थान तक सभी गुणस्थान अचेतन हैं। पुद्गल कर्मोदय निमित्त जन्य जीवमें पाये जानेवाले विकारोंको शुद्ध निश्चयनयसे 'जीव' नहीं कहते। अशुद्ध निश्चयनयकी विवक्षामें वे अशुद्ध जीवके हैं, पुद्गलके नहीं। ऐसी नय विवक्षासे सभी वस्तु निष्पन्न होती है। अतः द्रव्यकर्मका निमित्त कर्ता भी जीव नहीं है, किन्तु उक्त चार या तेरह गुणस्थान ही हैं, ऐसा जानना चाहिए। अतः सिद्ध है कि पुद्गल स्वरूप कर्मका संचय या बन्ध, शुद्ध चैतन्यसे भिन्न, रागादि विकल्प ही करते हैं।

(७०) **प्रश्न**—जैसे ज्ञानोपयोग जीवकी सत्तामें पाया जाता है, उसी तरहसे क्रोधादि रागादि भाव भी तो जीवकी ही सत्तामें पाए जाते हैं। जड़ पुद्गल रागादि नहीं पाए जाते, अतः दोनोंको समकोटिमें क्यों नहीं गिना जाता ?

समाधान—ज्ञानोपयोग जीवमें सदा पाया जाता है, क्रोधादि तथा रागादि भाव कर्मोदयकी अवस्थामें पाये जाते हैं, सदा नहीं, अतः दोनोंमें भेद है। इनका कर्तृत्व भोक्तृत्व जीवमें अशुद्ध **निश्चय नय, या व्यवहार नयसे** अवश्य है।[2] यदि व्यवहारसे भी कर्तृत्व भोक्तृत्व न माना जाय तो

१. णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु ऐदे सव्वे पुग्गल दव्वस्स परिणामा॥ —समयसार गाथा ५५.

२. ववहारस्स दु आदा पुग्गल कम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गल कम्मं अणेयविहं॥
जदि पुग्गल कम्म मिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो किरिया वदि रित्तो पसज्जए सो जिणावमदं॥ —समयसार गाथा—८४-८५.

कर्मबंध रूप संसारका भी अभाव होगा। संसार नहीं, तो मोक्ष भी नहीं। तव सर्वोपदेश प्रकिया भी व्यर्थ हो जायगी। अतः सर्वथा एकान्तसे आत्मा अवद्ध नहीं है, और सर्वथा एकान्तसे वद्ध नहीं है, किन्तु शुद्धनयसे अवद्ध है, और अशुद्धनयसे वद्ध है।

सारांश यह कि द्रव्य शुद्धका अर्थ है कि जीव द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है। पर्याय शुद्धका अर्थ यह है कि वर्तमान अशुद्ध पर्यायको मिटाकर निरुपाधि स्वभाव प्रकट हो जानेपर मुक्तावस्था हो। जैसे द्रव्य दृष्टिका विषय द्रव्य यथार्थ है वैसे ही पर्याय दृष्टिका विषय पर्याय भी यथार्थ है, अतः दोनों नय यथार्थताका ही प्रतिपादन करते हैं। तथापि जो नय पर्याय पर दृष्टि न रखकर, उसे गौणकर स्वभावको देखता है वह द्रव्यदृष्टि है, और जो नय स्वभावको गौणकर वर्तमान पर्यायको देखता है उसे पर्याय दृष्टि या व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

व्यवहार दृष्टिको, स्वभाव दृष्टिसे असत्यार्थ कहा है, क्योंकि व्यवहार या तत्कालीन पर्याय जीवका त्रैकालिक स्वभाव नहीं है। फलतः अशुद्ध जीवके मिथ्यात्व-कषायादि विकारी भाव हैं, जिन्हें वन्धका कारण कहते हैं। चूँकि वे अशुद्ध पर्याय हैं, सोपाधि हैं, अतः वे वन्धकर्ता हैं। जीव द्रव्य वन्धकर्ता नहीं है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका त्रैकालिक स्वरूप वन्धका कर्ता नहीं है। अतः जीव वन्धकर्ता नहीं ऐसा कहनेमें कुछ वाधा नहीं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय वन्धके कारण हैं और वे स्वभाव भाव न होनेसे चेतनसे भिन्न अचेतन हैं, ऐसा कथन करनेमें कुछ वाधा नहीं है ॥६३॥

अतः यह स्थित हुआ कि—

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता ॥६४॥

अन्वयार्थ—(**पुद्गलस्य परिणामशक्तिः स्वभावभूता**) पुद्गल द्रव्यमें परिणमन योग्यता स्वाभाविक रूपमें है (**इति अविघ्ना स्थिता**) यह वार्ता निर्वाध सिद्ध है। (**तस्यां स्थितायाम्**) इस वातके स्थित हो जानेपर (**सः यम् आत्मनः भावं करोति**) पुद्गल द्रव्य अपनी जिस पर्याय रूप परिणमता है (**स एव तस्य कर्ता**) उस समय उस पर्यायका कर्ता वही पुद्गल द्रव्य है ॥६४॥

भावार्थ—द्रव्योंमें परिणमनकी योग्यता स्वयं होती है। स्वयंकी परिणमनशीलताके विना वे, पर निमित्तके रहने पर भी, परिणमन नहीं कर सकते। इस सामान्य नियमका सद्भाव छहों द्रव्योंमें है। अतः पुद्गल द्रव्यमें भी है। पुद्गल द्रव्यके कर्मरूप परिणमनमें मिथ्यात्वादि भाव प्रत्यय निमित्त रूप हैं। तथापि प्रत्ययोंको यथार्थ कारणता नहीं है। किन्तु यथार्थ-कारणता उस पुद्गल द्रव्यकी परिणमनशीलताको है। पर्यायकी प्राप्ति पुद्गल द्रव्यको होती है, अतः पर्यायका कर्ता पुद्गल द्रव्य है, और पर्याय उस कर्ताका यथार्थ कर्म है। उस पर्यायका भोग भी पुद्गल करता है। यदि वह कर्ता न होता तो भोक्ता भी न होता। जो कर्ता सो भोक्ता होता है।

(७१) **प्रश्न**—कर्मवंधका फल तो जीव भोगता है, अतः जीवको उसका कर्ता कहना चाहिए।

समाधान—नहीं, जीव तो कर्मवंधकी उदयावस्था होनेपर उसके निमित्तसे अपनेमें जो पर्याय-सुख-दुख रागादि रूप प्रकट करता है, उस **अपने भावका कर्ता भोक्ता होता है**। कर्म पर्याय रूप परिणति तो कर्म पुद्गल ही करता है।

(७२) **प्रश्न**—जीव ही तो अपने मिथ्यात्वादि भावोंसे उन्हें कर्मरूप परिणमाता है, अतः जीवको कर्ता कहना चाहिए ?

समाधान—जीवके मिथ्यात्वादि भाव उन्हें कर्मरूप परिणमाते हैं ऐसा कथन करने पर यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि अपरिणमनशील पुद्गलको कर्मरूप परिणमाते हैं ? या परिणमनशीलको ?[1] यदि अपरिणमनशीलको परिणमन कराते हों तो उसमें अपरिणमनशीलता कहाँ रही ? जो परनिमित्तसे परिणम गया उसमें अपरिणमनशीलताकी बात कहना गलत है। यदि कहो कि पुद्गल परिणमनशील तो है, तो कहना होगा कि इसी स्वभावके कारण परिणमता है, जीवके परिणाम उस परिणमनको नहीं कराते। वे उसमें निमित्त मात्र अवश्य हैं।

यदि जीवके मिथ्यात्वादि भाव ही पुद्गलको, परिणमनशीलताके अभावमें भी, परिणमन करा सकते तो शास्त्रकार ऐसा न लिखते कि 'कार्माण वर्गणाएँ अर्थात् जिनमें कर्मरूप परिणमनकी योग्यता है, वे ही कर्म रूप, ज्ञानावरणादि रूप बनती हैं। तब तो वचन वर्गणा, मनोवर्गणा आदि तेईस प्रकारको जो वर्गणाएँ कही हैं वे सब मिथ्यात्वादि भावोंके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप बन जातीं। पर शास्त्रीय नियम ऐसा नहीं है।

शास्त्रीय नियमोंके अनुसार केवल कार्मण वर्गणा ही कर्म रूप बन सकती हैं।[2] वे मन या वचन रूप नहीं बन सकतीं। इसी प्रकार मनोवर्गणा ही मन रूप परिणमन कर सकती हैं, वे कर्म या वचन नहीं बन सकतीं। वचन वर्गणाएँ वचन रूप परिणमन कर सकती हैं, वे ज्ञानावरणादि कर्मरूप या मनरूप नहीं बन सकतीं। इससे सिद्ध है कि तेईस प्रकारकी वर्गणाएँ अपनी अपनी स्वजाति रूप पर्यायको ही प्राप्त हो सकती हैं, अन्य पर्याय रूप नहीं। उनको पर्याय परिवर्तनके लिए वे ही निमित्त कारण बन सकेंगे जो उनके अनुकूल परिणमनको प्राप्त होंगे। अतः सिद्ध है कि निमित्त कारण, किसी दूसरे द्रव्यको बलात् परिणमन नहीं करा सकता, किन्तु अपनी योग्यतानुसार परिणमनशील द्रव्यको उससे स्वयं सहायता प्राप्त हो जाती हैं।

सहायताका अर्थ कर्तृत्व नहीं है। उसका व्युत्पत्त्यर्थ '**सह-अयते**' इति **सहायकः** ऐसा है। अर्थात् जो जो परिणमनशील पदार्थकी अपनी परिणति रूप परिणमनके कालमें, उसके साथ-साथ चले, अर्थात् अनुकूल रूप अपना परिणमन करे, उसे सहायक कहते हैं।

परिणमनशीलता प्रत्येक पदार्थमें स्वयंके कारण स्वयं सिद्ध है। अतः जो नियम पुद्गल द्रव्यके लिए हैं वे ही जीव द्रव्यके लिए भी हैं। जीव भी परिणमनशील द्रव्य है। परिणमन करना उसका भी स्वभावभूत धर्म है। यदि ऐसा न हो तो उसे क्रोधादिरूप कौन परिणमन कराता ?

(७३) **प्रश्न**—कर्मोदय उसे क्रोधादि परिणमन कराता है ऐसा क्यों नहीं मानते ?

समाधान—जीव परिणमन स्वभाव वाला है। अपने इस स्वभावके कारण ही कर्मोदयके निमित्तको पाकर क्रोधी बनता है। यदि वह सर्वथा नित्य द्रव्य होता तो निमित्तके सहयोगसे भी उसमें परिणमन संभव न होता ॥६४॥

---

१. किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत। —समयसार गाथा ११८ की आत्मख्याति टीका।

२. पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ। —समयसार गाथा ११२ आत्मख्याति टीका।

इसे निम्न पद्य द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता ॥६५॥

अन्वयार्थ—(**जीवस्य परिणामशक्तिः स्वभावभूता**) जीव द्रव्यमें भी परिणमन स्वभाव स्वतःसे ही है यह बात (**निरन्तराया इति स्थिता**) निर्बाध रूपसे सिद्ध हुई (**तस्यां स्थितायाम्**) इस बातके सिद्ध होने पर (**यं स्वस्य भावम्**) अपने जिस भावको (**स करोति**) वह जीव करता है (**तस्यैव**) उस भावका (**स एव कर्त्ता भवेत्**) वही कर्त्ता होता है ।।६५॥

भावार्थ—जीव द्रव्य भी जिस-जिस समय जो-जो भाव करता है अर्थात् शुभ, अशुभ, शुद्ध रूप परिणमन करता है, उस काल में उस-उस भावका कर्ता होता है। क्योंकि जीव द्रव्य भी पुद्गलकी तरह स्वयं परिणमन स्वभावका धारक है।

ज्ञानी सदा अपने ज्ञानमय भावको करता है अतः उसका वह कर्त्ता है। ज्ञानमय भाव उसका कर्म है। अज्ञानी-अज्ञानमय भाव करता है, सो वह उन भावोंका कर्त्ता है और अज्ञानमय भाव उसके कर्म हैं। किसी द्रव्यका कर्ता कोई अन्य द्रव्य त्रिकालमें नहीं है ॥६५॥

यहाँ प्रश्न—

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः**) ज्ञानी पुरुषके (**ज्ञानमयः एव भावः**) ज्ञानमय भाव (**भवेत्**) होता है (**न पुनः अयः**) दूसरे भाव नहीं होते (**इति कुतः**) ऐसा किस कारण से है ? (**अज्ञानमयः सर्वः**) तथा सम्पूर्ण अज्ञानमय भाव (**अज्ञानिनः**) अज्ञानी जीवके होते हैं (**नान्यः**) अन्य भाव नहीं होते (**अयम् कुतः**) यह भी क्यों है ? ॥६६॥

भावार्थ—ज्ञानीके भाव ज्ञानरूप हों इसमें आपत्ति नहीं है, पर सदा ज्ञानरूप ही होवें, कभी भी अन्य रूप न हों ऐसा किस कारणसे कहा जाता है ? तथा अज्ञानीके भाव अज्ञानमय ही हों कभी भी ज्ञानमय भाव न हों इसका भी क्या कारण है ऐसा प्रश्न है ॥६६॥

उसका समाधान निम्न पद्यमें किया है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः सर्वे भावाः**) ज्ञानी के सभी भाव सदाकाल (**ज्ञाननिर्वृत्ताः**) ज्ञान द्वारा रचित (**हि भवन्ति**) ही होते हैं। (**अज्ञानिनस्तु ते**) वे भाव अज्ञानी जीवके सर्वे (**अज्ञाननिर्वृत्ताः**) सभी अज्ञान रचित (**भवन्ति**) होते हैं ॥६७॥

भावार्थ—ज्ञानी जीवकी परिणति शुद्ध चैतन्यसे रचित है, अतः उसमें जो-जो भाव होंगे वे सब शुद्ध चैतन्य रूप होंगे, तथा अज्ञानीके अज्ञानमय ही भाव होंगे। उदाहरणसे समझिए— किसी भी नदीका पानी वहता हुआ जब ऐसी भूमि परसे निकलता है जो भूमि रक्तवर्ण हो, तब वह सम्पूर्ण जल लाल वर्णका ही होकर वहता है। उसी नदीका जल जब स्वच्छ कंकरीली भूमि

पर बहता है, या रेतीली भूमि पर बहता है तब वह स्वच्छ रहता है। लाल मिट्टी घुलनशील है अतः उसका रंग पानीमें घुल जानेसे वह लाल होकर ही प्रवाहित होता है। रेत या कंकड़ घुलनशील नहीं है अतः वहाँका जल स्वच्छ होकर ही बहता रहता है। इसी प्रकार जो जीव मिथ्या दृष्टि हैं वे मिथ्यात्वकी भूमिका पर स्थित हैं, अतः उनका परिणाम मोह राग-द्वेषके रङ्गसे रङ्गा हुआ ही होता है इससे यह जीव मोह राग द्वेष आदि अपने अज्ञान भावका ही कर्ता होता है। परन्तु ज्ञानी जीवके मिथ्यात्वका नाश हो गया है अतः वह सदा ज्ञानभावकी भूमिकामें ही स्थित होनेसे, अपनेको रागादि मोहादि रूप नहीं करता, अतः जिस ज्ञान भाव रूप उसका परिणमन है उस भावका कर्ता होता है—अन्य भावोंका नहीं।

(७४) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि तो चौथे, पाँचवें गुणस्थान वाला तथा छट्ठे गुणस्थान वाला भी होता है, तो क्या इनके अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण या संज्वलन कषायका उदय नहीं है? यदि है तो तत्कषायरूप परिणमन भी होता है। तब वह तत्कषायरूप अज्ञान परिणाम का कर्ता क्यों न माना जाय।

समाधान—यद्यपि पूर्ण **वीतराग सम्यग्दृष्टि तो ग्यारहवें-बारहवें** आदि गुणस्थानोंवाला ही है, उसके कषायोंका उदय नहीं है, इसलिए उत्कृष्ट ज्ञानी जीव तो वही है, उसके रागादि परिणाम नहीं होता। तथापि चतुर्थादिगुणस्थानवर्तीके मोह (मिथ्यात्व) का उदय, तथा **अनन्त संसार में परिभ्रमण**के लिए हेतुभूत अनन्तानुबंधी कषायका उदय नहीं है। चूँकि उसे भी अनन्त संसारके कारणभूत अज्ञान भाव नहीं है अतः वह भी ज्ञानी है, अज्ञान भावका कर्ता नहीं है।[1] जितने अंश रागादि हैं उतना बन्ध भी होता है। तथापि इनके स्वामित्वका अभाव है अतः उसे अबन्धक कहा है। सम्यग्दर्शनके साथ पायी जानेवाली कषायें अज्ञान भाव नहीं है। क्योंकि उनमें उसकी हेय रूप श्रद्धा है।

विशेष—सम्यग्दृष्टि भले ही चतुर्थादि गुणस्थान वाला हो, सदा काल अपने अटल श्रद्धान पर दृढ़ है। उसकी मान्यता शरीरादि व कर्मादि द्रव्योंमें भेद रूप है। जैसे नट रस्सीपर नृत्य करता है, हाव भाव दिखाता है तथापि अपना जो शरीरका वजन है उसे समतौल बनाए रखनेका सतत प्रयत्न रखता है। एक बाँस जो उसके हाथमें रहता है उसे दोनों तरफ ऊँचा नीचा करता रहता है, जिससे अपने शरीरको भी इस प्रकार बनाए रख सके कि उसमें विषमता न हो, समतौल बना रहे। इसीसे रस्सीपर नृत्य करते, आते-जाते, दौड़ते-खड़े रहते हुए, इन सब नाना अवस्थाओंमें भी यह रस्सीसे गिरता नहीं है। जो व्यक्ति शरीरको समतौल नहीं रख सकता, वह नियमसे भूमि पर गिर पड़ता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव खाते-पीते, संसारके पंचेन्द्रियोंके विषय भोगते हुए भी, ये सब हेय हैं, जड़ रूप हैं, मेरे आत्म स्वरूपसे भिन्न अनात्मरूप हैं, ऐसा जानता है। कर्मोदयके होनेपर भी वह कर्म व कर्मोदयसे तथा तज्जन्य सुख दुःखादिसे अपनेको एकाकार रूप अनुभव नहीं करता। वह अपने ज्ञान-दर्शनमय स्वरूप पर सदा लक्ष्य रखता है। वह कठिन अवस्थामें भी अधीर नहीं होता, किन्तु अपनेको समतौल रखता है। अतः अपने ज्ञान स्वरूपका अनुभव करनेके कारण ज्ञानी ज्ञान भावका ही कर्ता है, ऐसा कहा गया है।[2]

---

१. यहां पर ऐसा जानना कि ज्ञानी कहने से अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी हैं।
—समयसार गाथा २२७, पं० जयचन्द जी छावड़ा कृत भाषा टीका में भावार्थ।

२. निर्जरा अधिकार।—समयसार गाथा १९३ से २००।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि आत्माके स्वरूपको यथार्थ न जाननेसे अनात्मज्ञ है। वह अपने स्वरूपको परके साथ अर्थात् शरीरके साथ, एकाकार कर ज्ञान करता है। दोनोंकी विभिन्नता उसे अनुभवमें नहीं आती, इस अज्ञानकी भूमिकाको वह नहीं त्यागता। शास्त्र पठन करते हुए, व्रतादि पालते हुए, दान पूजादि शुभकार्यका आचरण करते हुए भी, शरीर आत्मा भिन्न-भिन्न हैं—ऐसा शास्त्रके आधार पर जानते तथा वर्णन करते हुए भी, वह अपनेको शरीरसे भिन्न, कर्मोदय जनित विकारों से भिन्न, **अनुभव नहीं करता, किन्तु उनसे एकाकार रूप अनुभव करता** है। उसका ज्ञान भले ही आगमाश्रित हो, व्रताचरणादि आगमानुकूल हों, किन्तु **श्रद्धारूप परिणति** पर भावोंके **एकाकार रूप** होनेसे परिणतियाँ **अज्ञानमय** ही हैं। अतः यह पद-पद पर अज्ञानमय भावका ही कर्ता होता है ज्ञानमय भावका कर्ता कभी नहीं होता ॥६७॥

अज्ञानी जीवकी स्थितिका स्पष्टीकरण करते हैं—

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानी**) मिथ्यादृष्टि (**अज्ञानमयभावानाम् भूमिकां व्याप्य**) अज्ञानमय भावोंकी धरणीको प्राप्त कर (**द्रव्यकर्मनिमित्तानाम् भावानाम्**) द्रव्यकर्मके बंधके लिए निमित्त कारणभूत (**भावानाम्**) परिणामोंकी (**हेतुताम्**) उपादान कारणताको (**एति**) प्राप्त होता है ॥६८॥

भावार्थ—जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञानमय भावमें तन्मय होनेके कारण ज्ञानमयी भावोंका कर्ता होनेसे अबन्धक है, उसी प्रकार अज्ञानी अज्ञानमय भावों से तन्मय होनेसे कर्मबन्धका कर्ता है। कर्मबन्धके समय आत्माके मिथ्यात्व-रागादि परिणाम बाह्य निमित्त हैं, तथा पुद्गल द्रव्य की परिणमन स्वभावता मुख्य या अन्तरङ्ग कारण है। जीवके मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमनमें कर्मका उदय बाह्य निमित्त है, आत्माकी परिणमन स्वभावता मुख्य या अन्तरङ्ग कारण है।[1]

यह बात सुननेमें अटपटी सी लगती है; क्योंकि अब तक रागका कारण कर्मोदय और कर्म-का कारण जीवका राग, मानते आए हैं। अतः उक्त कथन सामान्यतया लोगोंके, जो कुछ आगमके भी अभ्यासी हैं, उनको भी, मनमें नहीं बैठता। इसका कारण यह है कि परमें कर्तृत्व बुद्धिकी जो भूल अनादिसे चली आती है, उसीके परिप्रेक्ष्यमें आगमका अभ्यास किया है। जिसके कारण, बाह्य कारण अर्थात् निमित्त कारणको ही मुख्य कारण मान बैठे हैं। अन्तरङ्ग कारणको, जो मुख्य है—उसे गौण कर रखा है। अथवा उसकी कारणताको लंगड़ा कारण समझा है। और यह समझा है कि उसका लंगड़ापना निमित्त ही मिटाता है।

---

१. ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्लम्पि ॥
—समयसार गाथा ८१

तथा

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥
—समयसार गाथा १२६

यद्यपि कार्यमें अन्तरंग-बहिरंग दोनों कारण माने गये हैं, तथापि **अन्तरंग कारण मुख्य कारण है और बहिरंग कारणको उपचारसे कारण माना गया है।** वह यथार्थ कारण नहीं है। परन्तु अनादि से परको ही कर्ता माननेका जो भ्रमपूर्ण ज्ञान चला आता है, उसके कारण **अन्तरंग कारणकी कारणता उपेक्षित हो** गई है और बाह्य निमित्त **कारणमें ही कर्तृत्वकी** मान्यता दृढ़ हो गई है। वह मान्यता आगमाभ्यास करने पर भी दूर नहीं हुई। आगमका अर्थ अपनी मान्यताके आधार पर लगा लिया जाता है।

आचार्य कुंदकुंद तथा श्री अमृतचन्द्राचार्यने **पर कर्तृत्वकी बातको अयथार्थ माना** है। यह संपूर्ण कर्ता कर्म अधिकार केवल इसी अर्थका प्रतिपादन करता है। जीव जब इस तथ्यको जानता है तब इसे ही दृढ़तासे पकड़ता है। **तब ही वह रागादिकी उत्पत्तिमें स्वयंकी कारणता मानकर, स्वयंके पुरुषार्थको जगाकर, अपनेको वीतराग मार्ग पर ले जाता है और अबन्धक होता है।** जो परको ही रागादिका कारण मानता है वह आत्मभावको प्राप्त करने के लिए अपनेमें पुरुषार्थ न करके, द्रव्यकर्मको तोड़नेकी बात सोचता है, जो कि सम्भव नहीं है।

जो वस्तु जिस प्रकार उत्पन्न होती है, उसके तोड़नेके भी साधन वहीं देखने चाहिए। यदि रागादिका निमित्त पाकर जीव संसारी बना है या प्रकारान्तरसे कहो कि रागादिरूप परिणमन ही जीवका संसार है, तो संसार तोड़नेको रागादि भावोंका निवारण ही करना होगा। वह अपने कुपुरुषार्थसे उत्पन्न था, अतः परको दोष न देकर अपना सुपुरुषार्थ ही प्राप्त करना होगा। तब वह वीतरागी हो मुक्त होगा, अन्यथा नहीं।

(७५) **प्रश्न**—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वी होता है, यह सर्वत्र आगममें प्रसिद्ध है। क्या इसे आप स्वीकार नहीं करते ?

समाधान—आगममें जो लिखा है उसका तात्पर्य मिथ्यात्वके भावकी उत्पत्तिमें बाह्य कारण क्या है, उसको दिखाना मात्र है। अन्तरंग कारणका निषेध उसका अर्थ नहीं है। वह तो मुख्य कारण है ही।

(७६) **प्रश्न**—यह कैसे जाना जाय।

समाधान—यह ऐसे जानना चाहिए कि—आगम परकर्तृत्वका निषेध करता है अतः **कर्मको कर्ता स्वीकार करना उपचरित है। मुख्य कर्तापना वस्तुकी परिणमनशीलता रूप स्वभाव को है।**

(७७) **प्रश्न**—बिना कर्मोदयके जीवके रागादि नहीं देखे जाते, यदि उनके बिना केवल अपने ही कारण रागादि होवें तो अरहन्त सिद्ध परमात्मा भी पुनः रागी हो जायेंगे।

समाधान—न होंगे, क्योंकि रागादि होनेमें हमने केवल एक कारण नहीं कहा, किन्तु उसे **मुख्य कारण कहा है। मुख्य कारण परिणमनशीलताको कहा है।** रागरूप परिणमन तो उन परिणमनोंमेंसे एक परिणमन है। रागादि परिणमन **स्वभाव रूप परिणमन** नहीं है। कर्मोदयकी उपाधिमें, जीव अपने स्वरूप ज्ञानके अभावमें रागादि रूप परिणमन करता है। वही जीव कर्मोदय उपाधिके बिना रागादि रूप परिणमन नहीं करता। इस तरह परके साथ बहिर्व्याप्यव्यापक भाव होनेसे, कर्मोदयको बाह्य निमित्त स्वीकार किया है—उसका निषेध नहीं है, तथापि कर्मोदयके निमित्तसे यदि विभाव परिणमन करता है तो इससे उसे कर्तृत्व प्राप्त नहीं होता। किन्तु उन कारणसे ही उसमें कर्तृत्वका उपचार होता है। यदि उसके साथ बहिर्व्याप्य-व्यापक भाव न होता तो न उसे निमित्त कहते, और न उसमें उपचार से भी कर्तृत्व स्वीकार करते।

उपचार कर्ताको ही मुख्य कर्ता मानना, यह आगमसे विरुद्ध है। इससे तो यह फल निकलता है कि मेरे संसार भावका कर्ता पर है, और मुझे उसकी पराधीनता है। जब वह छोड़े तब मुझे मुक्ति प्राप्त होगी। मोक्ष प्राप्त करनेमें आत्मा परके आधीन रही, तब स्वयंके प्रयत्न करनेका उपदेश वृथा होगा। अन्य पर पदार्थ आपकी इच्छानुकूल परिणमन करे, ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं है, अतः यही मानना आगमानुकूल है कि **मुख्यकारण प्रत्येक पदार्थका अन्तरंग कारण** ही है।[1]

जीवको अतत्त्वोपलब्धि है, इसे ही अज्ञानका उदय कहते हैं। अश्रद्धान रूप परिणाम है वह मिथ्यात्वका उदय है। इसी प्रकार असंयम और योग, ये भी जीवके संयमरूप प्रवृत्ति न करने तथा शुभाशुभ चेष्टाएँ करने रूप, सब अशुद्ध संसारी जीवकी परिणतियाँ हैं; इन परिणतियोंको ही जीवमें मिथ्यात्वका—अज्ञानका—असंयमका तथा योगका उदय कहा जाता है।[2]

जहाँ भी शास्त्रमें यह कथन आवे कि मिथ्यात्वके अज्ञानके या असंयमके उदयमें जीव-कर्मबन्ध करता है, वहाँ उदयका अर्थ जीवके **उक्त भावोंका उदय जानना चाहिए।** द्रव्य कर्मकी उदयावस्था द्रव्य कर्ममें होती है, और मिथ्यात्वादि भावोंकी उदयावस्था जीवमें होती है। दोनोंमें परस्पर केवल निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। बहिर्व्याप्य-व्यापकता है, अतः यह सम्बन्ध भी कथनमें आता है। पर यह स्पष्ट है कि वह जीवका परिणाम है तथा कर्मोदय कर्मका परिणाम है। दोनों द्रव्योंके दो पृथक्-पृथक् अपने-अपने परिणाम हैं। कार्यकी उत्पत्ति एक द्रव्यमें देखकर एक द्रव्यको ही उसका कर्ता मानना न्याय संगत है।

(७८) **प्रश्न**—इस स्थितिमें जीव कर्मबद्ध है या नहीं ?

समाधान—दोनों कथन नयापेक्षया होते हैं। व्यवहारनयसे जीव कर्मसे बद्ध है। दो पृथक् स्वभाववाले द्रव्योंमें परस्पर एक क्षेत्रावगाह रूप श्लेष, तथा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी **स्थापनासे** ऐसा **व्यवहारमें** कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव कर्मसे बद्ध नहीं है ऐसा भी कथन संसारी दशामें भी, केवल **जीवके शुद्ध स्वभावको लक्ष्य करके किया जाता है।** ये दो बातें दो नयोंके आधारसे कही जाती हैं।

(७९) **प्रश्न**—जब दो बातें कही जाती हैं—जब दोनोंमें जीवका स्वरूप वर्णित है। ऐसी दशामें शिष्य किसे सत्य माने ? क्योंकि सत्य तो एक ही होगा। परस्पर विरोधी दो बातें हों तो क्या दोनों सत्य हो सकती हैं ?

समाधान—अपने-अपने नयकी दृष्टिसे दोनों सत्य हैं। निश्चयनय मात्र द्रव्यस्वरूप दृष्टिसे उसका वर्णन करता है, जबकि व्यवहारनय उसे न देखकर, उसे गौणकर, उसकी वर्तमान पर्यायको लक्ष्यमें रखकर, जो कि परोपाधि युक्त है, उसे ही जीवमें देखता है।

दोनों नय केवल वस्तुके वर्णनमें दो पक्ष हैं, किन्तु नयोंद्वारा वस्तुके स्वरूपको जानकर पक्षपातरहित होना ही श्रेयस्कर है। इसी तथ्यको निम्नपद्य प्रकट करता है—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥

---

१. अण्ण दवियेण अण्ण दवियस्स ण करिदे गुणुप्पाओ ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥
—समयसार गाथा ३७२

२. अण्णाणस्स स उदओ........................।
—समयसार गाथा १३२–१३३–१३४

अन्वयार्थ—(ये) जो सम्यग्दृष्टि वीतरागी पुरुष (**नयपक्षपातं मुक्त्वा**) नयपक्षोंके विकल्पोंकी चर्चाको छोड़कर (**नित्यम् एव**) सदा ही (**स्वरूपगुप्ता निवसन्ति**) अपने निजस्वरूपमें ही निवास करते हैं। (**विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः**) नयपक्षोंके विविध विकल्पोंके समूहसे भिन्न, निर्विकल्परूप शान्त चित्तवाले (**ते एव**) वे पुरुष ही (**साक्षात् अमृतं पिबन्ति**) साक्षात् अमृतका पान करते हैं। अर्थात् वे ही जन्म मृत्युसे रहित साक्षात् स्वरूपानन्दके भोक्ता होते हैं ॥६९॥

भावार्थ—नयोंका उपयोग वस्तुके स्वरूपके परिज्ञान तक ही है। शुद्धनयका विषयभूत जो शुद्धात्मा 'वह उपादेय है' इसमें सन्देह नहीं है, तथापि उस नयद्वारा जो वस्तुका स्वरूप फलित होता है, उसे समझकर 'वैसा स्वरूप मेरा है' उसे अनुभव करें। तथा व्यवहारसे जो परोपाधि निमित्तक दशा मेरी है वह 'है' इसमें सन्देह नहीं है। वह नहीं है ऐसी भी बात नहीं है तथापि मेरा वह स्वभाव नहीं है, विकारीभाव है, अतः वह अनुपादेय है। सो अपनी त्याज्य-दशाको त्यागकर तथा उपादेयस्वरूपको ग्रहणकर, दोनों नयोंके पक्षपातरूप विकल्पोंको भी छोड़कर, अपने उपादेय निजस्वरूपमें ही जो निवास करना है वही श्रेयस्कर है।

ऐसा करनेवाले ही अपनी आत्माको स्वरूपरूप अखण्ड आनन्दमय बनाते हैं। जो इसी विकल्पमें पड़े रहते हैं कि अमुक नयकी अपेक्षा मैं ऐसा हूँ, और अमुक नयकी अपेक्षा मैं ऐसा हूँ, वे नयजालमें ही पड़े रह जाते हैं। करणीयको करते नहीं है, अतः वे मुक्त नहीं होते।

इसी सत्यका उद्घाटन आचार्य २० पद्योंमें लगातार करते हैं वे पद्य निम्न भाँति हैं—

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥
एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥
एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥
एकस्य कर्त्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य, चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥
एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥
एकस्य सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अन्वयार्थ—(एकस्य बद्धः) व्यवहारनयका पक्ष है कि जीव कर्मबद्ध है (न तथा परस्य) किन्तु शुद्धनिश्चयनयका पक्ष है कि जीव कर्मोंसे बद्ध नहीं है (चिति) चैतन्यस्वरूप आत्माके विषयमें (द्वयोः) इन दो नयोंके (द्वौ पक्षपातौ) दो प्रकारके अपने-अपने पक्ष हैं। (यः तत्त्ववेदी) किन्तु जो तत्त्वको जानता है (च्युतपक्षपातः) वह इन दोनों नयोंके पक्षमें पतन नहीं करता (तस्य) उसके ज्ञानमें (खलु) निश्चयसे दृढ़तापूर्वक (चित् चित् एव) चैतन्य केवल चैतन्यरूप ही भासता है ॥७०॥

भावार्थ—परस्पर विरोधी जैसे दिखाई देने वाले दो धर्मोंको, अपने-अपने विभिन्न दृष्टि-कोणोंसे पदार्थमें देखने वाले दो नय, अपना-अपना पक्ष सामने लाते हैं।

संसारी दशाकी अपेक्षासे देखें तो यह जीव अष्ट कर्मोंके बन्धनसे अनादि कालसे ही बँधा हुआ है, यह व्यवहारनयकी दृष्टिका कथन है। वर्तमान अवस्था संसारी प्राणीकी ऐसी ही है इसीसे उसे मोक्षमार्गका उपदेश दिया है। यदि वह सर्वथा निर्बन्ध हो, तो समस्त शास्त्रोंमें उसे मुक्त होनेका जो उपदेश दिया गया है वह सब शास्त्रोंका उपदेश निष्फल हो जायगा। भगवान् केवलीने भी संसारके समस्त प्राणियों पर करुणा कर उनके हितरूप तत्त्वोपदेश दिया है। तथा गणधर देवादिसे लेकर आज तक समस्त आचार्योंने भी भव्य प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे मौखिक या लिखित उपदेश दिए हैं। जिनके लिए ये उपदेश हैं, वे सभी संसारी प्राणी कर्मवद्ध हैं, ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है।

(८०) **प्रश्न**—केवली भगवान्ने 'करुणा कर' उपदेश दिया ऐसा आपने लिखा पर यह तो यथार्थ नहीं है। क्योंकि करुणा या दयाभाव तो शुभ राग है। भगवान् केवली मोह कर्मका सर्वथा क्षय कर केवली हुए हैं; अतः वहाँ रागभावकी पर्याय 'करुणा' का कथन स्पष्टतया आगम विरुद्ध है।

समाधान—एक पक्ष ऐसा भी है जैसा प्रश्नमें वताया गया है। इसी लिए भगवान्को **'अत्यन्तनिर्दयः'** ऐसा भी एक नाम दिया गया है। उस कथनका तात्पर्य वहाँ भी ऐसा ही जानना जो मोह कर्मका अत्यन्त नाश कर देनेसे, शुभ रागरूप दया न होनेसे, उन्हें 'अत्यन्तनिर्दय' कहा है। यद्यपि लौकिक जन इस शब्दका प्रयोग **'कठोरपरिणामी'** हिंसकके लिए करते हैं, परन्तु इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग वहाँ नहीं है। शुभाशुभ राग रहित **"वीतरागता"** के अर्थमें इस शब्दका प्रयोग है।

अतएव यह समझना चाहिए कि धर्म देशक होनेसे हम उन्हें दयावान्, करुणावान्, शब्दका प्रयोग अपनी दृष्टिसे करते हैं। हमारा जो हितकारक हो उसे हम दयावान् करुणावान् कहते है। अतः व्यवहार पक्षसे उन्हें दयावान् कहना अनुपयुक्त नहीं है। निश्चयसे देखा जाय तो वे रागद्वेष रहित हैं अतः उनके लिए वीतराग, वीतवैर, निर्मोह शब्दका उपयोग कर सकते है। संसारी जन तो 'निर्मोह' का अर्थ भी 'निर्दय' के अर्थमें करते हैं। अतः शब्दका प्रयोग कहाँ किस विवक्षामें है इसे समझकर उसमें विवाद नहीं करना चाहिए।[1]

इस प्रकार जीवको व्यवहारनयसे 'कर्मवद्ध' कहा गया है। 'न तथा परस्य' इस शब्द द्वारा शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे यह कहा गया है कि 'जीव द्रव्य' सदासे अपने चैतन्य उपयोग लक्षणात्मक है। पुद्गलादि पर द्रव्यों से भिन्न है। उसमें कभी परद्रव्यका, उसके गुण पर्यायोंका, प्रवेश नहीं होता। वह अपने गुण पर्यायोंमें सदा रहा है और सदा रहेगा। किसी भी प्रकार दूसरे द्रव्यका एक भी परमाणु जीव नहीं वन सकता, और जीवका कोई प्रदेश, कोई गुण, कोई पर्याय, पुद्गल नहीं बन सकती। तव जीव कर्मसे वद्ध नहीं है, 'अवद्ध है', और सदासे है, तथा सदा काल रहेगा, ऐसा **शुद्धनिश्चयनयका** कथन है।

दोनों नय अपने-अपने दृष्टिकोणसे चैतन्यमात्र तत्त्वको वद्ध, अवद्ध रूपमें देखते हैं, अतः दोनों नयोंके दो पक्ष हैं। आचार्य कहते हैं कि यदि दोनों पक्षोंको छोड़कर वस्तुको देखें तो

१. कलश २१२ की टीकामें इस पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यथार्थमें 'चैतन्य तो चैतन्य मात्र है'। इनमें नयोंके नाना विकल्प वस्तुको खण्ड-खण्ड देखते हैं, पर वस्तु तो अखण्ड चैतन्य स्वरूप है उसमें वद्ध या अवद्धताके विकल्प ही नहीं लाना चाहिये, वह तो स्वयं निर्विकल्प तत्त्व है। विकल्प दृष्टियाँ उसमें अनेक भेद खड़ा करती हैं। यही वात श्लोक संख्या ७० से ८९ तकमें वताई गई है। वे विकल्प नयोंके निम्न प्रकार हैं—

एक नय यदि जीवको मोही कहता है, तो दूसरा नय उसे निर्मोह कहता है ॥७१॥

अशुद्ध नय उसे रागी कहता है, तो शुद्ध नय उसे वीतरागी कहता है ॥७२॥

एक नय जीवको द्वेषी कहता है, तो शुद्ध नय उसे वीतद्वेष कहता है ॥७३॥

एक नय उसे रागादि विकारका कर्ता मानता है, तो शुद्ध नय अकर्ता मानता है ॥७४॥

व्यवहार नय उसे कर्मफलभोक्ता मानता है, तो निश्चय नय अभोक्ता मानता है ॥७५॥

व्यवहार नय उसे प्राणादिमान् जीव कहता है। शुद्ध नयमें वह ऐसा नहीं है, शुद्ध ज्ञान प्राण वाला है ॥७६॥

व्यवहार नय सूक्ष्म नामकर्मके उदयके कारण, सूक्ष्म शरीरी जीवोंको सूक्ष्म जीव कहता है। शुद्ध नय जीवको शरीर रहित स्वीकार करनेसे उसे सूक्ष्म नहीं मानता ॥७७॥

व्यवहार जीवको हेतुरूप मानता है, क्योंकि वह जव रागादि रूप होता है तव कर्म वन्धका कारण रूप वनता है, और जव कर्मोदयके कारण नाना रूप धरता है तव कार्य रूप वनता है। शुद्ध नयका कथन है कि चैतन्य स्वभावी जीव न कारण रूप है, और न कार्य रूप है, वह तो परसे सर्वथा भिन्न है। तव उनके कारणसे कहा जाने वाला 'कारण कार्य भाव' उसमें नहीं है ॥७८-७९॥

एक नय उसे स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिसे 'भावात्मक' कहता है तो दूसरा नय परद्रव्य क्षेत्रादिकी अपेक्षा उसे नास्ति रूप 'अभावात्मक' कहता है ॥८०॥

शुद्ध नयसे आत्मा 'एक' है, परसे असंयुक्त है। दूसरा नय उसे 'परसंयुक्त' 'अनेक' रूपमें देखता है ॥८१॥

व्यवहार नय उसे 'सान्त' अर्थात् पर्यायोंकी विनश्वरताके कारण नाशवान् मानता है, तो शुद्ध नयकी दृष्टि आत्माको अनन्त अविनाशी मानती है। अथवा मूलमें 'सान्तो' की जगह 'शान्तो' ऐसा पाठ है वहां ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जीव शुद्ध नयकी दृष्टिमें 'शान्त' रूप अर्थात् राग-रहित निर्विकल्प है, तो दूसरा नय वर्तमान पर्याय दृष्टिसे उसे नाना विकल्पमय 'अशान्त' रूपमें देखता है ॥८२॥

इसी तरह शुद्धनय उसे नित्य रूप मानता है तो व्यवहारनय उसे परिवर्तनशील अनित्य मानता है ॥८३॥

एक नय उसे शब्दों द्वारा वर्णन करने योग्य अर्थात् 'वाच्य' कहता है तो शुद्ध नय उसे वचनागोचर 'अवाच्य' मानता है ॥८४॥

एक नय जीवको एकेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय,-नर-नारकादि विविध गुणस्थान रूप, अनेक मार्गणा-स्थानादि नानारूप, मानता है तो उसी जीवको शुद्ध नय नानारूप नहीं, किन्तु एक शुद्धस्वरूपी मानता है ॥८५॥

एक नय आत्माको 'चेत्य' अर्थात् संचेतन करने योग्य मानता है, दूसरा नय उसे अचेत्य अर्थात् संचेतनके अयोग्य मानता है ॥८६॥

एक नय आत्माको 'दृश्य' मानता है दूसरा नय दृश्य नहीं मानता ॥८७॥

एक नय जीवको ज्ञानका विषय होनेसे 'ज्ञेय' मानता है, दूसरा नय उसे ज्ञेय नहीं मानता ॥८८॥

एक नय उसे भात अर्थात् 'आत्मा प्रतिभासित है' ऐसा कहता है, तो दूसरा नय उसे 'अभात' अर्थात् अप्रतिभासित मानता है ॥८९॥

इस प्रकार विविध नय बद्ध-अबद्ध, मोही-निर्मोही, रागी-वीतरागी, द्वेषी-अद्वेषी आदि विभिन्न **विकल्पों द्वारा** जीवको विभिन्न रूप कहते हैं, पर दोनों विकल्पात्मक होनेसे अग्राह्य हैं। वस्तु तो **न निश्चयनयात्मक है न व्यवहारनयात्मक है। शुद्ध आत्माका अनुभव इन विकल्पोंसे परे है।** जो आत्मतत्त्वके अनुभव करने वाले हैं वे दोनों नयोंके पक्षपात रहित होकर आत्माको 'वह चैतन्यरूप है' ऐसा अनुभव करते हैं। आत्मा उस अनुभवके समय, प्रमाण-नय-निक्षेपादि जो पदार्थके जाननेके उपाय मात्र हैं, उन उपायोंकी कक्षासे ऊपर 'उपेय' भावको स्वयं प्राप्त हो, स्वयंका अनुभव करता है, अतः वे अनुभवी जन नयपक्षों या नय विकल्पोंसे रहित, निर्विकल्प रूप आत्माके अनुभवी हैं ॥८९॥

अनुभूतिमात्र तत्त्व निर्विकल्प है—

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**स्वेच्छा समुच्छलत्**) वक्ताकी इच्छानुसार उठनेवाले (**अनल्प-विकल्पजालाम्**) नाना प्रकारके विकल्पके जालोंसे पूर्ण (**महतीं नयपक्षकक्षाम्**) बड़ी भारी नय-पक्षोंकी श्रेणीको (**व्यतीत्य**) पार करके वह तत्त्ववेदी (**अन्तः बहिः समरसैकरसस्वभावम्**) भीतर और बाहिर दोनोंमें समता रस रूप एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे (**अनुभूतिमात्रम् एकं स्वं भावम्**) अनुभव मात्र अपने निज भावको (**उपयाति**) प्राप्त होता है ।९०॥

भावार्थ—जितने वचन बोलनेके अर्थात् वस्तुके कथन विकल्प हैं उतने ही नयके विकल्प हैं।[1] और जितने नयवाद हैं, वे एकान्त रूपमें ढल जाने पर सभी मिथ्यावाद बन जाते हैं। कोई भी नय उसी अवस्थामें नय है जब कि वह अपने कथनको स्याद्वादकी सीमामें बाँध कर रखता है, अर्थात् 'एक दृष्टिसे पदार्थ इस प्रकार है,' ऐसा कथन करता है।

विभिन्न दृष्टिकोणोंसे पदार्थ विभिन्न रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। समुदाय रूपमें यह नय विकल्प भी एक जाल है, जिससे ज्ञाता विकल्पोंमें उलझ जाता है। जब तक पूर्ण वस्तुका बोध न हो तब तक तो इन विकल्पोंकी आवश्यकता रहती है। इनके विना वस्तु स्वरूप भी समझमें नहीं आता। तथापि वस्तुके स्वरूप समझ लेने पर इन नयोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वस्तु स्वरूप जाननेको नय केवल साधन हैं। साध्यकी प्राप्ति हो जानेपर साधनोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती। साध्यकी उपलब्धिके विना यदि साधन अनुपयोगी मान लिये जांय

१. 'जावदिया वयण वहा तावदिया होंति णयवादा'

तो भी साध्यकी प्राप्ति नहीं होती, तथा साधनोंमें उलझा रहे—उनका उपयोग कर वस्तुको न पकड़े, तब भी साध्यकी उपलब्धि नहीं होती। इस नियमके अनुसार, ज्ञानी जीव, नय पक्षके द्वारा आत्म वस्तुके स्वरूपको उपलब्ध करता है। पश्चात् आत्मानुभूति मात्र निज भावको, जो समता रससे भरा है, अनुभव करता है, तब अनुभवके समय प्रमाणनय-निक्षेपादि भी अप्रतिभासित हो जाते हैं ॥९०॥

मैं केवल चैतन्य तेज हूँ—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्-
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अन्वयार्थ—(**तत् चिन्महः अस्मि**) मैं वह शुद्ध चैतन्य मात्र तत्त्व हूँ कि (**यस्य विस्फुरणमेव**) जिसके प्रकट होनेसे ही (**तत्क्षणम्**) तत्काल (**पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः**) पुष्ट चंचल विकल्प रूपी तरंगोंसे (**उच्छलत्**) उछलने वाला नय विकल्प रूप (**इदमेव इन्द्रजालम्**) यह सम्पूर्ण इन्द्रजाल (**अस्यति**) नष्ट हो जाता है ॥९१॥

भावार्थ—जब वीतरागी पुरुष सबसे भिन्न अपने चैतन्य मात्र आत्मतत्त्वका अनुभव करता है तब तत्त्वोपलब्धिके लिए श्रुतज्ञानके जितने नय-प्रमाण-निक्षेपात्मक भेद-अभेद साधन रूप थे, उनको पार कर जाता है। उस कालमें एक चैतन्य तेज ही ठहरता है। जैसे रात्रिके अंधकारमें वस्तुको देखने जाननेके लिए विविध प्रकारके प्रकाशकारक पदार्थोंका लोग उपयोग करते हैं, पर उनका उपयोग उन्हें देखनेके लिए नहीं, किन्तु उनके प्रकाशमें वस्तु देखने जाननेके लिए ही होता है। दीपकके देखनेको दीपक नहीं जलाया जाता, वस्तुको देखनेके लिये दीपक जलाया जाता है। प्रभातमें सूर्योदय हो जानेपर दीपकका तेज स्वयं लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मसूर्यके उदित होनेपर नय विकल्प समूह स्वयं नष्ट हो जाते हैं। उन्हें मिटानेका कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

स्वानुभूति समस्त पुरुषार्थका फल है। जैसे बने वैसे—जिन साधनोंसे बने उन साधनोंसे—आत्माकी उस स्वानुभूतिको अपनेमें प्रकट करना चाहिए। उसके होनेपर अन्य अनुभूतियाँ स्वयं लुप्त हो जाती हैं ॥९१॥

मैं अपार समयसारका ही चिन्तन करता हूँ—

चित्स्वभावभरभावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अन्वयार्थ—(**चित्स्वभावभरभावितभावाभाव-भावपरमार्थतया**) जो चैतन्य स्वभावसे परिपूर्ण तथा भाव अर्थात् उत्पाद, अभाव अथात् व्यय, तथा फिर भाव अर्थात् ध्रौव्य रूप होनेसे परमार्थ दृष्टिसे (**एकम्**) एक स्वतन्त्र द्रव्य है, वही (**अपारं समयसारम्**) अनन्तगुणात्मक आत्म-

तत्त्व है। उसे (समस्तां वन्धपद्धतिम् अपास्य) कर्म वन्धके मार्ग रूप जो रागादि विकल्प जाल, उन्हें दूर करके (चेतये) मैं अनुभव करता हूँ ॥९२॥

पाठान्तर—किन्हीं प्रतियोंमें 'भर' के स्थान पर 'पर' ऐसा शब्द भी पाया जाता है। उस स्थितिमें इसका अर्थ इस प्रकार होगा—(चित्स्वभावपर) चैतन्य स्वभावसे जो पर अर्थात् भिन्न अचेतन जड़ स्वभाव, उससे (भावितभाव) युक्त जो पुद्गलादि द्रव्य, उनके (अभाव भावपरमार्थतया एकम्) अभाव रूप जो भाव परमार्थ चैतन्य भाव तद्रूपताके कारण अपनेमें एक ऐसे (अपारम् समयसारम्) अपार समयसारको (समस्तां वन्वपद्धतिम् अपास्य) समस्त वन्ध मार्गको दूरकर (चेतये) मैं सञ्चेतन करता हूं।

भावार्थ—आत्मतत्त्व चैतन्य स्वभावसे भरा हुआ है, परमार्थ वस्तु है। उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक लक्षण वाला सत्तावान् द्रव्य है। जब नयपक्षको अतिक्रान्त करके ज्ञानी उसको अनुभव करता है, उस कालमें ज्ञानके विकल्प दूर हो जाते हैं, तथा कर्म वन्धके कारण रागादि विकल्प भी दूर हो जाते हैं। कर्म वन्धका मार्ग दूर होकर आत्मा निर्वन्ध हो जाता है। अतः अनुभवमें चैतन्य स्वभावसे भिन्न जो जड़ रूप रागादिभाव, उनके अभाव स्वरूप ही आत्मतत्त्व है। वन्धके कारण भूत रागादिके अभावसे वह बन्धमार्गसे सर्वथा दूर है। ज्ञानी तो सभी सम्यग्दृष्टि जीव हैं। चतुर्थ गुणस्थान और उससे ऊपरके सभी जीव सम्यग्ज्ञानी माने गए हैं। अतः वे सभी आत्म स्वरूपको रागादिसे भिन्न, चैतन्य मात्र, निर्वन्ध स्वरूप ही जानते, मानते व अनुभव करते हैं। जहाँतक रागका उदय है वहाँ भी 'आत्मा रागसे भिन्न है' ऐसा ही स्वीकार करते हैं। रागांशको आत्माके स्वरूपमें मिलाकर नहीं देखते। इस प्रकार अनन्त समयसत्का अनुभव ही संसार दशाको छुड़ाकर जीवको मुक्त दशातक पहुँचाता है ॥९२॥

समयसार ही पुराण पुरुष है, भगवान है—

> **आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना**
> **सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।**
> **विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्**
> **ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥९३॥**

अन्वयार्थ—(नयानां पक्षैर्विना) नयपक्षरूप विकल्पोंके विना जो (अचलं अविकल्पभावं आक्रामन्) निश्चल निर्विकल्प भावको प्राप्त (समयस्य यः सारः) जो आत्मतत्वका रहस्य है (निभृतैः स्वयं आस्वाद्यमानः) वह निश्चलरूपसे स्वयं अनुभव रूप स्वादमें (भाति) प्रतिभासित होता है। (विज्ञानैकरसः) वह विज्ञान रूप जो एकरस तत्स्वरूप है (स एषः भगवान्) यही तो भगवान् है। (पुण्यः पुराणः पुमान्) यही पवित्र है इसे ही 'पुराण पुरुष' कहते हैं। (ज्ञानदर्शनम् अपि अयम्) यही दर्शनात्मक और ज्ञानात्मक है। (किम् अथवा) अथवा हम उसे किन शब्दोंमें कहें ? (एकः अपि अयं) यह स्वयं सब एक ही (यत् किंचन) जो कुछ है सो है ॥९३॥

भावार्थ—स्वानुभव कैसे होता है और 'स्व' क्या है यह इस कलशमें आचार्य प्रतिपादन करते हैं।

नयका लक्षण किया गया है—"**वस्तुस्वरूपप्रतिपादनकुशलप्रयोगो नयः**" अर्थात् वस्तु स्वरूपको प्रतिपादन करनेमें जो कुशल प्रयोग उसे नय कहते हैं। इसका सारांश यह हुआ कि वस्तु नयात्मक नहीं है। नय तो उसे जाननेका प्रयोगमात्र है। वह प्रयोग ज्ञानात्मक है। श्रीभगवदुमास्वामिने भी "**प्रमाणनयैरधिगमः**" इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रमें यही प्रतिपादित किया है कि प्रमाण और नय दोनों वस्तुके जानेके उपाय हैं। उनसे वस्तु स्वरूप जाना जाता है।

यह सिद्ध हुआ कि वस्तु नयात्मक नहीं है। अतएव निश्चयके विषयभूत अर्थात् निश्चयनयके प्रयोगके द्वारा जानी गई 'आत्म वस्तु' अपने स्वरूपसे अविचलित, श्रुत ज्ञानके संपूर्ण विकल्पोंसे रहित, स्वयंके द्वारा स्वयमेव आत्मानुभवमें आनेवाली वस्तु है। नय पक्ष द्वारा जाननेके कालमें यद्यपि वह, जिस नयसे देखो तत्स्वरूप कही जाती है, तथापि वह प्रतिभास उस कालका है और उसी दृष्टिमें है। अन्य कालमें अन्य दृष्टिसे देखने पर वह उससे भिन्न, अतद्रूप प्रतिभासित होने लगती है। यदि नय पक्षको छोड़कर वस्तुका अनुभव किया जाय तो वह तटस्थ व्यक्तिके लिए तो शुद्ध निश्चय नयका विषयभूत शुद्ध पदार्थ होगा, तथापि उस अनुभव कालमें वह नयादिके विकल्पोंसे परे है। अनुभव कालमें नय विकल्प नहीं उठते।

पंडित दौलतरामजीने इसीका वर्णन अपनी छहढालामें लिखा है—

'परमाण-नय-निक्षेपको न उद्योत अनुभवमें दिपै'

अर्थात् अनुभवकालमें पदार्थके जाननेके उपायरूप प्रमाण-नय-निक्षेपका उदय ही नहीं होता।

अनुभव अनुभवात्मक या मात्र रसात्मक है। आत्माको अपने स्वरूपका स्वाद आता है। उस समय ज्ञानके सन्मुख केवल आत्मस्वरूप ही एकमात्र ज्ञेय रहता है। अन्य सम्पूर्ण ज्ञेय, ज्ञानके सामनेसे दूर हट जाते हैं। ज्ञेयस्वरूप आत्माके सम्मुख रहते हुए भी, उसे यह भी विकल्प नहीं होता कि मैं ज्ञाता हूं और आत्मा मेरा ज्ञेय है, किन्तु वह स्वरूपमें डूब जाता है। उस समय आत्मा ज्ञाता-ज्ञेयरूप होते हुए भी ज्ञानैकरसरूप है। ज्ञानैकरसरूप आत्मा ही भगवान् है, परमात्मा है; क्योंकि आत्माकी परमोत्कृष्टता अपने स्वरूपकी उपलब्धिमें ही है। वही उसका वैभव है। **अपने स्वरूपमें निमग्न आत्मा ही पुण्यरूप अर्थात् पवित्ररूप है[1] प्रत्येक पवित्र पदार्थका स्वरूप केवल स्वरूप-निमग्नता ही है। परसम्पर्क ही अपवित्रताका हेतु बनता है।**

वह पवित्रात्मा ही पुराण पुरुष है। आत्मतत्त्व अनाद्यनन्त है, शुद्धद्रव्य है, अतएव उसे ही पुराण पुरुष कहते हैं। आत्माका स्वरूप उपयोग-लक्षणात्मक होनेसे वह आत्मा ज्ञान दर्शनमय है। यद्यपि 'ज्ञान दर्शनमय है' ऐसा कथन करनेसे आत्माका सम्पूर्ण स्वरूप वर्णित नहीं होता, क्योंकि अनन्तगुणात्मक-एकरस-अखण्ड-अभेदरूप-आत्माका यह वर्णन ज्ञानदर्शन गुणको मुख्य और अन्य गुणोंको गौण करके ही कहा जा सकता है। यह मुख्य गौण विवक्षासे वस्तुवर्णन, नयपक्षसे रहित नहीं है इसलिए फिर उसे उक्त शब्दोंसे न कहकर 'यह एक कोई पदार्थ है' अथवा 'जो कुछ है सो है' ऐसे ही शब्दोंमें कहा जा सकता है। शब्दोंसे कहना भी नयपक्ष बिना नहीं बनता। अतः आत्मा अनिवर्चनीय है ऐसा ही कहा जाय। पर इन शब्दोंसे कहना भी वचनीयता हो गई, तब वह कहा

---

१. आत्मानम् पुनाति इति पुण्यम्।—सर्वार्थसिद्धि।
(स्वरूप निमग्नता आत्माको पवित्र करती है, अतः पुण्य है।)

नहीं जा सकता, केवल अनुभव ही किया जा सकता है, यही अन्तिम निष्कर्ष निकलता है ॥९३॥

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनाम् आत्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

अन्वयार्थ—(**अयम्**) यह आत्मा (**निजौघाच्च्युतः**) अपने निजस्वरूपमे च्युत हुआ (**दूरं**) अनादिकालसे निजस्वरूपसे दूर (**भूरिविकल्पजालगहने**) अनेक विकल्पके जालोंसे गहन स्थानोंमें (**भ्राम्य**) भ्रमण करता आया है, अतः (**दूरात् एव**) अनन्तकालके बाद (**विवेकनिम्नगमनात्**) विवेकरूपी गम्भीर स्थानको प्राप्तकर (**तोयवत्**) जलकी तरह (**बलात्**) पुरुषार्थसे (**निजौघं नीतः**) अपने स्वरूपमें लाया गया । (**तदेकरसिनाम् विज्ञानैकरसः**) आत्मानुभवके आस्वादन करनेवाले रसिया पुरुषोंको वह ज्ञानैकरसात्मक आत्मा (**आत्मनि**) अपनेमें (**आत्मानम् आहरन्**) अपनेको खींचकर (**सदा**) हमेशा फिर (**गतानुगतताम् आयाति**) शुद्धपरम्पराको ही प्राप्त होता है ।।९४॥

भावार्थ—जैसे किसी जलाशयका जल अपने स्थानसे च्युत हुआ, नानावनोंके गहन स्थानोंमें घूमता फिरता, उन-उन स्थानोंके कारण आड़े टेड़े विविधरूपोंको अपनेमें धारण करता हुआ, चक्कर लगाता फिरता है । वही जल किसी गम्भीर नीचे स्थानको पाकर, फिर वहीं आकर मिलता है और स्थिर हो जाता है । इसी प्रकार अनादिकालसे यह आत्मा, अपने निजस्वभावसे च्युत हुआ—चतुर्गतिरूप संसारकी चौरासी लाख योनियोंमें विविध आकार प्रकारको पाकर; नाना विभावोंके चक्र जालमें घूमता हुआ दुःखी था। सम्यग्दृष्टि जीव उन विकल्प जालोंसे निकालकर, अपने पुरुषार्थसे, अपने विवेकसे उसे अपने स्वरूपमें लाया, तब वह ज्ञानरससे परिपूर्ण आत्मा, सदा अपने ही में शुद्ध परम्परारूप पर्यायोंमें परिणत होता हुआ, अनन्तकाल तक प्रकाशमान रहता है ।

जबतक आत्मा अपने परम पुरुषार्थको निजबलसे प्रकटकर, अनादिकालीन कर्मनिमित्त जन्य विभावों और विकल्पोंसे अपनेको नहीं निकालता, तबतक इस संसाररूपी गहन जंगलमें, नदीके जलकी तरह आड़े-टेढ़े मार्गमें, नानारूप अपनेको बनाता, नदीके मार्गमें झाड़-झंखाड़ मिट्टी पत्थरोंकी टकराहटके समान, जन्म मरण, रोग-बुढ़ापा, संयोग-वियोग, क्रोधादि विकार, रागादि-विकाररूप परिणत होता हुआ, नानादुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होता है ।

आत्मा यदि एक बार भी अपने स्वरूपका आस्वादन करे, तो उसे प्रतीत होगा कि वह जन्म-मरण, संयोग-वियोगोंसे भिन्न, देह-कर्मसे भिन्न, क्रोधादि-रागादिभावोंसे भी सर्वथा भिन्न ज्ञानरस-स्वयं समुद्र है, जिसमें कोई दूसरा रस मिल ही नहीं सकता । वह स्वयं अनन्त आनन्दरूप है । उसमें परका प्रवेश ही असम्भव है । ऐसा विज्ञान होनेपर वह अपनेको परकी ओरसे खींचकर, आप अपनेमें ही नियन्त्रित कर लेता है । यही परमचारित्रकी दशा है । उसका फल यह होता है कि फिर वह जीव, सदाकाल अपनी शुद्धपर्यायोंकी परम्पराको ही, स्थिर जलकी तरह प्राप्त करता है । फिर न वह भ्रमण करता है न विकृत होता है ।।९४॥

यथार्थ कर्त्ता और कर्म कौन है—

विकल्पकः परं कर्त्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।।९५।।

अन्वयार्थ—(**विकल्पकः**) अपने अन्तरमें विकल्परूप परिणाम करनेवाला (**परं**) केवल (**कर्त्ता**) कर्त्ता है। (**विकल्पः केवलं कर्म**) और जो विकल्परूप परिणमन वह करता है, केवल वह विकल्प ही उसका कर्म है। (**सविकल्पस्य**) विकल्प करनेवाले जीवके (**कर्तृकर्मत्वं**) इस प्रकार का कर्ताकर्मपना (**न जातु नश्यति**) कभी मिटता नहीं है। सदा कर्त्ताकर्मपना रहता है ।।९५।।

भावार्थ—यह संसारी जीव परके कर्तृत्वका अभिमान करता है, तथा अपने परिणमनका कर्त्ता भी अन्य व्यक्तिको या ज्ञानावरणादि जड़ कर्मको मानता आ रहा है। यह दोनों बातें सत्य नहीं हैं। सत्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव भी—'मैं परको करूँ, ऐसा मात्र विकल्प कर सकता है। तथापि परका कुछ कर नहीं सकता। अतः वह विकल्प मात्रका कर्त्ता अवश्य है तथा जो-जो विविध प्रकार के विकल्प उसे समय-समय पर उत्पन्न होते हैं, वे सब विकल्प उसीके परिणमन स्वरूप होनेसे उसके 'कर्म' हैं। 'कर्त्ता जिसे करे वह कर्म' कहलाता है। इस व्याख्याके अनुसार वह केवल विकल्प मात्र करता है अतः वे विकल्प ही उसके 'कर्म' हैं। तथा 'जो कर्म करे वह कर्त्ता है'। इस व्याख्याके अनुसार विकल्प परिणमन करने वाला जीव ही उन विकल्पोंका कर्ता सिद्ध होता है।

अन्य कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्यकी पर्यायरूप परिणमन नहीं करता, **अतः कोई एक द्रव्य, अन्य द्रव्यके परिणमनका कर्ता नहीं होता। इसीलिए किसी द्रव्यका परिणमन किसी अन्य द्रव्यका कर्म भी नहीं बन सकता। अपने द्रव्यका परिणमन ही अपने द्रव्यका कर्म है। उसका वह स्वयं कर्त्ता** है। ऐसी वस्तु स्थिति है। ऐसा ही जिनागममें प्रतिपादित है।

परन्तु जो जीव उक्त वस्तु स्थितिके ज्ञाता नहीं हैं वे परके कर्तृत्वका दम भरते हैं। वे सारे संसारको कर सकनेका अपनेमें सामर्थ्य समझते हैं। प्रयत्न भी उसी प्रकारका करते हैं। वस्तु स्थितिके विपरीत किया गया यह सम्पूर्ण प्रयत्न सफल नहीं होता, तब यह जीव दुःखी होता है। इसके दुःखी होनेका कारण इसका एक मात्र यह भ्रमज्ञान है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ। यह भ्रमज्ञान विकल्परूप है। जब तक ऐसा विकल्प है, तब तक यह उस विकल्पके साथ कर्त्ता कर्म भाव रखता है। वस्तु स्थिति बोध होनेपर यह छूट जाता है ।।९५।।

कर्त्ता और वेत्तामें अन्तर—

यः करोति स करोति केवलं, यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।।९६।।

अन्वयार्थ—(**यः करोति**) जो विकल्पका कर्त्ता है (**स तु केवलं करोति**) वह केवल कर्त्ता ही है, ज्ञाता नहीं। (**यः तु वेत्ति**) जो ज्ञाता है (**स तु केवलं वेत्ति**) वह केवल ज्ञाता ही है कर्त्ता नहीं है। (**यः करोति**) जो कर्त्ता है (**सः न क्वचित् वेत्ति**) वह वस्तुतः कुछ नहीं जानता (**यस्तु वेत्ति**) जो जानता है (**स क्वचित् न करोति**) वह कभी कर्त्ता नहीं होता, ज्ञाता ही होता है ।।९६।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु तत्त्वका ज्ञाता है अतः परके कर्तृत्वकी वात तो दूर रही, कर्तृत्वका विकल्प भी उसे नहीं है। जो मिथ्यादृष्टि है वह 'परका कर्ता हूँ' ऐसा विकल्प करनेसे केवल विकल्पका कर्ता है। परका कर्ता वह भी नहीं है।

जो विकल्पका कर्ता है, वह वस्तुस्थितिका ज्ञाता नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव इन विकल्पों का तथा रागादि विकारोंका कर्ता है, सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं, केवल ज्ञाता है। अथवा पुद्गल द्रव्य ही कर्म नोकर्मका कर्ता है, वेत्ता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानोपयोगी आत्मा वेत्ता है, कर्म नोकर्मका कर्ता नहीं है। जो वस्तु स्थितिका ज्ञाता है वह विकल्पका कर्ता नहीं है ॥९६॥

जानने और करनेमें भेद है—

ज्ञप्तिः करोतौ नहि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ॥
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्त्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

अन्वयार्थ—(**करोतौ**) करोति अर्थात् करता है इस क्रियामें (**ज्ञप्तिः**) जानने रूप क्रिया (**न हि अन्तः भासते**) अन्तः प्रतिभासित नहीं होती। इसी प्रकार (**ज्ञप्तौ**) जानने रूप क्रियामें (**करोतिश्च**) करने रूप क्रियाका (**न हि भासतेऽन्तः**) अन्तः प्रतिभास नहीं होता (**ततो ज्ञप्तिः करोतिश्च विभिन्ने**) इससे यह बात सिद्ध होती है कि ये दोनों क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं (**ततः स्थितं**) इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि (**ज्ञाता न कर्ता इति**) जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं होता ॥९७॥

भावार्थ—कोई क्रिया कभी अन्य क्रियारूप नहीं होती। इस सामान्य नियमके अनुसार करना और जानना दो विभिन्न क्रियाएँ हैं। करनेमें जाननेरूप क्रियाका प्रतिभास नहीं होता। इसी प्रकार जाननेरूप क्रियामें करनेरूप क्रिया नहीं है। इससे सिद्ध है कि जो अज्ञानी अपने भीतर विविध प्रकारके मिथ्यात्वादि अध्यवसानके द्वारा नाना विकल्प उत्पन्न करता है, वह उनका कर्ता है, विकल्प उसके कर्म हैं वह ज्ञाता नहीं है। किन्तु जो ज्ञानी विकल्पोत्पन्न न कर, निर्विकल्प रूपसे आत्मस्वरूपका जानने वाला, याने अनुभव करने वाला है, वह विकल्पका कर्ता नहीं है, अतः ज्ञानी कर्तृकर्मभावसे रहित है। वह केवल अपने स्वरूपका ज्ञाता मात्र है। जव ज्ञान क्रिया तथा करोति क्रियामें विभिन्नता है, दोनों एक साथ नहीं रहतीं, तव ज्ञाता कर्ता कैसे कहा जा सकता है।

सिद्ध है ज्ञानी रागादि कर्मका कर्ता नहीं होता, जव कि अज्ञानी का अध्यवसान भाव कर्मबन्धका निमित्त कर्त्ता होता है। अध्यवसान भाव ही स्वयं उसके यथार्थ कर्म हैं। पुद्गल कर्मका तो वह कर्ता हो भी नहीं सकता ॥९७॥

इसी बातको कहते हैं—

कर्त्ता कर्मणि नास्ति, नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्त्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा, का कर्तृ-कर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा, व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
नैपथ्ये वत नानटीति रभसा, मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अन्वयार्थ—(**कर्ता कर्मणि नास्ति**) कर्ता कर्ममें नहीं है, (**नियतं**) यह निश्चय है। (**कर्म अपि कर्तरि नास्ति**) कर्म भी कर्तामें नहीं है। (**द्वंद्वं**) दोनोंका द्वन्द्व (**यदि विप्रतिषिध्यते**) यदि निषिद्ध है तो (**तदा का कर्तृ-कर्मस्थितिः**) उस समय दोनों में कर्ता-कर्मभावकी स्थिति कैसे हो सकती है। (**ज्ञाता ज्ञातरि**) ज्ञाता सदा अपनेमें रहता है (**कर्म कर्मणि**) कर्म सदा कर्मरूपतामें रहता है (**इति वस्तुस्थितिः**) ऐसी वस्तुकी व्यवस्था (**सदा व्यक्ता**) सदा प्रकट है। (**तथापि एष मोहः**) तो भी यह एकत्वका मोह (**वत**) खेदकी बात है कि (**रभसा**) अपने वेगके साथ (**नेपथ्ये**) रंगभूमिमें (**नानटीति**) नृत्य करता है (**इति किम्**) ऐसा क्यों है ? ॥९८॥

भावार्थ—संसारी जीव कर्मका कर्त्ता कहा जाता है, परन्तु संसारी जीव तो अपने ही पर्यायरूप रहता है, जड़कर्मरूप नहीं परिणमता। अतः यह फलित हुआ कि कर्त्तामें कर्म नहीं रहता, और न कर्ममें कर्त्ता रहता है। कर्त्ता जीव सचेतन है और कर्म जड़ पुद्‌गल है। निश्चयसे देखा जाय तो दोनों द्रव्योंकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न स्थिति है। यद्यपि संसारी अवस्थामें एक से दीखते हैं तथापि वे एक नहीं हैं। लक्षणभेद-सत्ताभेदसे दोनों में महान् अन्तर है। दोनोंका द्वन्द्व अर्थात् जड़-चेतनमें एकत्वभाव वस्तुस्थितिसे ही निषिद्ध है। तब दोनोंमें कर्ता-कर्मभाव भी परस्परमें नहीं हो सकता।

ज्ञानभावमें स्थित सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता ही रहेगा, वह उपयोगात्मक चैतन्य पिंड कभी जड़ पुद्‌गलरूप न बना है, न है, न होगा। इसी प्रकार जड़पुद्‌गल कर्म, सदा जड़पुद्‌गलरूप ही रहा है और रहेगा। वह कभी चैतन्यभाव रूप परिणत न होगा। जब वस्तुकी मर्यादा ही इस प्रकार है तब संसारके रंगमञ्चपर यह एकत्वका मोह क्यों नृत्य करता है ?

आचार्य कहते हैं कि संसारीजन वस्तुस्थितिको मोहके कारण समझ नहीं पाते, अतएव जड़-चेतनकी एकता रूप अपने परिणाम उत्पन्नकर, वृथा ही बन्धनमें पड़कर दुःख उठाते हैं। यह बड़े खेदकी बात है।

अथवा यदि मोह जगत्‌में रंगमञ्चपर नृत्य करता है तो करो। वस्तुकी स्थिति तो जैसी है वैसी ही रहेगी। किसीको रस्सी में सर्पका भ्रम हो जाय तो वह भयभीत होता है। जानकार तो जानता है कि यह मात्र रस्सी है सर्प नहीं है। उसे उस भ्रमित व्यक्तिके भयभीत होनेपर खेद होता है, पर वह उसका भ्रम कैसे दूर करे ? इसी प्रकार आचार्य मोही जनोंकी परिणतिपर खेद प्रकट करते हुए भी यह निर्देश करते हैं कि मोह नाचता है तो नाचो, वस्तु तो जैसी है वैसी ही है।

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्‌गलः पुद्‌गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चैः
चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

अन्वयार्थ—(**एतत् ज्ञानज्योतिः**) आत्म ज्ञानकी यह ज्योति (**चित्‌शक्तीनां**) अपनी समस्त चैतन्य शक्तिकी (**निकरभरतः**) समग्रताके भावसे युक्त (**अत्यन्तगम्भीरम्**) जिसका अन्त नहीं इस

प्रकारकी गंभीरताको लिए (**एतत् अचलं**) यह अविचलित रूपमें (**उच्चैः अन्तः व्यक्तम्**) उच्चरूपसे अन्तरङ्गमें प्रकट (**ज्वलितम्**) प्रकाशमान हुई है। इस स्थितिमें (**यथा कर्ता कर्ता न भवति**) जो अपने अज्ञानभावमें जीव कर्मका कर्ता था, वह अब कर्ता नहीं रहा (**कर्म कर्म अपि नैव**) जो अज्ञान भावके निमित्तको पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप परिणत होता था, अब कर्मरूप नहीं परिणमता। किन्तु ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर (**यथा च ज्ञानं ज्ञानं भवति**) जैसे ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन होता है वैसे ही (**पुद्गलः अपि पुद्गलः**) पुद्गलका भी पुद्गलरूप ही परिणमन होता है ॥९९॥

भावार्थ—जब तक जीवमें आत्मज्ञान नहीं था तब तक परमें एकत्व बुद्धि थी। परको निज मानकर उनसे रागादिभाव करता था, अतः अज्ञानी था। उस अज्ञान भावके कारण पुद्गल रूप कर्मवर्गणा, ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करती थी। जब जीवको आत्मज्ञान हुआ तब स्वपर भेद विज्ञान के कारण, परको पर मानकर उससे रागादि छोड़ दिया, तब वह ज्ञानी हुआ।

इस स्थितिमें अब वह ज्ञानी अपने ही ज्ञानभावका कर्ता रहा। पर निमित्तसे जो रागादि भाव करता था उसका कर्ता न रहा। जब उसने रागादि भाव न किये, तो इस निमित्तसे पुद्गल वर्गणाएँ ज्ञानावरणादि कर्मरूप भी परिणत न हुईं। तब उनका पौद्गलिक रूपमें परिणमन तो होगा पर ज्ञानावरणादि रूप न होगा। अतः कर्ता अब कर्ता नहीं रहा, और पुद्गल भी अब कर्मरूप नहीं रहा। अब तो ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमन करेगा, तथा जड़ जड़रूप परिणमन करेगा ॥९९॥

यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणमनका कर्ता है, अन्यके परिणमनका नहीं। भले ही अन्य द्रव्यों की परिणतियाँ उस समय निमित्त पड़ें। **इस नियमके अनुसार जीव द्रव्य भी अपने ही स्वभावका अथवा विभाव भावका कर्ता है, अन्य द्रव्यके परिणमनका नहीं।** शुद्ध निश्चयसे तो जीव अपने स्वभावका ही कर्ता है। विभावका कर्ता मात्र व्यवहारसे या अशुद्ध निश्चयसे है। तथापि परद्रव्य की परिणतियोंका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं है। इसी प्रकार पुद्गल कर्म भी निश्चयसे त्रिकालमें भी जीवके स्वभाव तो क्या, विभाव-परिणतिका भी कर्ता नहीं है। हाँ, जीव कर्मका कर्ता है, या कर्म जीवमें रागादि उत्पन्न करता है, ज्ञानका आवरण करता है, ऐसा जैनशास्त्रोंमें लिखा गया है, सो वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे लिखा गया है, ऐसा जानना चाहिए।

इति कर्तृकर्माधिकारः।

❀ पुण्य-पाप अधिकार ❀

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपित-निर्भर-मोहरजः अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

अन्वयार्थ—(**तदथ**) इसके अनन्तर (**शुभाशुभभेदतः**) शुभ और अशुभके भेदसे (**द्वितयतां गतम्**) दो प्रकारताको प्राप्त (**कर्म**) कर्मकी (**ऐक्यमुपानयन्**) एकताको स्थापित करता हुआ तथा (**ग्लपितनिर्भरमोहरजा**) मोहरूपी रज कणको अत्यन्त दूर कर देनेवाला ऐसा (**अयं**) यह (**अवबोधसुधाप्लवः**) ज्ञानरूपी चन्द्रमा[1] (**स्वयम् उदेति**) स्वयं उदयको प्राप्त हो रहा है ॥१००॥

भावार्थ—लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि चन्द्रमा अमृतमय है। उससे अमृत झरता है। इस प्रकरणमें स्वावबोधको चन्द्रमाका रूपक दिया है। चन्द्रमाका जब उदय होता है तब अन्धेरेके कण दूर हो जाते हैं, इसी प्रकार स्वावबोध रूपी चन्द्रके उदय होनेपर, भ्रमरूप बुद्धि, जिसे मोहतम कहना चाहिए उसके रज कण दूर हो जाते हैं। जीवको संसारी दशामें विषयजन्य रागके कारण पदार्थके संयोगमें सुखके निमित्तभूत कर्मको शुभ, और तद्वियोगमें दुःखके निमित्तभूत कर्म-को अशुभ, ऐसी द्विविधताका बोध, उस एक ही कर्ममें होनेका भ्रम था। वह ज्ञान कलाके प्रकट होने पर दूर हो गया। यह प्रतिभासित होने लगा कि दोनों ही कर्म हैं, बन्धनरूप हैं, बन्धनमें भेद करना भूल है। यदि जीवके शुभ कर्मका उदय होगा तो मनुष्य-देवगतिका बन्धन प्राप्त होगा। यदि अशुभ कर्मका उदय होगा तो नरक-तिर्यग्गतिके बन्धन प्राप्त होंगे। चतुर्गति संसार परिभ्रमण-के कारणभूत दोनों ही कर्म केवल बन्धन हैं। ज्ञान उन दोनोंकी यथार्थ एकताका बोध करा देता है ॥१००॥

इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानात्
अन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरात् निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षात् अपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(**एकः**) कोई एक शूद्रपुत्र (**ब्राह्मणत्वाभिमानात्**) ब्राह्मणके यहाँ पलनेके कारण अपनेको ब्राह्मण समझ उस स्वाभिमानसे (**मदिराम् दूरात् त्यजति**) मदिराका दूरसे ही त्याग करता है। (**अन्यः**) दूसरा शूद्रपुत्र (**स्वयम् अहम् शूद्रः**) शूद्रके यहाँ पलनेके कारण मैं स्वयं शूद्र हूँ (**इति**) ऐसा समझकर (**नित्यम्**) रोज-रोज (**तया एव**) मदिरासे ही (**स्नाति**) नहाता है। अर्थात् नित्य पान करता है। (**एतौ द्वौ अपि**) ये दोनों पुत्र (**शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ**) शूद्रीके पेटसे युगल उत्पन्न हुए थे, पालन अलग-अलग स्थान पर हुआ, तथापि (**साक्षात् शूद्रौ**) वे

---

१. 'सुधाप्लवः' का अर्थ अमृत का प्रवाह भी है, जो रज (धूलि) को बहा ले जाता है। ऐसा अर्थ भी संगत है।

दोनों हैं तो शूद्र ही अतः (**जातिभेदभ्रमेण चरतः**) केवल अपनी अपनी जातिके भेदके भ्रमके कारण ही उनका आचार भेद है ।।१०१।।

भावार्थ—पुण्य और पाप दो भागोंमें कर्म द्रव्यका विभाग होता है । जो संसारी जीवको सांसारिक सुखानुभवमें हेतु हो, उसे पुण्य कहते हैं तथा जो उसे दुखानुभवमें निमित्त हो, उसे पाप कहते हैं । ये दोनों ही कर्मके भेद हैं । इन दोनों कर्मोंके निमित्तसे जीव अनादि कालसे ही, संसार परिभ्रमण कर रहा है । ये दोनों ही संसारी आत्माके विकार भावके निमित्त कारण हैं । अतः संसारके ही हेतु हैं । इनके रहते जीवको मुक्ति नहीं होती । संसार परिभ्रमण नहीं छूटता । मिथ्या-दृष्टि जीव दोनोंमें भेदभाव करता है, उसे अभी संसार परिभ्रमणकी ही वांछा है । स्वर्गादिकी, राज्यकी—विषय भोगोंकी वांछा है । किन्तु भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, संसारको दुःखरूप मानता है । चाहे वह स्वर्गका राज्य हो, या चक्रवर्तीकी विभूति हो, वह इन सब पर-द्रव्योंमें आत्मबुद्धि नहीं रखता, न इनसे हित मानता है । वह समस्त सांसारिक विभूतियोंको, आत्मविभूतिकी प्राप्तिमें बाधक जानकर उनका परित्याग करता है । उसका ऐसा जानना ही 'आत्मज्ञान' है और उनका परित्याग ही 'वैराग्य' है । सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होनेके कारण, संसारके कारणभूत, पाप-पुण्य दोनोंको समानरूपसे हेय मानता है ।

इसी बातको यहाँ आचार्य एक दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे किसी शूद्र स्त्रीके उदरसे दो पुत्र उत्पन्न हुए । वे परमार्थतः दोनों ही शूद्र हैं । किसी कारणवशात् उनमें एक पुत्र किसी ब्राह्मण-के हाथ पड़ा; उसने पाल लिया । ब्राह्मणके यहाँ पलनेके कारण उसने अपनेको ब्राह्मण कुलका समझा । अपनी ऐसी समझके कारण उसने ब्राह्मणोचित कर्म करना ही उचित माना । वह मदिरा-पानसे दूर रहा, उसका स्पर्श करना भी उसे अपनी जातिकी उच्चताके सामने अनुचित प्रतीत होता था । दूसरा उसीका भाई वही शूद्रीपुत्र, शूद्रीके पास ही रहा । उसने उसका पालन पोषण किया । वह अपनेको शूद्र जातिका मानकर मदिराका नित्य पान करता है । ग्रंथकार तो इन शब्दोंमें कहते हैं कि वह मदिरासे ही स्नान करता है, तात्पर्य यह कि उसे मदिरापानका ही व्यसन हो गया । वस्तुतः दोनों पुत्र शूद्र हैं, तथापि जातिमें भेद न होते हुए भी उन्हें "हमारी जातिमें भेद है" ऐसा भ्रम हो गया है, अतः आचार भेद है । इसी प्रकार कर्मका बन्धन तो जीवको संसारमें रुलाता है । पुण्य-पापमें भेद तो संसारी जीवने अपने मिथ्यात्वोदय जन्य भ्रमके कारण मान लिया है । वस्तुतः दोनों एक ही कर्मके पुत्र हैं । अतः उनमें वास्तविक भेद कुछ नहीं है ।।१०१।।

(८१) प्रश्न—जातिभेदके भ्रमसे भी जब आचार भेद हो जाता है तो यदि वस्तुतः जातिभेद हो तब तो आचार भेद स्पष्ट ही रहता है । ये दोनों पुण्य और पाप या शुभ-अशुभ कर्म, नाम मात्रसे भिन्न-भिन्न हों ऐसी बात नहीं है, इनमें अनेक कारणोंसे यथार्थ भेद मानना चाहिए । हेतुभेद, प्रकृतिभेद, अनुभवभेद, तथा आश्रयभेद, इन चार कारणोंसे इनमें भेद है । यह बात बहुत स्पष्ट है । इन भेदोंका विवरण निम्न प्रकारसे जानना चाहिए—

हेतुभेद—'**शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य**' भगवान् उमास्वामीके इस सूत्रके अनुसार शुभ प्रकृतियाँ शुभयोगसे बँधती हैं, तथा अशुभ प्रकृतियाँ अशुभयोगसे बँधती हैं । अतः बन्धके हेतु दोनोंके भिन्न-भिन्न हैं ।

प्रकृतिभेद—दोनों प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न श्रेणीकी हैं। श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्यने श्री गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पुण्य प्रकृतियाँ तथा पाप प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न बताई हैं। कर्मकी १४८ प्रकृतियाँ अपनी-अपनी प्रकृतिभेदसे जुदी-जुदी गिनाई गई हैं।

अनुभवभेद—इन प्रकृतियोंका जब बन्ध होता है तो अनुभाग शक्तियाँ भी इनमें भिन्न-भिन्न रूपमें पड़ती हैं। उदय कालमें यह जीव पुण्योदयमें सुखानुभव और पापोदयमें दुःखानुभव करता है यह अनुभवभेद सर्वजन प्रसिद्ध है।

आश्रयभेद—शुभ परिणाम मोक्षमार्गका आश्रय है। अशुभ परिणाम बंध मार्गका आश्रय है। दोनोंमें आश्रयभेद स्पष्ट है। अतः दोनों कर्मोंमें अभेद नहीं। अत्यंत भेद है।

समाधान—इस प्रश्नका समाधान आचार्य निम्न पद्यसे स्वयं प्रकट करते हैं—

हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्नहि कर्मभेदः।
तद् बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(**हेतु-स्वभावानुभवाश्रयाणाम्**) हेतु-स्वभाव-अनुभव और आश्रय इन चारोंकी अपेक्षा (**सदाप्यभेदात्**) सदा ही दोनों कर्मोंमें अभेद है, अतः (**न हि कर्मभेदः**) इन दोनों कर्मोंमें भेद नहीं है। (**एकं बन्धमार्गाश्रितम् इष्टम्**) वे दोनों एक बन्धमार्गका आश्रय करनेवाले हैं यही इष्ट है (**तत्**) इसलिए (**स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः**) वे स्वयं दोनों प्रकारके शुभ अशुभ परिणाम निश्चयसे बन्धके ही कारणभूत हैं ॥१०२॥

भावार्थ—उक्त प्रश्नका उत्तर इसी कलशसे श्रीअमृतचन्द्राचार्य देते हैं कि वस्तुतः दोनों कर्मोंमें इस प्रकारका भेद व्यवहारनयसे ही आगममें वर्णित है। निश्चयनयसे आत्मद्रव्यका स्वरूपदर्शन कीजिए तो सभी कर्म पौद्‌गलिक होनेसे जीवद्रव्यसे सर्वथा भिन्न हैं और पुद्‌गलसे सर्वथा अभिन्न होनेसे एक हैं। इनमें भेद सिद्ध करनेके लिये जो चार युक्तियाँ बताई गईं, वे भी व्यवहारके अनुकूल होनेसे उन्हें भेदरूप बताती हैं। परमार्थसे देखा जाय तो ये चारों युक्तियाँ दोनों कर्मोंके अभेदको ही सिद्ध करती हैं। इसका समर्थन निम्न प्रकार होता है—

हेतु अभेद—दोनोंमें हेतुकी अपेक्षा भी अभेद है। क्योंकि दोनों प्रकारके कर्मबन्धका कारण जीवका विकारीभाव है। भले ही वह शुभ योग हो या अशुभयोग हो। इनमें शुभता-अशुभता तो अज्ञानी जीवोंकी अपेक्षा है, अर्थात् अशुद्ध जीवोंकी अपेक्षा है। शुद्धजीवकी दृष्टिसे तो योगमात्र[1] विकार है। जिन दोनोंके बन्धका कारण विकारी भाव हो, उन दोनोंमें हेतुभेद कैसे किया जाये, अतः हेतुकी अपेक्षासे दोनों एक हैं। दोनों परिणाम अज्ञानमय भाव होनेसे अभेद है।

स्वभाव अभेद—दोनों कर्म पौद्‌गलिक प्रकृतियाँ हैं। पुद्‌गलसे ही अभिन्न तथा जीवसे सर्वथा भिन्न हैं, अतः दोनों एक पुद्‌गल स्वभाववाली होनेसे स्वभावसे भी दोनोंमें अभेद है।

---

१. योग क्रियात्मक है। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणाके अवलंबनसे आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्दन रूप यह योग, कर्मोदय सापेक्ष होनेसे, विकार है।

जीवमें जो 'क्रियावती शक्ति' स्वभावरूप है उसे भी योग कहा है। धवलाकारने उसे पारणामिक भाव माना है।

—धवला सातवीं पुस्तक

फल या अनुभव अभेद—साता या असाता दोनों अनुभव आत्माके शुद्ध अनुभव नहीं हैं, दोनों विकारी अनुभव हैं। यदि पुण्योदयका अनुभव साताके निमित्तभूत पौद्गलिक, अथवा सचेतन या मिश्र, इष्टरूप पर पदार्थके संयोगमें होता है, तो पापोदयका अनुभव अनिष्टरूप परपदार्थके संयोगमें होता है। परपदार्थोंमें इष्टता अनिष्टताका अनुभव, मोह कर्मोदय निमित्त जन्य भ्रमभावके कारण है। यथार्थमें तो निजसे भिन्न जो परपदार्थ हैं, वे चाहे पुद्गलरूप हों, या स्त्री पुत्रादि सचेतनरूप हों, अपना स्वरूप नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें दोनों अनुभव परनिमित्तजन्य होनेसे विकारी हैं अतः अनुभवका भी दोनोंमें अभेद है।

आश्रय अभेद—शुभ तथा अशुभ परिणाम दोनों बन्ध मार्गके आश्रयभूत हैं अतः दोनोंमें अभेद है।

इस तरह हेतु, स्वभाव, फल व आश्रयकी अपेक्षा भी इन दोनोंमें भेद न होनेसे दोनों कर्म भाई-भाई हैं। पुण्य बन्धकारक प्रशस्त राग, तथा पाप बन्धकारक अप्रशस्त राग, दोनों मोह कर्म हैं। समग्र मोह कर्म स्वयं पाप प्रकृतिमें गिना गया है, अतः शुभ-अशुभ दोनों राग, मोह रूप पाप प्रकृतिके पुत्र होनेसे सगे भाई हैं। इनमें भेद भ्रमपूर्ण है। इनमें आत्माका हितकारक कोई नहीं, सभी बन्धनरूप ही हैं, अतः इनमें भेद करना संसार-बन्धनको ही स्वीकार करना है। वे तो दोनों प्रकारके कर्म संसारके ही कारण हैं।

जिस प्रकार सुवर्ण और लोहेकी सांकलें बनी हों, पर वे पुरुषके लिए बन्धनकी ही कारण हैं, इसी प्रकार शुभाशुभकर्म भी बन्धनके ही कारण हैं। अतः दोनों ही कर्म कुत्सित स्वभाववाले हैं। जिनका कुत्सित स्वभाव है उनसे प्रेम करना, तथा उनसे ससर्ग रखना, पतनका ही कारण होता है। कर्ममात्र कुशील हैं, उनमें भेद करके शुभसे भी राग नहीं करना चाहिए, उससे संसार की ही वृद्धि है। मोक्षमार्ग उससे दूर है। जिन्हें अपने आत्मस्वभावको प्राप्त करनेमें रुचि है, वे आत्मस्वभावके विरुद्ध, बन्धनरूपकर्मसे अपनेको दूर रखना ही श्रेयस्कर मानते हैं। यह नियम है कि रागी-द्वेषी-कामी-क्रोधी जीव नियमसे बन्धनको प्राप्त होता है, अतः बन्धनके कारणभूत इन शुभाशुभरूप विभावोंसे अपनेको बचाना चाहिए। भगवान्का यही उपदेश है।

(८२) **प्रश्न**—व्यवहार चारित्र शुभोपयोग है। क्या वह मोक्षका कारण नहीं है ?

समाधान—नहीं, व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रपर पहुँचानेका साधन बन सकता है। स्वयं शुभोपयोगी चारित्र बन्धका हेतु है, निश्चय चारित्र ही साक्षात् मोक्षका मार्ग है।

(८३) **प्रश्न**—शुभोपयोगी चारित्र छठे-सातवें गुणस्थानमें है। तब क्या वहां पुण्य-बन्ध ही होता है ? वहां संवर-निर्जरा भी है, उसका हेतु क्या है ?

समाधान—वहां संवर-निर्जरा भी होती है। पुण्य बन्ध भी होता है। संवर-निर्जराका कारण शुभोपयोगके साथ होनेवाले वीतरागताके अंश है। जितने अंश शुभ राग रूप है उनसे तो बन्ध ही होता है।

(८४) **प्रश्न**—मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधुके कौन-सा चारित्र है ? क्या वह व्यवहार चारित्र है ? यदि है, तो उन्हें भी निश्चय चारित्रकी प्राप्ति होनी चाहिए। पर मिथ्यात्वकी भूमिकामें वह सम्भव नहीं है। यदि व्यवहार चारित्र मिथ्यात्वकी भूमिकामें हो सकता

है तो फिर उसे मिथ्याचारित्र कहना चाहिए। वह सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यात्वके साथ होनेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र ही कहा गया है।

समाधान—मिथ्यात्वके रहते हुए ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे तथा कषायकी मन्दतासे आगमज्ञान तथा बाह्यचारित्र पाया जा सकता है। तथापि उसे सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी संज्ञा प्राप्त नहीं है। यह संज्ञा सम्यक्त्वके सद्भावमें ही हो सकती है। **जिन जीवोंने सम्यक्त्वके साथ ज्ञान और चारित्रकी आराधना की है, छठवाँ सातवाँ गुणस्थान प्राप्त किया है, वे भावलिंगी मुनि हैं**। जिन्हें मिथ्यात्वका उदय रहते हुए आगमज्ञान व बाह्यचारित्रकी प्राप्ति है, वे द्रव्यलिंगी साधु हैं। शास्त्रकारोंने द्रव्यलिंगी शब्दका उपयोग ऐसे साधुओंके लिए ही किया है।

जैनागममें भावोंके अनुसार ही फलप्राप्ति बताई गई है, भावरहित क्रियाका फल नहीं होता। "यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" ऐसा कल्याणमंदिर स्तोत्रमें बताया गया है।

यह जैनधर्मकी पक्षपातरहित अनुपम बात जगत्में है कि जो व्यक्ति जैनशास्त्रोंका विद्वान् भी हो, जैनकुलीन हो, दिगम्बर हो, जैनसाधुके योग्य जैना .रका निर्दोष पालन भी करता हो, पर आत्मज्ञान शून्य हो, तो जैनागम उसे 'जैन' साधु नहीं मानता। संसारके अन्य किसी भी धर्ममें ऐसा बात नहीं है। अन्यत्र तो वेषमात्र भी यदि उस धर्मके साधुका हो, तो उसे साधुताका प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाता है।

सम्यग्दृष्टिका बाह्यचारित्र, निश्चयचारित्रका साधन बन जाता है—यदि पालनेवाले उसे साधन बनायें। साधन कैसे बनाया जाता है ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। समाधान यह है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि निश्चय चारित्रकी भावनासे ही व्यवहार चारित्र स्वीकार करता है। वह क्रमशः वीतराग भावकी अभिवृद्धि करता हुआ, आगे-आगे गुणस्थानोंमें बढ़ता जाता है। वीतराग भावके कारण, पूर्व गुणस्थानोंकी अपेक्षा, आगेके गुणस्थानोंमें, संवर निर्जरा भी बढ़ती जाती है। तथापि वहाँ विद्यमान शेष रागांश तो पुण्यबन्धका ही कारण होता है। यह व्यवहार चारित्र, निश्चय चारित्रका साधन बन जाता है। जिसे उक्त भावना न हो उसका बाह्य चारित्र, मात्र पुण्यबन्धका कारण हो जाता है पर वह निश्चय चारित्रको उत्पन्न नहीं करता।

जिनका व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्रकी प्राप्तिमें कारण बनता है, उनके व्यवहारचारित्रको परम्परा मोक्षका साधन लिखा है।[1] **वस्तुतः तो 'परम्पराका' अर्थ ही यह है कि वह मोक्षका साक्षात् साधन नहीं है**। निश्चयचारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन है।

उक्त कथनसे यह सिद्ध है कि परमार्थसे पुण्य-पाप दोनों बन्धरूप हैं मोक्षका हेतु तो यथार्थमें वीतराग चारित्र ही है।[3]

---

१. भेदज्ञानी स्वकीय गुणस्थानानुसारेण परंपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादि पुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते।

—समयसार गाथा १७२ : तात्पर्यवृत्ति टीका.

२. पञ्चाध्यायी अध्याय २. श्लोक ७६०-७६१-७६२-७६३ की टीका देखिये।

(८५) **प्रश्न**—क्या चारित्रके दो भेद हैं ? वीतरागचारित्र और सरागचारित्र। तब इन दोनोंमें क्या भेद है ?

समाधान—चारित्रकी व्याख्या '**रागद्वेषनिवृत्तिः चारित्रम्**' है। तथापि सम्पूर्णचारित्र, अर्थात् सम्पूर्णतया रागद्वेषनिवृत्ति, प्रारम्भसे ही एक साथ सभी मुमुक्षुओंमें नहीं पाई जाती। अनन्तानुबन्धीके अभावमें अंशतः वीतरागभाव तो असंयत सम्यग्दृष्टिमें भी है, पर वहाँ बुद्धिपूर्वक संकल्परूपसे, पञ्चपापोंका त्यागरूप चारित्र नहीं है। अतः उसे संयमकी संज्ञा प्राप्त न होनेसे वह असंयमी 'असंयत' गुणस्थानवाला कहा जाता है। यहाँ पर वीतराग भावसे तात्पर्य उसकी विषयों-के प्रति उदासीनतासे तथा विषयोंमें हेयपनेकी दृष्टिसे ही है।

पंचमगुणस्थानी श्रावक संकल्पपूर्वक एकदेश पापत्याग करता है, अतः उसे अंशरूप एकदेश चारित्र कहा है। मुनि महाव्रती षष्ठमगुणस्थानवर्ती हैं, वे संकल्पपूर्वक पञ्च महापापोंका सर्वथा परित्याग करते हैं, अतः उनका चारित्र, सर्वदेश चारित्रकी संज्ञाको प्राप्त होता है। तथापि प्रमादरूपसे रागादि उनके विद्यमान हैं। सप्तमादि दशम गुणस्थान पर्यन्त, ध्यानावस्थित महाव्रती साधुओंके प्रमाद नहीं है। तथापि कर्मोदयकी स्थितिजन्य, अवुद्धिपूर्वक शुभरागकी स्थिति वहाँ भी पाई जाती है। जब तक चारित्रके साथ अबुद्धिपूर्वक शुभरागकी एक कणिका भी पाई जाती है, तव तक उसे पूर्ण वीतरागचारित्र संज्ञा प्राप्त नहीं है। एकादशम द्वादशम गुणस्थानमें सर्वथा रागादिका अभाव होनेसे, वहाँ चारित्रको पूर्ण वीतरागचारित्र संज्ञा प्राप्त होती है। इसे ही यथाख्यातचारित्र कहते हैं।

(८६) **प्रश्न**—इस कथनसे यह स्पष्ट हुआ कि सातवें अथवा उससे ऊपरके दशमगुणस्थान तकके सभी साधु सरागचारित्री हैं।

समाधान—यद्यपि सातवें गुणस्थानके ऊपर वुद्धिपूर्वक राग न होनेसे उपयोगकी दृष्टिसे 'उनको वीतरागचारित्र है' ऐसा कहा गया है, तथापि पूर्णवीतरागपना रागोदयके सर्वथा अभावमें ही माना गया है। जब उपशमज वीतरागचारित्री भी, ग्यारहवें गुणस्थानसे गिर जाता है और मुक्ति नहीं पाता, तब जिनके कषायका सम्पूर्ण उपशम नहीं हुआ, आंशिक उदय है, उन छठें, सातवें, आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानवालोंका चारित्र तो साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है। साक्षात् मोक्षका कारण कर्मक्षयज वीतराग चारित्र ही है।

(८७) **प्रश्न**—तब तो इन गुणस्थानोंका होना निरर्थक है।

समाधान—निरर्थक नहीं है, क्योंकि वीतरागचारित्रको पूर्ण करनेके पूर्व, आंशिक वीतराग-चारित्र वहाँ होता है। वह पूर्ण वीतरागचारित्रको प्राप्त करनेका साधन बन जाता है।

(८८) **प्रश्न**—तब सरागचारित्रको ही प्रीतिपूर्वक धारण करना चाहिए। वीतरागचारित्र तो उससे हो ही जायगा।

समाधान—ऐसा भी नहीं है, जो साधु सरागचारित्रका पालन करते हुए उसे वीतराग-चारित्र बनानेका सतत प्रयत्न करते हैं, वे वीतरागचारित्री बनते हैं। जो ऐसा नहीं करते वे लौट-लौटकर तब तक संसारी रहते हैं, जब तक कि वे किसी भवमें वीतरागचारित्री न बनें।

(८९) **प्रश्न**—तब तो सरागचारित्री वीतराग हो ही जायगा, चिन्ता क्यों ?

समाधान—यदि उसकी भावना सरागताको छोड़ पूर्ण वीतराग बननेकी है तो वह बनेगा। यदि प्रमादी है कि हो ही जायगा, तो वीतराग बन नहीं सकता। छठवें आदि गुणस्थानोंमें यथा-संभव कषाय निर्वृत्तिरूप निश्चय चारित्र भी है और शुभ प्रवृत्तिरूप व्यवहार चारित्र भी है। दोनों साथ-साथ चलते हैं तथापि अन्यत्र आचार्योंने पूर्ण वीतरागचारित्र; जो अखण्ड एकरूप है, उसे ही निश्चयचारित्र कहा है। उससे पूर्व व्यवहार चारित्र कहा है। **यहाँ इस कथनमें व्यवहार-चारित्रका अर्थ मात्र बाह्यचारित्र नहीं है, किन्तु 'भेदरूपचारित्र' ऐसा अर्थ है।** यहाँ अभेदको निश्चय और भेदरूप वर्णनको व्यवहार कहा है। जब तक सरागचारित्र है वहाँ तक सरागता बन्धका कारण, और चारित्रांश संवर निर्जराका कारण है, अतः संवर निर्जरा भी वहाँ चलती है और शुभबन्ध भी।[1]

यह सरागता चारित्रांश नहीं है अतः यह बंधका हेतु है। मोक्षका हेतु तो मात्र वीतरागांश-रूप चारित्र ही है। बन्ध तो संसारका ही कारण है। यह तो मात्र उपचार है कि चारित्रके साथ होने वाली सरागताको भी चारित्रके फलका श्रेय दिया जाय। ऐसी उपचारता भी परमार्थतः विरुद्ध है। यदि इसके विपरीत ऐसा उपचार वर्णन किया जाय कि *'सरागताके साथ होने वाला चारित्र भी पुण्यबन्धका कर्ता और बन्धका कारण उपचारसे है'* तो सामान्य श्रोताको भी ऐसा उपचार गले नहीं उतरेगा। वह कहेगा कि चारित्ररूप वीतरागभावको आप बन्धका कारण कैसे लिखते हैं? उत्तरमें कहा जा सकता है कि आप सरागभावको मोक्षका कारण कैसे कहते हैं? दोनों पक्ष समान हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि न तो सरागभाव मोक्षका हेतु है, और न सरागताके साथ होने वाला वीतरागभावरूप चारित्र बन्धका हेतु है। अतः सरागता बन्धका कारण ही है, और वीतरागांश चारित्र, मोक्षका ही हेतु है। सरागचारित्रीके यदि मोक्षप्राप्ति नहीं होगी तो वह सरागताके कारण। वही तो बाधक कारण है, जिसे परम्परा मोक्ष का साधन उपचारसे कहा जाता है। परमार्थ कथन तो ऐसा ही है, उपचार चाहे जैसा करो, पर वह परमार्थ नहीं है। जो परमार्थ नहीं है उसे अपरमार्थ कहना सर्वथा उपयुक्त है। अतः, आगमसे और युक्तिसे यह सिद्ध हुआ कि पाप-पुण्य, अशुभ शुभरूप होने पर भी, दोनों बन्धनके कारण हैं।

सामान्य संसारीजन पाप-पुण्यमें भेद करते हैं सो संसारके दुःख-सुखरूप फलापेक्षया अवश्य उनमें भेद हैं। **पाप छोड़कर पुण्यकी भूमिकामें आना आवश्यक है। इसके बिना पाप नहीं छूटते।** तथापि पापसे छुड़ाना इतना ही शुभभावोंका कार्य है। किन्तु जो शुभभावोंमें अटक जाता है, उससे आगे वीतराग भावकी भावना जिसे नहीं है, वह संसारी ही रहता है। मुक्त नहीं होता। जब तक पाप न छूटे तब तक ही शुभभावोंकी उपयोगिता है। केवल उतनेसे ही वह चरितार्थ है। पर स्वयं तो पुण्यरूप बन्धनका हेतु है अतः मोक्षमार्गके विपरीत ही है।[2] ॥१०२॥

१-२. धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीयणेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंतं॥ —प्रवचनसार गाथा ११-१२.

सभी कर्म, बन्धके ही कारण हैं, ज्ञान ही मोक्षका हेतु है ऐसा निम्न पद्य द्वारा प्रकट करते हैं—

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यत्,
बन्ध-साधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धम्,
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(**यत् सर्वविदः**) जिस कारणसे सर्वज्ञदेव (**सर्वम् अपि कर्म**) सभी प्रकारकी शुभाशुभरूप क्रियाओंको (**अविशेषात्**) समानरूपसे (**बन्धसाधनम्**) बन्धका कारण (**उशन्ति**) कहते हैं। (**तेन**) इस कारणसे (**तत् सर्वम् अपि**) वह सम्पूर्ण कर्म भी (**प्रतिषिद्धम्**) मोक्षके मार्गमें निषिद्ध है। (**ज्ञानम् एव**) एक मात्र ज्ञान ही (**शिवहेतुः**) मोक्षका कारण (**विहितम्**) कहा गया है ॥१०३॥

भावार्थ—जिस प्रकार बांधनेकी सांकल सोनेकी बनी हो, अथवा लोहेकी बनी हो, किसी भी सांकलसे किसी पशुको बाँधा जाय, तो उसकी बन्धन सम्बन्धी पराधीनतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। पशु ऐसा नहीं विचारता कि मैं स्वर्ण-सांकलसे बाँधा गया हूँ अतः भाग्यवान हूँ; और मेरे सामने अन्य पशु लोहेकी सांकलसे बाँधा गया है वह भाग्यहीन है। बन्धनको ही स्वीकार न करने वाला वह पशु भी, स्वर्ण या लोहेकी सांकलोंको तोड़कर निर्बंध हो जाना चाहता है।

मोही मनुष्य इस विषयमें कथंचित् पशुसे भी अधिक अज्ञानी है। वह स्वर्ण शृंखलाके बन्धनसे बद्ध होने पर अपनेको भाग्यशाली, तथा सामने वाले अन्य लौह शृंखलासे बद्ध व्यक्तिको भाग्यहीन मानता है। बन्धनकी दृष्टिसे पराधीन दोनों हैं; पर स्वर्णकी चमक दमकमें अंध हुआ अपने बन्धनकी ओर नहीं देखता, स्वर्णकी ओर देखता है, और अपनी उस पराधीनतामें ही सुख मानता है। संसारी अनात्मज्ञ पुरुष इसी प्रकार शुभ कर्म तथा तज्जनित पराधीनताको प्रेमसे स्वीकार करता हुआ, अपनेको सुखी मानता है तथा अशुभ कर्म व तत्जनित पराधीनताको दुःखरूप मानकर उसे अस्वीकार करता है। अतः बन्धनमें पड़ा रहता है। मुक्त नहीं होता।

भगवान् सर्वज्ञदेव कहते हैं कि भाई, जैसे दोनों शृंखलाएँ स्वयं भले ही स्वर्ण व लौहकी बनी होनेसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी हों, पर उनका बन्धनरूप कार्य तो एक ही प्रकारका है। उसमें भेद नहीं है। इसी प्रकार शुभ कर्म प्रकृति तथा उसका फल इन्द्रिय सुखरूप, तथा अशुभ कर्म प्रकृति तथा उसका फल दुःखरूप, संसारी अज्ञानीको भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, तथापि दोनों उसे संसारके बन्धनमें जकड़े हैं, मोक्षमार्गके लिए अर्गला रूप हैं। इसे देखते हुए उन्हें मुक्तिमार्गमें बाधक ही समझो। इस बन्धनपनेके कारण दोनों संसारके हेतु हैं, अतः मोक्षमार्गमें दोनोंका निषेध है। मोक्षका हेतु तो एक ज्ञानमात्र ही है, अन्य नहीं।

(९०) **प्रश्न**—ज्ञान निष्क्रिय है या क्रियारूप है? यदि निष्क्रिय है, तो वह मोक्षके लिए भी कारण कैसे बन सकता है। यदि क्रियारूप है, तो वह क्रिया शुभरूप है? या अशुभरूप? दो ही ही रूप क्रियाके होते हैं। यदि अशुभरूप है तो भी, और शुभरूप है तो भी, आपके कथनानुसार वह संसारकी ही हेतु होगी, मोक्षमार्गरूप न होगी। अतः ज्ञान मोक्षका हेतु नहीं बन सकता।

समाधान—क्रिया दो प्रकार होती है--(१) क्षेत्रान्तर गमनरूप, तथा (२) केवल परि-

णमनरूप। यहाँ क्षेत्रान्तर गमनरूप, या हलन चलन या सकंप दशारूप, क्रिया इष्ट नहीं, किन्तु परिणमन रूप क्रिया ही इष्ट है। शुभ परिणमन रूप क्रिया, तथा अशुभ परिणमन रूप क्रिया, दोनों शुभाशुभ बन्धके लिए कारणभूत हैं। तथा ज्ञानरूप परिणमन अर्थात् जीवका स्वभावरूप परिणमन उसकी मुक्ति प्राप्तिमें कारण होता है। आचार्य उसे क्रिया नहीं कहते। 'कर्म' शब्दसे वे यहाँ 'भाव-कर्म'को ही लेते हैं जो शुभाशुभ रूपसे दो प्रकार ही है। वह मात्र बन्धनका हेतु है, मोक्षका नहीं।

(९१) **प्रश्न**—शुभोपयोगी साधुव्रती ही मोक्षमार्गमें जाता है, अतः शुभोपयोगसे होने वाला पुण्यबन्ध मोक्षमार्गका साधक हुआ।

समाधान—ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है। भले ही चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुभोपयोगकी मुख्यता हो, तथापि इन गुणस्थानोंमें पाये जानेवाले, पदानुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं। उनमें पाया जाने वाला शुभोपयोग, मात्र पुण्यबन्धका कारण है, मोक्षमार्गका कारण नहीं होता। जिन-जिन वस्तुओंसे जीव राग करता है, अथवा द्वेष करता है, उन-उन वस्तुओंके साथ भी उसका विकल्पात्मक या आकुलतात्मक बन्ध हो जाता है। कर्मबन्ध तो होता ही है। मोक्षका मार्ग तो परसे तथा विकारीभावोंसे भिन्न, अपने स्वभावमय विशुद्ध आत्माके श्रद्धान ज्ञान आचरणसे बनता है। शुभाशुभ परिणाम मोक्षमार्गके साधक नहीं, बन्धके ही साधक हैं ॥१०३॥

सर्वक्रियाओंसे रहित साधुको ज्ञानका आश्रय ही शरणभूत होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणम्,
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अन्वयार्थ—(**सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि निषिद्धे**) पुण्य पाप दोनों कर्मोका सर्वथा निषेध कर देने पर तथा (**नैष्कर्म्ये किल प्रवृत्ते**) कर्मरहित शुद्धोपयोगमें प्रवृत्ति करने पर (**मुनयः**) मुनीश्वर (**अशरणाः न खलु संति**) निरवलम्ब होकर आश्रयहीन नहीं हैं। किन्तु (**तदा**) उस निष्कर्म अवस्थामें (**ज्ञानं ज्ञाने प्रतिचरितम्**) ज्ञान अपने स्वभावमें लीन हुआ है अतएव अपना स्वयं स्वभावरूप निराकुल निर्विकल्प ज्ञान ही (**एषां ही शरणम्**) इनके लिए परम शरणभूत है। (**तत्र निरताः एते**) उस निर्विकल्प ज्ञानमें तल्लीन साधुजन (**स्वयं परमं अमृतं विदन्ति**) स्वयं ही परम सुखका अनुभव करते हैं ॥१०४॥

भावार्थ—जब शुभाशुभ भाव बन्धन रूप हैं तब वे आकुलता स्वरूप होनेसे शरणभूत नहीं हैं किन्तु दुःखरूप ही हैं। अतः शुभाशुभ कर्मके छूट जानेपर मुनि निष्क्रिय होकर क्या करेंगे ? ऐसा प्रश्न ठीक नहीं है। वे कर्मरहित होकर निराकुलस्वरूप अपने ज्ञानानन्द स्वभावमें लीन हुए, परम शरणभूत निज स्वभावके आश्रयसे अविनाशी, अतीन्द्रिय, निराकुल आनन्दका रसपान करते हैं।

जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभावमें स्थित नहीं हैं, वे मिथ्यादृष्टि बाह्य शुभक्रिया रूप व्रत संयमादिका आचरण करें, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्गसे दूर हैं। ये शुभक्रियाएँ संसार-समुद्रसे तारणके लिए शरणभूत नहीं हैं। एकमात्र सर्व कर्मसे रहित, विशुद्ध ज्ञानका अवलम्बन ही शरणभूत है, जिसे पाकर जीव संसारोत्तीर्ण होते हैं।

संसारकी विभूतियोंमें जिन्हें राग है, पंचेन्द्रियके विषयोंकी लालसा है, और उक्त अभिप्राय वश, भ्रमवश शुभरागका अवलम्बन कर, अपनेको सशरण मान बैठे हैं, वे अपने स्वरूपको भूले हुए हैं। वह मान्यता ही मिथ्यादर्शन है।

सम्यग्दर्शन इससे विपरीत है। वह अपनी आत्म-संपत्तिके दर्शनसे होता है। जो उसे देखता है, जानता है, वही उसके मार्गमें जाकर उसे प्राप्त होता है। वह विशुद्धात्मा ही यथार्थ ज्ञानी[1] है, मुनि है। यहाँ शुद्धात्माको केवली भी कहा हैं ॥१०४॥

ज्ञान ही मुक्तिका हेतु है, इससे भिन्न सभी भावकर्म बन्धनके हेतु हैं, ऐसा कहते हैं—

यदेतत् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद् बन्धस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(**यत् एतत् ज्ञानात्मा**) यह जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह (**ध्रुवम् अचलं भवनम् आभाति**) ध्रुव और अचल रूपसे परिणत होता हुआ प्रतिभासित होता है (**अयं**) यही (**शिवस्य हेतुः**) मोक्षका मूल कारण है (**यतः**) क्योंकि (**स्वयमपि तत् शिव इति**) वही ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं शिव है। (**अतः अन्यत्**) उससे भिन्न जो अज्ञानात्मा है, वह (**बन्धस्य हेतुः**) बन्धका कारण है। (**यतः**) क्योंकि (**तत्**) वह (**स्वयमपि बन्धः इति**) स्वयं बन्धस्वरूप है। (**ततः**) इसलिए (**ज्ञानात्मत्वं भवनं**) ज्ञानस्वरूप आत्माकी परिणति है। वह (**हि**) निश्चयसे (**अनुभूतिः**) अनुभूति है, (**विहितम्**) ऐसा आगममें कहा गया है ॥१०५॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है, नित्य ध्रुव अचलरूप है। निश्चय दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माका स्वरूप ऐसा है। वह परद्रव्य, शरीर, तथा ज्ञानावरणादि पुद्गल द्रव्यके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न है। उस आत्माकी जो श्रद्धा है, वही अनुभूति है। अनुभूति ही मोक्षके लिए कारणभूत है।

आत्माके लिए अपने ज्ञानात्मक स्वभावके बिना, अन्य जो कुछ भी जड़रूप या शुभाशुभ रागादि विकार हैं, वे बन्धके कारण हैं। अथवा वे स्वयं बन्धन हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ आचार्योंने लिखा है कि आत्माकी ज्ञान स्वभावरूप परिणति ही, आत्माकी सच्ची अनुभूति है उससे भिन्न सब अनात्मस्वरूप हैं। आत्मा शिव है, मोक्ष है, स्वयं कल्याणरूप है। अनात्मा स्वयं संसार है, बन्धन है और अकल्याणरूप है।

---

१. परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मिट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥
—समयसार गाथा १५१

(९२) **प्रश्न**—ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा तो सिद्ध परमात्मा हैं। वे मोक्ष स्वरूप हैं ऐसा कथन तो बन सकता है, पर वे मोक्षके हेतु हैं ऐसा नहीं बनता।

समाधान—यहाँ ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मासे तात्पर्य मुक्तात्माका नहीं है। वे तो द्रव्यरूप व पर्यायरूप दोनों रूपोंसे शुद्ध ही हैं। यहाँ संसारी आत्मा जो ज्ञानावरणादि कर्म तथा नोकर्म संयुक्त हैं वे पर्यायरूपसे अशुद्ध हैं। उसकी वर्तमान दशा विकारी दशा है, यतः पर्याय उत्पन्न-ध्वंसी है, अतः वह स्वभाव तो नहीं हैं। तब स्वभाव क्या है ? ऐसा प्रश्न होता है। उत्तर यह है कि स्वभाव तो सदा ध्रुव और अचल होता है वह कभी मिटता नहीं है। द्रव्य दृष्टिसे जीवका विचार किया जाय तो वह उपयोग लक्षण वाला ऐसा ही है। उपयोग ही उसका स्वरूप है जो सदा काल ध्रुव रहता है। वह आत्माका असाधारण लक्षण है। जिसका कभी पृथक्करण होता ही नहीं है, वही जीवका जीवत्व है। वही पारिणामिकभाव है। अनादि कालसे अनन्त काल तक वह संसारी जीव, संसारी रहे अथवा सिद्ध बन जाय, यह लक्षण उसका सदा उसमें रहेगा। रागादिसे भिन्न उसी ज्ञानानुभूतिको यहाँ मोक्षका हेतु तथा स्वयं शिव रूप कहा है।

(९३) **प्रश्न**—द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न नहीं हैं। द्रव्यमें सदा पर्याय रहती है तथा पर्याय रहित द्रव्य नहीं होता। तब आत्माको द्रव्यरूपसे यदि शुद्ध माना जाय, तो अशुद्ध पर्याय द्रव्यको छोड़कर कहाँ रहेगी ? पर्याय सदा द्रव्याश्रित ही होती है, क्योंकि यह द्रव्यकी अवस्था विशेष ही है। द्रव्यकी सत्तामें ही उसकी सत्ता है, भिन्न सत्ता नहीं है। तब पर्यायमें अशुद्ध दशा होनेपर, द्रव्यको शुद्ध कहना कैसे बनता है ?

समाधान—द्रव्य विकारी होने पर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। यदि द्रव्यका स्वभाव मिट जाय तो द्रव्यका नाश हो जाय। यतः द्रव्यका कभी नाश नहीं होता, अतः सिद्ध है कि पर्याय अशुद्ध होने पर भी उस समय द्रव्य अपने लक्षणसे सम्पन्न है। वही उसका स्वभाव है। उसी लक्षणकी ओर आचार्य ध्यान दिलाते हैं।

यदि संसारी रागी दशामें भी स्वभाव विद्यमान न होता तो कर्मके दूर होने पर वह प्रकट कहाँसे होता ? स्वभाव परसे या अन्यत्रसे नहीं आता। वह वस्तुमेंसे ही प्रकट होता है, अतः संसारी दशामें भी भेदज्ञानी जीव कर्मोदय जन्य राग परिणतिको लक्ष्यसे हटा कर, शुद्धात्म स्वरूप आत्माको लक्ष्यमें लेवे तो ले सकता है। ऐसी अवस्थामें जब उसका लक्ष्य आत्म स्वभावकी ओर जाता है तो उसे यह प्रतीत होता है कि मेरा आत्मा तो ज्ञानात्मा है, क्रोधादि मेरे स्वभावमें नहीं है। तब ज्ञानस्वरूप आत्माकी ही अनुभूति होती है। उस अनुभूतिमें वह देखता है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, तथा संसारके समस्त द्रव्य मेरे नहीं हैं, अर्थात् मेरे स्वरूपमें नहीं हैं, मेरा आत्मा स्वभावसे सिद्धके समान ही है।

(९४) **प्रश्न**—यदि मेरा आत्मा संसारी दशामें ही सिद्ध या मुक्त है, और साथ लगे कर्म, नोकर्म, भावकर्म, जड़ पुद्गल हैं, तो संसारमें जैसे अनन्त पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें वर्तते हैं, वैसे पुद्गल भी वर्तते हैं, उनसे हमारी क्या हानि है ? तब आप हमें क्या उपदेश देना चाहते हैं ? शुभाशुभ अकरणीय हैं क्योंकि बन्धन है। तब हमें अब कुछ कर्तव्य शेष नहीं। हम तो सदा मुक्त हैं ?

समाधान—आचार्य यह उपदेश देना चाहते हैं कि मुक्तात्मामें और तुममें यह भेद है कि वे द्रव्य पर्याय दोनोंमें शुद्ध स्वरूपी हो चुके हैं। तुम स्वरूपसे शुद्ध हो, पर तुम्हारी पर्याय अशुद्ध है। अतः अपने स्वभावको समझो, उस पर लक्ष्य रखो, तथा प्रयत्न करो कि तुम्हारी पर्याय भी शुद्ध हो जाय। तब स्वयं पर्यायसे भी सिद्धात्मा बन जाओगे। उसके विना संसारी रहोगे।

(९५) **प्रश्न**—पर्याय परनिमित्तक अशुद्ध है, तो पर तो पर है, उससे हम अशुद्ध क्योंकर हो जायगें।

समाधान—परको अपनानेसे तुम रागी द्वेषी बनते हो। उससे परिणामोंमें विकार होता है, वही अशुद्धता है। वही कर्मबन्धनका कारण है। जो कार्माण वर्गणाएँ जीवके साथ बद्ध हैं वे भी अपने स्वभावरूप वर्तनमें नहीं हैं। जीवके रागादि परिणामके निमित्तसे, वे भी कर्म पर्यायरूप बन गई हैं और उनके उदयादि अवस्थाके निमित्तसे जीव भी रागादिरूप परिणत हो, बन्ध दशा-को प्राप्त है। फलतः दोनोंका श्लेषरूप बन्ध हो जाता है। जब तक बन्धन है तब तक संसार है। उसे मिटानेके लिए ही यह प्रयत्न है।

(९६) **प्रश्न**—लोकके सम्पूर्ण द्रव्य जीवित रहें तो क्या हानि है? उनमेंसे किसीको मिटाने-का भाव स्वयं हिंसाभाव है, और वह पापरूप है, अतः हिंसाभावसे मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी?

समाधान—यहाँ किसीकी हिंसाकी बातका उपदेश ही नहीं है। न किसीको मिटानेकी बात है। संसारके सभी द्रव्य स्वयं जीवित हैं। उनका नाश कभी नहीं हो सकता। कोई उन्हें न पैदा करता है, न मिटाता है। केवल आत्मासे अपनी अशुद्ध दशाको मिटाकर शुद्ध अवस्था उत्पन्न करनेकी बात कही गई है। परका साथ छोड़ने तथा परका अवलम्बन लेकर अपनेको विकारी न होने देनेका अर्थ ही बन्धनको मिटाना है ऐसा समझो।

आत्मा अपने स्वभावको समझे, उसका श्रद्धान करे, तो विकार मिटाकर स्वयं शुद्ध हो जाता है। इस आत्मानुभूतिको ही मुक्तिका कारण कहा गया है ॥१०५॥

आत्माकी ज्ञान परिणति ही मोक्षका हेतु है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य**) आत्माका (**सदाज्ञान स्वभावेन भवनं वृत्तम्**) सदा ज्ञान रूप परि-णमन ही चारित्र है (**तत् एक द्रव्य स्वभावत्वात्**) क्योंकि वह एक आत्म द्रव्यका ही स्वभाव है। (**तदेव मोक्ष हेतु**) अतः वही मोक्ष का हेतु है ॥१०६॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है तथापि संसारी दशामें वह ज्ञान विकृत हो गया है। मोह रागादि भावरूप परिणतिसे ज्ञान मिथ्या हो रहा है, उसे अज्ञान भी कहते हैं। जब ज्ञान, अज्ञान रूप रागादि परिणमनको छोड़कर, ज्ञानके रूपमें ही परिणत हो, तो वह मोक्षका हेतु बनता है, उसे ही आगम भाषामें चारित्र कहा गया है।

मोक्ष द्वन्द्वरूप नहीं है। द्वन्द्व दशाका परित्याग कर पूर्ण एकत्वको प्राप्त करना ही मोक्ष है। आत्मा अपने स्वरूपमें स्वयं एक है। उसकी संसारीदशा कर्मके साथ संश्लेषात्मक संयोग होनेसे बनी है। यही द्वन्द्व दशा है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। द्वन्द्व दशामें ज्ञान, विकृत होकर अज्ञान भावमें

परिणत हो जाता है। ज्ञान एक जीव द्रव्यका ही स्वभाव है, दोका मिलकर नहीं। अतः एक द्रव्य-स्वभाव रूप ज्ञानका, अपने स्वरूप रूप परिणमन ही, उस आत्माकी एकत्वदशा, मोक्षदशाको प्राप्त होनेमें कारण बनता है। मोक्षका अन्य हेतु कोई नहीं हो सकता। मोक्ष तो परसे छूटनेका नाम है, वह परसे कैसे होगा ? परका सम्बन्ध स्वयं बन्ध रूप है। अतः पर संयोगसे, तथा तन्निमित्त जन्य विकारोंसे रहित होकर, स्वरूप परिणमन ही मोक्षका हेतु है ।

(९७) **प्रश्न**—अनादिसे जीव अज्ञानी है, तो अज्ञान तो स्वभाव हुआ, और ज्ञान कारण पाकर हुआ अतः वह स्वभाव नहीं रहा ।

समाधान—स्वभाव तो आत्माका ज्ञान ही है। तथापि कर्मोपाधि निमित्तसे वह ज्ञान विकारी होनेसे अज्ञान कहा गया है। 'अज्ञान' का अर्थ ज्ञानका लोप नहीं है, क्योंकि स्वभावका नाश किसी वस्तुमें नहीं होता। अतः जब ज्ञान अपनी विकारी परिणतिको छोड़ स्वयं अपने स्वरूप परिणमे, तब उसे ज्ञानका होना कहते हैं। अर्थात् कहा जाता है कि 'उसे अब ज्ञान हुआ।' ऐसा नहीं है कि ज्ञानका अभाव था, अब ज्ञान गुणकी नवीन उत्पत्ति हुई हो।

जैसे मदिरा पान करनेवाला जब मदसे उन्मत्त होता है उस समय उसका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। मस्तिष्कका अभाव नहीं हो जाता। नशा उतरनेपर विकृति दूर हो जाती है और वह सही ढंगसे काम करने लगता है। इसी प्रकार रागादि क्रोधादिके नशेमें, आत्मा स्वस्थ भावमें स्थिर नहीं रहता। उस कषायावेशके नशेके दूर होनेपर, वह स्वस्वभावमें आता है। वही स्वस्थता या ज्ञानीका ज्ञानरूप परिणमन, या आत्माका स्वरूपरूप आचरण, या स्वानुभूतिरूप परिणमन है। वही मोक्षका हेतु है। अपने स्वरूपमें आना ही परका परित्याग है। वही मोक्षका हेतु है या वह स्वयं मोक्ष स्वरूप ही है ॥१०६॥

जब आत्मा संसारमें ज्ञानरूप परिणमन न कर शुभाशुभ कर्मरूप परिणमन करता है, तब वह बन्धका कारण ही होता है, मुक्ति का कारण नहीं होता ऐसा कहते हैं—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(**कर्मस्वभावेन वृत्तं**) कर्म जो शुभाशुभ क्रियारूप परिणमन है वह (**ज्ञानस्य भवनं न हि**) ज्ञानका होना नहीं है। क्योंकि शुभाशुभरूप क्रियाएँ कर्मरूप हैं ज्ञानरूप नहीं। कर्म तो (**द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्**) पुद्गलद्रव्यके स्वभावरूप हैं, जो जीवसे भिन्न द्रव्य है। अतः (**तत् कर्म न मोक्षहेतुः**) वह द्रव्यान्तर जीवके मोक्षका कारण नहीं हो सकता। कर्मधारा रूप ज्ञानका परिणमन चारित्र नहीं है, ऐसा भी अर्थ अन्यत्र किया गया है ॥१०७॥

भावार्थ—अशुभ क्रिया पापरूप परिणमन है, जो कुगतियोंमें जीवको दुखोत्पत्तिका हेतु है। शुभक्रिया पुण्यरूप परिणमन है, जो सुगतिमें सांसारिक सुखका हेतु है। तथापि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुख, आकुलताका उत्पादक होनेसे दुःखरूप ही है।

पापोदयमें गरीबी, अभावरूप आकुलता उत्पन्न करती है। पुण्योदयकी अमीरी भी साधनोंकी रक्षाके लिए आकुलता उत्पन्न करती है। पापोदयमें अपमान संक्लेशात्मक होनेसे, दुःखका हेतु है। पुण्योदयमें सम्मान चिन्ताका कारण है कि मेरे सम्मानको कोई धक्का न लग जावे।

पापोदयसे कोई विकलांग है तो दुःखी है। पुण्योदयवाला सकलांगी अपने अंगोंकी सुरक्षामें विकल है। पापोदयमें व्यापारी घाटा उठाता है तो दुःखी है। पुण्योदयवाला व्यापारी प्राप्त मुनाफाको बचानेके लिए आकुलित है, उसे मिठाईमें चीटोंकी तरह, ठगों और धोखेबाजोंसे परेशानी है।

फलतः पुण्य पापरूप क्रियाओंसे मोक्ष नहीं होता, वे कर्मजन्य, कर्मोत्पादक, पौद्गलिक, दोनों ही क्रियायें मोक्षमें बाधक हैं। शुभाचरण, क्रियाकाण्ड, दैहिक क्रियायें हैं। देह जड़स्वरूप हैं। जड़ क्रियासे मोक्ष होता नहीं। उन क्रियाओंके साथ आत्माके शुभ परिणाम होते हैं, वे भी मोक्षके यथार्थ हेतु नहीं हैं। किन्तु जब आत्मा बाह्य प्रवृत्तिको रोककर, आन्तरिक शुभाशुभ क्रियाओंको भी रोक-कर, ज्ञान रूप परिणमता है, तब रागादि रहित वीतरागी ज्ञानी हो, मोक्ष प्राप्त करता है ॥१०७॥

शुभाशुभ कर्म मोक्षप्राप्तिमें बाधक होनेसे मोक्षके कारण नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

मोक्ष-हेतु-तिरोधानात् बन्धत्वात् स्वयमेव च।
मोक्ष-हेतु-तिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(**मोक्ष-हेतु-तिरोधानात्**) कर्म, मोक्षके कारणभूत शुद्धोपयोगको रोकने वाला है, (**च**) तथा (**स्वयमेव बन्धत्वात्**) स्वयं बंधन स्वरूप है अतः, (**मोक्ष-हेतु-तिरोधायिभावत्वात्**) मोक्षके कारणोंको ढांक देनेका उसका स्वभाव होनेसे, (**तत्**) वह शुभाशुभ कर्म (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है ॥१०८॥

भावार्थ—अशुभ कर्म जो पञ्चपापादिरूप क्रियायें, तथा अशुभ परिणाम जो अप्रशस्त रागादि क्रोधादि भाव, ये तो पापबन्धके कारण होनेसे मोक्षके व तद्हेतुओंके बाधक ही हैं। इसी प्रकार पञ्चाणुव्रत, पञ्चमहाव्रत, आदि व्यवहार चारित्ररूप क्रियाएँ, तथा श्रावकके प्रशस्त रागरूप देवपूजा, दानादिरूप परिणाम,—ये दोनों भी स्वर्गादि गतियोंके बन्धरूप होनेसे, मोक्षके कारणोंके विरुद्ध हैं। अतः मोक्षमार्गमें शुभाशुभ क्रियाओं और परिणामोंका निषेध है, क्योंकि मोक्षका हेतु शुद्ध परिणति व शुद्धोपयोग ही है।

(९८) **प्रश्न**—यदि शुभोपयोग मोक्षके कारणोंका बाधक है, तब उसे करना ही नहीं चाहिए। ऐसी स्थितिमें श्रावकोंको पञ्चाणुव्रत, तथा देववन्दनादि कार्य, तथा साधुओंको भी पञ्चमहाव्रत पञ्चसमित्यादिव्रत, तथा षडावश्यक क्रियाएँ करनेका उपदेश चरणानुयोगमें क्यों वर्णित है? धर्मका निषेध करना कहाँ तक उचित है? क्या ऐसा कथन चरणानुयोग आगम के विरुद्ध नहीं है?

समाधान—नहीं है। इन शुभोपयोगरूप प्रशस्त क्रियाओंको 'व्यवहार चारित्र' कहते हैं। निश्चय चारित्र तो स्वात्म स्थितिरूप है, जो शुद्धोपयोगी साधुको होता है। वही मोक्षका सच्चा हेतु है। शुभ क्रियाएँ तो पुण्यबन्ध, और पाप क्रियाएँ पापबन्धका कारण हैं, अतः दोनों बन्धरूप होनेसे, मोक्षके हेतुओंके विरुद्ध फलको उत्पन्न करनेवाली हैं। मोक्षमार्गमें दोनों प्रकारके कर्म निषिद्ध हैं।[1]

---

१. बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥ —पञ्चाध्यायी (२) ७७३.

(९९) **प्रश्न**—जब मोक्ष मार्गमें इनका निषेध है तो शास्त्रोंमें ऐसे प्रशस्त रागरूप व्यवहार चारित्रका उपदेश क्यों है ?

समाधान—उनका उपदेश इसलिए है कि जीव पापकी भूमिकासे ऊपर उठे। जो पापकी भूमिकासे ऊपर उठेगा, ऐसा शुभाचरणी ही शुद्धोपयोग तथा शुद्ध निश्चय चारित्रके मार्ग पर आरूढ़ हो सकेगा।

(१००) **प्रश्न**—यदि व्यवहार चारित्री ही निश्चय चारित्रकी भूमिका पर चढ़ सकता है तब मोक्षमार्गमें उसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है, तब उसका निषेध कैसे किया जाता है ?

समाधान—व्यवहार चारित्र तथा शुभोपयोगका यहाँ निषेध नहीं किया गया, किन्तु यह बताया गया है कि '**उससे मोक्ष नहीं होता**', स्वर्गादिगति प्रापक पुण्यका ही बन्ध होता है।

(१०१) **प्रश्न**—जब शुभोपयोगी ही व्यवहार चारित्र पूर्वक निश्चय पर आरूढ़ होता है, तो उसे बन्धका ही कारण क्यों कहा गया ? बन्ध और मोक्ष दोनोंका कारण कहना चाहिए।

समाधान—ऐसा नहीं है। कोई व्यक्ति मोक्षमार्गकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अशुभोपयोगका त्याग कर शुभोपयोगमें आता है, फिर शुभोपयोगको भी बन्धका कारण जान शुद्धोपयोगमें प्रयत्नशील हो उसे प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषार्थीका व्यवहार चारित्र, निश्चय चारित्रके लिए साधन बन सका। तथापि वह मोक्षका साक्षात् साधन नहीं बन सका। यदि यह पुरुषार्थी अपने पुरुषार्थसे अपनेको शुद्धोपयोगकी भूमितक न पहुँचाता, तो शुभोपयोगी ही रहता। तब पुण्य बन्ध ही करता। यदि शुभोपयोगसे नीचे गिरता तो पाप बन्ध करता। कर्म निर्जरा वह न करता। अतः व्यवहार चारित्र स्वयं तो पुण्य बन्धका हेतु है, मोक्षका नहीं। परम्परा मोक्षका हेतु उसे शास्त्रोंमें जो कहा गया, वह उपचरित कथन है, परमार्थ नहीं। दोनों कर्मोंका कार्य तो बन्धन रूप ही है, अतः वे मोक्षके साधनोंके विरुद्ध होनेसें निषेध किए गए हैं ॥१०८॥

मोक्षमार्गीको अपने स्वभावरूप निष्कर्म दशा प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य च।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्,
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षार्थिना**) मोक्षको जो उपादेय मानता है उसे (**समस्तम् अपि**) सम्पूर्ण प्रकारके (**तदिदं कर्म एव**) शुभाशुभ रूप कर्म ही (**सन्यस्तव्यं**) त्याग करना चाहिए। (**तत्र संन्यस्ते सति**) समस्त कर्मोंके त्यागकी बात जहाँ की गई हो वहाँ (**पापस्य पुण्यस्य वा किल का कथा**) पुण्य कर्म और पाप कर्मके भेदकी कथाको कोई स्थान रह जाता है क्या ? अर्थात् नहीं रह जाता। ऐसा निश्चय जानो। (**ज्ञानम्**) शुद्धात्माका जो ज्ञान रूप परिणमन है वह (**सम्यक्त्वादि निज-स्वभावभवनात्**) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, निज स्वभाव रूप होनेके कारण (**मोक्षस्य हेतुर्भवन्**)

मोक्षका हेतु होता हुआ (**नैष्कर्म्यप्रतिबद्धं**) कर्म रहिततासे युक्त, अर्थात शुभाशुभ रूप विकल्पोंसे मुक्त (**उद्धतरसम्**) अपने उत्कट निजरूपमें (**स्वयं**) ज्ञान स्वतः (**धावति**) दौड़ता है, अर्थात् स्वयं उत्पन्न होता है, या स्वयं शुद्ध होता है ॥१०९॥

भावार्थ—मोक्ष प्राप्तिकी जिसे अभिलाषा है उसे समस्त शुभाशुभ कर्म छोड़कर ऊपर उठना चाहिए। इसीको कर्मसंन्यास कहते हैं। मोक्ष स्वयं निष्कर्म है। आठों कर्मसे रहित अवस्थाका नाम मोक्ष है। जहाँ आठों कर्मोंका नाश किया जाता है, वहाँ पाप पुण्यके भेदकी कथा करना, अर्थात् उनमें भेद डालकर किसीको संसारका और किसीको मोक्षका हेतु कहना, निष्प्रयोजन है। कर्मोंमें ही तो पुण्य पाप भेद हैं, जब कर्ममात्रका अभाव ही इष्ट है तब पुण्य कर्म स्वयं इष्ट कैसे हो सकता है ?[1] कोई वस्तु किन्हीं भी दो विरुद्ध कार्योंको उत्पन्न नहीं कर सकती। अतः मोक्षार्थी सभी कर्मोंको परित्याग कर स्वयं सम्यग्दर्शनादि रूप बनें, तथा अपने उत्कट समर्थ शुद्धात्म ज्ञान रूप अपनी परिणतिको बनावें तब ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(१०२ **प्रश्न**—संन्यास तो सल्लेखनाको कहते हैं, जो जीवनके अन्त समयमें धारण की जाती है। आपने शुभाशुभ कर्मके त्यागको संन्यास कहा, तो दोनोंमें क्या सम्बन्ध है बताइए, जिससे उनकी यथार्थता समझी जा सके ?

समाधान—सल्लेखनाका अर्थ भी इन्द्रिय विषयों और कषायोंको कृष करना ही है। उन्हें कृष करनेवाला अपनी आत्माको सर्वक्रियाओंसे मुक्त कर, अपने स्वरूपमें ही लगानेका प्रयत्न करता है। ऐसी अवस्थामें ही देहका मोह छूटता है। इसे ही समाधि लेना कहते हैं। समाधि युक्त मरण ही समाधिमरण है। मरण जब हो ही रहा है, उस समय जो समताभावको प्राप्त करना वही समाधि सहित मरण है। समताभावकी प्राप्ति सदा आवश्यक है, चाहे जीवनकाल हो या जीवनका अन्त समय हो।

रागद्वेषमें प्रशस्ताप्रशस्त दोनों प्रकारके रागको, तथा जो अप्रशस्तरूप ही होता है ऐसे द्वेषको, शामिल किया गया है। उन्हें त्यागकर अपनी आत्मामें अपनी आत्माको स्थिर करना ही कर्मसंन्यास है। इस प्रकार दोनोंका एक ही अर्थ है, भले ही वे क्रियाएँ भिन्न-भिन्न अवसरपर की गई हों, और इसलिए उनको नाम भिन्न-भिन्न दिया गया हो, पर आत्माके निर्बन्ध होनेके उपायकी दृष्टिसे वे एक ही प्रकार हैं। अन्तमें शरण तो कर्म संन्यास ही है।

सिद्ध है कि आत्माका स्वभाव निष्कर्म है। मनवचनकायकी क्रियाएँ आस्रवके लिए कारण हैं। कषाय और योग होनेपर कर्मका बन्ध होता है। अतः जो आस्रव बन्धकी कारण हैं, ऐसी दोनों प्रकारकी क्रियाएँ ही कर्म हैं और मोक्षके लिए दोनोंका त्याग आवश्यक है ॥१०९॥

---

१. परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसार गमण हेदूं वि मोक्ख हेंउ अजाणंता॥
—समयसार गाथा १५४

सम्यग्दृष्टिकी क्रियाएँ भी मोक्षकी साधनभूत नहीं हैं—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्म बंधाय तत्,
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

अन्वयार्थ—(**यावत्**) जबतक (**ज्ञानस्य**) ज्ञानकी (**सा कर्मविरतिः**) वह कर्म अर्थात् शुभाशुभ क्रियाकी विरति-रहितपना (**सम्यक् पाकम् न उपैति**) परिपूर्णपाकको प्राप्त नहीं होती अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानके साथ-साथ क्रिया शुभाशुभरूप रहती है (**तावत्**) तबतक सम्यक्त्वीजीवमें (**कर्मज्ञानसमुच्चयः**) कर्म और ज्ञान दोनोंकी सहभावी स्थिति (**अपि विहितः**) भी रहती है, ऐसा कहा गया है। तो भी (**न काचित् क्षतिः**) इसमें कोई हानि नहीं है। (**किन्तु अत्रापि**) तथापि इस अवस्थामें भी (**अवशतः**) अपना वश न चलनेपर कर्मकी परवशतासे (**यत् कर्म**) जो क्रिया (**समुल्लसति**) होती है (**तत्**) वह (**बंधाय**) कर्मबन्धके लिए ही कारण होती है। (**मोक्षाय**) मोक्षकी प्राप्तिके लिए तो (**स्वतः**) स्वयं (**विमुक्तम्**) पर रागादिक्रियासे रहित (**एकम्**) अकेला (**परमं ज्ञानम्**) उत्कृष्टज्ञान (**एव स्थितं**) ही है ॥११०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्वके परिणामोंको नाश कर देनेके कारण सम्यग्ज्ञानी है, और ज्ञानीके बन्ध नहीं होता यह सुनिश्चित है। तथापि चारित्रमोहके क्षयोपशममें, पंचम-षष्ठम गुणस्थानमें, शुद्धताके साथ व्रतसंयमादि शुभक्रियाएँ भी होती हैं। शुभक्रियाएँ शुभबन्धनकी कारण हैं यह भी सुनिश्चित है। ऐसी अवस्थामें सम्यग्दृष्टिजीवके सम्पूर्ण कर्मकी विरति जबतक नहीं होती, अर्थात् जबतक शुभक्रियाका भी अभाव पूर्ण रीत्या नहीं हो जाता, तबतक वह कर्मबन्ध भी करता है। तथापि सम्यग्दर्शन व ज्ञानरूप परिणति, बन्धका कारण नहीं है, बन्धका कारण तो उसके साथ पाई जानेवाली शुभक्रियाएँ ही हैं।

(१०३) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टिके तो शुभाशुभ बन्ध ही है। जब सम्यक् कर्म विरति हो जायगी तब तो मोक्ष ही हो जायगा। बिना योग क्रियाके मिटे, सम्यक् कर्म विरति कैसे होगी? तब तक तो बन्धन ही रहेगा।

समाधान—यहाँ कर्म विरतिका अर्थ है शुभाशुभ क्रियाओंका त्याग। सो सम्पूर्ण क्रिया-निवृत्ति तो योगके अभावमें ही होगी, यह सत्य है, तथापि उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थानसे जीवको, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर, श्रद्धाके आधार पर शुद्धात्मानुभूति होती है। वह जीव उस कालमें एक देश संवर तथा एक देश कर्मक्षय करता है। वही जीव चारित्र मोहके उदयमें क्रिया करता है, उसकी वह क्रिया बन्धका कारण होती है, और उससे वह कर्मबन्ध भी करता है।

(१०४) **प्रश्न**—जब सम्यग्ज्ञानीके भी बन्ध होता है तब 'ज्ञानी अबन्धक' है ऐसा ग्रंथमें जगह-जगह क्यों लिखा है?

---

१. तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्तवेनाविमाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥४०२॥
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्ध नयात्मिका ॥४०३॥—पञ्चाध्यायी अध्याय—२

समाधान—जब जीव रागादि भावोंसे मुक्त हो जाता है तब सम्पूर्ण शुभाशुभ क्रियाओंसे रहित हुआ, मात्र योग क्रियासे एक साता प्रकृतिका ही बन्ध करता है। वह भी मात्र प्रकृति और प्रदेशबन्ध। उसके कर्ममें स्थिति अनुभाग नहीं पड़ते। नाम मात्रका वन्ध है। किन्तु उसके पूर्व जहाँ तक शुभाशुभ क्रियाएँ हैं, वहां तक उसे शुभाशुभ बन्ध भी होता है। **वह भी जितने अंशमें ज्ञानी बना है, उतने अंशमें अबन्धक है, संवर निर्जरा करता है। तथा जितने अंशमें राग है उतने अंशसे कर्मका बन्ध करता है। फिर भी वह बन्ध, अनन्तानुबन्धी व मिथ्यात्वके अभावमें, अनन्त संसारका कारण नहीं है, इसकी अपेक्षा उसे अबन्धक भी कहा गया है। पूर्णरीत्या रागादिका जब अभाव होता है, तब पूर्ण अबन्धक हो जाता है।**

(१०५) **प्रश्न**—क्या शुभाशुभ क्रिया ज्ञानभावके विरुद्ध नहीं हैं ? यदि है तो सम्यग्दृष्टिके दो विरुद्ध भाव एक साथ कैसे रह सकते हैं ? या तो ज्ञानभाव ही रहेगा, या रागादिरूप क्रिया, जिसे अज्ञानभाव कहना चाहिए, वह रहेगी। ज्ञानी हो और अज्ञानरूप क्रिया करे, तो वह कैसा ज्ञानी है ?'

समाधान—आचार्य भी यही कहते हैं कि अरे ज्ञानी ! तू अपने ज्ञानभावमें रमण कर। यदि ज्ञानभावसे चूक कर किसी भी समय अज्ञानभावमें, शुभाशुभरूप रागादि विकारीभावमें आयगा तो तुझे अवश्य कर्मबन्ध होगा।

चूँकि दोनों भावोंमें परस्पर विरोध है, अतः उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञानभाव अबन्धक हैं, और रागभाव बन्धक हैं। अतः ज्ञानभावके साथ-साथ चारित्रमोहके उदयमें परवशता से शुभभाव या शुभ क्रियाएँ भी चलती हैं। उन्हें अज्ञानभाव नहीं कहते। अतः श्रद्धामें उन्हें वन्ध-का ही कारण मानता है और उनका भी अभाव हो ऐसी भावना करता है, तथापि जब तक वे हैं तब तक बन्ध तो होता ही है। वह तब तक पूर्ण ज्ञानी भी नहीं है। तथापि मिथ्यादर्शनके मिटने-से उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ है, अतः वह ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी ही है, मिथ्याज्ञानी नहीं है। शुभाशुभ राग व क्रोधादिभाव, शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्माके निजभाव नहीं हैं, विरुद्ध विकारी-भाव हैं, अपना निज उपयोग स्वरूप ज्ञान ही निजभाव है। उसे प्राप्त करनेका सम्यग्दृष्टिका प्रयत्न है। अतः जब तक सम्पूर्ण रागादि परिणतिको दूर नहीं कर सका तब तक वह अपूर्ण ज्ञानी है। जितने अंश ज्ञानी है, उतने अंश ही अबन्धक है। जितने अंश रागादि हैं, उतने अंश वह बन्धक है।[1]

---

१. येनांशेन सुदृष्टिः तेनांशेनास्य वन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य वन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य वन्धनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य वन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य वन्धनं भवति ॥२१४॥

—आचार्य अमृतचन्द्र, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

जब ज्ञानांश अवन्धक है तब ज्ञानीको अवन्धक ही कहना होगा, और जब रागांश वन्धक है तो उस समय उसे वन्धक ही कहना होगा। इस तरह नय विवक्षासे वस्तु स्वरूपका विचार करने पर कोई विरोध नहीं आता।

(१०६) **प्रश्न**—मिथ्यादृष्टिकी शुभाशुभ क्रियाएँ वन्धकका कारण कहो तो सत्य हैं। पर सम्यग्दृष्टि जीवकी व्रत संयमादि शुभ क्रियाएँ तो मोक्षका कारण हैं? सभी मोक्षार्थी साधु षष्ठ-मादि गुणस्थानोंमें सकलसंयम रूप चारित्रको धारण करते हैं। यदि संयमको वन्धनका कारण आप कहेंगे तो क्या मोक्षका कारण असंयमको मानेंगे? आपके ऐसे विरुद्ध उपदेशसे ही लोग संयमके मार्गको संसार परिभ्रमणका (वन्धका) कारण जानकर छोड़ते जाते हैं; और मात्र तत्व-ज्ञानकी ऊँची-ऊँची चर्चा करके अपनेको मोक्षमार्गी मान, अहंकार करते हैं।

समाधान—सम्यग्दृष्टिकी शुभ क्रियाएँ भी जब वन्धका कारण हैं, तब सम्यक्दृष्टि व्रत संयम छोड़कर असंयमी बन जाय, ऐसा कदापि संभव नहीं है। **जो तत्वज्ञानकी चर्चा तथा स्वाध्याय करनेवाले, उक्त उपदेशको पाकर संयमको छोड़ असंयमी बनते हैं, अथवा संयम-भावको त्याज्य मान कर उसकी निन्दा करके असंयम भावको धारण करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि नहीं है।** सम्यग्दृष्टि वस्तुको यथार्थ जानता है। उसे सम्यग्ज्ञान है अतः वह तो असंयमी दशा छोड़ कर संयमी ही वनेगा, और फिर शुभ भाव रूप व्यवहार चारित्रसे ऊपर उठकर निश्चय चारित्री वनेगा। असंयमी नहीं वनेगा। उसे यह पूर्ण श्रद्धा है कि शुभाशुभ दोनों क्रियाएँ वन्ध रूप हैं। एक पुण्य वन्ध कराती है, दूसरी पाप वन्ध कराती है। जो पुण्यके वन्धनको भी त्याज्य मानता है वह उसके स्थान पर पापके वन्धनको स्वीकार करे, क्या उसे कोई बुद्धिमान मानेगा? तत्वज्ञानी कहेगा? कदापि नहीं।

जहाँ आगममें पुण्य वन्ध और उसके कारणोंका निषेध है, वहाँ पाप वन्ध और उसके कारणोंका तो स्वयं निषेध आ ही चुका। वह उपादेय नहीं है! **सम्यग्दृष्टि सयम भाव रूप शुभ भावोंको पुण्य वन्धका ही कारण मान, उससे ऊपर निश्चय संयम जो पूर्ण आत्म संयमन रूप है, उसकी ओर ही वढ़ता है। वह नीचे नहीं गिरता।**

जो तत्वज्ञानी शास्त्राभ्यासी हैं, उन्हें ऊपर उठना चाहिए, नीचे नहीं गिरना चाहिए। तत्वविचारका फल स्वात्मोपलब्धिकी ओर वढ़ना है। असंयम भाव तो तत्वोपलब्धिके मार्गके सर्वथा विपरीत है। अतः ज्ञानीको विचार पूर्वक ही प्रवर्तन करना योग्य है। श्री शुभचन्द्राचार्यने तत्त्वज्ञान तरंगिणीमें इस कलशका अर्थ इस प्रकार किया है—जब तक ज्ञान सर्व प्रकार कर्मसे रहित नहीं हो जाता, और जब तक ज्ञान कर्मका मिश्रण जीवनमें चलता है, तब तक 'न काचित् क्षति' कर्मका क्षय नहीं होता। वहाँ पर कर्मोदयकी परवशतासे कर्म वन्ध हो जाता है। एक मात्र कर्म निरपेक्ष जो केवल ज्ञान है वही मोक्षका हेतु है ॥११०॥

जो मात्र वाह्य क्रिया काण्डको ही मोक्षका कारण मान वैठे हैं, ऐसे शुभयोगियोंको मोक्ष नहीं होता, तथा जो तत्वज्ञानकी चर्चा कर स्वच्छन्द होकर असंयममें वर्तते हैं, उन्हें भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। ऐसा आचार्य स्वयं निम्न पद्यमें प्रतिपादन करते हैं—

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमंदोद्यमाः ।
विश्वस्योपरिते तरन्ति सततं ज्ञानंभवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥

अन्वयार्थ—(**ये कर्मनयावलम्बन पराः**) जो बाह्यक्रियाओंका ही आलम्वन लेते हैं तथा (**ज्ञानं न जानन्ति**) अपने ज्ञानभावका आलम्बन या अनुभूति नहीं करते वे (**मग्नाः**) संसारमें ही मगन हैं। तथा (**ज्ञाननयैषिणः**) ज्ञानभावसे ही कल्याण है अतएव मुझे ज्ञान है ऐसे भ्रमसे (**यत्**) जो (**अस्तित्वच्छन्दमंदोद्यमाः**) विषयकषायोंमें स्वच्छन्द तथा आत्महित साधक कार्योंमें उद्यमहीन हैं, वे (**अपि**) भी (**मग्नाः**) संसारमें ही डूबे हुए हैं। (**विश्वस्य उपरि**) इस संसार समुद्रके ऊपर तो (**ते तरन्ति**) वे तैरते है जो (**सततं स्वयं ज्ञानं भवन्तः**) निरन्तर अपने ज्ञानस्वरूप परिणमते हुए, (**ये जातु**) जो कदाचित् भी (**कर्म न कुर्वन्ति**) शुभाशुभ कर्म नहीं करते। तथा (**प्रमादस्य वशं न यान्ति**) आत्महितमें कभी प्रमादके वशीभूत नहीं होते ॥१११॥

भावार्थ—इस जगतमें कुछ आत्महितैषी, बाह्यचारित्र व्रत-तप-दान पूजादि कार्योसे ही, अपना कल्याण मानते हैं[१] और अपनी आन्तरिक परिणतिको नहीं सुधारते, वे मुक्तिके मार्गसे दूर, संसारके पात्र ही रहेंगे। इसी प्रकार जो 'ज्ञानमात्रसे मुक्ति होती है, बाह्यक्रिया काण्डसे संसार रहता है, अतः सिर्फ शास्त्राभ्यास करना चाहिए', ऐसा विचारकर स्वच्छन्दतासे सांसारिक वैषयिक क्रियाओंमें लिप्त हैं, उनसे अपनेको भिन्न नहीं कर पाते, और आत्महितमें साधनभूत बाह्यचारित्र व क्रियाओंको सर्वथा, हेय मानकर छोड़ देते हैं, न पुण्य कर्म करते हैं, न ज्ञानस्वरूप बनते हैं, वे भी संसारमें डूबे हैं। उनका भी उद्धार नहीं हो सकता। इस संसार सागरसे वे पार होते हैं, जो विश्वके परिभ्रमणके कारणभूत रागादि विकारी परिणामों से भिन्न होकर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मामें ज्ञान स्वरूपसे परिणमन करके, पुरुषार्थी वनते हैं।

(१०७) **प्रश्न**—पहिले आपने कहा था कि वाह्य चारित्र अन्तरंग चारित्रका कारण है, तव उसे धारण करनेवालेको मुक्ति मार्गसे बाह्य कहना तथा संसारमें डूबने वाला बताना ही प्रमादको फैलाना है। ऐसा उपदेश आचार्य क्यों देते हैं ?

समाधान—जो बाह्य चारित्र अन्तरंग चारित्रका कारण वन जाये तो अन्तरंग चारित्र ही मोक्षका कारण हुआ। आत्मा रागादि विकारोंसे दूर होकर, ज्ञान स्वरूप निज स्वभावमें परिणमन करे—यही तो आन्तरिक चारित्र है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है। मात्र वाह्य चारित्रसे मुक्ति नहीं होती। शुभ कर्म निष्कर्म दशाका हेतु कैसे हो सकता है ?

---

१. वद णियमाणि धरंता शीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ट बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥
× × ×
वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीदु ॥२७३॥ —समयसार

(१०८) **प्रश्न**—विना वाह्य चारित्रके कोई अन्तरंग (निश्चय) चारित्र पा सकता है क्या ?

समाधान—नहीं। जिसे निश्चय चारित्रके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, वह वाह्य चारित्र-को साधनभूत वनाकर ही साध्यभूत निश्चय चारित्रको प्राप्त कर सकता है, **अतः वाह्य चारित्र निश्चय चारित्रकी प्राप्तिका अभ्यास स्वरूप है**। तथापि जब वह साध्य प्राप्त कर लेता है, तव 'उसका वाह्य चारित्र साधन रूप वना' यह निर्णय होता है।

(१०९) **प्रश्न**—तो क्या साध्यकी प्राप्तिके वाद साधन वनता है ? या साधनसे साध्य प्राप्ति होती है। सारा संसार साधनको पूर्व मानकर साध्य प्राप्ति पश्चात् होती है, ऐसा मानता है। आप उल्टी गंगा वहाना चाहते हैं।

समाधान—न गंगा उलटी वहती है, और न साध्य पूर्व और साधन पीछे होते हैं। साधन तो पूर्व ही होते हैं, और साध्य पीछे ही होता है। तथापि साधन वही है जिससे साध्यकी प्राप्ति हुई हो। यदि साध्यकी प्राप्ति न हो तो वह साधन नहीं कहलावेगा।

(११०) **प्रश्न**—तव साधन क्या है जिसे अव सेवन किया जाय, ताकि साध्यकी प्राप्ति हो। आपके कथनानुसार तो साध्यकी प्राप्तिके वाद साधनका निर्णय होगा। किन्तु साध्यकी प्राप्तिके वाद साधनका क्या उपयोग है ? उसकी आवश्यकता तो तव तक है, जव तक साध्य प्राप्त नहीं हुआ। तव साध्यकी प्राप्ति क्या विना साधनके होगी ?

समाधान—ऐसा नहीं है। जिनमें साधन वन सकनेकी योग्यता हो उनका अवलम्वन करके, कोई पुरुषार्थी प्रयत्न करे तो साध्यको पा सकता है, और तव यह निर्णय होता है कि मैंने अमुक साधनोंसे साध्य प्राप्त किया है, अतः वे सच्चे साधन सिद्ध हुए। जो साधन स्वरूप वन सकने वाले साधनोंका अवलम्वन करने मात्रसे संतुष्ट हैं, और साध्य प्राप्तिमें मंदोद्यम हैं, वे साध्यको प्राप्त नहीं करते, अतः उनके साधन, साधन नहीं है। अतः सिद्ध है कि वाह्य क्रिया-काण्ड मात्रमें ही संतुष्ट रहने वाले मंदोद्यमी अपुरुषार्थी, साध्यसे दूर रहते हैं, वे संसारमें डूवते हैं, ऐसा आचार्यका कथन है।

(१११) **प्रश्न**—यह तो समझमें आया कि वाह्य चारित्र यदि अन्तरङ्ग चारित्रसे रहित है तो मोक्षका साधन नहीं वनता। पर निश्चय चारित्रके साथ तो वह मोक्षका साधन वनता है तव उसका निषेध क्यों ?

समाधान—उसका निषेध नहीं करते, किन्तु वह स्वयं सीधा मुक्तिका साधन नहीं है ऐसा कहते हैं। इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि उसे ही सव कुछ मानकर संतुष्ट होने वाले, निश्चय चारित्रको भी प्राप्त नहीं कर पाते। तव मुक्तिकी साधना कैसे होगी ? उसे साधन वनाकर निश्चय चारित्र प्राप्त करो, क्योंकि निश्चय चारित्रसे ही मुक्ति होती है। जव कोई निश्चय चारित्रसे मुक्ति साधना कर लेता है, तव उसका पूर्वमें रहने वाला व्यवहार चारित्र, उपचारसे या परम्परासे मोक्षका साधन वना, यह कहा जाता है। परमार्थसे तो निश्चय चारित्र हीं मोक्षका साधन वना है।

(११२) **प्रश्न**—निश्चय चारित्र, जो आत्माका विशुद्ध ज्ञान रूप परिणमन है, वही ज्ञान-मोक्षका साधन हुआ। वाह्य चारित्र परमार्थ कारण नहीं है। तव अपरमार्थको छोड़ देनेपर परमार्थ ज्ञानीको भी डूवने वाला आपने वताया, जो विचित्र वात है। ऐसा क्यों ?

समाधान—परमार्थ ज्ञानी डूबने वाला नहीं है। यहाँ जो ज्ञान नयके पक्ष पातीको डूबने वाला बताया सो उसका तात्पर्य यह है कि 'मैं ज्ञानी हूँ, मुझे शास्त्र बोध है, आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध अनाद्यनन्त है, रागादि भाव जड़ हैं, आत्म स्वभाव नहीं हैं, उससे सर्वथा भिन्न हैं, ऐसा वस्तु स्वभावको मैंने जान लिया है। अतः मैं कर्म बन्धनसे रहित हूं।' ऐसा मानकर जो अशुभ परिणतिके त्याग स्वरूप, तथा शुभ परिणतिकी प्रवृत्ति रूप, व्यवहार चारित्रसे भी बाह्य हुए, अपनी अशुभ परिणतिसे ऊपर नहीं उठ सके, वे परमार्थमें ज्ञानी नहीं हैं, रागी हैं। वे भी संसारमें ही डूबेंगे ऐसा आचार्यका कथन है।

(११३) **प्रश्न**—जिसे ज्ञान हो वही ज्ञानी है। तब ज्ञानी कैसे डूबेगा ? वह ज्ञानके आधार पर संसारसे तरेगा। ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है, ऐसा अमृतचन्द्राचार्यने कहा है कि 'ज्ञानमेव विहितं शिव हेतुः' इस वचनसे ज्ञानीको डूबने वाला कहना उचित नहीं है।

समाधान—ज्ञानी नहीं डूबेगा यह सत्य है, वही तरेगा। पर शास्त्रज्ञानी मात्रको ज्ञानी नहीं कहते। किन्तु **'जो अपनी परिणतिमें रागादि विकारोंसे रहित, ज्ञान स्वरूप बना हो' उसे ज्ञानी कहते हैं।** शास्त्रोंका जानकार तो 'शास्त्रमें क्या लिखा है' ऐसा मात्र जानता है। पर स्वयं रागादिसे, शुभाशुभसे भिन्न नहीं हो सका। जो उसे शास्त्राधारसे ज्ञान है, वह ज्ञान उसका निजका बन जावे, और विकारी परिणति न हो, तो वह 'ज्ञानमात्र' वस्तु बना। अब उसमें कोई विकार नहीं है, अतः ऐसा ज्ञानी ही सच्चा ज्ञानी है। उसी ज्ञानको शिव हेतु कहा है। मात्र शास्त्र पढ़नेवाला प्रमादी, रागी जीव ज्ञानी नहीं है।

उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि एकान्ततः बाह्यचारित्र मात्रसे मोक्ष नहीं होता। इसी प्रकार एकान्ततः वस्तु स्वभावको जान लेने मात्रसे मोक्ष नहीं होता। किन्तु **जो अशुभ रूप परिणतिको छोड़, शुभ परिणतिके आचारणरूप बाह्य क्रियाओंके द्वारा, स्वरूप साधनका प्रयत्न करते हैं, वे जीव शुभाशुभ कर्मसे ऊपर उठकर, स्वयं शुद्धोपयोग परिणतिमें लीन होकर, स्वयं ज्ञानरूप बननेके उद्यममें संलीन हुए अप्रमादी हैं। वे पुरुषार्थी ही संसारसे तरकर आत्मानंद स्वरूप मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१११॥**

ऐसे पुरुषार्थीको, अपनी परम कलाके साथ क्रीडा करने वाली, पूर्ण ज्ञानज्योति प्रकट होती है ऐसा कहते हैं—

> **भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं**
> **मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।**
> **हेलोन्मीलत् परमकलया सार्धमारब्धकेलि-**
> **ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥**

अन्वयार्थ—(**पीतमोहं**) पिया है मोह जिसने अतः (**भेदोन्मादम्**) पुण्य-पाप कर्ममें भेद है अतः भेदके उन्मादसे पुण्यमें ही रम गया है, तथा (**भ्रमरसभरात् नाटयत्**) ऐसे ही भ्रमके रसके भारसे नृत्य करता है ऐसे (**तत्कर्म**) उस शुभाशुभ कर्मको (**बलेन**) पुरुषार्थ पूर्वक (**मूलोन्मूलं कृत्वा**) जड़से उखाड़ कर, अर्थात् सर्वथा दूर कर, (**कवलिततमः**) मोहान्धाकारको समाप्त करने-वाली तथा (**हेलोन्मीलत् परमकलया सार्धम्**) सहज ही उदय होनेवाली तथा अपनी परम कलाके

साथ (आरब्ध केलिः) जिसने क्रीड़ाकी है ऐसी (ज्ञानज्योतिः) ज्ञानकी ज्योति (भरेण) पूर्ण रूपसे (प्रोज्जजृम्भे) प्रकट होती है ॥११२॥

भावार्थ—अनादि कालसे मिथ्यात्वके वश यह जीव पाप भावमें लिप्त रहा। आत्महितको इसने नहीं पहिचाना, तथा कुमतिका ही पात्र रहा। क्वचित् कदाचित् धर्मका उपदेश सुना तो धर्मका फल सुगति मानकर पुण्य कर्ममें तथा उसके फलमें ही मग्न हो गया। कषायकी मन्दतासे किये गए पुण्य परिणाम, तथा तीव्रतासे हुए पाप परिणाममें भेद मानकर, पापको त्याग कर, पुण्यको मोक्षमार्ग मानकर, कर्ममें शुभाशुभ भेदकी कल्पना कर, अपनेको मोक्षमार्गी मानकर उछलता रहा।

जैसे कोई मदिरापान करनेवाला उन्मादमें भरा हुआ नृत्य करता है, आनन्दित होता है, उन्मादके कारण वह यह नहीं जानता कि यह मदिराकी गहलता मेरे लिए [1]दुःखका हेतु है। इसी प्रकार शुभाशुभ कर्ममें भेद रूप भ्रमके कारण, यह मोही संसारी जीव, कुगति सुगतिरूप भेदभावके चक्रमें पड़कर संसार परिभ्रमणका पात्र बना हुआ है।

जब आत्मामें यथार्थ ज्ञानकी ज्योति प्रकट होती है, तब वह ज्ञानज्योति इस भ्रमको दूर करती है, और तब ज्ञानी संसारकी जड़ स्वरूप, दोनों प्रकारके कर्मको, अपने शुद्धोपयोगके पुरुषार्थके बलसे, जड़मूलसे उखाड़ करके, समस्त मोहान्धकारको समाप्त करके, अपनी श्रेष्ठतम ज्ञानकी कलाओंसे, जो सहज आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमय है, क्रीड़ा करता है। तब अखण्ड ज्ञानज्योति पूर्ण उदयको प्राप्त होती है।

आगममें सामान्यजनोंको सर्वत्र यह उपदेश दिया है कि पापको छोड़ो, पुण्य करो। सामान्यजनको पापकी भूमिकासे उठानेके लिए यही उपदेश कार्यकारी है। तथापि इसका फल कुगति और दुरवस्था दूर होना है, या सुगति व सुखावस्थाकी प्राप्ति है ?

यह सुख संसारिक है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ नहीं है। मोक्षमार्गी संसारको हेय मानता है, अतः उसमें पाये जानेवाले सुख-दुःख दोनोंको दुःखरूप हेयरूप ही मानता है। मोक्षमार्गी चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव है। चतुर्थगुणस्थानी असंयम सम्यग्दृष्टि है, वह संयम न पाल सका अतः असंयमी है, पर संयमको उपादेय और असंयमको हेय मानता है—उसकी श्रद्धा ऐसी दृढ़रूप है। इस दृष्टिके आ जानेसे ही वह सम्यग्दृष्टि है। पंचमगुणस्थानी देशचारित्री व साधु सकलचारित्री हैं। ये दोनों चारित्र पापके एक देश या सर्वदेश त्यागसे हुए हैं। यह परिणाम निवृत्ति और प्रवृत्ति,

---

१. 'शुभोपयोगका फल देवताओंकी सम्पदा है, और अशुभ उपयोगका नरकादिकी आपदा है, परन्तु इन दोनोंमें आत्मीक सुख नहीं है, इसलिये इन दोनों स्थानोंमें दुख ही है।'
'इन्द्रादिक मनोवांछित भोगोंसे शरीरादि पोषण ही करते हैं, सुखी नहीं हैं, सुखीसे देखनेमें आते हैं। जैसे जोंक विकार वाले लोहूको बड़ी प्रीतिसे पीती है, और उसी में सुख मानती है, परन्तु यथार्थमें उसका वह पीना दुख का कारण है। इसी प्रकार वे इन्द्र वगैरह भी तृष्णासे सुख मान रहे हैं।'
'पुण्य, देवताओं से लेकर सभी संसारी जीवों को तृष्णा उपजाते हैं, और जहां तृष्णा है, वहां ही दुख है, क्योंकि तृष्णा के बिना इन्द्रियोंके रूपादि विषयों में प्रवृत्ति ही नहीं होती।'
प्रवचनसार गाथा ७२, ७३, तथा ७४ की भाषा टीका में भावार्थ।

दोनो रूप हैं, अतः प्रवृत्ति रूपसे शुभबन्ध तथा निवृत्तिरूप परिणामसे संवर—निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि इस पुण्य परिणामसे ऊपर उठकर, विशुद्ध परिणामी बनता है। वह प्रयत्नशील है। शुभरागरूप या पुण्यरूप चारित्र उस वीतरागचारित्रपर आरूढ़ होनेकी प्रथम सीढ़ी है। सीढ़ी चढ़नेके लिए है, अतः वह छोड़नी पड़ती है, पर ऊपर चढ़नेको छोड़नी पड़े तो लाभदायक है; साधनभूत है। यदि उतरनेके लिए छोड़ दी जाय तो मंजिल न मिलेगी, संसार भटकना होगा; क्योंकि शुभभाव छोड़ने पर अशुभभाव ही होंगे, जो नरकादि दुःखके कारण होंगे।

मोक्षमार्गी पुण्यबन्धके कारणभूत शुभभाव भी छोड़कर निर्बंधदशा पाना चाहता है। अतः ऐसे जीवको पुण्यपापमें भेद व पुण्य-परिग्रह, नहीं करना चाहिए। उससे ऊपर उठना चाहिए।

(११४) **प्रश्न**—महाव्रती षष्ठम गुणस्थानीय साधुके महाव्रतादिरूप परिणाम, यदि पुण्यरूप चारित्र हैं, तो वह चारित्र मोक्षमार्गका ही कारण माना जायगा। अन्यथा यदि इसे साधु, बन्धका कारण जाने, तो क्यों धारण करे ?

समाधान—साधु मोक्षमार्गी है और मोक्षके लिए ही उसकी यह व्रतधारण रूप यात्रा है, तथापि वह इतने मात्रसे सन्तुष्ट नहीं है, इसीसे आगे वीतराग चारित्रका अभिलाषी होकर बढ़ता है।

(११५) **प्रश्न**—यदि प्रशस्तराग भी बंधका कारण है तब भगवान् केवलीके भी राग होना चाहिये, अन्यथा उन्हें, तथा उसके पूर्व वीतरागी चारित्रवाले—ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोंमें सातावेदनीयका बन्ध किस हेतुसे होता है ?

समाधान—वीतराग चारित्रधारी ग्यारहवें; बारहवें, गुणस्थानोंमें तथा केवलीके जो साता का बंध होता है, वह योगके कारण होता है, रागके कारण नहीं।

(११६) **प्रश्न**—यदि योगके कारण साताका बंध है, तो क्या वहाँ शुभयोग है ? प्रशस्तराग (शुभराग) के अभावमें, वह योग शुभयोग कैसे होगा ? तथा शुभयोगके विना साता रूप पुण्य प्रकृतिका बंध भी कैसे होगा ?

समाधान—इन तीनों गुणस्थानोंमें साता प्रकृतिका मात्र ईर्यापथ आस्रव ही होता है—रागादिरूप कषायके अभावमें बंध नहीं होता। वहां मात्र प्रकृति प्रदेश बंध है। यह कथनमात्र बंध है, उसमें स्थिति व अनुभाग नहीं हैं।

(११७) **प्रश्न**—उक्त समाधानमें आपने परस्पर विरुद्ध बात कही है। पूर्व वाक्यमें यह बताया कि मात्र आस्रव है, बंध नहीं होता। बादमें प्रकृति प्रदेश बंध भी स्वीकार किया। दोनोंमे कौन सी बात यथार्थ है।

समाधान—स्थिति-अनुभाग बंधसे रहित जो प्रकृति प्रदेश बंध है, वह यथार्थ बंध नहीं है। समागत कर्म वर्गणाएं आत्माके साथ बंधती नहीं हैं, अतः आकरके भी वे कर्मवर्गणाएं तत्काल निर्जराको प्राप्त हो जाती हैं।

(११८) **प्रश्न**—मन-वचन-कायकी क्रिया योग है, योगसे ही आस्रव होता है 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' उमास्वामीके इस वचनके अनुसार वहाँ पुण्यास्रवका कारण योग 'शुभयोग' मानना

होगा। अन्यथा साता रूप पुण्यका आस्रव भी कैसे होगा ? मूल प्रश्नका समाधान नहीं हुआ। प्रकृति प्रदेश क्या वंध रूप नहीं हैं ?

समाधान—केवलीके पाया जानेवाला योग 'शुभयोग' माना जायगा। शुभयोगके साथ शुभराग होता ही है, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। केवली भगवान्‌के योगों द्वारा होनेवाली दिव्य-ध्वनि आदि कार्य, प्राणिमात्रके हितकारक होनेसे शुभकार्य हैं। इन शुभकार्योंमें निमित्त होनेके कारण उनका योग 'शुभयोग' कहा जाता है।

शुभकार्य जो साता प्रकृतिका आस्रव, उसके कारण भी उस योगको 'शुभयोग' कहा जायगा। बंधका लक्षण जो उमास्वामीने अपने सूत्र ग्रन्थमें किया है, वह है "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वंधः' अर्थात् कषाय संयुक्त जीव, कर्मयोग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है वह वंध है। इस लक्षणके आधारपर, कषायरहित होनेसे, स्थितिअनुभागसे रहित, मात्र प्रकृति प्रदेशबंध, वंधके लक्षणमें नहीं आता। अतः उन तीनों गुणस्थानोंमें वंध नहीं है, मात्र ईर्यापथ आस्रव है, ऐसा कहा गया है।

(११९) **प्रश्न**—वंध शब्द तो उसके साथ भी है। उमास्वामी भगवान्‌ने वंधके चार भेद बताऐ हैं। उनमें प्रकृतिबंध, प्रदेशवंध, प्रारंभमें ही गिनाये हैं। तव वहां वंध नहीं हैं, यह कैसे माना जा सकता है।

समाधान—स्थिति अनुभागवंध प्रकृतिप्रदेशपूर्वक ही होते हैं। अतः उनको वंधके कारण होनेसे वंध भी कहते हैं। तथापि स्थिति अनुभागके अभावमें; आत्मप्रदेशोंका संश्लेश, जिसे यथार्थ वंध कहना चाहिये वह पूर्ण वीतराग चारित्रीके, तथा केवलीके नहीं होता। वहां वंधका तात्पर्य ही समाप्त हो जाता है, अतः वहां उपचारसे ही वंध कहा गया है।

❀ इति जीव अजीव अधिकारः ❀

□ आस्रव अधिकार □

जिस प्रकार किसी नाटककी रंगभूमिमें अपना अभिनय प्रदर्शन करनेवाला नट, अपने वेष की महत्तासे उन्मत्त हुआ विविधरूप नृत्य करता है, इसी प्रकार आस्रवतत्त्व रंगभूमिमें अवतरित होता है।

निम्न पद्यमें इसीका वर्णन है—

अथ महामदनिर्भरमन्थरं
समररङ्गपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

अन्वयार्थ—(अथ) पुण्यपापाधिकारके बाद आस्रव तत्त्वका वर्णन करनेवाला अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। (**महामदनिर्भरमन्थरम्**) जो महान् अहंकारसे भरा हुआ है अतएव जिसकी उन्मत्त पुरुषकी तरह अटपटी गति है, तथा (**समररङ्गपरागतम्**) समर अर्थात् युद्धकी रंगभूमिमें सामने आये योद्धाके समान है ऐसे (**आस्रवम्**) आस्रवको, (**अयम् उदारगभीरमहोदयः**) यह उदात्तगुणको धारण करने वाला, अत्यन्त गंभीर महान् शक्तिशाली, दुर्जय (**बोधधनुर्धरः**) ज्ञानरूप धनुषधारी अजेय वीर (**जयति**) जीतता है ॥११३॥

भावार्थ—जैसे अपने अहंकारके वश हुआ कोई योद्धा, उन्मत्त पुरुषकी तरह अपनेमें ही चूर होकर, बड़े गर्वकी गतिसे पैर बढ़ाता हुआ आवे और यदि उसे कोई अन्य बलवान्, धीर-वीर धनुषधारी युद्धभूमिमें परास्त करके निर्मद कर देवे, तब वह समरभूमि छोड़कर भाग जाता है। इसी प्रकार जीवोंकी संसारकी रंगभूमिमें, अपने वश कर लेनेके अहंकारसे मदमत्त आस्रवभावको, सम्यग्ज्ञानरूपी अन्य योद्धा परास्त कर देता है। अर्थात् ज्ञानभावके उदयमें आस्रवभाव स्वयं समाप्त हो जाता है। अनादिसे ही यह जीव कर्मबद्ध है। कर्मोदयमें शुभाशुभ कर्म किया करता है। कर्म रहित अवस्था इसकी एक क्षणके लिए भी नहीं हुई। अपनी इन शुभाशुभ क्रियाओंके व तज्जन्य परिणामोंके निमित्तसे यह ज्ञानावरणादि शुभाशुभ जड़कर्म प्रकृतियोंसे बँधता है।

ये बद्ध कर्म प्रकृतियाँ अपने उदय कालमें जीवकी शुभाशुभ परिणतिमें निमित्त कारण बन जाती हैं, और जीव पुनः नवीन प्रकृतियोंसे अपनेको बाँध लेता है। यद्यपि वस्तुतः नवीन कर्म प्रकृतियाँ पूर्व बद्ध कार्माण वर्गणाओंसे ही बँधती हैं जीवके साथ नहीं, तथापि जीवके साथ उनका एक क्षेत्रावगाह श्लेष सम्बन्ध होनेसे 'जीवने बन्ध किये' ऐसा कहा जाता है।[1]

---

१. पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मशरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥ —समयसार गाथा १६९

× × ×

एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति। एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बंधः सिद्ध्येत। —समयसार गाथा ६९,७० आत्मख्याति टीका

कर्म प्रकृतियों तथा जीवकी परिणतियोंमें इस प्रकार **परस्पर निमित्त नैमित्तिकताके रूपमें कार्य-कारणपना चला आ रहा है।** इनमें जीवके जो विकारी भाव हैं वे 'भावास्रव' संज्ञाको प्राप्त होते हैं। क्योंकि उनके कारण ही नवीन प्रकृतियाँ बँधती हैं। बन्ध-प्राप्त कर्म प्रकृतियाँ जब उदयावस्थाको प्राप्त होती हैं तब उनके उदयमें जीवके भावास्रवरूप परिणाम होते हैं, तब नवीन आगत कर्म प्रकृतियोंके आनेको द्रव्यास्रव कहा गया है।

(१२०) **प्रश्न**—जब तक बन्धके निमित्तभूत भावास्रव, तथा भावास्रव के भी निमित्तभूत द्रव्यप्रत्यय हैं, तब तक जीवके बन्ध रुक नहीं सकता। अतः यह उपदेश देना व्यर्थ है कि जीवको रागादिभावको दूर कर अपने भाव सम्हालना चाहिए। रागादिकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण जो जड़ कर्म प्रकृतियों का उदय है—प्रथम उन्हें तोड़ना चाहिए। वे टूटेंगी तो भावास्रवकी उत्पत्ति रुकेगी, और उस भावास्रवरूप रागादिके रुकने पर बन्ध रुकेगा।

समाधान—ऐसी प्रक्रिया नहीं है। जड़कर्म प्रकृतियोंका आगमन आस्रव, ही पुरुषार्थपूर्वक रोका जाता है, उदयागत कर्म तो उदयमें आकर स्वयं नष्ट होने वाला है, उसका क्या नाश करना है? वह तो मिटनेसे अब बच ही नहीं सकता। उसके उदय होने पर, यदि एक मात्र असाधारण शक्तिरूप अपने ज्ञान स्वभावका जीव आलम्बन करे, तो सत्तास्थित कर्म में परिवर्तन होता है, उससे उदयकी धारा भी बदलती है, तब बन्धमें भी अन्तर पड़ता है। यही प्रक्रिया कर्मबन्धको तोड़नेकी है।

(१२१) **प्रश्न**—जब मोह कर्मके उदयमें ही जीव विकारी बनता है, उसके बिना विकारी बनता ही नही, तब मोह कर्मोदयके रहते हुए विकार रहित कैसे बन सकता है? यदि बन सकता है तो सकर्मा जीव भी निर्विकारी हो मुक्त हो जायगा?

समाधान—सकर्मा जीव जब राग, द्वेष, मोहरूप न परिणमें तभी निष्कर्मा बनता है, तभी मुक्त होता है। तथापि निष्कर्मा बननेकी प्रक्रिया ही ऐसी है। स्वभाव का आलम्बन करने वाला जीव, पहिले बांधे हुए सत्ता में स्थित कर्मोंकी स्थिति-अनुभाग में, उत्कर्षण और अपकर्षण करके, अन्तर पाड़ सकता है। संक्रमण द्वारा उन्हें पलट भी सकता है। उपशमन और क्षपण-विधि द्वारा उनका उपशम और क्षय भी कर सकता है। अप्रमत्त दशामें मुनि जब श्रेणी-आरूढ़ होते है, तब शेष रागादि और वेदादि का जहां उनके उदय होता है, वहां भी उदय से राग-द्वेष रूप परिणमन न करते हुवे, निज स्वभावके अवलम्बनसे, कर्मोका उपशम या क्षय ही करते हैं। यदि कर्मोदयमें एकान्तसे जीव रागी बने, और रागी बन्ध करे ही करे। पुनः बद्ध प्रकृतियाँ उदयमें आकर रागी बनावें ही बनावें और पुनः रागी बन्ध करे ही करे, तब यह परम्परा, जो अब तक अनादिसे चली आई है, कभी टूटेगी नहीं, तथा न टूटनेपर जीव सदा संसारी ही रहेगा, मुक्त नहीं होगा।[1] निर्वि-

१. द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः ॥४५॥ —प्रवचनसार गाथा ४५ (तात्पर्य वृत्ति टीका)

× × ×

तथापि स तु (ज्ञानी) निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्य-प्रत्ययानामबन्धहेतुत्वात्। —समयसार गाथा १७६ आत्मख्याति टीका,

कल्प ध्यानसे क्षपक श्रेणीके आठवें, नवमें, दसवें गुणस्थानोंमें क्रमशः मोह कर्मका उदय, उत्तरोत्तर क्षीण होता है । अतः उसी प्रकार वहां बन्ध भी क्षीण होता जाता है। बारहवें गुणस्थानमें मोहका अभाव हो जाता है और इसी लिये कर्म बन्ध भी, केवल एक साता प्रकृतिका, योग निमित्तक—प्रकृति-प्रदेश मात्र शेष रह जाता है।

(१२२) **प्रश्न**—तब आस्रव भावको रोकनेका क्या उपाय है ? जिससे नवीन बन्धका अभाव हो और जीव मुक्त हो ।

समाधान—आस्रवभाव अर्थात् परपदार्थमें राग-द्वेष आदि परिणाम—जीवके अज्ञान जनित भाव हैं। ज्ञानी जीव इन भावोंसे बचता है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, भेद ज्ञानी हैं, वे अपने ज्ञानभाव और रागादि अज्ञानभावमें भेद करके, ज्ञानभावको स्वीकार करते हैं, तद्रूप ही परिणत होते हैं। रागादि अज्ञान भावरूप परिणत नहीं होते । यह ज्ञानरूप परिणमन ही निश्चय चारित्र है, जिससे यह जीव अबन्ध दशाको प्राप्त होता है, नवीन कर्म बन्धका अभाव करता है, तथा पुरातन बद्ध कर्म उदयावस्थाको प्राप्त होते हैं—वे स्वयं झर जाते है। उदयके बाद कोई जीव यदि उनको स्थिर रखना भी चाहे तो रखा नहीं जा सकता, उनका नियम से क्षय हो जाता है। इस प्रकार जीव निष्कर्मा बन जाता है, वही मुक्त है।

(१२३) **प्रश्न**—अशुभ कर्मके तीव्रोदयमें जीवको पीड़ारूप परिणाम होते हैं, तथा शुभ कर्मके उदयमें सुखरूप परिणाम होते हैं। उस समय तथा रागादि कर्मके उदयकी स्थितिमें, ज्ञान-भावका उदय ही नहीं होता, तब कैसे नया बन्ध रुकेगा ? और कैसे जीव मुक्त होगा ?

समाधान—जिस पुरुषार्थसे जीव मुक्त होता है वह **पुरुषार्थ यही है कि द्रव्यकर्मके उदयमें भी जीव अपने स्वरूप की सम्हाल करे ।** ऐसा नहीं है कि निमित्तपनेकी योग्यता रखनेवाला निमित्त बने ही बने । यदि उसे निमित्त बनाया जाय तो वह निमित्त है, न बनाया जाय तो योग्यता रखते हुए भी वह निमित्त नहीं बन पाता ।

कर्मोदयकी स्थितिमें सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञानभाव, जिसे वह अपनी भेद ज्ञानकी दृष्टिसे अपना स्वभाव जान चुका है, उस पर अवलंबित हो जावे, अपने स्वरूप, और कर्मके स्वरूपका विचार कर स्वभावमें रहे, विकारी भावरूप परिणति न करे तो उसे कर्मबन्ध नहीं होता। यह स्थिति श्रेणी पर आरूढ़, वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीवकी ही होती है अतः सम्यग्दृष्टि शब्दसे उसीका ग्रहण करना चाहिये। चतुर्थ-पञ्चम तथा छठें गुणस्थानोंमें गुणस्थानके अनुसार, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान आदि कषायोंके तीव्र उदयकी स्थितिमें रागादि भाव जीवमें नियमसे होते हैं। तथापि स्वभाव-स्पर्शी जीव, उनका क्षयोपशम करता हुआ, आगे बढ़ता है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि, इस कलशमें कथित प्रकरणके अनुसार, समस्त संसारी अज्ञानी प्राणियोंको अपने वशमें करने वाला, आस्रवभाव, अपनी इन कृतियोंके गर्वसे उन्मत्त होकर जब झूमता हुआ सामने आता है, तब आत्मबोधकी ज्योति उसके गर्वको खण्डित करती है।

यहाँ नाटककी रंगभूमिमें आने वाले पात्रको जब दर्शक भेद दृष्टिसे पहिचान लेते हैं, तब वह लज्जित होकर रंगभूमिसे भाग जाता है। इसी प्रकार आस्रवभावके रूपको भेदज्ञानी जब जान लेता है तब वह भी, इस जीवके संसारभावकी रंगभूमिसे हट जाता है ॥११३॥

ज्ञानभाव क्या है और वह कैसे आस्रवको रोकता है, इसका निरूपण करते हैं—

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्यात् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौधान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ।।११४।।

अन्वयार्थ—(**राग-द्वेष-मोहैः विना**) राग-द्वेष तथा मोहरूप विकारी भावोंसे रहित (**यो भावः**) जो भाव (**जीवस्य स्यात्**) जीवके होता है (**ज्ञाननिर्वृत्त एव**) वह भाव ज्ञानचेतना स्वरूप ज्ञानसे रचित भाव ही है। (**एषः**) यह भाव ही (**सर्वान्**) सम्पूर्ण (**द्रव्यकर्मास्रवौघान्**) द्रव्यास्रवको (**रुन्धन्**) रोकता हुआ (**सर्वभावास्रवाणाम्अभावः**) सम्पूर्ण भावास्रवोंके अभावरूप है ।।११४।।

भावार्थ—किसी भी पदार्थको इष्ट मानकर प्रीति करना; उसके संयोगकी वांछा करना अथवा उसका संयोग बना रहे कदाचित् भी वियोग न होवे, ऐसा विकल्प करना 'राग' कहलाता है, इसी प्रकार किसी भी पदार्थमें, जो अपनेको इष्ट नहीं है, उसका वियोग हो जावे, कभी संयोग न हो, वह विनष्ट हो जावे, ऐसे विकल्पोंका नाम 'द्वेष' है। तथा अन्य किसी भी परपदार्थमें तथा देहादिमें स्वत्व बुद्धि करना, अपने स्वरूपकी अजानकारी से 'पर' ही मैं हूँ, मैं ही 'पर' हूँ, इस प्रकार स्वपरका भेद न जानकर, परमें निजका संकल्प कर, परमें होने वाली गहलता ही 'मोह परिणाम' है।

इस प्रकार मोहरूप संकल्प तथा राग-द्वेषरूप विकल्प ये सब जीवके अज्ञानभाव हैं। यह जीव अपनी इस भूलके कारण ही कर्मबन्ध करता है, यदि वह अपने स्वरूपका सही बोध कर ले और किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष भावना न करे तो, अज्ञान चेतनारहित, ज्ञानचेतना-सहित, वह ज्ञानी है। उस समय उसकी यह परिणति ज्ञानमय परिणति है। इस ज्ञानमय परिणतिके होनेपर जीव दोनों प्रकारके आस्रवका अभाव कर, निरास्रव दशाको प्राप्त करता है, ऐसा जानना चाहिए।

(१२४) **प्रश्न**—रागके अभावरूप भावको 'वीतरागभाव' कहेंगे तथा वैरके अभावरूप भावको 'निर्वैर' कहेंगे। इसी प्रकार मोह रहित भावको 'निर्मोह' कह सकते हैं। पर राग-द्वेष मोहके अभावात्मक भावकों 'ज्ञानभाव' कैसे कहेंगे ? ज्ञानके अभावको 'अज्ञान' तथा 'अज्ञान' के अभावको 'ज्ञानभाव' कहना चाहिए, अतः उक्त व्याख्या सत्य प्रतीत नहीं होती।

समाधान—यह सही व्याख्या है कि ज्ञानके अभावको ही अज्ञानभाव कहेंगे, पर विचार करें कि 'अज्ञानभाव' का अर्थ क्या है। वह किस वस्तुका अज्ञान है ? तो प्रतीत होगा कि आत्म-स्वरूपके ज्ञानके अभावको ही अज्ञानभाव कहा है। मोह-राग-द्वेष भावके समय ही जीव अपने स्वरूपको भूलता है; अतः ये ही अज्ञानभाव हैं। **राग-द्वेष-मोहसे रचित भाव होने पर, ज्ञानभावकी शुद्ध परिणति नहीं होती। अतः ये तीनों भाव अज्ञान परिणति स्वरूप हैं। फलतः ये ही भाव द्रव्य-कर्मास्रवोंके कारण हैं।**

जिसे आत्मबोध होता है वह अपने स्वभावकी प्राप्तिके प्रति ही रुचि-प्रीति-प्रतीति करता है। अन्य पदार्थोंको अपनेसे भिन्न मानकर, उसके संयोग-वियोगकी चिन्ता नहीं करता। ऐसा

भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, दोनों प्रकारका कर्मास्रव नहीं करता । अतः आस्रवके अभावके कारण निरास्रव होता हैं, ऐसा उक्त कलशका भावार्थ है ॥११४॥

ज्ञानी निरास्रव है ? यह बताते हैं—

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

अन्वयार्थ—(**अयं**) यह ज्ञानी जीव (**भावास्रवाभावम् प्रपन्नः**) जब रागादिभावोंसे स्वयं अभावरूपताको प्राप्त हुआ, तब (**द्रव्यास्रवेभ्यः**) द्रव्यास्रवरूप पुद्गलकर्म पिंडसे तो (**स्वत एव भिन्नः**) स्वयं ही पृथक् है । अतः (**ज्ञानी**) ज्ञानी पुरुष (**सदा**) सदा काल ही (**ज्ञानमय एक भावः**) ज्ञानमय एक ही भावका स्वामी हुआ अतः (**ज्ञायक एकः**) यह केवल ज्ञायक आत्मा (**निरास्रव एव**) आस्रवसे रहित ही है ॥११५॥

भावार्थ—मोह, रागादिरूप परिणति आत्मामें अनादिसे थी । जीव अपनी इस अज्ञानमय परिणतिसे कर्मास्रव करता था तथा उन कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता था । जब काललब्ध्यादि कारणोंको पाकर रत्नत्रयको प्राप्त हुआ, तब मोह—रागादिभाव रूप विकारी परिणतिसे भिन्न होकर, स्वयं ज्ञानरूप परिणत हुआ । उस समय जो पुरातन कर्म आत्माके प्रदेशोंसे बद्ध थे, उन द्रव्यप्रत्ययोंसे भी स्वयं पृथक् हुआ । वह इस प्रकार कि ज्ञानी उदयागत कर्मको व उनके फलको जानते हुए भी उनका ज्ञायक मात्र है । उनके उदयमें अपनी ज्ञान परिणतिको छोड़कर, उनके उदयानुकूल परिणति नहीं करता, अतः आस्रवभावके अभावमें वह निर्बंध ही रहता है । वास्तवमें भावास्रव ही आस्रव है, क्योंकि वह जीवका परिणाम है । जीव अपने परिणाम ही सुधार सकता है । ज्ञानी जीव भावास्रवसे रहित हुवा यही उसकी निरास्रवता है । द्रव्यास्रव भूत कर्म, द्रव्यान्तर स्वभाव हैं अतः वे आत्मासे सर्वथा पृथक ही है भावास्रव आत्माके विकारी परिणाम हैं । आत्मसत्तामें उदीयमान हैं । उन्हें दूर करनेसे ज्ञानी निरास्रव ही हैं यह तात्पर्य है ॥११५॥

ज्ञानी भावास्रवके अभावको कैसे प्राप्त करता है उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

सन्न्यस्यन् निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्
आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

अन्वयार्थ—(**अनिशं**) निरन्तर (**निजबुद्धिपूर्वं**) अपने ज्ञातभावसे होने वाले (**समग्रं रागं**) सम्पूर्ण रागादिभावोंको (**स्वयं**) अपने बलसे (**संन्यस्यन्**) दूर करके, तथा (**अबुद्धिपूर्वं तमपि**)

अज्ञातभावसे होने वाले रागादिको भी (**जेतुं**) जीतनेके लिए (**वारं वारं**) वार वार (**स्वशक्ति स्पृशन्**) अपनी आत्मशक्तिको अवलम्बन करके तथा (**सकलां एव परिवृत्तिम् उच्छिन्दन्**) समस्त परनिमित्तजन्य औपाधिक वृत्तिको ही नष्ट करके अर्थात् शुभाशुभ प्रवृत्तिको छोड़कर (**ज्ञानस्य पूर्णो भवन्**) ज्ञानमात्र स्थितिको पूर्ण प्राप्त करने वाला (**आत्मा**) आत्मा) (**यदा ज्ञानी स्यात्**) जब ज्ञानी बनता है (**तदपि**) तब ही (**नित्य-निरास्रवः भवति**) सदा आस्रवोंसे रहित होता है ॥११६॥

भावार्थ—भावास्रव अपने मोह रागादि विकारी परिणामोंको कहते हैं, क्योंकि ज्ञानवरणादि कर्मवन्धके वे ही कारण हैं। वन्धके कारणको ही आस्रव कहते हैं। इस तथ्यको सम्यग्दृष्टि जानता है, क्योंकि उसे रागादि विकारी चैतन्यमें, तथा अपने निज स्वभावरूप चैतन्यमें भेदज्ञान हो चुका है। उसमें जो रागादिभाव उसकी जानकारी पूर्वक, वुद्धि पूर्वक, उत्पन्न होते हैं—उन्हें स्वयं अपने पुरुषार्थसे दूर करता है, तथा सावधानीकी स्थितिमें भी पूर्ववद्ध कर्मोदयसे जो रागादि परिणति सूक्ष्मरूप होती है, जो उसकी जानकारीमें नहीं आ पाती, उससे वचनेके लिए वार-वार अपने स्वरूपमें ही अपना उपयोग लगाता है, इस प्रयत्नसे अवुद्धिपूर्वक रागादि भी दूर होते हैं। स तरह समस्त पर वृत्तिको दूर कर ज्ञानी वनता है।

(१२५) **प्रश्न**—अवुद्धिपूर्वक जो रागादि कर्मोदयसे होते हैं वे तव दूर हो सकते हैं, जव कर्मोदय न हो। उस कर्मोदयको ज्ञानी कैसे दूर करता है?

समाधान—अपनी निजज्ञान शक्तिका आलम्बन कर, अर्थात् अपने स्वभावमें ही अपने उपयोगको लानेसे पुरातनबद्ध कर्मपिण्डमें स्थिति अनुभाग खण्डन हो जाता है, जिससे कि उदयकी धारामें परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तनसे ही अवुद्धिपूर्वक रागादि विलीयमान होते हैं।

इस प्रकार ज्ञात अज्ञात भावजन्य रागादिपर विजय प्राप्त करने पर रागादि औपाधिकभावके निमित्तसे जीवकी जो परवृत्ति थी, उसका उच्छेद हो जाता है। ज्ञान अपने स्वरूपकी परिपूर्णताको प्राप्त हो जाता है, तव रागादि अज्ञान भावसे सर्वथा भिन्न, अपनेमें पूर्णज्ञान परिणत ज्ञानी जीव, आस्रवभावसे रहित हो जाता है। अतः कर्मबन्ध नहीं करता।

(१२६) **प्रश्न**—यह स्थिति किस गुणस्थानमें जीवको प्राप्त होती है? क्या सामान्य सभी सम्यग्दृष्टि जीव इसी प्रकारके ज्ञानी और निरास्रव हैं?

समाधान—नहीं। चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव अपने-अपने गुणस्थानके मिथ्यात्व अनन्तानुवन्धी आदि कषायजनित रागसे रहित हैं। पंचमगुणस्थानवर्ती अप्रत्याख्यान कषायजनित रागसे भी रहित हैं। षष्ठादि गुणस्थानवर्ती प्रत्याख्यान कषायजनित रागसे भी रहित हैं। मात्र संज्वलन कषाययुक्त होनेसे वे अन्य सम्पूर्ण कषायजनित रागादिसे दूर होते हैं। **जिस गुणस्थानमें जितना-जितना रागादि विकारी भावोंका अभाव है वहां जीव उतने अंशमें ज्ञानमें वढ़ते हैं। जो जितने-जितने अंशमें ज्ञानी हैं—उतने-उतने अंशमें ही निरास्रव हैं।** जो रागादि भावसे सर्वथा रहित हुए, ऐसे ग्यारहवें वारहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे पूर्णतया ज्ञान भावरूप परिणमे

हैं—बुद्धि या अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव उनसे सर्वथा दूर हो गये हैं, अतः वे पूर्णतया निरास्रव हैं।[1]

(१२७) **प्रश्न**—क्या दसवें गुणस्थानसे आगे गुणस्थानोंमें कर्मास्रवका सर्वथा अभाव है? उनमें स्थित जीव पूर्ण निरास्रव हैं?

समाधान—वहाँ योगमात्र परिणाम ही कर्मास्रवका हेतु है। तथापि कषाय भावके अभावमें मात्र प्रकृति प्रदेशरूप बंध है। स्थिति अनुभागबन्ध वहां नहीं होते। अतः मुख्यबन्धके अभावमें जीवको निरास्रव कहा गया है। योगमात्रसे होने वाला आस्रव समयस्थितिक है, अर्थात् कर्म वर्गणायें आती हैं पर स्थिति बन्धरूप न होनेसे आत्मासे बद्ध नहीं होती, अतः आत्मा अबद्ध ही कहलाता है।

(१२८) **प्रश्न**—ज्ञानके द्वारा ही पदार्थ जाने जाते हैं तथा जानकारी होनेपर ही उनमें रागद्वेष होता है। अतः रागद्वेषका मूल कारण तो ज्ञा· भाव है, उसे ही मेटना चाहिए।

समाधान—ज्ञान द्वारा पदार्थ जाने जायँ इसमें बाधा नहीं है। ज्ञान ज्ञेयका परस्पर जाननेका तथा ज·ने जानेका सम्बन्ध, सदासे है और सदा काल रहेगा। रागादिकी धाराके साथ ज्ञान विकारी हो जाता है। उस स्थितिमें ही कर्मबन्ध होता है सो वहाँ जितना रागांश है वह बन्धक है, न कि ज्ञानभाव।

मोहके संयोगकी स्थितिमें विकारी ज्ञान, 'अज्ञान' संज्ञाको प्राप्त होनेसे बन्धक है। उसके अभावमें वही ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है, अतः वह बन्धक नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। ज्ञानकी हीनता रागादिके साथ रहती है। क्रम क्रमसे रागादिके अभावमें जब ज्ञान अपनी पूर्ण शक्तिसे प्रकट होता है, तब तदनुसार समस्त ज्ञेयोंको जानता हुआ भी उनसे अलिप्त रहनेके कारण निरास्रव होता है॥११६॥

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म जो बद्ध हैं उनके रहते हुए ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं, ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं—

सर्वस्यामेव जीवत्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥११७॥

अन्वयार्थ—(**द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ**) द्रव्यास्रवकी संतति जो कारणस्वरूप हैं उनका प्रवाह (**सर्वस्याम् ऐवं जीवात्यां**) सबका सब ही जब जीवित है, विद्यमान है, तब (**ज्ञानी नित्यमेव**) ज्ञानी

१. जीवगत रागादि भाव प्रत्ययानामाभावे सति द्रव्य प्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतराग परम सामायिक भावना परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षण भेद ज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न दघ्यंते यतः कारणादिति। ततः स्थितं नवतर द्रव्यकर्मास्रवस्योदयागत द्रव्यप्रत्ययाः कारणं, तेषां च जीवगता रागादि भाव प्रत्ययाः कारणमिति कारण कारण व्याख्यानं ज्ञातव्यम्।

—समयसार गाथा १-७७१७८ तात्पर्य वृत्ति टीका

ज्ञान दर्शन गुणं रागाद्यज्ञानभाव परिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वंति। तेन कारणेन भेदज्ञानी बन्धको न भवति। किं तु ज्ञानदर्शन रंजकत्वेन प्रत्यया एव बन्धकाः इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धं।

—समयसार गाथा -१७०, तात्पर्यवृत्ति टीका.

सदा ही (**निरास्रवः**) आस्रव रहित है (**कुतः**) यह बात कैसे बन सकती है (**इति मतिः चेत**) ऐसा किसीका प्रश्न है ॥११७॥

भावार्थ—कर्मोदयमें होनेवाले जीवके रागादि भावोंको भावास्रव, तथा आगत कर्मोंको द्रव्यास्रव कहा था। सो ज्ञानी सम्यक्त्वी जीवके ज्ञानावरणादि सभी कर्मपिण्ड आत्मामें हैं, तथा उन कर्मोंका उदय भी निरन्तर विद्यमान है, तब ज्ञानी निरास्रव कैसे कहा जाता है ? ॥११७॥

समाधान निम्न कलशमें आचार्य स्वयं करते हैं—

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकल-राग-द्वेष-मोह-व्युदासात्
अवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि पूर्वबद्धाः द्रव्यरूपाः द्रव्यप्रत्ययाः**) यद्यपि पूर्वमें बाँधे द्रव्यरूप कर्म (**समयमनुसरन्तः**) समय समय पर उदयको प्राप्त हैं, (**सत्तां न हि विजहति**) सत्तासे अलग नहीं हुए अर्थात् सत्ता रूपमें जीवके साथ हैं (**तदपि**) तो भी (**सकलमोहरागव्युदासात्**) सम्पूर्ण मोहका तथा रागद्वेष रूप परिणामोंका अभाव होनेसे (**ज्ञानिनः न जातु कर्मबन्धः अवतरति**) ज्ञानी अर्थात् वीतरागी सम्यग्दृष्टि जीवके कदाचिद् भी कर्मबन्धका अवतार नहीं होता है ॥११८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हैं। उसने पूर्व दशामें अज्ञानवश नानाप्रकारके कर्मोंका बन्धन कर रखा है। अभी जिनका अभाव नहीं हुआ, आत्मासे सम्बद्ध हैं, वे यद्यपि उदयको प्राप्त होते हैं, प्रति समय आते हैं तथापि उस अवस्थामें भी जीव, मोह, रागद्वेष रूप विकारी परिणामोंके अभावसे, कर्मबन्धको कदाचित् भी प्राप्त नहीं होता।

(१२९) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टिजीव ज्ञान मात्रसे अबन्धक हो गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, ज्ञान मात्रसे कर्म नहीं रुकता। 'ज्ञान भाव' से रुकता है। इस प्रकारके प्रश्नका समाधान पूर्वमें कर आये हैं।

(१३०) **प्रश्न**—क्या चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवें तक सभी सम्यग्दृष्टि समग्रभावसे ज्ञानी और निरास्रव हैं ?

समाधान—नहीं, गुणस्थान प्रक्रियाके अनुसार कुछ विशेषताएँ हैं, वह इस प्रकार हैं—

बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १२० होती हैं। चतुर्थ गुणस्थान वाले ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवको उनमें से ४१ कर्म प्रकृतियोंका संवर हो जाता है, उनसे वह निरास्रव हैं।

पंचमगुणस्थानी सम्यग्दृष्टि श्रावकके ५१ प्रकृतियोंका संवर है। षष्ठमगुणस्थानवर्ती मुनिके ५५ प्रकृतियोंका संवर है। सप्तम गुणस्थानमें उसी मुनिके ६१ प्रकृतियोंका संवर है। अष्टम गुणस्थानमें ६२ प्रकृतियोंका संवर है। नवम गुणस्थानमें ९८ प्रकृतियोंका संवर है। दशवें गुणस्थान में १०३ प्रकृतियोंका संवर है। ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव केवल एक प्रकृति के बंधक हैं, शेषका संवर है। और चौदहवें गुणस्थानमें पूर्ण निरास्रव हैं। इस तरह **जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ता है, निरास्रवता बढ़ती जाती है।**

(१३१) **प्रश्न**—बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणादि सातों कर्म प्रकृति उदयमें रहती हैं। वहाँ तो सभी सातों कर्म प्रकृतियोंका बंध होता होगा। तेरहवेंमें घातियाके अभावसे चार अघातियोंका बंध होना चाहिए। अतः उक्त अबंधकपनेका क्या हेतु है ?

समाधान—बंधके लिए हेतुभूत प्रत्यय, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच हैं। इनका क्रमशः चतुर्थ, षष्ठ, सप्तम, एकादसम तथा चतुर्दशम गुणस्थानमें अभाव हो जाता है। अतः वहाँ वहाँ तन्निमित्त जन्य प्रकृतियोंका बंध रुक जाता है। गुणस्थान प्रक्रियासे कितनी कितनी प्रकृतियाँ कहाँ बंधसे रहित हो जाती हैं, यह ऊपरके समाधान में बताया जा चुका है। उक्त पाँचों प्रकारके भाव प्रत्यय भावास्रव हैं, और उन भावोंके होनेपर ही द्रव्य प्रत्यय, द्रव्यास्रवके कारण होते हैं।

राग द्वेष मोह भाव ही बंधक हैं—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

अन्वयार्थ—(**यत् ज्ञानिनः**) क्योंकि ज्ञानी पुरुषके (**रागद्वेषविमोहानाम्**) रागद्वेष तथा मोह परिणामोंकी (**असंभवः**) असंभवना है (**तत एव अस्य बन्धः न**) इसी कारणसे उसे कर्म बन्धन नहीं हैं। (**ते हि बन्धस्य कारणम्**) बन्धके कारण तो वे रागादि भाव ही हैं।।११९।।

भावार्थ—बन्धका कारण जीवका मोह अर्थात् मिथ्यात्व भाव तथा रागद्वेष अर्थात् कषाय भाव हैं। ज्ञानी पुरुषके इन तीनोंका अभाव है, अतः उसे कर्म बन्ध नहीं होता। वह भावास्रव रूप परिणामोंके अभावमें अबन्ध रूप है।

(१३२) **प्रश्न**—पिछले कलशके प्रश्नके समाधानमें गुणस्थान प्रक्रियासे कुछ-कुछ कर्म प्रकृतियों का क्रम-क्रमसे संवर लिखा है, तब यहाँ ज्ञानी शब्दसे कौन गुणस्थान वाला जीव लिया जायगा जिसे सर्वथा कर्मबन्ध न हो ? उक्त व्याख्यासे तो चौदहवें गुणस्थानमें ही जीव ज्ञानी हैं। शेष अज्ञानी हैं।·भगवान् केवली तेरहवें गुणस्थानमें भी क्या अज्ञानी हैं ? क्योंकि एक प्रकृतिका बन्ध तो वहाँ भी होता है, अतः वे भी सर्वथा अबन्धक नहीं हैं। इस कथनमें आगमके अन्य ग्रन्थोंसे बहुत बड़ा विरोध आता है।

समाधान—कोई विरोध नहीं है। ग्रन्थकारोंकी वर्णन करनेकी प्रक्रिया विशेष प्रकारकी होती है, उनकी विवक्षाको समझ लेने पर कोई विरोध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानी भी ज्ञानी है, अज्ञानी नहीं। तब तेरहवें गुणस्थानवाले अर्हन्त सर्वज्ञके पूर्ण ज्ञानित्वमें ऐसा प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मोहका अभाव ही अज्ञानका नाश है। पश्चात् जो जितने अंश रागद्वेषात्मक कषाय भावसे दूर है, वह उतना ही विशिष्ट ज्ञानी है। जितना-जितना वीतराग भाव ज्ञानी जीव को बढ़ता जाता है, उतना-उतना कर्म बन्धका अभाव होता जाता है। मोह रागद्वेषका पूर्ण अभाव ग्यारहवें गुणस्थानमें व आगे गुणस्थानोंमें है, अतः वे पूर्ण अबन्धक हैं। **ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान वाले जीव केवली नहीं हैं, पर सम्पूर्ण रागद्वेष अभावसे पूर्ण वीतरागी हैं।** अतः इनके केवलीकी तरह, मात्र एक साता वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। यह बन्ध भी प्रकृति प्रदेश मात्र बन्ध है। स्थिति अनुभागके अभावसे वह बन्ध, बन्ध रूप नहीं है। यह पहिले भी कहा जा चुका है।

(१३३) **प्रश्न**—ग्यारहवें गुणस्थानके पूर्व तो रागद्वेष हैं ? उन्हें तो चारों प्रकारका वन्ध होता है। तव वे अवन्धक कैसे ?

समाधान—मोहके उदयमें अनन्तानुवन्धी कषायका भी उदय होता है, जिससे जीव अनन्त संसार परिभ्रमणके योग्य कर्मवन्धन करता है। मोह (मिथ्यात्व) के उदयके अभावमें होनेवाले, अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप रागद्वेष, अनन्त संसारका मूल नहीं है, अतः उसे अवन्धक कहा है। कलश ११० के प्रश्न-समाधानमें भी यह वात वता चुके हैं।

(१३४) **प्रश्न**—वन्धक होने पर भी अवन्धक कहा ऐसी विवक्षा क्यों ?

समाधान—'**ईषदर्थे नञ् प्रयोगात्**' इस न्यायसे 'अल्पताके' अर्थमें भी निषेधका प्रयोग होता है। जैसे कोई पुरुष बाजारमें स्वर्ण खरीदनेकी इच्छा करता है। पर पासमें १०–५ रुपया ही है। तव विचार करता है कि रुपया है नहीं, कैसे खरीदूँ ? यहाँ पर थोड़ा रुपया है तो भी स्वर्ण मुद्रा खरीदने योग्य रुपया न होनेसे यह माना कि मेरे पास रुपया नहीं है। इसी प्रकार अनन्त संसारके कारणभूत रागद्वेषके अभावसे, अल्प वन्धकको 'अवन्धक' ही माना है। आगे जव इसे अल्प वन्धक परिणामका भी अभाव हो जाता है, तव यही ज्ञानी पूर्ण ज्ञानी वन जाता है और सर्वथा वन्धका अभाव करता है।

निरास्रवी जीवोंकी स्थितिका वर्णन—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न
ऐकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः
पश्यन्ति वन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो ज्ञानी पुरुष (**उद्धतबोधचिह्नम्**) नित्य ही प्रकाशमान ऐसा ज्ञान ही है चिन्ह जिसका, ऐसे (**शुद्धनयम्**) शुद्ध नयके विषयभूत शुद्धात्माको (**अध्यास्य**) स्वीकार करके, (**सदैव**) सदा ही (**एकाग्र्यम् एव कलयन्ति**) एकाग्र होकर अभ्यास करते हैं--ध्यान करते हैं (**ते**) वे जीव (**सततं**) निरन्तर (**रागादिमुक्तमनसः भवन्तः**) रागादि परिणामोंसे रहित, निर्विकल्प विशुद्ध परिणामी स्वयं वनते हुए, (**वन्धविधुरं**) अवन्ध स्वरूप (**समयस्य सारं**) विशुद्धात्माको (**पश्यन्ति**) देखते हैं, प्रकटरूपमें पाते हैं ॥१२०॥

भावार्थ—जो मुनिजन अप्रमादी होकर, शुद्ध नयका अवलम्वन कर, वोधात्मक अपने आत्मद्रव्यको एकाग्र चित्त होकर ध्यान करते हैं, वे रागादि विकारी भावोंसे रहित होकर, अन्तर्मुहुर्त मात्रमें अपनी आत्माको केवलज्ञानादि गुणोंसे विभूषित देखते हैं। अर्थात् केवली वनते हैं। **वे ही अवन्ध रूप विशुद्ध समयसार हैं।**

(१३५) **प्रश्न**—शुद्धनयका अवलम्वन करना एकान्त पक्ष है। इसका तो शास्त्रोंमें निषेध हैं, फिर यहाँ शुद्धनयावलम्वीको ही समयसारका ज्ञाता क्यों कहा ?

समाधान—नयों द्वारा वस्तुका विवेचन होता है। जीव भी वस्तु है। उसका वर्णन शुद्धाशुद्धनयसे किया जा सकता है यहाँ शुद्धनयसे जीवका जो स्वरूप है वह उपादेय है—अतः शुद्धनय

के अवलम्बनकी बात है। **अशुद्धनयसे भी जीवका वर्णन असत्य नहीं है, पर वह संसारी जीवका वर्णन है।** जीवको अपनी अशुद्धावस्था, जो संसारावस्था है, उसमें परिवर्तन लाना है, अतः वह हेय है। यही कारण है कि शुद्धनयसे आत्माका जो स्वरूप है, उसके अवलम्बनका उपदेश दिया गया है। समयसारका अर्थ ही शुद्धात्मा है, अतः शुद्धनयावलम्बी ही शुद्धात्माको पाता है ऐसा कथन सर्वथा उपयुक्त है।[1]

(१३६) **प्रश्न**—सत्य ही तो उपादेय है, और सत्य अनेकान्त तत्त्व है, एकान्त नहीं। उभय-नयात्मक वस्तु ही सत्य है, एकनयात्मक नहीं। तब एकको ही उपादेय क्यों कहते हैं?

समाधान—इस प्रश्नका समाधान कर चुके हैं, तथापि पुनः कहते हैं—वस्तु स्वरूपका विवेचन करें तो जीव तो **द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध ही है। पर्याय दृष्टिसे वर्तमानमें संसारी दशा में अशुद्ध है। दोनों अपने-अपने नयसे सत्य हैं। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही जानना सत्य है। अतः ज्ञेयके ज्ञानकी दृष्टिसे दोनों नय उपादेय हैं—दोनोंका विषय जानने योग्य है।**

तथापि आत्मा यदि अशुद्ध संसारीदशासे, जो सत्य है, मुक्त होना चाहती है, तो उसे उस नयका आलम्बन करना चाहिए जो उसके शुद्ध स्वरूपका प्ररूपक हो। इस दृष्टि से **जिस दशाको जीव स्वयं छोड़ना चाहता है, वह अशुद्धावस्था हेय हो जाती है तथा उससे भिन्न शुद्धदशा स्वयं उपादेय हो जाती है।** अतः उसे विषय करने वाला नय ही उपादेय कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति रोगी है, उसका रोगीपना सत्य है। तथापि वह रोगी नहीं रहना चाहता, तब नीरोगी अवस्थाका ही विचार करता है, और उसे ही उपादेय मानता है। रोगीपनेकी दशाको हेय मानता है। यद्यपि वह अवस्था जीवकी है, इसकी सत्यतामें संदेह नहीं है, तथापि वह जीवको इष्ट न होनेसे अनुपादेय है।

सभी सत्य, वस्तुकी विविध दशाओंकी अपेक्षा, ज्ञेयदशामें जानने मात्रको उपादेय है। तथापि सभी सत्य हितरूप उपादेय नहीं होते। एक दूसरा दृष्टान्त लीजिए—यदि किसीके घरमें धन है और वहाँ सर्प भी है, दोनोंका अस्तित्व सत्य है। ज्ञेय दोनों हैं, दोनों जानने योग्य हैं। तथापि हिताहितकी दृष्टिसे दोनों समान उपादेय नहीं होते। ऐसे ही जीवकी अशुद्धदशा, सत्य होते हुए भी, रोगकी तरह या सर्पकी तरह अनिष्ट होनेसे 'हेय' है। निरोगी दशाकी तरह व धन की तरह, अपनी शुद्धात्मदशा इष्ट होनेसे 'उपादेय' है। हेय उपादेय यहाँ सत्यासत्यकी दृष्टिसे नहीं है, किन्तु इष्टानिष्टकी अपेक्षा है, ऐसा जानना चाहिए।

---

१. सुद्धं तु विजाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥ —समयसार गाथा-१८६

× × ×

ण चयदि जो दु ममत्ति अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं॥
णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाण महमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा॥

—प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ९८, ९९

(१३७) **प्रश्न**—यह कार्य तो कोई भी विवेकी कर सकेगा। वह शुद्धनयका अवलम्वन कर शुद्धात्माको जान लेगा। तब मुनिजनको ही वाक्यमें कर्ता क्यों बनाया गया है। मूल कलशमें 'ये' शब्द सामान्य जनवाचक हैं। वहां तो मुनि लिखा नहीं है।

समाधान—'ये' और 'ते' तो सर्वनाम पद हैं ही। परन्तु इस प्रकरणमें शुद्धनयका अवलम्बन लेने वाले, बोधात्मक, अपने आत्मद्रव्यका एकाग्रचित्त होकर ध्यान करनेवाले तथा रागादि विकारोंसे रहित, अन्तरमुहूर्त्तमें केवल ज्ञान पानेवाले, ज्ञानीका जो वर्णन है, वह ज्ञानी तो निर्विकल्प, विशुद्ध—परिणामी, दिगम्बर साधु ही हो सकता है। इसीलिए यहां आचार्यका अभिप्राय ऐसे ही ज्ञानी संयमी पुरुषोंसे है। वे ही समयसारको प्राप्त करते हैं। शेष ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जन श्रद्धा करनेवाले हैं, शुद्धात्माको उपादेय जानते हैं तथा भेद-ज्ञान के बलपर रागादिविमुक्त आत्मा की अनुभूति करते हैं परन्तु रागादिसे रहित हो नहीं पाते, अतः वे सामान्य सम्यग्दृष्टि जन, संयमी साधुकी भांति अपने भीतर विशुद्ध समयसारको प्रकट नहीं देखते ॥१२०॥

जो जीव अपनेको रागादि मुक्त नहीं बना सकते वे कर्मास्रव करते हैं ऐसा अभिप्राय निम्न छन्दसे आचार्य प्रकट करते हैं—

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

अन्वयार्थ—(**ये तु पुनः**) तथा जो जीव ((**शुद्धनयतः प्रच्युत्य**) शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्मा का आलम्बन छोड़कर, (**विमुक्तबोधाः**) ज्ञानभावसे रहित होकर, (**रागादियोगम् उपयान्ति**) रागादि परिणामरूप परिणमते हैं (**ते**) वे (**पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवैः**) पूर्वमें बन्धको प्राप्त हुए जो द्रव्यास्रवभूत कर्म, उनके द्वारा (**कृतविचित्रविकल्पजालम्**) फैलाया हुआ जो नाना प्रकारका विकल्पजाल, तत्स्वरूप (**कर्मबन्धम्**) कर्मके नवीन बन्धनको (**इह बिभ्रति**) यहाँ फिर धारण कर लेते हैं ॥१२१॥

भावार्थ—शुद्धनयके द्वारा शुद्धात्माका अवलम्बन कर, जीव एकाग्र होकर निर्बन्ध होता है ऐसा पिछले कलशमें बताया था। यदि उस शुद्धात्माका आलम्बन, उसका ध्यान, व उसकी एकाग्रतासे भ्रष्ट होकर, पुनः पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवरूप कर्मके उदयमें नाना प्रकार विकल्प जालसे संयुक्त, रागादि विकारी परिणमन यह जीव करता है, तो नियमसे नवीन कर्मका बन्धन करता है।

(१३८) **प्रश्न**—जीव पहिले ज्ञानी था फिर उससे च्युत होकर रागी बना है, ऐसा तो है नहीं। अनादिसे अज्ञानी ही था। जब कर्मका उपशमादि हुआ तब ज्ञानी हुआ, अतः कर्मोदयरूप हेतुसे अज्ञानी, तथा तदुपशमादिरूप हेतुसे ज्ञानी बना, ऐसा कारणकार्यभाव है। सो ऐसा न मानकर आप विपरीत कारण-कार्यभाव बता रहे हैं। जीव ज्ञानसे छूटे तो कर्मोदयरूप परिणमा अज्ञानी हुआ ऐसा आप कहते हैं। ज्ञानी तो स्वभाव दृष्टिसे कहा जाता था, किन्तु जीव ज्ञानभावमें तो अनादिसे ही नहीं था। कर्मकी बलवत्तासे अज्ञानी ही था। अतः सही कार्य-कारणभाव कहना चाहिए था।

समाधान—कर्मका उदय पूर्वमें हो, अज्ञानी पश्चात् हो, ऐसा नहीं है। जिस कालमें कर्मोदय उसी कालमें अज्ञानी। तथा जिस कालमें अज्ञानी उसी काल कर्मोदय, ऐसा सहभावित्व है। दोनों परिणमन अपने-अपने हैं, पर वे एक कालमें होते हैं। उनमें निमित्त नैमित्तिकपना होते हुए भी कर्तृ-कर्म भाव नहीं है। यही कारण है कि इस स्थितिमें जब परापेक्षया वर्णन करते हैं तब व्यवहारनयका वर्णन कहलाता है, अतः व्यवहारनयसे, कर्मोदयसे अज्ञानी होता है, ऐसा ही कहा जायगा। किन्तु कर्ममें कर्तृत्व नहीं है। व्यवहारका दूसरा नाम उपचार भी है।

वस्तुतः अज्ञानरूप परिणमन जीवद्रव्यका, अपनी भूलके कारण है। पुद्गलके कारण नहीं। अपनी-अपनी पर्यायके परिणमनका मुख्य हेतु स्वोपादान है। निमित्त मुख्य हेतु नहीं कहा जाता। निश्चयसे स्थिति ऐसी ही है। अतः कर्मके और **जीवके परिणमनोंमें निमित्त-नैमित्तिकपना होनेसे, उपचारसे कार्यकारणभाव कहा जाता है। परमार्थसे कार्यकारणभाव किसी भी पर्याय का स्वद्रव्य जो उपादानरूप है, उसीसे है, अन्य पदार्थसे नहीं है। ऐसा जानना चाहिए।**

(१३९) **प्रश्न**—जीव रागादिरूप परिणमन करे, तो नवीन कर्म ज्ञानावरणादिरूप कैसे परिणमता है?

समाधान—जैसे ग्रहण किया भोजन, उदरमें प्राप्त होनेपर, नाना प्रकार रस, रक्त, मज्जादि रूप स्वयं बन जाता है। तथा जैसे वृक्षमें सींचा जल, निंव, आम्र, आदि वृक्षोंको प्राप्त हो कटुक व मिष्ट आदि नाना रस, रूप, स्वयं परिणम जाता है, इसी प्रकार गृहीत कार्माण वर्गणा कर्मोदयकी स्थितिमें, नाना विकल्प रूप जीव परिणामोंके निमित्तसे, ज्ञानावरणादिरूप, विविध परिणमन करती हैं।

(१४०) **प्रश्न**—तो जीवके विविध परिणाम ही विविध कर्म बनाते हैं?

समाधान—नहीं, वे नहीं बनाते। वे निमित्तमात्र हैं। जब जीवके रागादि परिणाम होते हैं, तब कार्मण वर्गणाएँ स्वयं स्वोपादान योग्यताके कारण, ज्ञानावरणादि समस्त भेद रूप परिणमती हैं। जीव नहीं परिणमाता। **न कर्मोदय जीवको अज्ञानरूप बनाता, और न जीवका अज्ञान भाव कार्माण वर्गणाओंको ज्ञानावरणादि रूप बनाता। दोनों द्रव्य अपनी-अपनी योग्यताओंसे विविध परिणाम रूप परिणमते हैं। तथापि उनमें निमित्तपना एक दूसरेके लिए अवश्य है,** इसका निषेध नहीं है। वह अवश्य है और सामान्य जन इस अन्वय व्यतिरेकसे, निमित्तके साथ कार्य कारणपनेका सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; क्योंकि परमार्थसे कार्यकारणपनेका बोध उन्हें नहीं है। जिन्हें है, वे उसे उपचरित कारण ही मानते हैं, पारमार्थिक कारण नहीं मानते।

अतः जो जीव नाना प्रकार कर्म बन्धको प्राप्त हैं, वे शुद्ध नयके विषयभूत शुद्धात्म स्वभावसे च्युत होनेके कारण ही बन्धको प्राप्त हैं ऐसा तात्पर्य ग्रंथकारका है। उसे ही हृदयंगम करना चाहिए।

(१४१) **प्रश्न**—इस कलशमें पूर्वबद्धको द्रव्यास्रव लिखा गया है, यह तो सर्वथा विरुद्ध है। उसे द्रव्य-प्रत्यय कहा गया था, वह ठीक था। उस द्रव्यप्रत्ययके उदयमें जीवमें उत्पन्न विकारीभाव 'भावप्रत्यय' हैं, तथा आगत नवीनकर्मको 'द्रव्यास्रव' कहना चाहिए, न कि पूर्वबद्धको।

समाधान—जो कर्म, बन्धको प्राप्त होता है वह द्रव्यास्रवपूर्वक ही होता है। आस्रवपूर्वक

वन्ध होता है यह नियम है। जो कर्म वन्धदशाको प्राप्त होकर जीवके साथ हैं वे ही तो उस समय द्रव्यास्रवरूप थे अतः 'पूर्ववद्ध द्रव्यास्रव' शव्दके प्रयोगमें कोई वाधा नहीं है।

(१४२) **प्रश्न**—ऐसा प्रयोग भ्रम पैदा करता है। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि पूर्ववद्धकर्म द्रव्यास्रवरूप है ? या नवीन आगत कर्म द्रव्यास्रवरूप हैं ?

द्रव्यसंग्रहमें श्रीनेमिचन्द्राचार्यने द्रव्यास्रव भावास्रवका लक्षण लिखा है कि—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेयो।
भावासवो जिणुत्तो—कम्मासवणं परो होदि ॥२९॥

अर्थात्—आत्माके जिस परिणामसे कर्म आते हैं, उस परिणामको भावास्रव, तथा कर्मके उस आस्रवणको द्रव्यास्रव कहते हैं। अतः पूर्ववद्धको द्रव्यास्रव कहना यथार्थ नहीं है।

समाधान—जीवके विकारीभाव 'भावास्रव' हैं यह तो निःसन्देह है। उनके होनेपर ही द्रव्यप्रत्यय 'द्रव्यप्रत्यय' की संज्ञाको प्राप्त हैं। और तभी नवीन कर्मका आस्रव होता है, अन्यथा नहीं। जो द्रव्यप्रत्यय हैं वे ही द्रव्यरूप हैं। आये थे तव द्रव्यास्रवरूपसे ही आए थे। कर्मवर्गणाओं-की द्रव्यरूपता तव भी थी और वद्धदशामें भी है। इस अपेक्षा उन्हें द्रव्यास्रव कहनेमें आपत्ति नहीं है। आगमन तो एक क्रियामात्र है। पर जिनमें क्रिया हो रही है, वे द्रव्यरूप हैं। उन्हें विवक्षावशात् द्रव्यास्रव कहनेमें आता है।

(१४३) **प्रश्न**—शुद्ध नयसे च्युत होना तव कहा जायगा जव पहिले शुद्ध नय पर आरूढ़ हुआ हो, जव अनादिसे अज्ञानी था तव 'च्युत होकर' शव्द प्रयोग कैसे ?

समाधान—कथन ठीक है—इस कलशमें ज्ञानीकी चर्चा है। अनादि अज्ञानियोंकी नहीं। जो ज्ञानीजन-मुनिजन-शुद्धनयके अवलंवनसे शुद्धात्माका एकाग्र होकर ध्यान करते हैं—वे यदि उससे च्युत होते हैं—तो पुनः वन्ध कर लेते हैं। ऐसा अर्थ ही ग्रहण करना उपयुक्त है। कलश १२० और १२१ को सामने रखें तो उक्त अर्थ प्रस्फुटित होगा।

(१४४) **प्रश्न**—तो अनादि अज्ञानीकी वात यहाँ नहीं है ? वह तो च्युत नहीं हुआ, क्योंकि उसने अवलंवन ही नहीं किया। अतः च्युत शव्दका व्यवहार उसके लिए नहीं किया गया। अतः कर्म वन्धनके इस अपराधसे वह तो दूर ही रहेगा।

समाधान—रागादि भाव तो अज्ञानी भी अनादिसे कर रहा है, तो वह अवन्धक कैसे रहेगा ? रागादिकी भूमिका ही वन्ध कराती है, चाहे अनादिसे कर रहा हो, या कोई ज्ञानभावसे च्युत होकर पुनः करे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(१४५) **प्रश्न**—जो चढ़ेगा वह गिरेगा। जो चढ़ा नहीं है वह क्या गिरेगा ?

समाधान—जो गिरेगा वह नीचे गुणस्थानोंकी भूमिका पर आयगा, जो नहीं चढ़ा है वह भी तो नीचेके गुणस्थानोंमें है। अतः उस गुणस्थानके योग्य कर्म प्रकृतियोंके वन्धक दोनों ही होंगे।

विशेषार्थ—समयसारकी मूलगाथाओंमें तथा अमृतचन्द्राचार्यकी टीकामें और कलशोंमें अध्यात्मका वर्णन है। यह वर्णन उन्होंने ज्ञानी तथा अज्ञानी जीव, अथवा सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-

दृष्टि इन दोनोंकी विवक्षासे किया है। उन्होंने सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंको ज्ञानी संबोधन दिया है परंतु प्रायः सभी जगह मुख्य रूपसे वीतराग सम्यग्दृष्टि साधकोंका ग्रहण किया है[1] ॥१२१॥

उक्त कथनका क्या तात्पर्य है यह निम्न कलशमें प्रतिपादन करते हैं—

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागात् बन्ध एव हि ॥१२२॥

अन्वयार्थ—(**अत्र इदम् एव तात्पर्य**) ऊपरके उक्त कथनका यही तात्पर्य है कि (**शुद्धनयः न हि हेयः**) शुद्धनयका अवलम्बन नहीं छोड़ना चाहिए। (**तदत्यागात्**) यदि उसका अवलम्बन नहीं छूटता तो (**नास्ति बन्धः**) कर्मबन्ध भी नहीं होता किन्तु (**तत्त्यागात्**) शुद्धनयका अवलम्बन छूटनेपर (**बन्ध एव हि**) निश्चयसे बन्ध होता ही है ॥१२२॥

भावार्थ—शुद्धनय आत्मद्रव्यके पर-विरहित शुद्धस्वभावका दर्शन कराता है। यह दर्शन ही सम्यग्दर्शन है[2]। इसके होनेपर बन्धका अभाव होता है। यदि उसका त्याग हो जाये, और अशुद्धनयके अवलम्बनसे अशुद्धस्वरूप आत्माका अपनेमें अनुभव करे, तो अशुद्धपनेको प्राप्त होकर जीव कर्मबन्धनको प्राप्त होता है। यह ऊपरके कथनका सारांश है[3]।

(१४६) **प्रश्न**—आचार्य अमृतचन्द्रजीने इसी ग्रन्थमें कलश ६९ में नयपक्षातिक्रान्तको ही समयसारका ज्ञाता कहा है। '**यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**। आदि कलशोंमें तथा '**उदयति न नयश्री**' आदि कलशोंमें नयका ही निषेध किया है, फिर वेही आचार्य यहाँ शुद्धनयावलंवनका उपदेश क्यों देते हैं? क्या ये दोनों कथन परस्पर विरुद्ध नहीं हैं? ऐसी परस्पर विरुद्ध कथनी तो प्रमाण कोटिमें आनेयोग्य नहीं है, न आदरने योग्य है?

समाधान—इसके रहस्यको समझनेका प्रयत्न कीजिए। निर्विकल्प आत्मध्यानमें परसंयोगसे तथा परनिमित्त जन्य विकारसे रहित, आत्माका ही ध्यान होता है। यद्यपि उस ध्यान कालमें किसी नयका विकल्प नहीं होता, क्योंकि ध्यान निर्विकल्प, स्वयं विकल्प रहित है। विकल्प आवें तो वह उत्तमध्यान ही नहीं रह जाता, इससे आचार्योंने '**च्युतपक्षपातः**', '**नयपक्षातिक्रान्त**' '**उदयति न नयश्री**' आदि शब्दोंसे उसकी वास्तविक स्थिति दिखाई है। तथापि दूसरा तटस्थ व्यक्ति यदि विचार करे कि यह निर्विकल्पध्यानी जिस आत्माका ध्यान करता है, वह आत्मा 'शुद्धात्मा' है या 'अशुद्धात्मा' है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं कि वह 'शुद्धात्मा' है।

फिर प्रश्न होता है कि शुद्धात्मा किस नयसे जाना जाता है? तो उत्तर होगा-वह शुद्ध निश्चयनयका विषय है। इस प्रकार शुद्ध नयका विषयभूत आत्मा ही ध्येय है। उस समय ध्यानमें

१. अत्र तु ग्रन्थे पंचम गुणस्थानादुपरितन गुणस्थान वर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टिनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सराग सम्यग्दृष्टीनां गौण वृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यान काले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।
—समयसार गाथा २०१-२०२. तात्पर्य वृत्ति टीका.

२. इसी ग्रन्थमें कलश ६ की टीका देखिये।

३. सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥
—प्रवचनसार गाथा १८६

यद्यपि यह विकल्प नहीं है कि 'मैं शुद्धनयका अवलंबन करके ध्यान करता हूं।' तथापि जिसका वह ध्यान करता है वह आत्मा, अन्य तटस्थ व्यक्ति द्वारा विचार किया जाय तो, शुद्धनयका ही विषयभूत द्रव्य है।

(१४७) **प्रश्न**—जब नयोंकी चर्चासे ऊपर ही समयसारका दर्शन है, तब शुद्धनय भी छोड़ना पड़ेगा। नहीं छोड़ने पर समयसारकी प्राप्ति कैसी होगी?

समाधान—जो उस अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए, वे शुद्धनयका अवलंबन यदि छोड़ दें तो अशुद्ध नयका अवलंबन कर लेते हैं। अतः **नीचेकी भूमिकामें रागादि परिणाम होनेसे कर्मबंध होता है—इस तत्वको सामने रखनेके हेतु ही उक्त कथन हैं।** जो निर्विकल्प ध्यानी नयपक्षसे ऊपर उठ गए हैं उन्हें नयका विकल्प नहीं है, तो भी उनकी ध्येय वस्तु निश्चयनयकी विषयभूत शुद्धात्मा ही है। **शुद्ध नय छोड़ना 'बंधक' है। नयसे ऊपर उठना 'अबंधक' है।**

(१४८) **प्रश्न**—केवल आत्मा शुद्ध है ऐसा मान लेनेसे या अपनेको शुद्ध समझ लेनेसे, आत्मा निर्बंध कैसे हो जायेगा? यदि ऐसा है तो हम सब संसारी निर्बंध ही हैं?

समाधान—जो आत्माका शुद्ध रूपसे ध्यान करता है, उस समय उसकी परविरहित दृष्टि होती है, तब वह रागादि भावोंसे रहित होता है। रागादि परिणाम ही बंधके हेतु हैं अतः वह ध्याता अबंधक है। **साधारण संसारी अपनेको शुद्ध मानकर भी, रागादिपरिणत होता है, अतः निर्बंध नहीं** है। ज्ञानी जन भी स्वभाव दृष्टिसे च्युत हो, परसंयोगजन्य नैमित्तिक भावरूप जब परिणत होता है, तब रागादिका योग ही उसे बंधदशामें ला देता है। द्रव्यदृष्टि या स्वभाव दृष्टिसे संसारी जीव, कर्मसे अबद्ध तो सदासे हैं ही, तथापि उनकी वर्तमान पर्याय अशुद्ध है। उसे मिटाकर स्वरूप रूप परिणमन करना ही मुक्ति प्राप्त करना है ॥१२२॥

शुद्धात्म ज्ञान ही ऐसा प्रबल हेतु है जो आत्माको निष्कर्मा बना देता है अतः उसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है, ऐसा निम्न कलशमें प्रतिपादन करते हैं—

> **धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं।**
> **त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ॥**
> **तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात् संहृत्य निर्यद् बहिः।**
> **पूर्णज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥१२३॥**

अन्वयार्थ—(**धीरोदारमहिम्नि**) क्षोभरहित उत्कट है महिमा जिसकी, ऐसे (**अनादिनिधने बोधे**) परमपारिणामिक भाव स्वरूप अनादि-अनन्त अपने चैतन्य स्वरूपमें (**धृतिम् निबध्नन्**) स्थिरताको प्राप्त करानेवाला, तथा• (**कर्मणाम् सर्वंकषः**) रागादि समस्त कर्मोंका विनाशक, ऐसा (**शुद्धनयः**) शुद्धनयका विषयभूत शुद्धात्मा, (**कृतिभिः**) कृत्याकृत्यके जानकार सम्यग्दृष्टिको (**जातु न त्याज्यः**) कभी क्षणभरको भी छोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि (**तत्रस्थाः**) उस शुद्धात्मबोधमें स्थित जन ही (**बहिः निर्यत्**) स्वात्मभूमिकासे बाहिर जानेवाली (**स्वमरीचिचक्रम्**) अपनी ज्ञानकी प्रवृत्ति समूहको (**अचिरात् संहृत्य**) शीघ्र समेट कर, (**पूर्णज्ञानघनौघम्**) पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप (**एकं अचलं**) एक अविनाशी (**शान्तम् महः**) परमशान्त तेजको, (**पश्यन्ति**) अपनेमें देखते हैं, अर्थात् उसे प्राप्त करते हैं ॥१२३॥

भावार्थ—जिन भव्य जीवोंने शुद्धात्म दर्शनस्वरूप सम्यग्दर्शनको अपनेमें प्रकट किया है, तथा जो परमपारिणामिक भाव स्वरूप अपने अनाद्यनन्त चैतन्यस्वरूपमें स्थिर हुए हैं, अपने उस शुद्धनयके विषयभूत निजस्वरूपमें अविचल रूपसे वर्तमान रहते हैं। कदाचित् भी किसी भी क्षण उससे भिन्न नहीं होते। ऐसे भव्य ही केवलज्ञान स्वरूप परमशान्तिके स्थान, अपने पूर्ण तेजको प्राप्त करते हैं अर्थात् अरहन्त दशाको प्रकट कर केवली बनते हैं। इसके विपरीत जो क्षणभरको भी उस शुद्धात्माका आलंबन छोड़ अशुद्ध रूप परिणत हुए, वे कर्मबंध कर संसारमें ही भटके हैं।

शुद्धात्माके ध्यानी अपनी स्थितिको अन्य समस्त पर द्रव्योंसे मोड़कर पूरी-पूरी ज्ञान शक्तिको स्वात्मावबोधमें ही लगाते हैं। अपनी ज्ञानकी किरणोंका बहिर्गमन बंद कर, उसे अपनेमें केन्द्रित करते हैं, जिससे कर्म स्वयं दग्ध हो जाते हैं व आत्मा विशुद्ध होती है। जैसे एक विशिष्ट काँच जिसे आतिशी शीशा कहते हैं, सूर्यकी किरणोंको अपनेमें केन्द्रित करता है, तो उसके नीचे रखे वस्त्रमें स्वयं आग लग जाती है, और वह जल जाता है। इसी प्रकार **ज्ञानी अपनी शक्तियोंको अपनेमें समेट कर केन्द्रित कर, अनादिके बंधे कर्मजालको दग्धकर, कैवल्य प्रकट कर लेता है** ॥१२३॥

यह स्थिति कैसे प्रगट होती है उसका वर्णन निम्न पद्यमें करते हैं—

> **रागादीनां झगिति विगमात्, सर्वतोऽप्यास्रवाणां,**
> **नित्योद्योतं किमपि परमं, वस्तु संपश्यतोऽन्तः।**
> **स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत् सर्वभावान्,**
> **आलोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥**

अन्वयार्थ—(**सर्वतः अपि रागादीनाम् आस्रवाणाम्**) सब प्रकारसे ही रागादि भावास्रवोंके (**झगिति विगमात्**) शीघ्र ही दूर हो जानेसे इस आत्मामें (**नित्योद्योतम्**) नित्य सदाकाल प्रकाशमान (**किमपि**) किसी आश्चर्यकारक (**परमम् वस्तु अन्तः संपश्यतः**) श्रेष्ठतम वस्तु को अपने भीतर भीतर देखता हुआ तथा (**स्वरसविसरैः**) अपने स्वरसके विस्तारसे, (**स्फारस्फारैः**) अधिकाधिक रूपमें (**सर्वभावान् प्लावयत्**) जगत् के समस्त पदार्थों को अपने में डुबोता हुआ (**आलोकान्तात्**) लोकालोक के अन्त तक फैलता हुआ, (**अचलं**) अविनश्वर (**अतुलम्**) अतुलनीय (**एतत् ज्ञानम् उन्मग्नम्**) ऐसा ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है ॥१२४॥

भावार्थ—जब यह जीव अपने स्वरूप बोध के द्वारा रागद्वेषादि विकारों का सर्वथा अभाव कर देता है तब द्रव्यास्रवका भी अभाव होता है। आस्रवभाव के अभाव में बंध का भी अभाव हो जाता है, तथा निर्बंधदशा में पूर्वबद्ध कर्म, सोपक्रम या अनुपक्रम रूप से, निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं। अतः उसे ज्ञानावरणादिके क्षयसे, अनन्त ज्ञेयोंको अपनेमें प्रतिबिंबित करने की सामर्थ्य रखनेवाला कैवल्य प्रगट होता है।

सम्यग्दृष्टिजीवमें जो आत्मदृष्टि प्रकट होती है वह दृष्टि ही मुक्ति का बीज है। इसके कारण ही जीव मिथ्याज्ञानसे विमुक्त हो सम्यग्ज्ञानी बनता है, तथा अपनी अनादिकालीन [illegible]

सांसारिक प्रवृत्तियों को मिटाकर, आत्मानुकूल प्रवृत्तियों द्वारा, अपनेको निर्वन्ध वनानेमें सफल होकर, केवलज्ञानको प्रकटकर अर्हन्त दशा प्राप्त करता है।

संसारके दुखोंका समूल नाश इसी आत्मदर्शन, आत्मवोध और आत्मध्यानसे होता है। इनका नाम ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। अतः आत्मज्ञानकी आराधना सदा करनी चाहिए। इसके विना नवीन आस्रव भाव नहीं रुकता। आस्रवके न रुकने पर वंध होगा, तव मुक्तिके अनुकूल यह भूमिका न वनेगी।

श्री शुभचन्द्राचार्यने 'अध्यात्म तरंगिणी' में ऐसा भाव प्रगट किया है कि--निगोद अवस्थामें जीवमें, अक्षरके अनन्तवें भाग प्रकाशित ज्ञान भी, निरावरण और नित्योद्योत है। उसी नित्योद्योत ज्ञान स्वरूपी आत्माको अपने भीतर देखने वाले मुनि, रागादि आस्रव भावका जव अभाव करते हैं, तव देखते हैं कि वही ज्ञान, अपने स्वरससे विकसित होता हुआ, लोकालोकको अपने भीतर समाये हुये, 'केवल ज्ञान' के रूपमें निरावरण, नित्योद्योत, उदयको प्राप्त हुआ है। सारांश यह कि ज्ञान भावका आलंवनकर सदाकाल रागादि विकारोंसे आत्माको छुड़ाना ही, सव दुखोंसे पार, मुक्तिका स्वरूप है।

❀ इति आस्रव अधिकार ❀

□ संवर अधिकार □

—०—

संवर तत्वका स्वरूप ज्ञान ज्योतिसे ही प्रकट होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

आसंसार-विरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात् प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुरत्-
ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अन्वयार्थ—(चिन्मयम्) चैतन्य स्वरूप, **(निजरसप्राग्भारम्)** अपने ही रसके भारसे भरी हुई, **(उज्ज्वलम्)** प्रकाशमान **(ज्योतिः)** ज्ञानज्योति, **(आसंसारविरोधीसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव न्यक्कारात्)** अनादि कालसे ही अपने विरोधी संवर तत्वके, विजय प्राप्त करने अतिशय मन्दोन्मत्त जो आस्रव भाव, उस आस्रव भाव का तिरस्कार करनेके कारण **(प्रतिलब्ध नित्यविजयम्)** जिसे सदा ही विजय प्राप्त हुई है, अतएव **(संवर संपादयत्)** संवरको उत्पन्न करते हुए, **(पररूपतः व्यावृत्तं)** परज्ञेय द्रव्यों तथा परद्रव्यके निमित्त जन्य विभाव परिणतियोंसे दूर, **(सम्यक् स्वरूपे नियमितं)** तथा अपने यथार्थ स्वरूपमें ही निष्ठ, ऐसी ज्ञानज्योति **(उज्जृम्भते)** अव उदयको प्राप्त हो रही है ॥१२५॥

भावार्थ—यह जीव अनादि कालसे ही अपनी अज्ञानावस्थाके कारण अपनेको भूला तथा पर द्रव्य शरीरादि या रागादि भावोंमें निजत्वकी कल्पना करता था। इसी भूलमें पर द्रव्योंका संयोग करता था, तथा, उन पर द्रव्योंके संयोगके निमित्तसे उत्पन्न रागादि विभाव भावस्वरूप परिणत होता था। उसकी इस परिणतिसे कर्मधाराका प्रवाह अखण्ड रीतिसे आ रहा था, यही आस्रव भाव था। इस आस्रवभावने संवर भावपर विजय प्राप्त कर ली थी, अर्थात् संवरभावका अभाव हो रहा था। सदा सर्वत्र आस्रवका प्रसार था, उसकी विजयका डंका वजता था। अतः जैसे किसीको जीतने वाला राजा मदोन्मत्त हो जाता है, उसी प्रकार संवरपर विजय प्राप्त करनेके कारण आस्रव भी मदोन्मत्त होकर सर्वत्र फैला था।

आत्मामें सम्यग्दर्शनकी जव उत्पत्ति हुई, तव सम्यग्ज्ञान स्वरूप चैतन्यकी समुज्ज्वल निष्कलंक ज्योति प्रकट हुई, यह ज्योति चैतन्य रूपी अपने निजरसके भारसे समुन्नत है। इस आत्मज्योतिने आस्रवका मद चूर्ण किया। इस कारण संवर सन्नद्ध हो गया। संवरके आनेसे आस्रव भाव रुका। आस्रव भावके रुकनेसे यह जीव परभावोंसे भिन्न हुआ। अपने निज स्वरूपमें ही निष्ठ हुआ, यही संवर तत्त्व है। ज्ञानज्योति ही इस संवर तत्त्वको प्रकट करती है।

जवतक कर्मास्रव है तव तक जीवको कर्मका वंधन है। अज्ञान भावमें कर्मास्रव सतत होता रहता है। आत्मामें काललब्धिके वश, सम्यग्गुरुपदेशके निमित्तसे, मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके उपशम

क्षय या क्षयोपशमसे, जव सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हुई तभी स्वपर भेदविज्ञान होनेसे, आत्माने अपने स्वरूपको पहिचाना। यही ज्ञानज्योति या चैतन्यज्योति है।

इसके उत्पन्न होते ही अनेक कर्म प्रकृतियोंका, जिनके उदयकी प्रवलतामें जीव अनन्त संसारमें परिभ्रमण करता था, उनका प्रवाह रुक गया। इसके रुकनेका ही अर्थ है 'संवर तत्त्व'। इस अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपमें अपनेको क्रमशः गुणस्थान क्रमसे नियमित करता हुआ कर्मास्रवको रोकते हुए आगे बढ़ता है, और पूर्ण ज्ञानज्योतिके प्रकाशमान होनेपर, सर्वथा आस्रव-भावसे रहित होकर पूर्ण संवरभावको प्राप्त होता है।

सम्यग्ज्ञान ज्योतिकी यह महिमा है। वह ज्योति अपनेमें, अपने ही पुरुषार्थसे प्रकट होती है यही उसका विजयपना है ॥१२५॥

आचार्य कहते हैं कि भव्य जीवों! भेदज्ञानकी उत्पत्ति हो रही है अतः प्रमुदित हो जाओ—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो[1] ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

अन्वयार्थ—(**चैद्रूप्यं-च जड़रूपतां दधतोः**) चैतन्यस्वरूप तथा जड़रूपता, अर्थात् अचेतन-पना ऐसे भिन्न-भिन्न लक्षणको धारण करने वाले (**ज्ञानस्य रागस्य च**) ज्ञान और रागादि विकार इन (**द्वयोः**) दोनोंको (**अन्तर्दारुणदारणेन**) अपनी अन्तर्दृष्टि रूपी तीक्ष्ण आरेके द्वारा (**परितः**) पूर्णरूपसे (**विभागं कृत्वा**) पृथक्-पृथक् करके, (**निर्मलमिदं**) यह समुज्ज्वल (**भेदज्ञानम्**) भेदज्ञान जो कि (**एकं शुद्धज्ञानघनौघम्**) रागादि रहित केवल अपने शुद्ध चैतन्यका ही अखण्ड पिण्ड है, (**उदेति**) उदयको प्राप्त हो रहा है। अतः (**द्वितीयच्युताः सन्तः**) परके संयोगसे रहित, शुद्ध सम्य-ग्दृष्टि ज्ञानी जीव, (**अध्यासिताः**) अपने निजस्वरूपमें लीन हुए (**मोदध्वम्**) आनन्दको प्राप्त होओ—प्रमुदित होओ—स्वरूपलीनताके अनुपम सुखको प्राप्त करो ॥१२६॥

भावार्थ—भेदविज्ञान एक करौंतकी तीक्ष्ण धारा वत् है। जैसे करौंतसे काठ कटकर भिन्न-भिन्न टुकड़ोंमें अलग-अलग हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञानभाव, आत्मस्वभाव है, तथा रागादि विकारीभाव, अज्ञानभाव है। दोनों स्वरूपसे पृथक्-पृथक् हैं। तथापि अपने अज्ञानभावके कारण यह जीव इन दोनोंमें भेद नहीं जानता था। रागादि विकारोंको ही अपना निज स्वभाव जानकर, स्वच्छन्दतासे उनमें विचरता था। भेद विज्ञानने करौंतकी तरह अपनी तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टिसे, दोनों का लक्षणभेद जव आत्मामें प्रकट किया, तव वह ज्ञानस्वभावको निजभाव जानकर, उसे ग्रहण करता है, उसमें स्थिर होता है, तथा रागादि विकारोंको अनात्मीय जानकर उन्हें छोड़ देता है। इस प्रकार स्वरूपकी प्राप्ति तथा अन्यका परिहार होता है।

यह 'भेदज्ञान' आत्माके भीतर पूर्वावस्थामें रागादिके साथ जो घुलन था—ऐक्यपना हो रहा था—उसे दूर करता है। राग और ज्ञानके भीतर कहाँ संधि है, यह जानना वड़ा कठिन था।

---

१. परतः इति पाठान्तरम्। —आत्मख्याति टीका

मोहकी गहलतामें भेद दिखाई नहीं देता था। सद्गुरुओंके उपदेशसे विकारी-परजन्य भावोंकी जड़ता, तथा अपने ज्ञान स्वभावकी सचेतनताको भिन्न-भिन्न जाना—यही हुआ 'भेदविज्ञान', जिससे संधि टूटी[1]। इसीका माहात्म्य है जो जीवकी अनादिकालीन भूल तथा दुष्प्रवृत्ति मिटी और उसे स्वरूपकी पकड़ आई। आचार्य कहते हैं हे भव्य जीव ! अब तेरे ज्ञानका पुञ्ज अर्थात् परविरहित शुद्ध ज्ञानका उदय हो रहा है, अतः अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर उसे देख, तथा स्वात्मोत्थ अनन्त अविचल अविनाशी सुखका अनुभव कर।

अपनी भूली निधिको प्राप्त कर जैसे कोई दरिद्र प्रसन्न हो जाता है, तथा अपने पुरातन अभावावस्था के महान कष्टोंको भूलकर, अपनी भावी सुखकी योजना बनाकर, स्वयं उत्साहित हो जाता है। इसी प्रकार तू भी अपनी मिथ्यात्वकी गहलतामें परको निज मानकर जो भूल हुई—और जो अनादिसे कष्ट उठाए, उन्हें अब भूल जा। अपने निजस्वरूपमें स्थिर हो अपनी विभूतिको, जो भूली थी पहिचान ले, तथा आगामी निर्वाणके परमसुखकी प्राप्तिकी योजना बनाकर, प्रमुदित हो ॥१२६॥

यदि तू अपने सतत प्रयत्नसे भेदज्ञानको स्थिर रख सका तो तुझे आत्मसिद्धि होगी—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ॥
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

अन्वयार्थ—(**यदि कथमपि**) यदि किसी भी उपायसे आत्मा (**धारावाहिना बोधनेन**) अपने सतत चलने वाले भेदविज्ञानसे, (**ध्रुवम् शुद्धम् आत्मानम्**) अपने ध्रुवस्वरूप—कर्म कालिमासे भिन्न अपनी शुद्ध आत्माको (**उपलभमानः**) अनुभव करता हुआ (**आस्ते**) प्रवर्त्तता है, तो (**तदयम् आत्मा**) वह जीव (**उदयत् आत्मारामम् आत्मानम्**) प्रकाशमान अपने आत्माको अथवा निजक्रीड़ा स्थल आत्माको, (**परपरिणतिरोधात्**) परद्रव्यसंयोग जनित विकारी परिणतिको, स्वयं दूरकर (**शुद्धमेव अभ्युपैति**) शुद्धरूपमें स्वयं प्राप्त कर लेता है ॥१२७॥

भावार्थ—जो भेद विज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवको प्राप्त हुआ है, यदि वह जीव उसका सतत अभ्यास करे—उसकी धारा न टूटे, तो उस भेदज्ञान द्वारा प्राप्त वह अपने परमपारिणामिक भाव स्वरूप, निर्मल, शुद्ध, ध्रुव, अखंड चैतन्य प्रकाशमान अपने निज रूपको प्राप्त होता है तथा परसंगसे छूट जाता है।

जिसकी भूल दूर होगी वही अपने स्वरूपको पायगा। भेदविज्ञानी भी अपनी भूलको मेटकर अपने निर्मल स्वभावका मनन करता हुआ, परसे भिन्न हो अपनी शुद्धात्माको भेदविज्ञानके बलपर प्राप्त कर लेता है ॥१२७॥

---

१. यस्यैव यथोदितं भेद विज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज् ज्ञानी सन्नेवं जानाति।
—समयसार गाथा १८४-१८५ आत्मख्याति टीका

जिन्हें शुद्धात्म तत्त्वकी प्राप्ति हुई है उनको ही मोक्ष होता है ऐसा आचार्य प्रतिपादन करते हैं—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन् अक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

अन्वयार्थ—(**अखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानाम्**) सम्पूर्ण परद्रव्योंसे भिन्न स्थित तथा (**निजमहिमरतानाम्**) अपनी निजात्माकी महिमाको जानकर उसमें लीन रहने वाले (**एषां**) इन सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको (**भेदविज्ञानशक्त्या**) भेदविज्ञानके बलसे (**शुद्धतत्त्वोपलम्भः भवति**) अपनी शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है। (**इति नियतम्**) यह बात सुनिश्चित है। तथा (**सति च तस्मिन्**) और उस शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धिके होनेपर (**कर्ममोक्षः**) सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्ति (**अक्षयः**) अविनाशी अनन्त रूपसे (**भवति**) होती है यह बात भी (**अचलितम्**) सुनिश्चित है ॥१२८॥

भावार्थ—अपनी भेदविज्ञानकी शक्तिसे जो परद्रव्योंसे तथा तन्निमित्त जन्य नैमित्तिक विकारी भावोंसे अपनेको दूर करके, अपनी शुद्धात्माकी महिमाका बोधकर, उसमें लीन होते हैं, उन्हें अवश्य ही शुद्धात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जिन्हें शुद्धात्माकी प्राप्ति होती है वे शुद्धोपयोगी जीव, अपने समस्त द्रव्य-भाव कर्म, व नोकर्मका नाशकर, अविनाशी मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं, यह सुनिश्चित है ॥१२८॥

संवर कैसे होता है इसका उत्तर कहते हैं—

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

भावार्थ—(**शुद्धात्मतत्त्वस्य उपलम्भात्**) अपनी शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेपर (**एषः संवरः**) यह संवर (**साक्षात्**) प्रत्यक्षीभूत (**किल संपद्यते**) निश्चयसे प्राप्त होता है, तथा (**स**) शुद्धात्माकी उपलब्धि (**भेद विज्ञानत एव**) भेद विज्ञानसे होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**तत्**) उस भेदविज्ञानका (**अतीव भाव्यम्**) सदाकाल अति अनुभवन करना चाहिए ॥१२९॥

भावार्थ—आत्मा, कर्म नोकर्म भावकर्मसे सर्वथा भिन्न है, ये तीनों संसारी दशामें जीवके साथ हैं, पर ये न जीव हैं—न जीवके स्वरूपमें हैं। जीवका स्वरूप तो एकमात्र अखण्ड चैतन्य ही है। इस प्रकार दोनोंको पृथक्-पृथक् जानकरके शुद्धात्माका अनुभव करना ही भेदविज्ञान है। जो भेदविज्ञानी ऐसा भेद कर, निज तत्त्वकी उपादेयता तथा परकी अनुपादेयताका श्रद्धान करता है, वही परको छोड़ शुद्धात्माको प्राप्त कर सकता है। शुद्धात्माकी उपलब्धि अर्थात् साक्षात्कार होनेपर, रागादिका स्वयं अभाव होता है। यही संवर भाव है जो स्पष्ट रूपमें प्रकाशित हो जाता है। इस कार्य-कारण भावको विधिवत् यथार्थ समझकर भेदविज्ञानकी सदैव भावना करनी चाहिए[1] प्रति समय आत्मस्वभावकी, तथा कर्म व कर्मजन्य कार्योंकी, सीमाका—भिन्न-भिन्न बोध

१. भेद विज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः । —समयसार गाथा १८५ आत्मख्याति टीका०
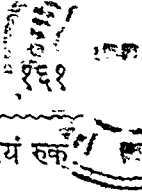
करते-करते अपने शुद्धात्माकी साक्षात् प्राप्ति हो जाती है। ऐसा होनेपर कर्मका आगमन स्वयं रुक जानेसे संवर तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

(१४९) **प्रश्न**—भेदविज्ञान से आत्मा शुद्ध कैसे हो जाता है। गृहस्थ भी क्या मुक्त हो सकता है?

समाधान—भेदविज्ञानसे तो आत्माकी उपादेयता तथा रागादिकी हेयताका बोध होता है। इस बोधके होते ही जो अपनेको ही पकड़ता है, अर्थात् आत्म-स्वभावका आलंबन लेता है, और जिन्हें 'हेय' समझा उनका आलंबन छोड़ता है, उसे शुद्धात्माकी प्राप्ति हुई ऐसा समझना चाहिए। **जानने मात्रसे 'प्राप्ति हुई' ऐसा मान लेना सही नहीं है। जैसा जाना तदनुकूल परिणमन करे तो संवर होता है। वह परिणमन ही स्वयं चारित्र है। अतः परका त्याग, व्यवहार चारित्र[1] और निजका ग्रहण अर्थात् स्वरूपमें स्थिरता ही निश्चयचारित्र है, यही संवरका हेतु है। इस स्थितिमें गृहस्थको पूर्ण शुद्धात्म-प्राप्ति, तथा पूर्ण संवरकी बात स्वयं नहीं टिकती है।** गृहस्थ तो रागादिमें लीन है। श्रद्धामें हेय मानकर भी उन्हें छोड़ नहीं सका। जब तक छोड़ नहीं सका तभी तक गृहस्थ है, और तब तक कर्मका बंधक भी है, पूर्ण निरास्रव नहीं है। अतः गृहस्थको मोक्ष हो जायगा ऐसा प्रश्न खड़ा नहीं रहता है। फलतः भेदविज्ञानका बारंबार अभ्यास करना यही चारित्र है, उसीसे शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, पूर्ण आस्रवभाव रुकता है, तथा उसीको मोक्ष होता है।

(१५०) **प्रश्न**—आत्मासे आस्रवभाव भिन्न है, यह तो जान लिया। पर उनसे दूर होनेकी क्या पद्धति है कृपया खुलासा करें।

समाधान—जब-जब क्रोधादिका प्रसंग आवे—अथवा पंचेन्द्रियके विषयोंका राग आवे, तब ही विचार करे कि 'मैं उपयोगमयी शुद्धात्मा हूँ। राग भाव, क्रोध भाव विकार हैं, अनात्मीय हैं, मैं उन्हें क्यों स्वीकार करूँ? अर्थात् क्यों तद्रूप परिणमन करूँ? वे तत्त्व मुझसे भिन्न ही रहना चाहिए।' ऐसा समझकर जब बार-बारके अभ्याससे क्रोध तथा रागसे भिन्न हुआ, तब वह स्वयं शुद्धात्मा बना, और तब ही संवर हुआ। रागादिके नाशसे तथा शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता।

इसे दृष्टान्तसे समझें—

जैसे किसी झोपड़ीमें आग लग जाये, तो झोपड़ी जलती है, आकाश नहीं जलता। वह अपने स्वरूपमें तब भी था—अब भी है। झोपड़ी मूर्त्त पदार्थ है, वह अग्निका संयोग पाकर जल सकती है, पर अमूर्त्त आकाश नहीं जलता। इसी प्रकार शरीरादि वस्तुएँ कर्मके फलस्वरूप, कर्म जातिकी होनेसे पौद्गलिक हैं, उनके विनाशमें अमूर्तात्माका विनाश नहीं होता।

दूसरा दृष्टान्त—सुवर्ण अग्निमें तप्तायमान हो, तो भी स्वर्णपनेका त्याग नहीं करता। जब उसे देखो तब आगके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न—अपने निज स्वरूपमें ही रहता है। इसी प्रकार आत्मा कर्मोदयसे तप्त होनेपर भी अपने निज स्वभावका परित्याग नहीं करता। वह तो साक्षात् ज्ञानी है, तीव्र कर्मोदयके समय पीड़ित होनेपर भी अपने स्वभावका आलंबन कर ज्ञानी ही रहे, तो आत्मा शुद्ध होता है,[2] इसे ही शुद्धात्मा की प्राप्ति हुई ऐसा कहा जाता है। जैसे अपने घरका

१. 'स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः'—इति वचनात्।

२. प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्।

—समयसार गाथा-१८४ आत्मख्याति टीका

द्वार बंदकर घरमें रहने वाला वाहिरी उपद्रवोंसे पीड़ित नहीं होता, ऐसे ही निज स्वरूपमें स्थित ज्ञानीके स्वरूपमें, कर्मका प्रवेश नहीं होता, यही संवर है ॥१२९॥

इस भेदविज्ञानकी कव तक भावना करनी चाहिए ?

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावत् यावत् पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(**इदं भेदविज्ञानम्**) इस भेदविज्ञानकी (**तावत्**) तवतक (**अच्छिन्नधारया**) लगातार धारा प्रवाह रूपसे (**भावयेत्**) भावना करे (**यावत्**) जवतक (**ज्ञानं**) स्वयं अपना ज्ञान (**परात्**) रागादि विकारी भावोंसे (**च्युत्वा**) भिन्न होकर, (**ज्ञाने प्रतिष्ठते**) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१३०॥

भावार्थ—जिस भेदविज्ञानका स्वरूप पहिले प्रतिपादित किया है, उसकी वार-वार भावना करनी चाहिए। अर्थात्—'मेरा आत्मा रागादि विकारी भावोंसे सर्वथा भिन्न है। रागादि मेरे स्वरूपमें नहीं हैं, वे अनादि कालसे कर्मके निमित्तसे उत्पन्न, मेरे वैभाविकभाव हैं, स्वभाव नहीं। ज्ञान मेरा स्वभाव है। वह स्वभाव अनाद्यनन्त है। नित्य है। अविनाशी है। वह जव रागादिकी भूमिकामें उतरता है तब विकारी होता है। सो वस्तुतः वह स्वयं राग स्वरूप नहीं है। ज्ञानसे भिन्न स्वभाव होनेसे, रागादि चैतन्यभावसे भिन्न हैं' ऐसा वार-वार चिन्तन करनेसे अपनी शुद्धात्माका वोध होता है। रागादिसे भिन्न आत्माका स्वाद अनुभवमें लाना चाहिए। ऐसा करते-करते आत्मा अपने ज्ञान स्वभावमें रम जायगी, तथा विकार नष्ट हो जायगा। यही शुद्धात्माकी उपलब्धि है, अर्थात् पूर्ण शुद्धात्म परिणति है।

(१५१) **प्रश्न**—क्या भेद विज्ञान भी छोड़ने लायक है, जो उसकी भावना सशर्त वताई गई है ?

उत्तर—अवश्य। वह भी एक विकल्प है, जो आत्माकी निर्विकल्पदशामें स्वयं छूट जाता है। जव तक ऐसी दशा न हो तव तक उसकी भावना करनी चाहिए।

(१५२) **प्रश्न**—जो छोड़ना पड़ेगा उसे धारण ही क्यों करना चाहिए ?

समाधान—भेदविज्ञान उपायभूत है, आत्मा उपेय है। उपेयकी प्राप्ति पर उपाय स्वयं अनावश्यक होनेसे छूट जाता है। किन्तु जो उपायको पकड़ेगा ही नहीं, वह उपेयको कैसे प्राप्त कर सकेगा ? वह तो सदा संसारी ही रहेगा ॥१३०॥

वन्ध और मोक्षका हेतु क्या है इसका विवरण—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(**ये केचन किल सिद्धाः**) जो अभी तक सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए हैं, वे (**भेदविज्ञानतः सिद्धाः**) परद्रव्योंसे भिन्न आत्मज्ञानसे सिद्ध हुए हैं, तथा (**ये केचन किला वद्धाः**) जो अभी तक संसारमें वद्ध हैं, संसारमें हैं, वे (**अस्य अभावतः**) इस भेदविज्ञानके अभावसे (**एव**) ही (**वद्धाः**) वँधे हैं ॥१३१॥

भावार्थ—अनादि कालसे ही संसारी प्राणी परद्रव्यके साथ, तथा परनिमित्तजन्य विकारी भावोंके साथ, अपनी एकताके भ्रमके कारण, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा रागादि भावकर्म, और

शरीरादि नोकर्मसे बन्धनको प्राप्त हैं। अनादि कालसे आजतक जो जीव संसार बन्धनसे छूटे हैं, और सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए हैं, वे इसी भेदविज्ञानके बलपर अपने उक्त प्रकारके भ्रमको तोड़कर, उन बन्धनोंसे छूट कर मुक्त हुए हैं। अतः अनादि कालीन दृढ़तम बन्धनोंको तोड़कर मुक्त होनेमें, सबसे प्रधान और मुख्य अथवा एक मात्र कारण, देह और आत्मामें भेदविज्ञान ही है ॥१३१॥

यह भेदविज्ञान आत्माका स्वरूप है अतः स्वरूपबोध ही आत्माकी मुक्तिका हेतु है—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(**भेदज्ञानोच्छलनकलनात्**) भेद ज्ञानके उछालके अभ्याससे (**शुद्धतत्त्वोपलम्भात्**) जब शुद्ध तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई, तब तत्त्वाभ्याससे (**रागग्रामप्रलयकरणात्**) रागादि विकारोंका अभाव हुआ, और रागादिके अभावसे (**कर्मणां संवरेण**) नवीन कर्मोंके आगमनका अभाव हुआ, उस संवरके कारण, (**तोषं बिभ्रत्**) सन्तोष या आनन्दको धारण करने वाला, (**परमम्**) श्रेष्ठतम (**अम्लानम्**) स्वच्छ (**अमलालोकम्**) निर्मल प्रकाश स्वरूप, (**एकं**) रागादि रहित शुद्ध स्वरूप, (**ज्ञाने नियतम्**) अपने स्वरूपमें ही नियत, (**शाश्वतोद्योतम्**) निरन्तर जिसका प्रकाश रहेगा, ऐसा (**एतत् ज्ञानं उदितम्**) यह शुद्ध चैतन्यका अनुभव प्रकट हुआ ॥१३२॥

भावार्थ—भेदविज्ञान अनादि कालीन मूर्छाको दूर करता है, परमें निजत्वके भ्रमको दूर करता है। निजके स्वरूपका बोध कराता है। जिन जीवोंने प्रयत्न पूर्वक भेदविज्ञान प्राप्त कर बार-बार उसका अभ्यास किया है, उन्हें सदा काल स्थिर रहने वाले अपने शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है। अपने स्वरूपका बोध होने पर, अपनेसे भिन्न स्वरूप जो रागादि उनका स्वयं प्रलय, अर्थात् नाश हो जाता है। तात्पर्य यह कि आत्मा अपने ज्ञान स्वरूपमें जब प्रवेश करता है, तब रागादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

रागादि भावोंके अभावमें नवीन कर्मोंका बन्ध भी रुकता है,[1] तथा उदयागत कर्म भी विफल होते हैं। वे नवीन कर्मोंके आस्रवमें कारणभूत नहीं होते। फलतः कर्मोंका संवर होता है। संवर होनेसे आत्मज्ञानका उदय होता है। अर्थात् अपना ज्ञान शुद्ध होकर निर्मल आत्मप्रकाश फैलता हुआ अपनेमें रहता है, फिर अन्यत्र गमन नहीं करता, न विकारी होता है। ऐसा ज्ञान ही केवलज्ञान स्वरूप बनता है, और यही मुक्तिका हेतु है। **सारांशमें यह सब महिमा भेदविज्ञानकी है, अतः उसे प्राप्त कर उसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।**

(१५३) **प्रश्न**—जब आत्मा सदा ज्ञानस्वभावी है, और रहेगा, तब उसकी प्राप्ति तो उसे है ही। भेदज्ञान हो या न हो, उसका स्वरूप तो उसके पास ही है, अतः उपलब्धि स्वयं है ही, तब भेदज्ञान से उपलब्धि होती है, इसका क्या अर्थ है ?

१. रागादिरूप भावास्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण, उदयमात्रेण वा, द्रव्यप्रत्ययाः सम्यग्दृष्टेर्बंधहेतवो न भवन्ति ।
—समयसार गाथा १७७-१७८ तात्पर्यवृत्ति टीका.

समाधान—है तो ऐसे ही, तथापि समीप होने पर भी उसका भान नहीं था। परमें निज-को ढूँढ़ता था। इसी भ्रमके कारण सर्वत्र भूला-भूला भटकता था। जब भेदविज्ञानने उसे दरशाया कि कहाँ भटकता है? तेरा स्वात्मा तेरे भीतर है, तब अपने स्वरूपको पाकर भटकना छूट गया। यही स्वात्मोपलब्धि है तथा यही संसारसे मुक्ति है।

जैसे कोई मनुष्य अपने वस्त्रको जिसमें उसके रत्न बँधे थे, कन्धे पर टाँग कर उसे भूल गया; और सर्वत्र अपना वह वस्त्र ढूंढ़ता फिरा। पड़ोसमें भी सबसे पूछा पर किसीने भी उसके वस्त्र पर ध्यान नहीं दिया। अतः उसका भ्रम दूर न हो सका। वह सर्वत्र रोता चिल्लाता दुखी हुआ फिरता रहा। किसी विवेकीने पूछा कि भाई क्यों रो रहा है? तब उसने कहा कि मेरा वस्त्र खो गया। उसमें मेरे रत्न बँधे थे। तुम उसे ढूंढ़ दो, तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।

विवेकीने कन्धे पर टँगे वस्त्रकी ओर उसे संकेत किया। उसने कन्धे पर वस्त्र देखकर अपनी निधि पा ली और बहुत प्रसन्न हुआ। उस विवेकीके चरणोंमें पड़ गया और कहने लगा कि तुम परम उपकारी हो। मेरी गई हुई सम्पत्ति बता दी अन्यथा वह तो चली गई थी। तब विवेकीने कहा कि भाई! वह तो तुम्हारे पास थी, तुम्हें खो जानेका भ्रम था, इससे भटके-भटके फिरते थे। इससे उसे समाधान होता है। फिर वह सदाके लिए अपनी निधिकी रक्षामें सावधान हो जाता है।

इसी प्रकार अपना स्वरूप अपनेमें है, अनादि काल से जीव उसे भूला है, और सर्वत्र अपनापन खोजता फिरता है। परपदार्थोंमें अपनापन मान कर भी वे कभी अपने नहीं बने, इसीसे दुखी था। विवेकी गुरुने जब आत्माका परसे भेदविज्ञान कराया, तब उसे निज-परका भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ। गुरुके चरणोंमें नत हो कर बोला कि—आपने मेरी निधि दरशायी। तब सद्गुरु कहते हैं कि **भाई, मेरा उपकार मानना तो मात्र व्यवहार है। परमार्थमें तो तेरी निधि तेरे पास थी। तू भ्रमज्ञानसे उसे नहीं देख पा रहा था।** अब तुझे भेदज्ञान हुआ, निज-परकी परख आई, तो निज निधिका, जो तेरे ही पास थी, दर्शन हुआ, उसकी प्राप्ति हुई। यही निज तत्त्वकी प्राप्ति है।

(१५४) **प्रश्न**—यदि उदयागत कर्म, जीवके द्वारा ज्ञानभावका आलम्बन करने पर, विफलताको प्राप्त हो जावें तो इसका इतना ही अर्थ है कि वे फल न दे सके। पर नवीन कर्मका आगमन कैसे रुकेगा? वह तो संसारीके प्रतिसमय होता ही है।

समाधान—अवश्य होता है, पर होता है जीवके विभावभाव रूप परिणमनके कारण। यदि जीव अपने स्वभावमें रहें, विभाव रूप न परिणमें, तो ऐसे ज्ञानी जीवके बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे, नवीन कर्मका उसे बन्धन नहीं होता।[1] ये निर्जरा और संवर ही संसार दशासे ऊपर उठाते हैं। कर्मोंका आगमन न होनेसे और पुरातन कर्मोंके विफल हो कर निर्जराको प्राप्त होनेसे, आत्मामें स्वयं सन्तोष या सुखकी उत्पत्ति होती है। यह समता भाव ही केवलज्ञानके उदयका कारण होता है, जो सदा काल शाश्वत प्रद्योतमान है ॥१३२॥

❀ इति संवराधिकारः ❀

■

१. समयसार गाथा १७७-१७८ की तात्पर्यवृत्ति टीका देखिये।

□ निर्जरा अधिकार □

निरावरण ज्ञानज्योति रागादि विकारी भावोंसे आच्छादित नहीं होती—

> रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
> कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
> प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
> ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥१३३॥

अन्वयार्थ—(**परः संवरः**) पूर्वप्रकरणमें कथित उत्कृष्ट संवरभाव, (**रागाद्यास्रवरोधतः**) रागादि आस्रवभावका प्रतिपक्षी होनेसे, उसे रोकता है तथा (**निजधुरां धृत्वा**) अपनी धुराको आगे धारण करके (**आगामि समस्तमेव कर्म**) आगामी आनेवाले सभी कर्मोंको, (**दूरात् भरतः निरुन्धन् स्थितः**) दूरसे ही अत्यन्त रूपसे रोकता हुआ खड़ा है। ऐसी स्थितिमें (**निर्जरा**) निर्जराभाव, (**प्राग्बद्धं तु तदेव**) पूर्व समयमें बाँधे उन कर्मोंको (**दग्धुं**) नष्ट करनेके लिए, (**अधुना**) इस समय (**व्याजृम्भते**) प्रकट हो रहा है। (**यतः**) क्योंकि (**अपावृतं ज्ञानज्योतिः**) निरावरण ज्ञानज्योति, अर्थात् रागादि कर्मके सम्पर्कसे रहित आत्मस्वरूप, (**रागादिभिर्न मूर्च्छति**) फिर रागादि विकारीभावोंके द्वारा मूर्च्छित नहीं होता ॥१३३॥

भावार्थ—संवरका अर्थ ही यह है कि रागादि आस्रवभावका अभाव हो। जब आस्रवभावका अभाव होता है तो आगामी बंधयोग्य कर्म दूरसे ही रुक जाते हैं। बिना रागादिभावके वे आत्मा के समीप ही नहीं आ सकते। संवरकी ऐसी उत्कृष्ट स्थिति होनेपर, निर्जराभाव पुरातन बँधे हुए कर्मोंको नष्ट करनेके लिए स्वयं प्रकट होते हैं। अर्थात् संवरके होनेपर पुरातन कर्म जो उदयमें आते हैं, वे निष्फल होकर झर जाते हैं। संवरभावके व निर्जराभावके कारण आत्मा का आवरण रहित निर्मलज्ञान, फिर रागादिभावोंसे मूर्च्छाको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् इस स्थितिमें आत्मा अपने स्वभावको भूलकर विभावरूप परिणत नहीं होता ॥१३३॥

कर्मोदयका भोगनेवाला ज्ञानी, बन्धको प्राप्त नहीं होता यह दिखाते हैं—

> तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
> यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(**यत् कः अपि**) जो कोई भी भव्यप्राणी सम्यग्दृष्टिजीव (**कर्म भुञ्जानः अपि**) कर्मके उदयका फलोपयोग भोगता है, तथापि (**कर्मभिः न बध्यते**) वह कर्मके बन्धनको प्राप्त नहीं होता, (**तत् ज्ञानस्य एव सामर्थ्यम्**) वह आत्मज्ञानकी ही सामर्थ्यके कारण है। (**वा**) अथवा (**विरागस्य एव**) वीतरागभावकी ही (**किल सामर्थ्यम्**) निश्चयसे सामर्थ्य है ॥१३४॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवोंके भी, समय-समय कर्मका उदय आता है, और मिथ्यादृष्टि जीवों के भी समय-समय कर्मका उदय आता है। ऐसी समानता होनेपर तत्काल सुख-दुःख आदि फलोंको

भी दोनों भोगते हैं, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव, सुख-दुःखादि फलोपभोगके समय, रागद्वेपादि परिणामोंके कारण, पुनः नवीन-नवीन कर्मके वन्धन वाँधता है। किन्तु सम्यग्दृष्टिजीव सुख-दुःखरूप फलोपभोग, कर्मके उदयमें भोगता है, पर उनमें राग-द्वेषादिरूप संक्लेश परिणाम नहीं करता, अतः कर्मके वन्धनको प्राप्त नहीं करता। अतः सदा तत्त्वज्ञान तथा वैराग्यकी भावना रखनी चाहिए। ऐसा करनेपर नवीन कर्मवन्ध तो नहीं होगा तथा पुरातन जो उदयमें आयेंगे वे कटेंगे ही, अतः संवर पूर्वक निर्जरा होगी।

(१५५) **प्रश्न**—ऐसा सुना जाता है कि "सम्यक्त्वीके भोग निर्जरा के हेतु हैं"। क्या यही वात आप यहाँ कहना चाहते हैं ? तव तो सम्यक्त्वीजीवको विषयकी विरक्ति होकर साधु वनने, अथवा चारित्र पालनेकी कुछ भी जरूरत नहीं है। क्योंकि इसके विपयभोग, उसे वन्धके कारण न होकर संवर निर्जराके कारण हैं। अतः विषयभोगसे ही निर्जराकर, विना चारित्रके भी उसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी।

समाधान—ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि सुखरूप कर्मोदयको कर्मफल मानकर उसे उपादेय नहीं मानता, अतः उसे विषयजन्य सुख भी विषतुल्य प्रतीत होते हैं। **उसकी यह विषय विरक्ति ही उसे कर्मका संवर कराती है। भोग संवर निर्जरास्वरूप नहीं है, किन्तु भोगोंके प्रति अरुचिभाव संवर निर्जराका कारण है।**

(१५६) **प्रश्न**—इस प्रकरणमें भोगका अर्थ क्या पंचेन्द्रियके विषयोंका भोगोपभोग नहीं है ? यदि नहीं है तो क्या अर्थ है ?

समाधान—'भोग' का अर्थ इस प्रकरणमें कर्मदण्डका भोगना है। वह सातारूप पुण्यकर्मोदयजन्य भी होता है, और असातारूप पापोदयजन्य भी होता है। सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमें दोनों दण्ड स्वरूप हैं, अतः वह दोनोंको स्वीकार नहीं करता। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यजन्य दण्डको दण्ड न मानकर, उससे अपना लाभ मानकर, प्रसन्न होता है, और पापजन्य स्थितिको अनिष्ट मानकर दुःखी होता है।

(१५७) **प्रश्न**—तो क्या पुण्यपापके उदयमें साता-असातारूप, अर्थात् सुख-दुःखरूप, परिणाम सम्यक्त्वीके नहीं होता ? पुण्यपापका फल सुख-दुःख है ऐसा शास्त्रोंका कथन है। क्या सम्यग्दृष्टि उस कथनको विपरीत वना सकता है ?

समाधान—कथन आगमका सत्य है, अतः पुण्यपापके उदयमें सुख-दुःख, सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि दोनोंको समानरूपसे होते हुए भी, **सम्यग्दृष्टि दोनों स्थितियोंमें समभावी है, राग-द्वेष नहीं करता, अतः समताभावके कारण अवन्धक है।** इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि विषमभावके कारण रागी-द्वेषी वनकर कर्मवन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि उदयागत कर्मजन्य सुख-दुःखका मात्र ज्ञायक है।

दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं—

जैसे कोई अपने पड़ोसमें रहनेवाले व्यक्तिकी सभी गतिविधियोंको जानता है। उसे प्रतीत है कि पड़ोसी जुआ खेलता है, सैकड़ों रुपया प्राप्त करता है पर भयभीत रहता है, तथा दूसरा पड़ोसी सज्जन है, व्यसनी नहीं है अर्थाभावमें है, तथापि प्रसन्न रहता है। दोनोंकी स्थितियोंका वह

जानकार है, तथापि उसे न एक लाभका हर्ष है, न दूसरे पड़ोसीके अर्थाभावके कष्टका वह अनुभव करता है। अपने-अपने कर्मका फल सब भोगते हैं, और भोगेंगे, ऐसा वह जानता है। जुआको वह हानिकर मानता है, तथा दूसरे पड़ोसीकी सज्जनताका समर्थक है। तथापि दोनोंके प्रति समभाव है। जैसा सुख दुःख प्रसन्नता अप्रसन्नताका अनुभव, दोनों पड़ोसी करते हैं, वैसा वह नहीं करता। तथापि ज्ञायक मात्र है। इसी प्रकार अपनी ही सुख दुःख अवस्थामें ज्ञानी हर्ष विषाद न कर, समभावी रहता है—अतः अबन्धक है।

(१५८) **प्रश्न**—ऐसा तो संसारमें देखा ही नहीं जाता कि अपनी सुख दुःख अवस्थामें कोई समता भाव रख सकता है। दृष्टान्त आपका ठीक नहीं है। वह तो पड़ोसीकी बात है। उन पर बीतती है, अपने पर नहीं। पर ये कर्मोदय जन्य सुख दुःख तो स्वयं उस एक व्यक्ति पर बीतते हैं, तब वह समता भावी कैसे रह सकता है?

समाधान—सुख दुःख कर्मोदय जन्य अवस्थाएँ हैं—ये विकारी अवस्थाएँ हैं, नाशवान् हैं, अतः सम्यक्त्वी इन बदलती हुई अवस्थामें आसक्त नहीं होता। वह पर्यायदृष्टिको ओझल कर, अपने अखण्ड आनन्द तथा चैतन्य स्वरूप आत्मा पर दृष्टि रखता है, अतः दुःखी सुखी नहीं होता।

(१५९) **प्रश्न**—एक ही व्यक्ति पर बीतने वाली विविध घटनाओंमें समता भावका दृष्टान्त बताइए?

समाधान—बहुरूपिया नाना वेष स्वयं धरता है। नाटकका पात्र कभी राजा और कभी रंकका वेष रख कर रंगमंच पर आता है। जब जो वेष रखता है, तब उस वेषकी पूरी भूमिका निभाता है, तथापि 'मैं कौन हूँ' उसे नहीं भूलता। इसीसे राजाके वेषमें, यथार्थ रूपमें, उन्मत्त नहीं होता, और रंकके वेषमें, यथार्थ रूपसे, रोता नहीं है, क्योंकि मैं क्या हूँ इसका बोध होनेसे वह दोनों अवस्थाओंमें समभावी है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव, संसारकी विविध दशाओंको, कर्मोदयकी स्थितिमें होनेवाले विविध वेष ही मानता है। द्रव्यदृष्टिसे आत्माका स्वयंका क्या स्वरूप है इसका उसे बोध है। अतः अपने आत्मानुभवनके कारण वह समभावी रहता है, तथा उन कर्मोदयजन्य स्थितियों-में दोनोंसे विरागी रहता है।[१] यह "आत्मज्ञान" तथा कर्मजन्य स्थितियोंमें "विराग" ये दोनों ही संसारसे छुड़ाने वाले हैं, अतः वह अबन्धक हैं। उसका यह कर्मदण्डका भोग, निर्जराका ही कारण है।

(१६०) **प्रश्न**—सुख दुःख हो रहे हैं, और वे मेरे नहीं है ऐसा मानना क्या सच है? यदि नहीं, तो सम्यग्दृष्टि सत्य लोकमें नहीं है, काल्पनिक जगत्में है। सत्यसे इनकार करनेवाला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि सत्य को ही स्वीकार करता है। सुख दुःख मुझमें ही हैं ऐसा जानता है, तथापि वह उनमें भूलता नहीं। मिथ्यादृष्टि ही पर निमित्त जन्य अवस्थाओंको अनुभव कर, उन्हें ही आत्मस्वरूप मान, हर्ष विषाद करता है। वह पर्याय विमूढ़ है, अनात्मज्ञ है, अतः दुःखी है। ज्ञानी आत्मज्ञ है, अतः पर्यायको स्वीकार करके भी उसमें मोहित नहीं होता।

---

१. आगे कलश १३६ में इसकी स्पष्ट व्याख्या है।

(१६१) **प्रश्न**—सम्यक्त्वी जीव रागादिभाव नहीं करता, अतः अवन्धक होनेसे संवरको प्राप्त है, यह तो बात समझमें आई, पर वह पुरातन कर्मकी निर्जरा करने वाला है यह कैसे सिद्ध है ?

समाधान—पूर्ववद्ध कर्म समय-समय पर उदयमें आते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव उनके उदयमें रागी द्वेषी विकारी होता है—यह प्रक्रिया सदासे आ रही है। उदयागत कर्म जीवके रागी वननेका निमित्त है। यदि उस निमित्तको अवलम्बन कर जीव रागी वना तो उदयकी सफलता है। उदयागत कर्म फलदानमें निमित्त वनकर स्वयं आत्मासे पृथक् हो जाता है, अथवा कमरूप पर्याय त्याग अकर्मरूप पर्यायको प्राप्त करता है। इसे ही निर्जरा कहते हैं। सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा ऐसे दो भेद निर्जराके हैं। स्थिति पूर्ण होने पर उदयकालको प्राप्त कर्म जव निर्जरित होता है उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं तथा जो कर्म उदयावस्थाके कालको प्राप्त नहीं हैं, वे तप आदिके कारण असमयमें भी निर्जीर्ण होते हैं इसे उदीरणा कहते हैं। यही अविपाक निर्जरा है।

सम्यक्त्वी जीव उदयागत कर्मको अर्थात् उसके सुख दुःख रूप फलको भोगता है तन्निमित्तभूत पंचेन्द्रियोंके शुभाशुभरूप फलोंको भोगता है। तथापि भोगते हुए भी हर्ष विषादरूप संक्लेश परिणाम नहीं करता, उन्हें अपने स्वरूपसे भिन्न मानता है, अतः अवन्धक अर्थात् संवारक है।

इस संवारक स्थितिमें होने वाली कर्म निर्जरा ही सच्ची निर्जरा है। इस तरह संवरका स्वामी सम्यक्त्वी निर्जरा भी अवश्य करता है।

(१६२) **प्रश्न**—इसका क्या कारण है कि सम्यक्त्वी जीव कर्मोदयजन्य स्थितिमें सुख दुःख भी भोगता है पर हर्ष विषाद नहीं करता। क्या ऐसा कभी सम्भव है ?

समाधान—अवश्य सम्भव है। सम्यक्त्व परिणामके साथ अनन्तानुवन्धी आदि जितनी कषायोंका जिस गुणस्थानमें अभाव होगा उतनी-उतनी विरागता वढ़ेगी। विरागता पंचेन्द्रियोंके विषयोंके प्रति है। विरागीका विषय भोग केवल कर्मदण्डका भोग है, क्योंकि वह उसे चाहता नहीं है।

जैसे किसीको जेलमें (कारागारमें) डाला जाय पर उसे कारागारमें रुचि नहीं है, अतः रागका अभाव है। जेलके प्रति द्वेष भी नहीं है, क्योंकि वह समझदार है। जानता है कि मेरे अपराधका यह फल है, इसे भोग लेना ही श्रेयस्कर है। अथवा किसी धनी व्यक्तिके घर कोई अतिथि आया। उसे सव प्रकार वहाँ सुख सुविधा है। तथापि परघरमें उसे रुचि नहीं है अतः वह उन पराधीन सुखोंको भी हेय मानता है और अवसर पाकर उन्हें छोड़कर अपने घर चला जाता है।

इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव पंचेन्द्रियोंके विषयजन्य सुख दुःखको हेय मानता है, उनमें अनुरक्त नहीं होता। इससे वह कर्मदण्डको अरुचिपूर्वक भोगनेसे नवीन वन्ध नहीं करता और उस कालमें उदयागत कर्म तो निर्जरता ही है, ऐसा स्वभाव है। वह फिर पुनः आत्मामें टिक ही नहीं सकता। अतः संवर पूर्वक निर्जरा सम्यक्त्वीके पाई जाती है।

जैसे विष भक्षण करने वाला मृत्युको प्राप्त होता है। सर्पदंशको प्राप्त व्यक्ति भी मृत्युको प्राप्त होता है। तथापि विषमारक औषधि यदि वह सेवन करे तो विष व्याप्त होने पर भी,

दोनों मृत्युको प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार सम्यक्त्वी जीव विषतुल्य पंचेन्द्रियों के भोग भोगते भी आत्मज्ञान तथा वैराग्यके बलसे विषय विषके विकारको प्राप्त नहीं होता ॥१३४॥

जो अरुचि पूर्वक विषय सेवन करता है वह असेवनकर्त्ता ही है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्, स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्, सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(ना) विरागी पुरुष (**विषयसेवनेऽपि**) पंचेन्द्रियोंके विषयोंके सेवन करने पर भी (**विषयसेवनस्य स्वं फलं**) विषय सेवनका फल जो कर्मबन्ध है, उस फलको (**न अश्नुते**) प्राप्त नहीं होता है। इसका कारण यह है कि वह (**ज्ञानवैभवविरागताबलात्**) अपने आत्मज्ञानके सम्पूर्ण वैभवको लक्ष्यमें रखे है तथा पर द्रव्योंके प्रति जिनका उपभोग करना है उनके प्रति विरागी है अर्थात् रुचिमान नहीं है। इस शक्तिके कारण वह (**सेवकः अपि**) सेवन करते हुए भी (**असौ तत् असेवकः**) उनका सेवन करने वाला नहीं है ॥१३५॥

भावार्थ—सामान्य संसारी जीव कर्मके उदयमें विभाव रूप परिणमन कर, कर्म बंधनको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषकी रुचि अपने आत्मवैभवको प्राप्त करनेकी है, विषय प्राप्ति की नहीं है। विषयोंके प्रति अरुचि है, अतः इस आत्मज्ञानकी रुचि तथा परके प्रति अरुचिके बल पर ही वह संवर तथा निर्जरा करता है। वह यदि परवशतासे कर्मोदयजन्य फलको भोगता भी हो तो भी वह उसका सेवन करने वाला नहीं है। क्योंकि वह उन्हें अरुचिपूर्वक भोगता है ॥१३५॥

(१६३) **प्रश्न**—भोगनेवाला रुचिपूर्वक नहीं भोगता, करनेवाला रुचिपूर्वक नहीं करता, ऐसी बात समझमें नहीं आती। जगत्में ऐसी बात नहीं देखी जाती किन्तु इसके विपरीत ही देखनेमें आती है।

समाधान—ज्ञानी शुभाशुभकर्मका उदय भोगता है वह उसके लिए कर्मका दण्ड है। दण्ड कोई रुचिपूर्वक नहीं भोगता। इसी प्रकार जो कार्य परवश, इच्छाके विरुद्ध, करने पड़ते हैं उन्हें कोई रुचिपूर्वक नहीं करता, किन्तु उसे करना पड़ता है। जैसे किसी व्यापारीकी दुकानपर एक सेवक है, वह उस दुकानका सब काम करता है, पर दुकानका स्वामी न होने से उसके लाभ हानिके फलका भोक्ता नहीं होता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टी कर्मोदयजन्य स्थितिको भोगता है पर उसे उसमें आत्मीय बुद्धि नहीं है, अतः उन विकारोंका स्वामी न होनेसे उनके फलस्वरूप कर्मोंका बन्धन नहीं करता। मिथ्यादृष्टिजीव कर्मोदयजन्य सुख-दुःखमें तथा तत्साधनभूत परिकर में निजत्व बुद्धि द्वारा उनका स्वामी बनता है, अतः तत्फलस्वरूप कर्मबन्ध भी करता है ॥१३५॥

सम्यग्दृष्टिको नियमसे ज्ञान और वैराग्यशक्ति होती है—

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यक्त्वीके (**ज्ञानवैराग्यशक्तिः**) आत्मानुभवनकी तथा परके प्रति विरागकी शक्ति (**नियतं भवति**) निश्चयसे प्राप्त होती है। अतएव (**स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या**) स्वरूप की प्राप्ति तथा अपनेसे भिन्न जो पररूप उनकी मुक्ति अर्थात् त्यागसे (**स्वं वस्तुत्वं**) निजवस्तुको (**कलयितुम्**) प्राप्त करनेके लिए (**स्वं परं च इदं**) स्व तथा पर इनको (**तत्त्वतः व्यतिकरं ज्ञात्वा**) यथार्थमें भिन्न-भिन्न जानकर (**स्वस्मिन् आस्ते**) निजमें ही अपनी स्थितिको बनाता है तथा (**परात् रागयोगात्**) परके निमित्तसे होनेवाली समस्त रागादि परणतिसे (**विरमति**) विरक्त होता है ॥१३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वी जीवको मिथ्यात्व कर्मके उपशमादिसे आत्मानुभवनकी शक्तिरूप सम्यग्दर्शन गुणकी प्राप्ति हुई है तथा आत्मभिन्न पर पदार्थ अनुपादेय है ऐसी श्रद्धाके कारण, परके प्रति विराग हुआ है, अतः ये दोनों ज्ञान-वैराग्य शक्तियाँ उसे नियमसे प्राप्त होती हैं।

यही कारण है कि वह स्वरूपकी प्राप्ति तथा पररूपके त्यागकी शक्तिके द्वारा, अपने स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए, स्व और परका भेद स्पष्टरूपसे जानकर, अपनी शुद्धात्मामें ही निवास करता है तथा कर्मोदयजन्य रागादि विकारोंसे विरक्त होता है।

(१६४) **प्रश्न**—उनसे विरक्त होनेका क्या उपाय है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिको जब कर्मोदयसे पुण्य पापका फलभोग करना पड़ता है तब वह ऐसा विचारता है कि ये कर्मके विपाक हैं तथापि मेरा स्वभाव नहीं हैं। मेरेमें हैं, पर ये परजन्य विकार हैं। मेरा आत्मा अखण्ड चैतन्य आनन्दका पिण्ड है। मैं तो इन सब स्थितियोंका ज्ञान कर रहा हूँ अतः इनका ज्ञायक मात्र हूँ, वही मेरा स्वभाव है।

(१६५) **प्रश्न**—यद्यपि कर्म पुद्गल है तथापि उसके उदयमें जो विकार होते हैं वे आत्मसत्तामें होते हैं। जो अपनी सत्तासे भिन्न नहीं किये जा सकते उन्हें अपने न माननेका क्या अर्थ है ? आप मानो या न मानो—हैं तो वे जीवमें। अतः जीवकी सत्तासे अभिन्न होनेके कारण जीवके ही हैं। पुद्गल द्रव्यमें ये विकारीभाव नहीं पाये जाते, अतः आत्माके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेके कारण आत्मासे ये भिन्न हैं ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं है, काल्पनिक है, असत्य है। और ऐसी असत् कल्पनाको रखने वाला सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी माना जावे यह नितान्त विरुद्ध है। धर्ममें ऐसी बातोंका क्या स्थान है ?

समाधान—इसमें सन्देह नहीं, कि कर्म पुद्गल है, और उस कर्मके उदय कालमें ही जीव रागी द्वेषी आदि विकार भावको प्राप्त करता है। ये विकार जीवकी सत्तामें हैं; पुद्गलमें ये विकार नहीं होते। तथापि पर द्रव्यभूत कर्मोदयके बिना रागादि नहीं होते, अतः ये जीवके स्वभाव नहीं हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है। यह असत् कल्पना नहीं है बल्कि सत्य बात है। परनिमित्त जन्य विकारी भावोंको निज भाव मानना यह असत्कल्पना है। अतः सम्यग्दृष्टि कर्मोदय जन्य विकारी दशामें भी अपने स्वरूपको नहीं भूलता, उसे देखता है। तथा परकी भी यथार्थस्थितिको देखता है। अतः वह अवश्य ही सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी है।

(१६६) **प्रश्न**—इस प्रकार जान लेनेसे, कि रागादि मेरे स्वभाव नहीं हैं क्या रागादि आत्मासे दूर हो जाते हैं। मेरे घरमें सर्प है, इतना जान लेनेसे क्या सर्पका खतरा दूर हो जाता है ?

समाधान—नहीं, जान लेनेमात्रसे न खतरा दूर होता है, और न रागादि दूर हो जाते

हैं। किन्तु यह जानकर वह अपनेमें रागादिभावोंको हेय समझकर अपनेसे दूर करता है, और अपने ज्ञानस्वभावको न छोड़ूँ, विकारी न बनूँ, इसका प्रयत्न करता है, तब रागादिसे दूर हो जाता है।

जान लेनेमात्रसे आत्मस्थिति प्राप्त नहीं होती, तो भी आत्मस्थिति ज्ञाता-पुरुषकी ही होगी। अज्ञानी तो परके साथ अपनी सत्ताका मेल मानकर उसे दूर करनेकी चेष्टा ही नहीं करता, अतः वह विकारका त्यागी भी नहीं बन सकता। यहाँ ज्ञान वैराग्य दोनों शक्तियोंके उपयोगकी बात है सिर्फ़ ज्ञान शक्तिपर ही जोर नहीं दिया ॥१३६॥

सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ऐसा सुनकर जो उन्मत्त हो जाता है, आत्मा-अनात्माका भेदज्ञानी नहीं होता तो वह सम्यक्त्वशून्य मात्र अभिमानी है ऐसा कहते हैं—

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्यात्
इत्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापाः
आत्मानात्मावगमविरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

अन्वयार्थ—(**अयम् अहम्**) यह मैं (**स्वयं सम्यग्दृष्टिः**) स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ। अतएव (**मे जातु बन्धः न स्यात्**) मेरे कर्मबन्ध कदाचित् भी नहीं होता (**इति**) ऐसा विचारकर (**रागिणः**) रागसे पगे मिथ्यादृष्टि जीव (**उत्तानोत्पुलकवदना**) ऊपर दृस्टि उठाकर तथा मुँह फैलाकर (**अपि**) भी (**आचरन्तु**) स्वच्छन्द आचरण करें चाहे (**समितिपरतां आलम्बन्तां**) पंचसमिति आदि रूप क्रियाओंका आलम्बन करें, तथापि (**आत्मानात्मावगमविरहात्**) आत्मा तथा अनात्माके भेदविज्ञानके अभावमें (**सम्यक्त्वरिक्ताः**) वे सम्यग्दर्शनसे हीन ही हैं। (**अतः अद्यापि पापाः**) इसलिये इस अवस्थामें भी पापी ही हैं ॥१३७॥

भावार्थ—अध्यात्मशास्त्रमें जो ऊपर कथन किया गया है कि 'सम्यग्दृष्टि जीव पंचेन्द्रिय-भोगके भोगते हुए भी कर्मबन्धको प्राप्त नहीं होता' आगमके उक्त वचनोंके पूर्ण तात्पर्यको न समझनेवाले बहुतसे मिथ्यादृष्टि रागी पुरुष अपनेको 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ' ऐसे ऊँचा मुखकर उद्घोषित करते हैं, तथा नाना प्रकार विषय भोगोंको नीति-अनीतिका विचार न करते हुए भी भोगते हैं, और "सम्यग्दृष्टि विषय भोगते भी बन्धक नहीं हैं"-ऐसा आगम है, ऐसी व्याख्या करते हुए अपनेको कर्मबन्धसे रहित मानते हैं।

कोई लोग किंचित् बाह्य व्रताचरणरूप प्रवर्तन करते हैं और अपनेको सम्यग्दृष्टि व व्रती मानकर रागरूप आचरण करते हैं। कोई मनुष्य महाव्रत तथा समिति आदि मुनिपद योग्य व्रतोंका भी आलम्बन करते हैं तथापि आत्मा व स्वरूपके भेदको यथार्थमें न जानते हुए भी, अपने को सम्यग्दृष्टि व मुनि मानकर बन्धरहित मान बैठते हैं।

आचार्य कहते हैं कि जिनको आत्माकी भावना नहीं है, कर्म-नोकर्म-भावकर्मसे पृथक् आत्माका अनुभव नहीं है, वे चाहे अपनेको सम्यक्त्वी कहें, व्रती श्रावक कहें, या अपनेको महाव्रती साधु कहें, पर वे सम्यक्त्वसे भी शून्य हैं। पापमुक्त ही नहीं हैं, किन्तु पापका ही संचय करते हैं।

(१६७) **प्रश्न**—आत्मा अनात्माका भेद तो जिनधर्मसे वहिर्मुख अनेक सम्प्रदायके लोग भी जानते हैं, तथा कहते हैं। अनपढ़ भी मृत ममुष्यको तथा जीवित मनुष्यको देखकर भेद कर लेता है। वह जानता है कि मृतमें आत्मा नहीं है, जीवितमें आत्मा है। तव ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि कहलाए। मिथ्यादृष्टि तो कोई अज्ञानी विरले ही होंगे।

समाधान—ऐसा नहीं है, सम्यग्दृष्टि ही कोई ज्ञानी विरले मनुष्य हैं। सर्वसाधारण जन आत्मा और शरीरका भेद जानकर भी आत्मा स्वयं क्या है? क्या स्वरूप है? क्या लक्षण है? यह नहीं जानते। अत: आत्मस्वरूपकी सच्ची जानकारी जवतक न हो तवतक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

(१६८) **प्रश्न**—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो भी जैसा आत्माका आगममें स्वरूप वर्णित है वैसा तो प्रत्येक जैनागमका अभ्यासी जानता है, तव भी आप उन सवको सम्यग्दृष्टि नहीं मानते?

समाधान—आगमके कथनानुसार आत्माके स्वरूपका वर्णन आगमाभ्यासी कर सकता है। वह यह तो जानता है कि आगममें आत्माका यह स्वरूप लिखा है, तथा वैसा कहता भी है। पर आत्माके उस स्वरूपका अनुभवी नहीं है।

"आत्माका ऐसा स्वरूप लिखा है" ऐसा जाननेमें, तथा "आत्माका यह स्वरूप है" ऐसा अनुभव करनेमें महान् अन्तर है। जैसे मिश्री मीठी होती है इस सत्य कथनमें तथा मिश्री खाकर उसके स्वादके सत्यानुभवनमें महान् अन्तर है। उतना ही अन्तर मिथ्यादृष्टिके आगमोक्त कथनमें तथा सम्यग्दृष्टिके आत्मानुभवनमें भी है।

(१६९) **प्रश्न**—यदि कोई अपनेको सम्यग्दृष्टि कहता है और अपनेको इसी आधारपर कर्मवन्ध रहित मानता है, तो आपको इर्ष्या क्यों है?

समाधान—ईर्ष्या नहीं है, उसपर दया है। दया इसलिए आती है कि वह वेचारा भ्रांतिसे अपनेको सम्यक्त्वी मान, कर्मका वन्धन करते हुए भी कर्मरहित अपनेको मानकर, मोक्षमार्गी मान वैठा है, पर मोक्षमार्गसे वहुत दूर है। यदि उसे सही आत्मज्ञान हो जाय तो उसका उद्धार हो जाय। इसलिए उसे सम्बोधित करते हैं।

(१७०) **प्रश्न**—कर्मवन्ध करते हुए, मिथ्यादृष्टि रहते हुए भी, यदि अपनेको सम्यक्त्वी तथा वन्धरहित माने तो इसमें आपकी क्या हानि है?

समाधान—हमारी कोई हानि नहीं है, तथापि उसकी हानि तो सुनिश्चित है। अतः उसे सावधान करनेके लिए ऐसा उपदेश है।

(१७१) **प्रश्न**—जो व्रत पालते हैं, समिति पालते हैं, वे तो सदाचारी हैं। आप उनके व्रतोंकी सराहना न करके उन्हें पापी कहकर क्यों स्वयं पाप करते हैं!

समाधान—सदाचारकी हम निन्दा नहीं करते, किन्तु वह सदाचार मोक्षमार्गी वन जायं इसलिए उसमें जो सम्यक्त्वभावकी रिक्तता है, उसपर उस व्यक्तिका ध्यान जावे, और मुँह फुलाकर अपनेको झूठमूठ ही मोक्षमार्गी मानकर न ठगाया जावे, इसलिए सत्यका प्रकाशन करते हैं।

(१७२) **प्रश्न**—यहाँ तो सम्यक्त्वरहित होनेपर सदाचारी महाव्रती मुनिको "पापी" कह दिया। यह तो स्वयंमें घोर पाप है, क्योंकि "महाव्रतादि शुभकर्म हैं, इनसे पुण्यका वन्ध होता है",

ऐसा आगम है। इन्हें अशुभकर्म या पाप तो किसी भी ग्रन्थमें नहीं लिखा। मिथ्यादृष्टि जीव भी तपस्याकर जिनदीक्षासे नवग्रैवेयक तक जानेका पुण्यार्जन करते हैं, तब आप पुण्यको पाप बनाकर मिथ्यामार्गका प्रचार स्वयं क्यों करते हैं ?

समाधान—आचार्य मिथ्यामार्गका खण्डनकर सम्यक्मार्गका ही प्रचार यहाँ करते हैं। वस्तुतः सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। जब तक वह महापाप है तब तक उसके साथ की जानेवाली क्रियाएँ भी पाप ही हैं ? भले ही शुभयोग होनेसे पुण्यका बन्ध कराती हैं, उनसे स्वर्गादिगति मिलती है, अतः व्यवहारनयसे हम भी उन्हें पुण्यार्जन करनेवाला कहते हैं। तथापि निश्चयसे मोक्षमार्ग तो पुण्य-पाप दोनोंसे ऊपर है। अतः उसकी दृष्टिसे दोनों बन्धनरूप होनेसे पाप ही हैं, इस कारण मिथ्यात्वी होने से पापी कहा है।[1]

सम्यग्दृष्टि न हो किन्तु सम्यग्दृष्टिपनेका अपनेमें मात्र अभिमान करे, या अपनेको सम्यग्दृष्टि माने, तथा इसी प्रकार महाव्रती न हो, पर अपनेमें महाव्रतित्वका अभिमान करें या अपने को महाव्रती मानें, तो ये दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं। अतः मिथ्या होनेसे पापस्वरूप हैं। मिथ्यात्वस्वरूप होनेसे सम्यक्त्व शून्य हैं ॥१३७॥

अचल चैतन्य धातुकी मूर्ति आत्माका निजस्वरूप ही उसका यथार्थ पद है, यह कहते हैं—

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(**भो अन्धाः**) अरे मिथ्यात्व तिमिरसे वस्तुस्वरूपको न देखनेवाले आत्मानुभवन शून्य जीवो, (**रागिणः**) तुम परपदार्थमें रागी हुए (**आसंसारात्**) अनादिकालीन संसारसे (**प्रतिपदं**) पद-पदपर (**नित्यमत्ताः**) सदा उन्मत बने (**यस्मिन् सुप्ताः**) जिस चतुर्गति संसारी-पर्यायमें लीन हो (**तत् अपदं अपदं**) वह तुम्हारा स्थान नहीं है, नहीं है, (**विबुद्धचध्वं**) अतः जागो-जागो। (**इतः एत एत**) यहाँ आओ, यहाँ आओ, (**इदं इदं पदम्**) तुम्हारा पद यह है, यह है, (**यत्र चैतन्यधातुः**) जहाँ चैतन्यधातु (**शुद्धः शुद्धः**) द्रव्य भावरूप परमशुद्ध (**स्वरसभरतः स्थायिभावत्वम् एति**) अपने चैतन्यरससे भरी हुई स्थायीपनेको प्राप्त होती है। ॥१३८॥

भावार्थ—आचार्य संसारी जीवकी विपरीतदृष्टि पर करुणाकर कहते हैं कि भाई तुम्हें

---

१. यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणित जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति ? कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते ॥७४॥

पुण्य भी दुखका बीज है। तृष्णा भोग को जन्म देती है। भोगसे पापबंध होता है। पुण्योदय में राग की सेना खड़ी हो जाती है, जो पापका ही बीज है। —प्रवचनसार अध्याय २, गाथा ७४

रागमें प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद, आश्रय भेदसे किए गए हैं। सभी राग मोहनीय कर्मके भेद हैं और सदैव मात्र बंधके ही कारण हैं। मोहको पाप प्रकृतिमें गिना गया है अतः वे राग पाप प्रकृति के ही वंशज हैं, तथापि चारित्रके सम्पर्कमें होने वाला प्रशस्तराग या शुभ परिणाम, परम्परासे मोक्ष का साधक भी कहा गया है। —प्रवचनसार अध्याय १, गाथा ११ की उत्थानिका

आत्मदृष्टि प्राप्त नहीं है। उसके अनुभवनसे शून्य हो। तुम अनादिकालसे ही पर्याय दृष्टिमें ही विमूढ़ हो। नर-नारकादि पर्याय पाईं, उतना मात्र अपना स्वरूप जानकर उसीमें मगन हो। उसी में रागी बने हो। यह स्थान यथार्थमें नहीं है।

तुम्हें अपने स्थानकी प्राप्ति करनी है। तुम्हारा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य मूर्ति है। उसमें रागादिकी कालिमा नहीं है, न उसमें नर-नारकादि विकारी पर्यायें हैं, वह तो चैतन्य धातुका बना हुआ शुद्ध चैतन्य रससे भरा हुआ है। इस तरफ देखो यह तुम्हारा स्थान है।

जैसे कोई प्राणी मदिरा पीकर अपना घर, अपना पद, व अपना स्थान—भूलकर सड़क पर लुढ़क कर उन्मत्त हुआ बकवास करता था। उसे अन्य समझदार पुरुषने बुलाकर उठाया, कहा हे भ्रात ! तुम मदिराके नशेमें सुध-बुधसे रहित होकर इस खराब स्थानमें पड़े हो, तुम्हारा तो पद ऐसा नहीं है; तुम बड़े उच्च कुलीन समझदार व्यक्ति हो, कहाँ पड़े हो, मोहको छोड़कर जागो, अपने स्वरूपको याद करो। तुम्हारा घर उन्नत महल है, उठो वहाँ देखो, वह है तुम्हारा घर, वहाँ सदा आरामसे रहो। जैसे वह व्यक्ति अपनी सुध-बुध ठीककर उस निम्न स्थानका परित्याग कर अपने घरमें जाता है, इसी प्रकार आचार्य अनादिकालसे मोह मदिराका पान कर अपने निज स्वरूपको भूले हुए संसारी प्राणियोंको संबोधित करते हैं, तथा बताते हैं कि—पंचेन्द्रिय विषय तो पर पदार्थ हैं, इनमें मत्त होकर तुम अपना अहित करते हुए दुःखी हो रहे हो। इस मोहके नशे को त्याग कर जागो ! देखो ! कहाँ हो ? तुम्हारा यथार्थ स्वरूप क्या है ? कैसा सुन्दर है ? उसे प्राप्त करो तब सदा सुखी रहोगे ॥१३८॥

एक ही पद निरापद है—

एकमेव हि तत् स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(विपदाम् अपदम्) जो सम्पूर्ण विपत्तियोंसे रहित हैं ऐसा **(एकमेव हि पदम् तत् स्वाद्यम्)** उस शुद्धचैतन्य स्वरूप मात्र अपने पदका आस्वादन करना चाहिए। वह ऐसा श्रेष्ठतम पद है कि **(यत्पुरः)** जिसके सामने **(अन्यानि पदानि)** सांसारिक सम्पूर्ण कर्मोपाधिजन्य पद **(अपदानि एव भासन्ते)** "स्वयंमें अपद ही हैं"। मेरे योग्य स्थान नहीं हैं, ऐसा स्वयं भासित होने लगता है ॥१३९॥

भावार्थ—आत्मा उपयोग लक्षणवाला है। सदाकाल ज्ञानमय है, कदाचित् भी उससे भिन्न नहीं है। ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मके निमित्तसे, तथा मोह (मिथ्यात्व) के उदयसे, ज्ञानमें अल्पता तथा विपरीतता आ सकती है, तथापि ज्ञानस्वभावका नाश कभी नहीं होता।

मिथ्यात्वके अभावमें जीव परमें मोहित नहीं होता। स्व-परका भेदविज्ञान उसे हो जाता है, अतः वह वस्तुतत्त्वका ज्ञाता है। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी जान लेनेपर परमें मोहित हो उसका आलम्बन नहीं करता। अतएव सम्यग्ज्ञानी अपने निजस्वरूपको जानकर उसमें ही रमता है, वहाँ कोई आकुलता नहीं है।

आत्मपदमें स्थित जीव जानता है कि—परपदमें लीन होना ही विपत्तिका कारण है। वे मेरे निजपद नहीं हैं। जैसे पर घरमें प्रवेश करनेवाला नाना आपत्तियोंका भाजन बनता है, किन्तु

अपना घर सब आकुलताओंसे परे है। इसी प्रकार निज आत्माके चैतन्यादि गुणोंका आश्रय निज का घर है—निजका पद है, उसमें कोई आकुलता या कष्ट नहीं है। उसे छोड़कर अन्य पुद्गल सम्बन्ध जनित, या जीवान्तर सम्बन्ध निमित्त जनित, विकारी भाव, जीवके स्वभाव विरुद्ध होनेसे विपत्तिके ही मूल हैं। अतः परपद छोड़कर निज पदका ही अनुभव करो ॥१३९॥

ज्ञानके विकल्प, ज्ञेयके कारणवश हैं, अतः उन विकल्पोंसे भी दूर, सामान्य ज्ञान ही उपादेय है—

एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयत् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(**एषः आत्मा**) यह सम्यग्ज्ञानी पुरुष, (**एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्**) अपना एक मात्र भाव जो ज्ञायक भाव, तन्मात्रसे उत्पन्न जो महास्वाद, उसे प्राप्त करता हुआ तथा, (**स्वां वस्तुवृत्तिम् विदन्**) अपनी आत्माकी जो शुद्ध परिणमन रूप पर्याय; उसे अनुभव करता हुआ; (**द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः**) कर्म-नोकर्मके द्वन्द्वमें होनेवाले विकारी स्वादको सहन न करनेवाला, साथ ही (**आत्मात्मानुभवानुभावविवशः**) आत्माका अनुभव उसके प्रभावके वशको प्राप्त हुआ (**विशेषोदयं भ्रश्यत्**) ज्ञानमें होनेवाले जो विशेष अर्थात् विकल्प उनको नष्ट करता हुआ, (**सामान्यं कलयत्**) तथा सामान्य ज्ञानकी सत्ताको स्वीकारता हुआ, (**सकलज्ञानम् एकतां नयति**) सम्पूर्ण ज्ञानको केवलज्ञान सामान्यके रूपमें एकताको प्राप्त कराता है। अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानका अनुभव करता है ॥१४०॥

भावार्थ—विकल्प भेदक हैं। ज्ञानमें ज्ञेयके निमित्तसे नाना प्रकारके विकल्प होते हैं। मतिज्ञान श्रुतज्ञानादिक भेद भी ज्ञानके विकल्प ही हैं। उन विकल्पोंसे भिन्न, एक सामान्य ज्ञान सत्तावान्, निर्विकल्प अनुभव ज्ञानी करता है। यह ज्ञान कर्मोदय संसर्गसे जनित जो विकार रूप नाना विकल्प, उनसे तो भिन्न है ही, ज्ञेयके विकल्पोंसे भी भिन्न है। केवल निज वृत्ति में मगन है। वह आत्मा अपने आत्मानुभवनकी महिमाके प्रभावसे स्ववश होकर निर्विकल्प आत्माका अनुभवन करता है। अर्थात् उसीके स्वादमें लीन होकर फिर वहाँसे चिगता नहीं है ॥१४०॥

शुद्ध चैतन्य ज्ञान कल्लोलोंका स्वयं रत्नाकर है—

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयः
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवान् एकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

अन्वयार्थ—(**यदिमाः अच्छाच्छाः संवेदनव्यक्तयः स्वयं उच्छलन्ति**) जिस चैतन्य समुद्रमें ये अत्यन्त शुद्ध-शुद्ध ज्ञान संवेदनकी लहरें स्वयं उछाल ले रही हैं, तथा जो (**निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव**) समस्त द्रव्य गुण पर्यायोंके समूहके रस की अतिशयता का अनुभवन

कर उन्मत्त बन रही हैं, (यः एकः अपि अनेकीभवन्) ऐसा वह चैतन्य रत्नाकर द्रव्य दृष्टिसे एक हो कर भी, पर्याय दृष्टिसे अनेक रूप है। (यस्य अभिन्नरसः) शुद्ध ज्ञान मात्र ही जिसका एक रस है, (स एषः) ऐसा यह चैतन्य स्वरूप आत्मा, जिसे उसकी पवित्रताके कारण (भगवान्) भगवान् भी कहते हैं, अपनी (उत्कलिकाभिः) नाना ज्ञान तरंगोंसे वह (अद्भुतनिधिः) आश्चर्य जनक नाना गुणरत्नोंकी निधि स्वरूप (चैतन्यरत्नाकरः) चैतन्य समुद्र (वल्गति) गरज रहा है। उल्लसित हो रहा है ॥१४१॥

भावार्थ—आत्मानुभवकी उपमा एक रत्नोंकी निधि स्वरूप समुद्रसे दी है। जैसे समुद्रमें शुद्ध जलकी उन्नत तरंगें स्वयंमें स्वयंसे उठती हैं। तरंगोंने अपनी उछालसे उसकी महत्ताके रससे आनन्दकी उन्मत्तता प्राप्त की है,—तथा जो एक रस है, तथापि अपनी तरंगोंके उछालसे नाना रूप धारण करता है, अद्भुत आश्चर्यकारी है, ऐसा समुद्र अपनी महत्ताके कारण गरजता है। इसी प्रकार यह भगवान् शुद्धात्मा भी एक रत्नाकर है, जो अपनी विमल ज्ञानकी तरंगोंसे स्वयं उछल रहा है। इस उछालमें उसके नाना गुणोंकी स्थिति स्वयं दिखाई दे रही है। संसारके समस्त ज्ञेयाकारोंको अपने भीतर लिए हुए वे ज्ञान तरंगें स्वयं अपनेमें उन्नत बन रही हैं। वह एक ज्ञान रससे एकाकार होकर भी ज्ञानकी स्वच्छ पर्यायोंसे नाना रूप धारण करता है। ऐसा वह आश्चर्यकारी गुणोंका खजाना चैतन्य समुद्र, अपनी ज्ञान तरंगोंसे गरज रहा है। उल्लासको प्राप्त है ॥१४१॥

स्वसंवेद्यमान ज्ञान ही मोक्ष है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(परे) मिथ्यादृष्टि जीव (स्वयमेव दुष्करतरैः) स्वयं कठिनतर ऐसे (मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः) ये मोक्षके कारण हैं ऐसा मान कर, नाना प्रकारके शुभोपयोग युक्त पुण्य कर्मोंके करनेसे (क्लिश्यन्ताम्) क्लेश उठाते हैं। अथवा (महाव्रततपोभारेण भग्नाः) पञ्चमहाव्रत तथा नाना प्रकारके उपवासादि तपश्चरणोंके भार द्वारा टूटे हुए (चिरम् क्लिश्यन्ताम्) जीवनके बहुत काल पर्यन्त क्लेश उठाते हैं, सो उठाओ। तथापि ज्ञानके अभावमें मिथ्यादृष्टिको कुछ लाभ नहीं, वह भार ही है। वस्तुतः (स्वयं संवेद्यमानं) स्वयं स्वानुभवमें आया (निरामयपदं) समस्त संक्लेशोंसे रहित (इदं ज्ञानं) यह आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन (साक्षान्मोक्ष) प्रत्यक्षमें ही मोक्ष है। मिथ्या-दृष्टिजन (ज्ञानगुणं विना) सम्यग्ज्ञानके विना उस अनुभवको (कथमपि प्राप्तुं) किसी प्रकार भी प्राप्त करनेमें (न हि क्षमन्ते) समर्थ नहीं हो सकते ॥१४२॥

भावार्थ—जिन्हें आत्मदर्शन नहीं हुआ वे आत्मदृष्टि रहित मिथ्यादृष्टि जीव हैं। इस अभिप्रायसे कि इन क्रियाओं से मोक्ष होगा, वे नाना प्रकारके व्रत और तपोंका आचरण करते हैं। चूंकि मोक्षार्थी साधुजन इस-इस प्रकारके महाव्रतादि व्रत, तथा घोर तप करते हैं, अतः ये भी विविध तपस्याओंका क्लेश उठाते हैं। ऐसा घोर तप करते हैं कि शरीर टूट जाता है। आचार्य कहते हैं कि उनका यह सब कार्य भार मात्र है। इससे मोक्षका मार्ग नहीं खुलता।

एकमात्र सम्यग्दर्शन; जिसे आत्मदर्शन कहना चाहिए, जो स्वानुभवरूप है, समस्त क्लेशोंसे रहित आनन्दकी भूमिका है, उससे मोक्षमार्ग खुलता है। सम्यग्दृष्टिके महाव्रतादि या उपवासादि तप उसे आनन्ददायक होते हैं। ऐसा स्वानुभव बिना ज्ञानाश्रयके नहीं होता, चाहे कितना भी तप करो। सम्पूर्ण महिमा सम्यग्दर्शनकी है। अतः भेदज्ञानको सर्वप्रथम प्रयत्नसे प्राप्त करना चाहिए।

(१७३) **प्रश्न**—दुष्कर तपको तथा महाव्रतादिको भाररूप क्यों कहा? माना कि सम्यक्त्व-रहित वे मोक्षके मार्ग में नहीं हैं, तथापि पापको तो भाररूप कहना उपयुक्त है। परन्तु पापके परि-त्यागरूप व्रतादिको भाररूप कहना क्या उपयुक्त है?

समाधान—मोक्षमार्गके लिए पुण्यरूप तथा पापरूप क्रियाएँ दोनों भाररूप हैं। क्योंकि पुण्य-पाप दोनों कर्म हैं जो आत्मस्वरूप नहीं हैं। जो निज वस्तु नहीं है वह कितनी भी उत्तम हो भार ही है।

जैसे जो बोझा ढोता है ऐसा कोई मजदूर हो। उसके सिर पर मिट्टी लादी जाय तो भी उसे बोझ ढोना है, अथवा शक्कर लादी जाय तो भी बोझ ही है। उसका बोझ जबतक उतर न जाय तबतक उसे सुख नहीं है। पाप-पुण्य कर्म भी इसी तरह शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्माके लिए बोझरूप ही हैं, अतः उन्हें भार कहनेमें आया है।

(१७४) **प्रश्न**—महाव्रतादि पालनेवाले अपनेमें आनन्दित रहते हैं फिर उन्हें भार और क्लेशकारी शब्दोंमें क्यों कहा है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि जीवको आत्महित की दृष्टि प्राप्त है अतः महाव्रतादिके पालनमें संसारके पापोंसे मुक्ति मानकर आनन्दित होता है। मिथ्यादृष्टिकी दृष्टि पुण्यके बन्धकी दृष्टि है। एक ही क्रियामें एक मुक्तिमार्गका पथिक है, और दूसरा बन्धमार्गका पथिक है, अतः उसे भग्न और क्लेशी कहा है।

(१७५) **प्रश्न**—दृष्टि बन्ध पर हो, या मुक्ति पर हो। होता तो दोनोंको पुण्य बन्ध ही है। महाव्रतादि रूप परिणामोंसे पुण्यका संचय ही तो होता है तब दोनोंकी स्थितिमें क्या अन्तर है?

समाधान—महान् अन्तर है। सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्ध और पुण्यबन्धके फलको उपादेय नहीं मानता, जब कि मिथ्यादृष्टि उसे भी उपादेय मानता है। अतः दोनोंका अन्तर स्पष्ट है।

(१७६) **प्रश्न**—यदि मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यबन्धकारक व्रतादिके पालनमें आनन्द मानता है, तो वह न भग्न है, न संक्लेशी है, बल्कि उसे हेय माननेवाले सम्यग्दृष्टिको ही क्लेश है, और वही भग्न है, क्योंकि उसे वह करना पड़ता है जिसे वह हेय मानकर करना नहीं चाहता है?

समाधान—बन्ध और बन्धके फलमें आनन्द मानना ही तो भग्नता है, मूर्छा है, वही क्लेश है। जो उसमें आनन्द मानेगा वह उस बन्धके फलोपभोगसे पुनः कर्मका ही बन्ध करेगा, जिसका उत्तरफल नरकादि दुःख है। अतः मिथ्यादृष्टिका आनन्द उदर्कमें कष्टकारक ही है।

सम्यग्दृष्टि बन्धसे मुक्त होना चाहता है। अतः बन्धनको क्लेशकारक मानकर उससे छूटनेके उपाय स्वरूप आत्मानुभवन रूप जो भेदविज्ञान, उसमें आनन्द मानता है। उसका फल पुण्य-पाप बन्धनसे मुक्ति ही है। अतः वह न भग्न है, न क्लेशी है। किन्तु उसकी यह तपस्या उसे आनन्ददायिनी है। उसपर दृष्टि रखकर वह तपक्लेशमें भी आनन्दित है।

(१७७) **प्रश्न**—मिथ्यामत निरूपित तप करनेवालोंको, जैसे काँटोंमें शयन करना, ऊर्ध्व मुख खड़े रहना, एक पैर खड़े रहना, पञ्चाग्नि तप तपना, ऊर्ध्वबाहु खड़े रहना आदि, इस प्रकारके मिथ्या तप करनेवालोंको, विपरीत फल प्राप्ति कहना उपयुक्त है। परन्तु जैनशास्त्र प्रणीत महाव्रतोंका पालन, समिति गुप्तिका पालन, अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करनेवाले दिगम्बर जैन-साधुओंको भग्न कहना आचार्य अमृतचन्द्रको उचित नहीं था। वे तो स्वयं महाव्रती थे, तब महाव्रतियोंकी निन्दा इस प्रकार करना कहाँ तक उचित है?

समाधान—आचार्य अमृतचन्द्रने महाव्रतादि धारण करनेवाले दिगम्बर जैनसाधुओंकी निन्दा नहीं की, किन्तु अज्ञानभाव पूर्वक किये जानेवाले उक्त कार्योंकी अनुपादेयताका प्रतिपादन किया है। वे दिगम्बर जैन साधुओंको सही स्थितिमें लाना चाहते हैं। अतएव वे कहते हैं कि आत्मज्ञान रहित तपस्या मोक्षमार्गी तप नहीं है। उसकी भूमिकामें आत्मज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जैसे ००००० पाँच बिन्दुओंका समूह स्वयंमें किसी गणनाका प्रतिपादन नहीं करता, उनका योग भी शून्य है। परन्तु उसके पूर्व यदि एकका अंक आ जाय तो वह १००००० एक लाख संख्या बन जाती है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित व्रत तप आदि मोक्षमार्गमें उपयोगी नहीं हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन सहित वे अल्पमात्रामें भी हों तो भी कार्यकारी हैं, ऐसा आचार्यका अभिप्राय है।

(१७८) **प्रश्न**—मिथ्या तप करनेवाले मिथ्यादृष्टि बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं ऐसा शास्त्रोंका लेख है, अतः मिथ्या तप भी बेकार नहीं जाता। आप जिनमत कथित महाव्रतादिको भी बेकार कहते हैं, ऐसी बात आगमानुमोदित नहीं जान पड़ती?

समाधान—कृति कोई भी बेकार नहीं होती। उसका फल कुछ न कुछ अवश्य होता है। इसमें विवाद नहीं है। यहाँ हमें यह देखना है कि उसका फल क्या होता है। यहाँ आचार्य मोक्षमार्गमें उसकी अनुपयुक्तता बता रहे हैं। स्वर्ग प्राप्तिकी दृष्टिसे तो जिनमतोक्त दिगम्बर जैनसाधु, आत्मज्ञान रहित द्रव्यलिंगी हो, तो सोलह स्वर्गसे ऊपर नवग्रैवेयकमें भी उत्पन्न होता है। साथ ही सप्तम नरकमें घोर वेदना भोगनेवाले नारकीको भी कदाचित् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। वर्तमान संसारी दशामें ग्रैवेयकवासी बहुत उत्तम पर्यायमें है, और सप्तम नरकका नारकी हीन पर्यायमें है। तथापि मोक्षमार्गकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सम्यग्दृष्टि सप्तमनरकका नारकी मोक्षमार्गी है, प्रशंसनीय है, किन्तु मिथ्यादृष्टि नवग्रैवेयकवासी देव भी संसारमार्गी है। वह प्रशंसा योग्य नहीं है। विवक्षावशात् यह सब कथन है, सो नयविवक्षाको समझकर वस्तुका निर्णय करना चाहिए।

यहाँ जो महाव्रतादि पालन करनेवालोंको भग्न कहा है, वह आचार्यका पक्षपात रहित मोक्षमार्गका सही प्रतिपादन करना है। मिथ्यादृष्टि जीव चाहे मिथ्यामतके अनुसार चले, चाहे जैनी तपस्या करे, दोनोंमें कोई अन्तर-मोक्षमार्गकी दृष्टिसे नहीं है। ऐसा आचार्यश्रीका कथन है।

(१७९) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन निश्चयसे है या नहीं, इसकी कोई परीक्षा तो है नहीं, पर चारित्र मिथ्या है या सम्यक्, इसकी तो परीक्षा हो जाती है।

समाधान—ऐसा नहीं है, जब सम्यक्त्वकी उपस्थिति न हो तो वह चारित्र आगमोक्त पद्धतिसे भी पाला जाय तो भी वह सम्यक्चारित्र नहीं है। यही तो आचार्य पक्षपातरहित भावसे प्रतिपादन करते हैं। उनकी निष्पक्ष व्याख्या पर आपका ध्यान जाना चाहिए।

जो केवल बाहरी चारित्रमें लीन हैं, तथा स्वयं भेद-विज्ञानसे रहित हैं, वे मोक्षमार्गी नहीं

हैं। श्री दौलतरामजी अध्यात्मके रसिक थे, उन्होंने छहढालामें इसे मिथ्याचारित्र ही लिखा है—

आतम अनातमके ज्ञानहीन, जे-जे करनी तन करन छीन।
ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित पंथ लाग॥

सारांश यह कि जिन्हें आत्मा और अनात्माका ज्ञान नहीं है उन्हें भेदविज्ञान नहीं है, जिन्हें भेदविज्ञान नहीं है—उनकी समस्त क्रियाएँ केवल शरीर शोषण की हैं। मिथ्याचारित्र हैं। अतः मिथ्याचारित्रसे अपनेको मोक्षमार्गी माननेका अहंकार त्यागकर, आत्महितके मार्गमें लगना चाहिए।

जैसे केवल अध्यात्म चर्चा करने मात्रसे अपनेको सम्यग्दृष्टि माननेवाले अहंकारी मोक्ष-मार्गसे दूर हैं, इसी प्रकार भेदज्ञान रहित महाव्रतादिके अहंकारी भी मोक्षमार्गसे दूर हैं। सम्यक्त्व सहित चारित्र ही मोक्षमार्गमें कार्यकारी है।

(१८०) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन तो भावात्मक है, पर चारित्र क्रियात्मक है। भावकी पहिचान तो स्वयंकी स्वयंको नहीं होती, पर क्रियाकी परीक्षा तो अपनी अपनेको भी होती है और दूसरेको भी होती है। यही कारण है कि चारित्रधारीकी क्रियामें थोड़ी भी त्रुटि देखी जाय तो वह निन्दाका पात्र बन जाता है, पर सम्यग्दर्शनका अहंकार रखनेवाले अचारित्री स्वयंको सम्यग्दृष्टि कहनेका डंका पीट देते हैं, और समाजमें ऊँचा मस्तक करके चलते हैं, तथा चारित्रके तिरस्कारमें ही अपने सम्यक्त्वकी महिमाका गान करते हैं?

समाधान—आचार्यश्री तो वस्तुतत्त्वकी यथार्थ व्याख्या करते हैं। उसका यदि कोई अहं-कारी दुरुपयोग करे तो वह स्वयं नरक निगोदका पात्र बनेगा। झूठा अहंकार करनेसे अथवा व्रतियोंकी निन्दा या तिरस्कार करनेसे न कोई सम्यग्दृष्टि होगा, और न मोक्षमार्गी होगा।

इसी प्रकार केवल व्रतादिकोंको सदोष पालन करनेपर भी अपनेको व्रती या महाव्रती मानने-वाले सम्यक्त्वसे रहित चारित्रके अहंकारी भी, न चारित्रधारी हैं और न मोक्षमार्गी हैं।

मोक्षमार्गमें स्थित वे हैं, जो सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी हैं। जिन्हें सम्यग्चारित्रके पालन करनेकी चटपटी है। जो अचारित्र दशामें अपनी हीनता स्वीकार करते हैं। चारित्रकी महिमाको जानते व मानते हैं। ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी हैं। तथा भेदविज्ञानकी महिमाको धारणकर जो व्रत संयम पालते हैं, ऐसे श्रावक या महाव्रती साधु उनसे भी आगे मोक्षमार्गमें बढ़े हुए हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव व्रत चारित्रको तिरस्कार दृष्टिसे नहीं देखते, आदर करते हैं। इसी प्रकार महाव्रती अध्यात्मका निरादर नहीं करते, किन्तु अध्यात्मको जीवनमें उतारते हैं। यथा आत्म-रमणरूप निश्चयचारित्रको स्वीकार करते हैं जो साक्षात् मोक्षका हेतु है। जो लोग इस जिनागमके रहस्यके ज्ञाता नहीं हैं वे केवल भगवद्-भजन, बाह्य व्रताचरणमें मगन हैं और इन शुभकार्योंसे मुक्ति मानते हैं। इन शुभ कार्योंका निषेध नहीं है, पर यह मानकर चलो कि ये पुण्यबन्धके कारण हैं, किन्तु मोक्षका पथ पुण्य-पापसे भिन्न ज्ञानाशयसे ही है, जो इसके आगे है वही साध्य है। जिनके हृदय कमलमें ज्ञानकला प्रकट हुई है, उनकी दृष्टि बाह्यसे सिमटकर अन्तरंगको प्रकाशित करती है। वे जगत्से भिन्न आत्माका दर्शन करते हैं। उसके समस्त गुणोंको परखते हैं। वे ही परमार्थी अपने परम अर्थके साधक हैं॥१४२॥

निजपदके अवलम्बनसे ही मुक्ति है, अतः उसे प्राप्त करो—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं, सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्, कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(इदं पदं) यह मोक्षका मार्ग **(ननु कर्मदुरासदं)** शुभ-अशुभ कर्म द्वारा अप्राप्य है, किन्तु वही **(सहजबोधकलासुलभं)** अपने सहजज्ञानकी जो कला है, उससे प्राप्त होना सुलभ है। **(ततः)** इसलिए **(निजबोधकलाबलात्)** आत्मज्ञानकी कलाके आश्रयसे **(इदं कलयितुं किल)** इसे प्राप्त करनेके लिए **(जगत्)** लोक **(सततं यतताम्)** सतत प्रयत्नशील होवे ॥१४३॥

भावार्थ—जैसे अशुभोपयोगी पापकर्मके बन्धक हैं, इसी प्रकार शुभोपयोगी पुण्यकर्मके बन्धक हैं, दोनों संसारके बन्धनमें ही स्वयम्‌को बाँधते हैं। मुक्ति तो केवल आत्मज्ञानके वैभवके आश्रयसे ही होती है। अतः आचार्य संसारके समस्त प्राणियोंको उपदेश देते हैं कि हे प्राणियो! अपने ज्ञानभावका आश्रय करना ही मोक्षको प्राप्त करनेकी सबसे बड़ी कला है, उसे प्राप्त करो। संसारके भी कार्य कभी पराश्रयसे नहीं होते, निजबलके आश्रयसे ही होते हैं, तब मोक्षका कार्य पराश्रयसे कैसे होगा? उसके लिए भी अपना बल अर्थात् पौरुष ही प्रकट करना होगा ॥१४३॥

अपनी ज्ञान-कला ही चिन्तामणि रत्न है—

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवः चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(यस्मात् एषः चिन्मात्रचिन्तामणिः) यह चैतन्यमात्र तत्त्व ही चिन्तामणिके समान **(अचिन्त्यशक्तिः)** अचिन्त्य शक्तिवाला है **(ज्ञानी)** यह ज्ञानी आत्मा **(स्वयमेव देवः)** स्वयं देवता है। **(सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते)** स्वयं सर्व अर्थोंकी सिद्धिका विधान करनेवाला है, तब **(अन्यस्य परिग्रहेण किम्)** किसी अन्य वस्तुके अवलम्बनसे क्या लाभ है? ॥१४४॥

भावार्थ—आत्मस्वरूपका अनुभव ही, सम्पूर्ण अर्थोंको सिद्ध करनेवाले चिन्तामणि रत्नके समान अपूर्व शक्तिका भंडार है। इसीके आश्रयसे जीव संसारके सम्पूर्ण बन्धनोंको तोड़कर मोक्षके पथका पथिक बनता है, तथा चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंसे छूट जाता है। पूर्वकृत कर्मका विनाश, नवीन कर्मका निरोध, ये दोनों मुक्तिके उपाय हैं, जो आत्मानुभवीको सहज प्राप्त हैं। लोकमें ऐसा वाद प्रचलित है कि चिन्तामणि रत्न जिसके पास है, वह समस्त चिन्तितार्थोंको प्राप्त कर लेता है। जगत्‌में ऐसी कोई अलभ्य वस्तु नहीं है जो उससे प्राप्त न हो। वह सर्वार्थसिद्धि दायक अचिन्त्य शक्तिवाला अनुपम पदार्थ है।

आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन्! तू परकी ओर दृष्टि करके दीन हुआ ललचाता फिरता है। तूने कभी अपनी निजनिधिका दर्शन नहीं किया। तेरे भीतर तेरी ज्ञान-कला ऐसी अपूर्व निधि है, जो तेरे सम्पूर्ण प्रयोजनोंको साधनेवाली है। वही तेरे लिए चिन्तामणि रत्नके समान शक्तिशाली वस्तु है। जिसकी शक्ति चिन्तनमें नहीं आती, पर स्वयं अनन्तशक्ति उसमें है उसका आश्रय कर, तेरे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे। उस आत्मानुभवके उद्योत होनेपर मिथ्यात्वका अन्धकार स्वयं लुप्त हो जाता है। ज्ञानकी किरणें सर्वत्र उद्योत करने लगती हैं। वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाता है, परसे राग-द्वेष दूर होकर समता रसका स्वयं उछाल होकर साम्यदृष्टि हो जाती है।

ऐसा ज्ञानी अपनी आत्मानुभवकी लहरोंमें ही मगन रहता है, पराश्रयकी दीनता दूर हो जाती है। मोक्षपथ उसकी दृष्टिमें सहज दीखता है। उसका मन संसारकी समस्त वासनाओंसे दूर हो जाता है, और बन्धमार्ग छूट जाता है ॥१४४॥

समस्त-परिग्रहका त्यागी आत्मदर्शी स्वयं अज्ञानसे मुक्त होकर संयमी बनता है—

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषात्,
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(इत्थं) इस प्रकार (**समस्तमेव परिग्रहम्**) सम्पूर्ण परका परिग्रह (**स्वपरयोरविवेकहेतुम्**) जो स्व आत्मा तथा उससे भिन्न जो पर पदार्थ, उन दोनोंमें विवेक भावको उदित नहीं होने देता, उस परिग्रहको, (**सामान्यतः**) समस्त रूपसे (**अपास्य**) दूर करके (**अधुना**) अब (**अज्ञानम् उज्झितुमनाः**) अज्ञान भावसे मुक्त होनेकी इच्छासे (**विशेषात् तम् एव परिहर्तुम्**)उसी परिग्रहको विशेष रूपसे परित्याग करनेके लिए (**भूयः अयं प्रवृत्तः**) अब पुनः यह प्रवृत्त होता है ॥१४५॥

भावार्थ—अनादि कालसे ही मोहके उदयमें इस जीवको अपने स्वरूप का भान ही नहीं है। परिग्रहमें ही यह संलग्न है। उसीके संग्रहमें आनंद मानता है और उसके वियोगमें दुखी रहता है। जिनको भूलनेपर परमें निजत्वको उसे बुद्धि आ गई है। परके ऊपर "यह पर है" ऐसी दृष्टि नहीं है, किन्तु उसके स्वरूपमें अपना ही स्वरूप देखता है। दोनोंका भेदज्ञान उसमें नहीं है। यह सुनिश्चित है कि पर द्रव्य उसका कभी होगा नहीं। परका परिणमन तो परके आधीन है। अज्ञानी जन मोहसे उसमें आत्मस्वरूप देखते हैं—यही उनके दुखका हेतु बन जाता है। इस भूल और तज्जन्य दुखका नाम ही 'संसार' है। इस भूलके दूर होनेसे वह दुख भी दूर होता है। इसीका नाम 'मुक्ति' है।

आचार्य इस भूलको दूर करनेका ही उपदेश देते हैं कि हे भाई ! इस परिग्रहको त्याग दे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि अन्तरंग परिग्रह, और धन, धान्यादि बाह्य परिग्रहका त्याग ही, आत्मस्वरूप की प्राप्ति और मुक्तिसुखका मार्ग है, यथार्थ कारण है ॥१४५॥

ज्ञानी जीव भेदज्ञानी होनेसे, कर्म विपाकमें भी दुखी नहीं होते—

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद् भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानिनः**) ज्ञानी जीवके (**पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्**) पूर्वकालमें बँधे हुए अपने कर्मके उदयकी दशामें (**यदि**) यदि (**उपभोगः भवति**) पाप-पुण्यका उपभोग होता है (**अथ भवतु**) तो होवे, तथापि ज्ञानीके (**रागवियोगात्**) उस कर्म उदयमें तथा उदयमें सहायक सामग्रीमें रागभावका अभाव होनेसे वह सब (**परिग्रहभावम् न एति**) परिग्रहपनेको प्राप्त नहीं होता। अतः उसे बन्ध नहीं होता ॥१४६॥

भावार्थ—ज्ञानी जीवने मिथ्यात्व दशामें जो कर्मोंका बंध पूर्वमें कर लिया है, वे समय-समय पर उदयमें आते हैं, वही कर्मका विपाक है। उस कर्म विपाकके कारण नोकर्म स्वरूप सुखदुखकी सामग्रीका भी संयोग जीव प्राप्त कर लेता है, और उस समय सामग्रीके आधार पर कर्मोदया-

नुसार सुख-दुखका उपभोग करता है। फिर भी उसे नवीन कर्मबंध नहीं होता क्योंकि वह उस सामग्री तथा उसके फलस्वरूप सुखादिका रागी नहीं है। "रागी बँधता है, विरागी छूटता है" यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार वीतरागी ज्ञानी पुरुष रागयोगके अभावके कारण, कर्मकी निर्जरा करता है, तथा नया बन्ध नहीं करता। ज्ञानीके भोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होते अतः निर्जराके ही हेतु हैं।

(१८१) **प्रश्न**—भोग तो बंधके ही कारण हो सकते हैं, चाहे ज्ञानी करे चाहे अज्ञानी करे। "ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अबंधक है" ऐसा कहना अपने मतके श्रद्धालुका सरासर पक्षपात है। पक्षपात करनेसे कल्याणका मार्ग नहीं खुलता।

यह एक प्रश्न है कि यदि ज्ञानी जहर पी ले तो क्या वह मृत्युसे वच जायगा ? क्या जहरका अजानकार ही उसे पीकर मरेगा ? दोनों बातें असंगत हैं। जहर पीने वाला अवश्य मृत्युको प्राप्त करेगा। इसी प्रकार पंचेन्द्रियोंके विषयोंका उपभोग करने वाला जीव, ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी हो, कर्म वंधको अवश्य ही प्राप्त होगा।

समाधान—यह ठीक नहीं है। बन्धका कारण तो रागभाव है, न कि क्रियामात्र। अतः विरागीके बन्ध नहीं होता है। यहाँ ज्ञानीका अर्थ इतना ही नहीं है कि जो "बन्धके कारणोंका मात्र ज्ञायक हो, पर पंचेन्द्रियोमें (जानकर भी) राग करता हो।" इस प्रकरणमें उसे ज्ञानी नहीं माना।

ज्ञानी उसे कहा है जो पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें राग नहीं करता। सांसारिक सुख और दुखमें भेद नहीं करता। किन्तु कर्मके उदय मात्रको चाहे शुभ हो अथवा अशुभ रूप हो, समान रूपसे संसारका कारण मान कर, उससे मुक्त होना चाहता है, ऐसा जीव नवीन बन्ध नहीं करता।

जैसे पराधीनताको प्राप्त किसी राजाको कैदमें छप्पन व्यंजन भी खानेको मिले तो भी उसमें रागी नहीं होता, बल्कि उसे दुखदायक ही मानता है, और पराधीनतासे छूटनेका उपाय करता है। सम्यग्दृष्टिकी भी स्थिति ऐसी ही है। वह संसारमें कितनी ही पुण्योदय जन्य विषय सामग्रीको प्राप्त हो, पर उसे दुखदायक मान, उसका त्याग ही करना चाहता है। यही कारण है कि ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अवसर पाते ही, घर गृहस्थी, राज्य-परिवार, सबका त्यागकर निर्ग्रंथ हो वनका आश्रय लेते हैं।

(१८२) **प्रश्न**—वनका आश्रय करनेकी और निर्ग्रन्थ बननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है जब कि ज्ञानी, घर गृहस्थीके समस्त भोगोपभोग तथा तज्जन्य आनन्द भोगते भी, कर्मकी निर्जरा करता है और नवीन बन्ध नहीं करता। इस स्थितिमें मुक्ति तो गृहस्थके भी हो सकती है, क्योंकि वह ज्ञानी है, विरागी है।

समाधान—ज्ञानी गृहस्थ गृहभावमें रत नहीं है, ज्ञानभावमें रत है। कर्मोदयकी प्रबलतासे गृहपनेके भोगता नहीं है, भोगना पड़ रहा है। उसमें आनन्दित नहीं है, दुखी है। उसे छोड़नेको छटपटा रहा है। जितना उसे कर्मके प्रबल उदयमें राग है उतना बन्ध वह करता है, फिर भी अल्प स्थिति अनुभाग रूप। जब वह गृहाश्रमका परित्याग कर देता है तब विरागी और पूर्ण निर्ग्रन्थ बन कर आत्मसाधना करता है।

(१८३) **प्रश्न**—आपने कहा था कि ज्ञानी जीव कर्मोदयजन्य भोग भोगता है, अतः भोगते हुए भी अबन्धक है निर्जरक है। पर इस समाधानमें आपने उसे अल्पबन्धक कहा, दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है अतः अपना अभिप्राय अधिक स्पष्ट करिए।

समाधान—ज्ञानी शब्द सम्यग्दृष्टि मात्रके लिए प्रयुक्त होता है। सम्यग्दृष्टि चतुर्थ, पंचम, षष्ठ तथा इससे ऊपर गुणस्थानोंके जीव भी कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्वका अभाव हुआ, अतः बड़ी स्थिति और अनुभागको लेकर इन्हें कर्मबन्ध नहीं होता। जो भी चारित्र मोहके उदय जन्य अल्पराग होता है वह नगण्य है, क्योंकि वह अनन्त संसारका कारण नहीं बनता। इस अपेक्षा ये सब ज्ञानी अबन्धक कहे जाते हैं, तथापि चौथेमें अव्रतीके, पंचम गुणस्थानमें गृहीके, छठे, सातवें आदि मुनिके, जितना-जितना राग घटता जाता है, बन्ध भी घटता जाता है। ये सब अबन्धकपनेके मार्गपर हैं, अतः कर्मोदयजन्य सुख दुखको भोगते हुए भी रागकी अल्पतासे अल्पबन्धक हैं। इसे गौणकर इन्हें अबन्धक कहा है।[1]

(१८४) **प्रश्न**—ये ज्ञानी अल्पबन्धक हैं तब इन्हें अबन्धक क्यों कहा ?

समाधान—अल्पतामें अबन्धक कहना दोषास्पद नहीं है। ऐसा सर्वत्र प्रयोग देखा जाता है। जैसे कोई लक्षाधिपति हो और सहस्राधिपति रह जाय, तब "वह धनी मिट गया" ऐसा कहा जाता है, क्योंकि वह अत्यल्प धन जो उसके पास रहा वह नगण्य है। अथवा किसीके सिरपर एक बड़ा-सा बोझ था, वह उसे ढोते-ढोते थक जाता था, उसका बोझ यदि मात्र पाँच किलो रह जाय तो वह कहता है कि "बोझ उतर गया" बहुत आराम मिला।

इसी प्रकार मिथ्यात्व दशामें जहां उत्कृष्ट स्थिति अनुभाग लिए पाप बन्धता था, वहां अब सम्यक्त्व दशामें अल्प स्थितिका बन्ध होने लगा। उससे अब संसार परिभ्रमणकी गति मन्द हो गई, अल्प संसारी रह गया। आगे जैसे-जैसे अन्तरंग राग घटता जायगा, बाह्य अवस्था भी बदलेगी। इसी बदलाहटका नाम "निर्ग्रन्थपना" है। वह होता ही है। नवम गुणस्थानतक सूक्ष्म बन्धक होकर साधु ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानमें मोहका सर्वथा अबन्धक हो जाता है।

इस अबन्धकपनेके मार्गमें स्थितको भी अबन्धक कहा है। यह अबन्धकपना ज्ञानकी महिमा है। अतः जितने अंश ज्ञानी है उतने अंश तो अबन्धक ही है। अतः उसे अबन्धक कहनेमें कुछ बाधा नहीं है। उस अबन्धकके, प्रति समय उदयागत कर्मका उपभोग होता है, उपभुक्त कर्म निर्जरा को प्राप्त होता है, अतः ज्ञानीके निर्जरा ही होती है ऐसा कहा जाता है। जितने सूक्ष्म अंशमें उसे राग होता है उतना बन्ध भी होता है, तथापि मिथ्यादृष्टि अवस्थामें अनन्त संसारको बढ़ानेवाले कर्म बन्धकी अपेक्षा, यह बन्ध अत्यल्प होनेसे नगण्य माना गया है, अतः उसे अबन्धक कहा गया है।

(१८५) **प्रश्न**—ज्ञानी अबन्धक कहा गया है, या है ?

समाधान—'है'—इसीलिए कहा गया है। न होता तो वैसा ही कहा जाता। सर्वथा अबन्धक होनेपर 'अबन्धक है' ऐसा कहा जायगा। पर जबतक किंचित् भी बन्ध है तबतक उसकी गणना अर्थात् विवक्षा न होनेसे वह 'अबन्धक' कहा जाता है ॥१४६॥

---

१. मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयत सम्यग्दृष्टेः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय जनिताः, श्रावकस्यचाप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभजनिताः रागादयो न संतीत्यादि। किं च सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका भवति। तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यापेक्षया सम्यग्दृष्टिरबंधक इति। —समयसार गाथा १९३, तात्पर्यवृत्ति

'मिथ्यात्व रहित चारित्रमोह सम्बन्धी उदयके परिणामको यहाँ राग नहीं कहा, इसलिए सम्यक्दृष्टिके ज्ञान वैराग्य शक्तिका अवश्य होना कहा है। मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा गया है, वह सम्यक्दृष्टिके नहीं है।' —समयसार गाथा २०० तथा कलश १३७ का भावार्थ

ज्ञानी निष्कांक्षित है अतः इच्छा नहीं करता, किन्तु विरक्तताको ही प्राप्त होता है, इसका कारण बतलाते हैं—

वेद्यवेदकविभावचलत्वात् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

अन्वयार्थ—(**वेद्यवेदकविभावचलत्वात्**) वेद्य अर्थात् अनुभवन योग्य भाव और वेदक अर्थात् अनुभवन करने वाला भाव, दोनों विभाव क्षणभंगुर हैं। अतः (**कांक्षितम् एव न खलु वेद्यते**) जिसकी वांछा की जाती है वह वेदन नहीं किया जाता। (**तेन विद्वान् न किंचन कांक्षति**) इसीलिए ज्ञानी पुरुष कुछ भी इच्छा नहीं करता, किन्तु (**सर्वतः अपि अति विरक्तिम्**) सभी पदार्थों से सभी प्रकार अत्यन्त विरक्तताको ही (**उपैति**) प्राप्त होता है।

भावार्थ—वस्तुतः पर-पदार्थ अपनी-अपनी सत्तामें अक्षुण्ण हैं, उनका जीव भोग नहीं करता, न कर सकता है। 'मैंने पदार्थ भोगा' यह तो उपचरित कथन है। पदार्थका ज्ञान ही पदार्थका वेदन है और उसके प्रति राग ही उस पदार्थका भोगना कहा जाता है।

पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वे तो पदार्थको जानती मात्र हैं, इस जाननेसे बन्ध नहीं होता, किन्तु उनके प्रति जो रागभाव होता है उससे बंध होता है, उस रागभावका ही भोक्ता अज्ञानी है, तथापि 'मैंने पदार्थ भोगा' ऐसी उपचरित भाषा लोकमें बोली जाती है। किन्तु यह यथार्थ नहीं है।

आकांक्षाका नाम ही वेद्यभाव है। आकांक्षाको भोगनेवाला भाव, वेदकभाव कहा गया है। दोनों कर्मोदयमें होते हैं अतः दोनों ही विभाव हैं। दोनों स्थायीभाव हैं और उनमें कालभेद भी है। जब वेद्यभाव होता है तब वेदक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, और जब वेदकभाव होता है तब-तक वेद्यभाव समाप्त हो जाता है। दोनों एक साथ कभी नहीं हो सकते, इसलिए कांक्ष्यमाणभावकी पूर्ति होना संभव ही नहीं है। ज्ञानी इस वस्तुस्थितिको जानता है अतः वह इनमेंसे किसी की भी इच्छा नहीं करता, कोई आकांक्षा नहीं करता। अत्यन्त विरक्त होता हुआ, उनका ज्ञाता ही रहता है।

ज्ञानी जानता है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है। परिवर्तनशील है। तथा मेरा ज्ञानभाव भी परिवर्तनशील है। सभी पदार्थ क्षण-क्षणमें पर्याय बदलते हैं। ऐसी अवस्थामें मैं जिसकी आकांक्षा करता हूँ वह वेद्यभाव भी क्षणभरमें विनष्ट हो जाता है। यदि अनागत पर्यायकी आकांक्षा करूँ तो तबतक मेरा वेदकभाव परिवर्तित हो जाता है। अतः दोनोंके समय-समय परिवर्तन रूप होनेसे आकांक्षा और आकांक्षित दोनोंका एक कालमें अस्तित्व नहीं बनता, अतः वेद्यवेदक भावके, जो विभाव रूप ही हैं—चंचल होनेसे जब दोनोंका योग सम्भव ही नहीं है, तब आकांक्षा करना वृथा है। मात्र कर्मबन्धका हेतु है। अतः ज्ञानी इन सबसे विरक्तता ही को प्राप्त होता है।

जो लोकमें भोग्य माने जाते हैं वे पदार्थ तीन प्रकारके हैं—भूतकाल-अनागतकाल—और वर्तमान काल सम्बन्धी। इनमें जो भूतकालमें नष्ट हो गए, वे तो भोगे ही नहीं जा सकते क्योंकि उनका अस्तित्व ही नहीं रहा। अनागत कालके भी भोगे नहीं जा सकते क्योंकि वे अभी अनुत्पन्न हैं। दोनों कालके पदार्थ सत्तामें नहीं हैं। वर्तमान कालीन पदार्थ, जो कर्मोदय की बरवशता में उप-स्थित हैं, वे सुखसाधन भी हो सकते हैं और दुखसाधन भी।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी कर्मोदयमें सञ्चित उन सभी पदार्थोंको सुखदायक पराधीन तथा विनाशीक देखता है। वह यह भी जानता है कि वर्तमानकाल भी एक समय मात्र है। अतः वर्तमानकालीन पर्याय भी क्षणभंगुर है। क्षणके बाद यह अतीतकालीन हो जायगी अतः ऐसी क्षणस्थायी पर्यायके प्रति रागादि भाव रखना श्रेयस्कर नहीं है। अतः वह कांक्षा नहीं करता, यही सम्यग्दृष्टिका निःकांक्षित अंग है। उसकी कांक्षारहितताके कारण उक्त प्रकार ही हैं।

(१८६) **प्रश्न**—समस्त संसारी प्राणी पंचेन्द्रियके विषयोंको भोगते हैं, आनन्दित होते हैं। उनकी संप्राप्तिके लिए कोई पाप करते हैं और कोई धर्मात्मा पुण्य संचय करते तथा पुण्योदयमें उसे प्राप्त कर भोगते हैं। यहाँ कहा गया है कि—सम्यग्दृष्टि मात्र वर्तमानको भोगता है, तो वीतराग भावसे केवल कर्मोदय ही भोगता है, अतः अबन्धक है। ऐसी बात तो विपरीत, अनुभव विरुद्ध प्रतीत होती है।

समाधान—अनुभव विरुद्ध अवश्य है। क्योंकि संसारी जीवका अनुभव ही ऐसा है। ज्ञान भावका कभी अनुभव हुआ नहीं अतः वह रागीको अनुभव विरुद्ध तो प्रतीत होगा ही। तथापि जिन्होंने पूर्व दशा भी भोगी है और आत्मानुभवन भी पश्चात् किया है, वे दोनों दशाओंके अनुभवी जो कहते हैं वह यथार्थ है। वह उनके अनुभव विरुद्ध नहीं है।

संसारीजन वस्तुतः अपनेमें राग द्वेषभाव ही करते हैं और वह जिन पदार्थोंको अवलम्बन लेकर करते हैं, उन 'पदार्थोंका भोक्ता' अपनेको मानते हैं। पर यह सत्य नहीं है। पदार्थ तो अपनी सत्तामें अपने द्रव्य-गुण-पर्यायमें रहता है, उसका एक देशांश या गुणांश भी जीव अपनी सत्तामें नहीं मिला सकता अतः उन्हें भोगता नहीं है, वह अपने रागभावका ही भोक्ता है। पदार्थका तो ज्ञाता ही हो सकता है। ज्ञाता होने पर भी, और उनसे रागी होने पर भी, वह उन पदार्थोंसे त्रिकाल भिन्न है। तब 'उनका भोक्ता कैसे ?' यह मिथ्या कल्पना ही अज्ञानीको संसारमें भटकाती है। इसीसे वह पदार्थके लिए दौड़ा-दौड़ा फिरता है। सम्यक्त्वी ज्ञानी वस्तुस्वभाव जानता है, अतः भटकता नहीं है। सन्तोष भाव रखता है ॥१४७॥

ज्ञानी परिग्रहवान् क्यों नहीं है ? इसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं, कर्मरागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे, स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥

अन्वयार्थ—(**रागरसरिक्ततया**) रागके रससे शून्य होनेके कारण (**ज्ञानिनः कर्म**) ज्ञानीकी कोई भी क्रिया (**परिग्रहभावं**) ममत्व परिणामको (**न एति**) प्राप्त नहीं होती। अतः बन्धका ग्रहण नहीं है जैसे (**अकषायितवस्त्रे**) कषैले पदार्थ मंजीठ आदिसे न रंगे गए—'श्वेत वस्त्रमें' (**स्वीकृता एव रंगयुक्तिः**) स्वीकार किया गया भी लाल आदि रंग (**इह बहिर्लुठति**) यहाँ बाहिर ही बाहिर रहता है, वस्त्रको लाल नहीं करता ॥१४८॥

भावार्थ—जैसे रंगरेज जब वस्त्रको रंगता है तो उसके पूर्व वह वस्त्रको मंजीठ, लोध आदि कषैले द्रव्यसे भिगो लेता है, तब रंगमें डालता है। इसका फल यह होता है कि वस्त्र पर पक्का रंग चढ़ जाता है। अन्यथा अर्थात् यदि वस्त्रको कषैले द्रव्योंसे भिगोया न जावे और रंगा जाय

तो वह वस्त्र ऊपरसे रंगा-सा लगता है, पर रंग वस्त्रमें प्रवेश नहीं करता। ऐसा वस्त्र पानीमें डालनेसे उसका रंग तत्काल दूर हो जाता है।

इसी प्रकार कषाय जो रागादि परिणाम, उनसे जो जीव रंगा हुआ नहीं है, उसकी जो कर्मोदयके भोगकी क्रियायें हैं, चाहे वह शुभोदयका भोग हो चाहे अशुभोदयका हो, उस समस्त क्रियाओंसे वह कर्मवन्धको प्राप्त नहीं होता। दूसरा दृष्टान्त—जैसे वालक कामवासनासे रहित है, उसे कोई भी महिला उठा ले और वह उसके स्तन आदिका स्पर्श करे तो अपराधी नहीं होता, किन्तु वही युवावस्थामें स्पर्श करे तो अपराधी माना जाता है। दोनों अवस्थाओंमें कामवासना-जन्य रागके अभाव व सद्भावका ही अन्तर है। इसी तरह ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियाओंमें रागादिके अभाव और सद्भावके कारण ही वन्धके अभाव व सद्भावका कथन किया गया है।

ज्ञानी स्व-परका ज्ञायक है, अतः परद्रव्यको 'यह मेरा है' ऐसा कैसे मानेगा? उसे तो अपने निज वैभवका यथार्थ ज्ञान है। स्वमें परका प्रवेश ही नहीं होता तव उससे राग करना भी निरर्थक है। लौकिक ज्ञानी भी जैसे यह जानता है कि सामने खड़ा महल राजाका है, उसकी समस्त शोभा व सामग्री उसकी है, मेरी नहीं है। यदि मैं उसे अपनी मान लूँ और ऐसा व्यवहार करूँ कि उसे स्वीकार कर उसका उपभोग करूँ तो राजकर्मचारियों द्वारा वन्धनमें डाल दिया जाऊँगा। अतएव वह सव कुछ देखते हुए भी लौकिक दृष्टिसे, स्व-परके भेदको सामने रखकर ही उसे देखता है, अतः ज्ञान तो करता है पर वन्धनमें नहीं पड़ता।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि स्व-परका यथार्थ भेदज्ञानी होता है। उसने अपने वैभवको स्वीकार किया है, अतः यद्यपि परके वीचमें रहता है, लौकिकजनोंमें लौकिक व्यवहारमें निपुण है, तथापि अन्तरंगसे उसमें लिप्त नहीं है अतः अपरिग्रही ही है।

इच्छाका नाम परिग्रह है। जिसे इच्छा या वांच्छा होगी वह परका परिग्रह करेगा? मिथ्यात्वांधकारकी भूमिकासे जो दूर हो गया है, आत्मप्रकाश जिसका जग गया है, वह भूलकर भी परमें नहीं रमता। वह परके मध्यमें क्रिया करता हुआ भी परको स्वीकारता नहीं है।

जैसे, पत्थर चाहे वरसोंसे पानीके मध्यमें पड़ा हुआ हो, पत्थर पर शैवाल भी जम जाय, तथापि उसे हथौड़ेसे फोड़ने पर भीतर सूखा ही निकलता है। उसने पानीके भीतर रहकर भी पानीको स्वीकार नहीं किया। पानी उसके वाहिर ही वाहिर रहा। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसारके समस्त सुख दुखोत्पादक सामग्रीके बीचमें रहता है, उनका कर्मोदयके वशसे उपभोग भी करता है, तथापि अन्तरंग विरागताके कारण उन पदार्थोंके रागकी आर्द्रता उसके भीतर प्रवेश नहीं करती, वह उससे सूखा ही निकलता है। यही कारण है कि उसे अपरिग्रही—निर्वन्धक—अवन्धक आदि शब्दों द्वारा आचार्यने सम्वोधित किया है॥१४८॥

ज्ञानीकी निर्लिप्तताको पुनः कहते हैं—

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न॥१४९॥

अन्वयार्थ—(**यतः ज्ञानवान्**) क्योंकि ज्ञानी पुरुष (**स्वरसतः अपि**) अपने स्वरससे अर्थात् स्वभावसे ही (**सर्वरागरसवर्जनशीलः**) सम्पूर्ण राग-रससे दूर रहने रूप स्वभाववाला है (**ततः**) (**कर्ममध्यपतितः अपि**) इससे कर्मके बीच पड़ा हुआ है, तो भी (**एषः**) यह ज्ञानी (**सकलकर्मभिः**) सम्पूर्ण कर्मोसे (**न लिप्यते**) लिप्त नहीं होता ।।१४९।।

भावार्थ—जीव चैतन्य स्वभाव वाला है, और कर्म जड़ स्वभावी है। रागादि भाव अचेतन भाव हैं, अतः चेतनका अचेतन भावसे दूर रहनेका ही स्वभाव है। फलतः सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जबतक संसारमें है तबतक शुभाशुभ कर्मोंके उदयको भोगेगा, तथापि अलिप्त रहेगा।

ज्ञानी मुनिजन घोरोपसर्गके आनेपर उन्हें सहन करते हुए भी, तज्जन्य शारीरिक अंग भंगादिके क्लेश उठानेपर भी, समताभावसे उन्हें सह लेते हैं। वे कहते हैं कि यह पूर्व कर्मके विपाकका फल है। पूर्व अपराधका फल है। इसे समतासे भोगना ही श्रेयस्कर है। अतः उससे विचलित नहीं होते। अपने स्वरूपमें निमग्न रहते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके इन सब कर्मोंकी निर्जरा ही होती है और वे निज रसकी निमग्नतासे कैवल्यको भी प्राप्त करते हैं।

भरतचक्री जैसे पुण्योदयवान् गृहस्थ थे, चक्रवर्तित्वकी सम्पदाके बीच रहते हुए भी उसे कर्मोदयजन्य विडम्बना मानकर उससे विरक्त ही रहते थे। यही कारण है कि अवसर पानेपर उसे त्याग दिया और दिगम्बरी दीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्तमें ही कैवल्यको प्राप्त किया। अतः सिद्ध है कि रागादि जीवके स्वभाव नहीं हैं ज्ञानी ऐसा जानते हैं ।।१४९।।

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैव कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवन् सन्ततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ।।१५०।।

अन्वयार्थ—(**यस्य वशतः यः यादृक् स्वभावः**) अपनी स्वाधीनतासे जो पदार्थ जिस प्रकारके स्वभाववाला है (**तस्य तादृक् स्वभावः अस्ति**) उसका स्वभाव उसी प्रकार ही है उसे (**परैः**) दूसरा परपदार्थ (**अन्यादृशः कर्त्तुं**) किसी अन्य स्वभाववाला करनेमें (**कथञ्चनापि न शक्यते**) किसी भी प्रकार समर्थ नहीं है (**ज्ञानं न कदाचन अपि अज्ञानं भवेत्**) त्रिकाल ज्ञान स्वरूपी आत्मा कभी अज्ञान नहीं बन सकता, अतएव (**हे ज्ञानिन्**) हे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव ! (**सन्ततं ज्ञानं भवत्**) निरन्तर ही अपने ज्ञान स्वभावमें रमण करते हुए रहो तथा (**भुंक्ष्व**) कर्मोदयजन्य सुख-दुखके संयोगको भोगो (**परापराधजनितः**) परके अपराधजनित (**तव बंधः नास्ति**) तेरे कर्मबन्ध नहीं होगा ।।१५०।।

भावार्थ—यहाँ आचार्यश्री सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुषको सम्बोधन करके कहते हैं कि हे ज्ञानी पुरुष ! तेरे ज्ञानभावमें रहते हुए भी विविध प्रकारके पूर्वमें बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मोका उदय आयगा, वह रुकेगा नहीं, और तुझे दोनों प्रकारके कर्म भोगने होंगे। तथापि तू अपने ज्ञानस्व-भावकी भूमिकामें क्रीड़ा करता रहा तो तेरे कर्मबन्ध न होगा।

जिस पदार्थका जो स्वभाव होता है वह अपने आपमें रहता है। अन्य पदार्थका सम्बन्ध, उसे पर-स्वभावमें बदल नहीं सकता ऐसा नियम है। तुम भी कर्मोदयजन्य सुख-दुखको भोगते हुए

भी, यदि अपने स्वभावकी भूमिकामें रहो तो उसमें रहते हुए, कर्मके वन्धनसे न वँधोगे। परके अप-राधसे कोई वन्धनको प्राप्त नहीं होता, स्वापराधसे ही वँधता है।

सारांश यह है कि जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे मोह जो मिथ्यात्व, उससे तथा पदवीके अनुसार राग-द्वेषसे भी रहित हैं, अतः मोह, राग, द्वेषके अभावमें उनके कर्मवन्ध नहीं होता। वन्धके कारण राग, द्वेष, मोह ही हैं। इन्हें ही अज्ञानभाव कहा गया है। इस अज्ञान भावसे ही वंध होता है।

सम्यग्दृष्टि जीवका भी पूर्ववद्ध कर्मोका यथा समय विपाक होता है और वह भोगना पड़ता है। नरकादि गतियोंमें दुःखका विपाक भोगना अनिवार्य है। स्वर्गादि गतियोंमें सुखका विपाक भोगना भी अनिवार्य है। नारकी नरककी दुःख सामग्रीसे दूर नहीं भाग सकता और देव सुख-सामग्रीको छोड़कर दूर नहीं भाग सकता। दोनोंको दोनों अवस्थाएँ भोगना अनिवार्य हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि जीव दोनों अवस्थाओंको निज ज्ञान स्वभावसे भिन्न ही श्रद्धान करता है, मानता है। अतः उन्हें भोगते हुए भो पदानुसार उनमें राग, द्वेष रूप परिणाम नहीं करता, किन्तु अपने ज्ञान स्वभावकी शुद्धतामें ही रहता है। अतः ज्ञानीके पदवीके अनुसार कर्मवन्ध नहीं होता ॥१५०॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
वन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत् किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन् वस वन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद् ध्रुवम् ॥१५१॥

अन्वयार्थ—(**हे ज्ञानिन्**) अरे ज्ञानी पुरुष ! (**कर्म कर्तुं जातु न उचितम्**) तुझे राग, द्वेष, मोह रूप शुभाशुभ क्रियाएँ करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है (**तथापि किञ्चित् उच्यते**) तो भी यह जो कहा जाता है कि (**न जातु मे परं भुंक्षे**) ये मेरे नहीं हैं तो भी मैं भोगता हूँ, तो (**हन्त भोः दुर्भुक्त एव असि**) खेदकी वात है कि दुर्भुक्त ही हो अर्थात् तुम्हारे भोग दुर्भोग हैं, वन्ध-कारक ही हैं (**उपभोगतः यदि बंधः न स्यात्**) नाना भोग भोगते हुए भी यदि वन्ध नहीं है (**तत् किं ते कामचारः**) क्या यह तेरी स्वेच्छापर है ? नहीं, इससे वन्ध न रुकेगा (**ज्ञानं सन् वस**) ज्ञान रूप होकर अपनी मर्यादामें निवास कर। (**अपरथा**) अन्यथा, ऐसा यदि न किया तो, (**स्वस्या-पराधात्**) ज्ञान भावको छोड़ने रूप अपने अपराधसे (**ध्रुवं बंधं एषि**) नियमसे वन्धनको प्राप्त होगे ॥१५१॥

भावार्थ—हे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव ! यदि तू राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन, (कर्म) करेगा तो ज्ञानावरणादि कर्मोका भी वन्ध तुझे नियमसे होगा। हम तुमसे पूछते हैं, कि क्या तुम ऐसा मानते हो कि "मैं ज्ञानी हूँ, और मेरे कर्म वन्ध नहीं होता, अतः मैं नाना विषयोंको भोगता हूँ मुझे कोई हानि नहीं है" तो तुम्हारा ऐसा मानना तुम्हारे नरकादि दुःख भोगका कारण वनेगा।

यह मानना होगा कि तुम ज्ञानीपने या सम्यग्दृष्टिपनेका मिथ्या अहंकार करते हो, तुम अज्ञानी हो, इसीसे शास्त्रोंके उक्त कथनका दुरुपयोग कर अपना अहित करते हो। इससे ही अज्ञानी को दुर्भुक्त कहा गया है।

यदि तुम सम्यग्दृष्टि हो, ज्ञानी हो तो परीक्षा करो। ज्ञानी ज्ञान भावमें रमता है, रागादिमें नहीं। अतः ज्ञानीके ज्ञानभावमें बसते हुए जो शुभाशुभ कर्म उदयमें आते हैं, उन्हें वह कर्मदण्ड स्वीकार कर भोगता है, उसमें राग-द्वेष नहीं करता, न उन विषयोंमें रमण करता है।

भोगोपभोग स्वेच्छापूर्वक भोगते रहो और तुम्हारे कर्मबन्धन न होवे ऐसा क्या तुम्हारी इच्छानुसार होगा, कदापि नहीं। यह तुम्हारा स्वेच्छाचारिताका कार्य है। जो जीव अपने मोह क्षोभ विहीन शुद्ध ज्ञानभावमें रमण नहीं करता, तथा विषय कषायोंमें रमता है, और अपनेको ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मानता है वह स्वयं अन्धकार (अज्ञानभाव) में है। अपनेको धोखा देता है।

तुम ज्ञानभावकी मर्यादामें निवास करो। ज्ञानकी भित्तियोंका उल्लंघन कर यदि रागादि की भूमिकामें प्रवेश किया तो ज्ञानावरणादि नाना कर्मोंसे स्वयं लिप्त हो जाओगे। मिथ्या अहंकार संसारमें डुवावेगा।

(१८७) **प्रश्न**—इसके पूर्व कलशमें ऐसी छूट दी गई थी कि परपदार्थोंका उपभोग तू कर, वह परका अपराध है, उससे तुझे कर्मबन्ध न होगा। अब इस कलशमें कहा जाता है कि मैं भोगता हूँ मेरे कर्मबन्ध नहीं है, ऐसा मानेगा तो यह तेरी गलती है, तू जरूर बँधेगा। दोनों कलशोंके उपदेशमें विसंगति है। शिष्य यह नहीं समझ पाता कि दोनोंमेंसे कौन-सा उपदेश वह ग्रहण करे?

समाधान—दोनों कलश एक ही प्रकारका उपदेश **देते हैं उनमें परस्पर विसंगति नहीं** है, **किन्तु सुसंगति** है। वह इस प्रकार—

प्रथम कलशमें बतलाया था कि तू ज्ञानस्वभावी है, तुझे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई है अर्थात् अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभावका दर्शन हुआ है। अब तू **अपने स्वभावमें रमण कर, यही निश्चयचारित्र** है। कर्मका उदय समय-समय पर आयगा, क्योंकि तूने मोही दशामें, अज्ञान दशामें, रागी द्वेषी होकर उनका बन्ध कर लिया है। उससे मत घबड़ा। तू सदा अपने स्वभावको मत छोड़। उसीमें रमण कर। तेरा त्रिकाली स्वभाव बदलनेकी शक्ति किसी भी दूसरे पदार्थमें नहीं है। तू अनन्त शक्तिशाली है। कर्मोदयसे तू नाना प्रकार शुभाशुभ संयोगको प्राप्त है। तू **उनके कारण अज्ञानी न बनेगा।** कर्मोदय समाप्त होगा और तू अपने ज्ञानस्वभावमें निखरता आयगा। अतः कर्मके उदयको भोगना पड़े तो भोग, ये पर-पदार्थ तेरा कुछ विगाड़ नहीं कर सकते। तथापि इसे पढ़कर कोई विपरीत न समझे, जैसा कि प्रश्नकारने समझा है, अतः उसका स्पष्टीकरण दूसरे इस कलशमें आचार्यने किया है, वह इस प्रकार कि—

तू यदि अपने ज्ञान स्वभावको छोड़कर परपदार्थमें रागादि करेगा, अर्थात् कर्मके **शुभाशुभ उदयजन्य सामग्रीमें रति अरति करेगा,** तो स्वयं स्वापराधी होगा और तब नवीन कर्मसे बँधेगा। कर्मोदय आवे तो आओ, उसका भोग अनिवार्य है, पर उस उदयावस्थामें रति-अरतिभाव तेरे तब होंगे, जब तेरा उपयोग अपने ज्ञान-स्वभावसे च्युत होगा, तू अपने इस अपराधसे बँधेगा। परके अपराधसे न बँधेगा। ऐसा इस कलशका भाव है। दोनों एक दूसरेके अर्थके पूरक हैं, दोनोंमें सुसंगति है विसंगति नहीं।

प्रतिकूल निमित्तोंके होनेपर भी बुद्धिमान् पुरुष **अपना कार्य साधता है, उसमें उसका निजका पुरुषार्थ कारण है।** वह अपने पुरुषार्थसे **बाधक कारणोंको दूर कर स्वयं सामग्री जुटा लेता है।** इस कार्यमें उसका पुरुषार्थ कारण है अन्य साधक बाधक कारण नहीं।

जीव अपनी शुद्ध पर्याय प्रकट करनेमें अपने पुरुषार्थका जब अवलम्बन करता है, स्वाश्रयी बनता है, पराश्रय छोड़ता है, तब बाधक निमित्त रूप कर्मोदय विद्यमान भी रहें तो वह उन्हें विफल कर देता है। उनकी निर्जरा ही करता है, इसीको उदयका विफल करना कहते हैं ॥१५१॥

इसी आशयको प्रकारान्तरसे निम्न कलशमें आचार्य प्रकट करते हैं—

कर्त्तारं स्वफलेन यत्किल बलात् कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

अन्वयार्थ—(यत्किल कर्म एव) जिस कारणसे कर्म ही (स्वफलेन) अपने फलस्वरूप सुख दुख आदि भावोंसे (कर्त्तारं) कर्मके करनेवालेको (बलात्) जबरन (नो योजयेत्) संयोग नहीं करता, नहीं परिणमाता। किन्तु (फललिप्सुः एव हि) फलकी आकांक्षा करनेवाला व्यक्ति ही (कुर्वाणः) कर्म करता हुआ (यत् कर्मणः फलम्) कर्मोंका फल (प्राप्नोति) प्राप्त करता है। (तत्फलपरित्यागैक-शीलः) कर्मके फलको त्यागना ही जिसका स्वभाव है, ऐसा (हि मुनिः) मुनि षष्ठम, सप्तम गुण-स्थानारोही साधु (कर्म कुर्वाणः अपि) शुभाशुभ कर्मके सद्भावमें भी (तदपास्तरागरचनः) उन सुख-दुखादि फलोंके प्रति राग-द्वेषकी रचनाको दूर करता हुआ, समताभावका आलम्बन कर (ज्ञानं सन्) ज्ञानरूप परिणमित हुआ (कर्मणा नो बध्यते) नवीन कर्मबन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥१५२॥

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मुनिजन अपने संयताचरणके आधारपर, अपनेको अपने स्वभावकी मर्यादामें रखते हैं, अपनी सीमाका उल्लंघन नहीं करते, वे कभी कर्मसे नहीं बँधते।

कर्म बन्ध तो रागद्वेष मोहादि विकारी भावोंसे होता है। यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मका उदय उस ज्ञानी मुनिको भी आता है, तथापि जैसे घोर वर्षामें भी मनुष्य अपने पक्के मकानमें जो निरास्रव हो, जिसमें पानी आने का मार्ग न हो, सुख पूर्वक बिना भीगे निवास करता है। घोरसे घोर वर्षा भी उसे भिगो नहीं सकती, इसी प्रकार अपने ज्ञान गृहके गर्भमें निरास्रव (कर्मास्रव-रहित) दशामें अपनेको रखनेवाला ज्ञानी, घोर कर्मोदयमें भी कर्मबन्धकी कालिमासे रहित होता है[1]। जिनके निजका निरास्रव घर नहीं है, वह अवश्य भीगता है। इसी प्रकार जो वीतरागी नहीं हैं, अथवा अपूर्ण वीतरागी हैं, वे कर्म बन्धनसे अधिक या कम मात्रामें लिप्त होते हैं।

जैसे वर्षाका जल घरमें बैठे सुरक्षित प्राणीको जबरन नहीं भिगोता, उसी प्रकार जो अपने निजज्ञान गर्भके बाहर नहीं आते, उन्हें कर्मका उदय रागी द्वेषी बलात् नहीं बनाता। यही कारण है कि ज्ञानी कर्मोदयको भोगते हुए भी कर्मबन्धनसे अलिप्त रहते हैं ॥१५२॥

---

१. प्रचण्डकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारण-सहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्।
—समयसार गाथा १८४-१८५ आत्मख्याति।

(१८८) **प्रश्न**—असंयत सम्यग्दृष्टि तथा देशसंयत श्रावक, स्त्री पुत्र कलत्रादि भोग सामग्रीको भोगते हैं। सर्वदेश या एकदेश हिंसा करते, सर्वदेश या एकदेश असत्य बोलते, सर्वदेश या एकदेश चोरी करते, स्त्रीमात्र या स्वस्त्री मात्रका सेवन करते, अपरिमित या परिमित परिग्रह अर्थात् पंचेन्द्रियोंके विषय साधक सामग्री संचय करते हैं। व्यापार-नौकरी, उद्योग, आदि द्वारा इन सब साधनोंको दिन रात बढ़ाते हैं। जिनधर्मके अनुयायी हैं अतः इनको ज्ञानी कहना तथा अबन्धक कहना, तथा जो जिनधर्मके अनुयायी नहीं हैं, इन सब कार्योंको वे अल्प मात्रामें भी करें, तो भी उन्हें मिथ्यादृष्टि तथा अनन्त संसारी मानना, ऐसा ही क्या आचार्यका उपदेश है ? यदि है तो यह घोर पक्षपात है।

समाधान—ऐसा कदापि नहीं है। कथनके तात्पर्यको प्रश्नकारने ठीक नहीं समझा, गलत समझा है, अन्यथा ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। जिन्हें आत्मदृष्टि है, अपने त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव, चिदानन्द मूर्ति, काम क्रोधादि विकार रहित आत्म स्वभावका दर्शन हुआ है, **वे सम्यग्दृष्टि हैं।** यहाँ जैन कुलोत्पन्न हैं अतः सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसी मान्यता आचार्योंकी नहीं है। किसी भी मानव कुलमें उत्पन्न अथवा पंचेन्द्रिय सैनी पशु कुलमें भी उत्पन्न हो; नरकमें उत्पन्न नारकी भी हो, यदि उसे आत्मदृष्टि प्राप्त है तो वह सम्यग्दृष्टि है, वही जैन मार्गी है।

जिसे आत्मदृष्टि प्राप्त नहीं हुई, सच्चे भेदज्ञान पूर्वक जिसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं हुआ, वह उत्कृष्ट स्वर्गोंका देव भी हो, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मानव हो, जैन कुलोत्पन्न श्रावक, तथा बाह्य महाव्रतका आचरण करनेवाला मुनि भी हो, पर वह **मिथ्यादृष्टि** है ऐसी जैन मान्यता है।

जो असंयत सम्यग्दृष्टि, तथा देश संयत श्रावक तथा महाव्रती षष्ठमादि गुणस्थानवाले साधु हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं। यह सत्य है कि चतुर्थ गुणस्थानवाले तथा पंचम गुणस्थानवाले **भोगोपभोग भोगते हैं**, तथापि **भोगोपभोगोंको वे भोगने योग्य नहीं** मानते, **उनमें रुचि नहीं रखते।** भोगोंको सुखकारक मानकर जैसा आसक्ति भाव मिथ्यादृष्टिको है, वैसा सम्यग्दृष्टिको नहीं है। उसने आत्मदर्शन किया है। अपने निर्विकार शुद्ध चिदानन्दको ही एकमात्र उपादेय, ग्रहण करने योग्य माना है। संसारके विषयोंको वह उपादेय, ग्राह्य नहीं मानता, तथापि त्याग नहीं किए, अथवा पंचम गुणस्थानमें अल्प त्याग किए हैं। अपनी स्वच्छ निर्विकारी श्रद्धाके अनुसार वह इनके सम्पूर्ण परित्याग न करनेपर भी अपना मुख त्यागकी दिशामें किए है। जितना ग्रहण अभी है उसे न त्याग सकनेका उसे दुख है। अतः जितना ज्ञानभाव जागता है उतने अंशमें वह अबन्धक हैं, और जितने अंश राग नहीं छूटा उतने अंश कर्मबन्धन करता है, तथापि तीव्र रागके अभावमें अल्प स्थिति-अनुभाग रूप बन्ध करता है अतः पूर्वापेक्षया अबन्धक है।

षष्ठमादि गुणस्थानवर्ती साधु भी बुद्धिपूर्वक सम्पूर्ण पापोंका परित्यागी है; अशुभभावके कारण भी उसने दूर कर दिए हैं, तो भी शुभराग आता है उससे पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध है, पर पूर्वकी अपेक्षा ज्ञानभावमें अधिक दृढ़ है, अतः 'अबन्धक' कहा जाता है।

वही मुनि जब अपने राग-द्वेषरूप परिणामको बुद्धिपूर्वक पूर्णरूपसे त्याग करता है, तब वह **'तत् परित्यागैक शील मुनि है'** ऐसा कहा गया है। वह मनुष्य पर्याय आदि पुण्य प्रकृति जन्य पर्यायोचित पुण्यको भोगता है, पापके उदयको भी भोगता है, तथापि रागादिकी रचनाके अभावसे

अपनी पदवी (गुण स्थान) के अनुसार कर्मबन्ध नहीं करता। ऐसा तात्पर्य आचार्यका हैं, इसे हृदयंगम करके सन्देह दूर करना चाहिए ॥१५२॥

जिसने कर्मके फलका परित्याग किया है वह ज्ञानी है, उसकी क्रिया भी अबन्धक है—

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतितेत्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥

अन्वयार्थ—(येन) जिस सम्यग्दृष्टि जीवने (**कर्मफलं त्यक्तं**) कर्मके फलका परित्याग किया है (**स कर्म कुरुते**) वह कर्म करता है (**इति वयं न प्रतीमः**) हम ऐसी प्रतीति नहीं करते। (**किंतु अस्यापि**) फिर भी इस ज्ञानीके (**कुतोऽपि किञ्चित् तत् कर्म**) कहींसे किसी प्रकारका कुछ कर्म (अवशेन) पूर्वबद्धावस्थाके उदयसे (**आपतेत्**) आ जावे (**तस्मिन्नापतितेऽपि**) तो उसके आनेपर भी (**अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितः**) अपने परम ज्ञान स्वभावमें अविचलित स्थितिवाला वह (**ज्ञान**) ज्ञानी पुरुष (**कि कर्म कुरुते**) क्या कर्म करता है (**अथ कि न कुरुते**) अथवा क्या कर्म नहीं करता (**इति**) इस बातको (**कः जानाति**) कौन जानता है ? श्री पाण्डेराजमल जीने ऐसा अर्थ किया है— (**ज्ञानी किं कुरुते**) ज्ञानी कर्म करता है, अनिच्छुक होकर सो क्या उसका कर्त्ता हुआ ? (**अथ न किमपि कर्म कुरुते**) क्रियाका कर्त्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है। (**कः जानाति**) कः नाम आत्मा ज्ञायक स्वभावमात्र है ॥१५३॥

भावार्थ—कर्मके फलके प्रति उदासीन ज्ञानीके कर्मास्रव नहीं होता। पूर्वबद्ध कर्मको उदयमें आनेसे वह रोक नहीं सकता, अतः इसकी इच्छाके बिना भी वे उदयमें आते हैं, तथापि उस उदयस्थितिमें ज्ञानी, कर्मके परवश नहीं होता, किन्तु अपनी अमल श्रद्धाके अनुसार अपने ज्ञान-स्वरूपमें लीन रहता है। वह अपना उपयोग अन्यत्र न जावे, अपनेमें रखे यही उसका **पुरुषार्थ है**। यह कार्य अत्यन्त कठिन है।

(१) सामान्य जनका यह अनुभव है कि वह अपने चित्तको स्ववश रखनेमें असमर्थ हैं। एक रोगी जानता है कि मिष्टान्न गरिष्ठ है, उसका भोजन करना उसके लिए अपथ्य (अहितकर) है, तो भी अपने मनकी लालसाको रोक नहीं पाता और अपथ्य सेवन कर लेता है।

(२) एक व्यक्ति चोरी करना लांछनीय है, अपराध है, अपवाद कारक है, दण्डनीय है, यह भलीभाँति जानता है, परन्तु छिपकर चोरी कर लेता है। अपवादसे वचने, दण्डसे वचनेके लिए नाना प्रकारके असत्यका अवलम्बन करता है। वह अपनेको वश नहीं कर पाता।

(३) एक धनी सामने ही गरीवको दुखी देखता है, उसकी दुर्दशापर अफसोस करता है, उसकी मदद करना चाहिए ऐसा जानता है, दूसरा व्यक्ति मदद करे तो उसकी प्रशंसा भी करता है पर स्वयं मानसिक लोभपर विजय नहीं पाता अतः उसकी मदद नहीं कर पाता।

(४) एक विद्वान् सामने उपस्थित विद्वान्‌की उत्कृष्टताको जानता हैं, स्वयं वैसा बनना पसन्द करता है, भीतरसे उसकी विशिष्टताओंसे प्रभावित है। **अपनी हीनता जानता है, कमजोरी**

का अनुभव करता है, **तथापि छल भरे शब्दोंमें प्रकारान्तरसे आत्म प्रशंसा और परनिन्दा करके व्यर्थ ही प्रसन्नताको प्राप्त होता है।** चित्तको वश नहीं कर पाता।

(५) एक व्यक्ति परस्त्रीको नागिन समान जानता है, स्वयंको सदाचारी रहनेमें अपनी उत्कृष्टता मानता है। परस्त्री लम्पटोंकी घोर निन्दा करता है, तथापि कामके वशीभूत हो चोरी से छिपावसे परस्त्रीकी भी इच्छा करता है। मनको रोक नहीं पाता।

(४) एक व्यक्ति सामायिक करता है। अपनी चित्तवृत्तिको सावधान रखता है, तथापि कुछ ही समय बाद उसे पता चलता है कि चित्तकी वृत्ति इतने अल्प समयमें भी आकाश-पाताल घूम आई। वह चाहते हुए भी चित्तको वश नहीं कर पाता।

ये कुछ उदाहरण हैं। इनमें देखा जाता है कि बड़े-बड़े शूरवीर-विद्वान् व सामान्य योगी भी, चित्तवृत्तिको स्थिर रखनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। अतः सिद्ध है कि **अपने उपयोगको अपने स्वरूपमें स्थिर करना ही सबसे बड़ा कड़ा पुरुषार्थ** है जो कि अभ्यास साध्य है। साधु प्रारम्भमें विषय कषायोंसे अपनेको हटाकर परम पुरुष परमात्माके गुणानुवादमें लगाता है। आचार्यों द्वारा प्रणीत आगमके अभ्यासमें लगाता है। तीर्थ वन्दना कर भाव पवित्र करता है। जब वह अपने पर इतना नियंत्रण कर लेता है कि चित्तवृत्ति विषय कषायों पर तथा तत्साधनों पर नहीं जाती, कोई कुतूहल व आश्चर्यको खोलनेकी उत्सुकता नहीं है, किन्तु अब अपने इष्ट पुरुषों व कार्योंमें रुक जाती है, तब वह इनसे भी चित्त मोड़ता है। **इन इष्ट महात्माओं जैसा स्वयं बननेको प्रयत्नशील होता है।** वह अपने चित्तको अपने स्वात्मचिंतनमें सीमित करना प्रारम्भ कर देता है। पर ज्ञेयसे चित्त हटाने पर, वह स्वयं राग-द्वेष रहित वृत्ति पर उतर आता है। ज्ञानकी वृत्ति राग-द्वेषसे, तथा उनके आलम्बनभूत परद्रव्योंसे **हटे और उपयोग अपनेमें ही सीमित हो जाय, यही मोक्षका सच्चा पुरुषार्थ है, यही सच्चा निश्चय सम्यग्चारित्र है।**

इस अवस्थामें कर्मोदयमें, तथा उसके फलके उपभोगकी **पराधीनतामें भी, उपयोगकी स्व-वशता उसने प्राप्त कर ली है।** आत्माधीनतासे वह कर्माधीनता पर स्वयं प्रहार करता है। अपने परमोत्कृष्ट शुद्ध ज्ञानके आनन्दमें अविचल यही स्थिति है जो उसके उदयागत कर्मको निष्फल बना देती है। ऐसा परम साधु अबन्धक तो है ही, उदयागत कर्मका निर्जरक भी है।

सातवेंसे दसवें गुणस्थान तक, गुणस्थानकी स्थितिके अनुसार कर्म **उदयागत होनेपर भी बुद्धिमें अस्वीकारतासे, अबुद्धिपूर्वक किंचित् रागादि हों तो कुछ आस्रव भी हो सकता है, पर वह जाना नहीं जाता।** और क्रमशः हीन होकर **सर्वथा** निरास्रव हो जाता है, मोक्षमार्गकी यही प्रक्रिया है, **यही पुरुषार्थ** है।

परके परिणमानेका पुरुषार्थ संसारका **पुरुषार्थ** है, मुक्तिका नहीं। पर परिणमाया नहीं जा सकता, फिर भी परको परिणमाऊँ ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टिकी है। इस मान्यताके कारण वह अनन्त काल तक परको परिणमानेका उद्योग करता रहता है। चूँकि वह कार्य अनन्त कालमें भी न कर सकेगा, क्योंकि वस्तु स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वके परिणमनका ही अधिकारी है, परके परिणमनका अनधिकारी है। तथापि भ्रमवश मैं परका करूँ ऐसा विचार कर प्रयत्न करते-करते जीवको अनादिसे अबतक अनन्त काल हो गया और अनन्त काल हो जायगा पर उसमें सफलता सम्भाव्य ही नहीं है।

जीवका संसार-परिभ्रमण तो तब छूटेगा जब वह **इस भ्रमसे छूटकर वस्तुस्वभावका भान करे।** अपना **पुरुषार्थ अपनी शुद्धिकरणमें करे, यही मोक्षमार्ग है। संयताचारी साधु ही** ऐसा करते है **अथवा जो ऐसा करते हैं वे ही संयताचारी हैं।** वे ही कर्मबंधन नहीं करते ऐसा आचार्य कहते हैं ॥१५३॥

सम्यक्त्वके आठ अङ्गोंमें प्रथम निःशंकित अङ्गका महत्त्व बतलाते हैं—

> **सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं**
> **यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।**
> **सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं**
> **जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥**

अन्वयार्थ—(भयचलत् त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि) भयके उत्पन्न होनेपर तीन लोकके प्राणी अपने मार्गसे जहाँ विचलित हो जावें ऐसे **(वज्रेऽपि पतति)** बज्रके गिरनेपर भी **(अमी)** ये सम्यग्दृष्टि जन **(अवध्यबोधवपुषं स्वं जानन्तः)** मैं ऐसा ज्ञानस्वरूपी शरीरवाला हूँ जो 'परके द्वारा अवध्य है' ऐसा जानते हैं, अतएव **(निसर्गनिर्भयतया)** स्वाभाविक निर्भयताके कारण **(सर्वामेव शङ्कां विहाय)** सब प्रकारकी शंकासे, भयसे रहित होकर **(बोधात् न च्यवंते)** अपने ज्ञान-स्वभावी उपयोगकी भूमिका नहीं छोड़ते। **(सम्यग्दृष्टय एव)** सम्यग्दृष्टि जीव ही **(इदं परं साहसं कर्तुं क्षमन्ते)** इस प्रकारका श्रेष्ठ साहस करनेमें समर्थ हैं ॥१५४॥

भावार्थ—सम्यक्त्वके प्रभावसे जीव निःशंक होता है। उसे किसी प्रकारकी शंका या भय नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं **'ज्ञानशरीरी हूँ'**। यह ज्ञान ही मेरा शाश्वत स्वभाव है। किसीके स्वभावको कोई दूसरा परिवर्तित नहीं कर सकता। यदि परिवर्तित हो जाय तो वह स्वभाव ही नहीं है, यह सुनिश्चित है।

जब मैं 'अवध्यज्ञान शरीरी हूँ' कोई पदार्थ या उसकी शक्ति मेरा कुछ बिगाड़ बनाव नहीं कर सकती, तब वज्रपात भी हो, तो उससे मेरे स्वभावमें क्या बिगड़ता है। आकाशसे वज्रपात हो तो वह भयंकर होता है, उन समस्त प्राणियोंको-जो पौद्गलिक शरीर वाले हैं और उसीमें निजत्व मानते हैं। वे इसलिए भयभीत हो जाते हैं कि इस वज्रपातसे शरीर जल जायगा, मिट जायगा। इसका मिटना मेरा मिट जाना है। इस **तरह शरीरके नाशमें अपना** नाश तथा **उसकी** उत्पत्तिमें अपनी **उत्पत्ति माननेवाले** जीव **'शुद्ध दृष्टि नहीं हैं।'** वे शरीर व आत्माके सच्चे भेदको न समझ दोनोंकी एकता मान बैठे हैं। फलतः शरीरके नाशमें अपना नाश मानकर दुखी व भयभीत होते हैं।

जिनको भेदविज्ञान हो गया हो और उसके आधारपर स्वात्मदर्शन हो गया है, ऐसे सम्य-ग्दृष्टि जीव यह जानते हैं कि यह शरीर पौद्गलिक है–मुझसे भिन्न स्वरूप वाला जड़ पदार्थ है। जीवकी **कर्माधीनताके फलस्वरूप यह जीवका कारागृह है।** कारागृहको दुखका कारण जानते हैं, अतः उसके प्रति **उनका अनुराग नहीं है।** फलतः उसके नाशमें अपने नाशकी कोई शंका या भय नहीं है।

सम्यग्दृष्टि इसीसे सहज ही **निःशंक** या निर्भय या **निष्कंप** है। इसीका फल है कि घोरोपसर्ग आनेपर भी वे अपने ज्ञानस्वभावमें रमते हैं, अपना उपयोग वहाँसे नहीं हटाते, यही उनका परम पुरुषार्थ है, जो संसारके समस्त बन्धन काटकर उन्हें अतीन्द्रिय अविनाशी सुख भी प्राप्त करा देता है। सम्यग्दृष्टिका साहस धन्य है ॥१५४॥

सम्यग्दृष्टि सात प्रकारके भयोंसे रहित होता है। इनका क्रमशः वर्णन करनेकी इच्छासे आचार्य सर्व प्रथम, इहलोकभय और परलोकभयसे सम्यग्दृष्टि रहित है, इसका विवेचन निम्न कलशसे करते हैं—

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५५॥

अन्वयार्थ (**विविक्तात्मनः**) संसारके समस्त अन्य पदार्थोंसे पृथक् आत्माका (**शाश्वतः**) सदाकाल चिरस्थायी, (**सकलव्यक्तः**) सम्पूर्ण रूपसे प्रकट, (**एषः एकः लोकः**) ऐसा यह एकमात्र ज्ञानलोक ही लोक है। (**यत्**) क्योंकि (**अयम् एककः**) आत्मा अकेला ही (**केवलम्**) केवल इसी (**चिल्लोकं**) चैतन्य लोकका (**स्वयमेव**) स्वयम् ही (**लोकयति**) अवलोकन करता है। (**अयं तव लोकः**) यही तेरा लोक है, (**न अपरः**) इसके सिवाय जो वर्तमान संसारी पर्याय तथा तत्संबंधी शरीरादि **पौद्गलिक जड़ या चेतन** पदार्थ हैं वह तेरा लोक नहीं है (**तदपरः**) वह तो तुझसे सर्वथा भिन्न हैं (**तद्भीः कुतः**) तो तुझे फिर भय क्या ? ऐसा जिसका सम्यक् श्रद्धान है वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव (**सततं निःशंकः**) निरन्तर सदाकाल निर्भय है। ऐसा (**स स्वयं सहजं ज्ञानं**) अपने सहज ज्ञानको ही (**सदा विन्दति**) सदा अनुभवता है। उसे इस शारीरिक संयोग वियोगरूप इहलोक परलोकका भय नहीं होता ॥१५५॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है। उस सम्यक्त्वके आठ अंग हैं। अंगका अर्थ भेद नहीं है, किन्तु जैसे आठ काठ के टुकड़ों के संयोग को 'खाट' ऐसी संज्ञा देते हैं इसी प्रकार इन आठ गुणोंकी समुदाय रूपमें सामान्य संज्ञा 'सम्यक्त्व' है। अतएव ये आठ सम्यग्दर्शनके अंग हैं ऐसा कहा जाता है। उनके ये नाम हैं—(१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना। इन आठ अंगोंका क्रमशः वर्णन मूलग्रन्थमें किया गया है। कलशोंमें इन सबका वर्णन नहीं है। अमृतचन्द्र स्वामीने कलशोंमें उन सप्त भयोंका विवेचन किया है जो सम्यग्दृष्टिमें नहीं होते। प्रकारांतरसे यह वर्णन निःशंकित अंगका ही है। आत्माके त्रिकाली स्वभावकी श्रद्धा ही निःशंकित अंग है।

शंकासे भयका जन्म है, अतः इस प्रकरणमें दोनों पर्यायवाची शब्द मान लिए गए हैं। वे सात भय मिथ्यादृष्टिको ही होते हैं। जो इस प्रकार हैं (१) इह लोक भय (२) परलोक भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) मरण भय (७) आकस्मिक भय।

इस कलशमें इह लोकभय और परलोकभय दोनोंसे मुक्तिकी कथा लिखी गई है।

यह समस्त दृश्यमान संसार अनन्तानन्त जीवोंका मेला है। सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त विभाव पर्यायोंको भोग रहे हैं। इन सबका पारस्परिक सम्बन्ध वस्तुतः कुछ नहीं है। सम्वन्धकी मान्यता भ्रमपूर्ण है, अर्थात् काल्पनिक है। प्रत्येक जीव अपनी पर्यायका भोक्ता है, वह सुखरूप हो या दुखरूप, स्वयं उसे ही भोगनी पड़ती है। उसकी निजकी विभाव पर्यायमें ही उसका संसार है। वह सोचता है कि मेरी वर्तमान इस पर्यायमें मेरेको कोई रोगादि न हो जाय। इस पर्यायका नाश न हो जाय। मेरे द्वारा सुखके लिए सञ्चित पदार्थोंका वियोग न हो जाय। मेरे कष्ट निवारक तथा सुखमें सहायक इष्ट जनोंका वियोग न हो जाय। अथवा मेरे शरीरका या आयुष्यका अन्त न हो जाय। इत्यादि प्रकारके विविध संकल्प-विकल्प संसारी मूढ़ मिथ्यादृष्टिको उठते रहते हैं। और वह इन शंकाओंके कारण सदा भयभीत रहता है। इसे 'इहलोक भय' कहते हैं।

जव यह मिथ्यादृष्टि जीव देखता है कि मरण अवश्यम्भावी है, शरीरका वियोग सवको देखा जाता है, तव मेरे शरीरका नाश अवश्य होगा। संसारके इस अकाट्य मरणके नियमका अपवाद मैं कैसे हो सकूंगा? इस शरीरकी रक्षाका जीवनभर प्रयत्न करनेके वाद भी यह जराजीर्ण हो गया। इसका टिकाऊपना अब नहीं रहता दीखता। अव इसे छोड़कर जाना होगा। पर कहाँ जाना होगा? क्या कोई अन्य लोक है? या कुछ नहीं है? मरणका अर्थ सर्वथा नाश हो जाना है क्या? तव क्या होगा? अथवा मरणोत्तर नया जन्म होता है ऐसा सुना जाता है, सो क्या यह सच है? यदि नया जन्म होगा तो कहाँ होगा? पशुओंमें, पक्षियोंमें, कीट-पतंगोंमें या वृक्षादि एकेन्द्रियोंमें? नरककी भयंकर ज्वालाओंमें भी तो जन्म होता है। तो क्या **मुझे इनमें कहीं जाना होगा? यदि इनमें न जाना चाहूँ तो क्या मेरी इच्छा चल सकेगी?** ऐसा मेरा वश तो नहीं है। कहते हैं अपने-अपने इस जन्मके किए कर्मके अनुसार जीव नया जन्म लेते हैं। तो मेरे ऐसे कौनसे सत्कार्य इस जन्मके हैं कि मैं उत्तम जन्म पाऊँ? फिर जन्म भी तो भयंकर है। गर्भकी वेदनाके कष्टका तो विचार मात्र भी कष्टप्रद है। हाय क्या करूँ? परलोककी कल्पना करते ही भय लगता है। इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्प जीवको आते हैं, इसे "परलोक भय'. कहते हैं।

जिन्हें अभी परलोकका समागम समीप नहीं दीखता, अथवा इसी जीवनमें मत्त हैं, परलोक की तरफ दृष्टि ही नहीं है, वे इस लोकमें पाए जानेवाले भयसे त्रस्त हैं। जिन्हें परलोक जाना समीप दिखाई दे रहा है वे इस लोकके वियोगसे इष्ट सामग्री व इष्टजनके छूटनेके भयसे तथा आगामी कालमें अनिश्चितिके भयसे त्रस्त हैं। इन दोनोंसे ही ससारके सभी प्राणी त्रस्त हैं, शंकाशील हैं, भयभीत हैं। इन सव अनन्त प्राणियोंमें एकमात्र सम्यग्दृष्टि प्राणी ही निर्भीक है।

(१८९) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि तो सव जानता व मानता है। उसे तो इहलोककी भी श्रद्धा है और परलोकके अस्तित्वकी भी श्रद्धा है। तव उसे तो इन दोनों लोकोंके सुनिश्चित परिभ्रमणकी, और उनमें प्राप्त दुखोंकी भूमिकामें और भी अधिक भयभीत होना चाहिए। आप कहते हैं कि वह दोनों प्रकारके भयोंसे रहित है तो इसका क्या कारण है?

समाधान—कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अपने ध्रुव चैतन्य स्वरूपको प्राप्त कर सकी है। वह इस चैतन्यलोकमें है, और सदा इसी चैतन्यलोकमें रहेगा। सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिमें शरीर पौद्गलिक जड़ रूप एक अपनेसे भिन्न वस्तु है। उसके विनाश होने पर वह आत्माका नाश

नहीं देखता, और न उसकी उत्पत्तिमें अपनी उत्पत्ति देखता है। केवल पूर्वबद्ध कर्मके संयोगकी भूमिकामें होनेवाला यह लोक मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा चैतन्यस्वरूप ही मेरा लोक है। जब तक कर्मका संयोग है तब तक शरीरका संयोग होता ही रहेगा। अनादि कालसे यह परम्परा चली आई है। जब तक मुक्ति न होगी यह परम्परा बनी रहेगी। इसमें हर्ष विषाद सम्यग्दृष्टिको नहीं होता। अतः वह शंका रहित भय रहित है।

(१९०) **प्रश्न**—यह बात आपकी सत्य नहीं है। बालककी उत्पत्तिका माता-पिता उत्सव मनाते हैं। मरणका शोक मनाते हैं, यह सब करना क्या मिथ्या है ?

समाधान--अवश्य मिथ्या है। जो माता-पिता अपने शरीरके प्रति मोही हैं तथा काम भोगकी विडम्बनासे उत्पन्न बालकके प्रति अनुराग करते हैं वह उनका मोह है,[अतः उसका उत्सव मनाते हैं। **यथार्थ में इसमें उत्सव मानने जैसी कोई बात नहीं है। सब जगत्का मोह परिणाम** ही है।

(१९१) **प्रश्न**—यदि आपकी बातको स्वीकार कर लें, तब तो संसारमें कोई **सन्तानका परिपालन ही न करे। सभी निर्दय हों,** बालकका पालन पोषण कौन करे ? जीव रक्षाकी बातको आप **मोह परिणाम** कहते हैं तो क्या मोह परिणाम छोड़ निर्दय परिणाम करना चाहिए। क्या निर्दय जीव सम्यग्दृष्टि कहा जायगा ?

समाधान—नहीं। वस्तुके तत्त्वको समझिए। जब मोही प्राणी कामभावसे संतप्त होता है तब कामसंपर्क करता है। इसी प्रकार कामकी वासनासे संतप्त स्त्री पुरुषका समागम होता है। उनके उस समागमके फलस्वरूप यदि कोई सन्तान होती है तो माता-पिता उसे इसलिए **प्यार** करते हैं कि वह **उनकी कामवासना का फल है। जीवरक्षा की पुण्य भावनासे उसे नहीं पालते।** यदि ऐसा होता तो स्वयं 'परकी सन्तान' जिन्हें मानते हैं—उनका भी यथोचित पालन पोषण रक्षण करते। जीवोंके प्रति दया परिणाम पालन करनेका बहुत विस्तृत क्षेत्र है उसे छोड़कर केवल अपनी भोगक्रियाजन्य बालकके प्रति अनुराग, मोहका ही परिणाम है। दया परिणाम नहीं है।

(१९२) **प्रश्न**—क्या सम्यग्दृष्टिको अपनी देहका भी मोह नहीं होता ? क्या वह **उसकी रक्षा** नहीं करता ? उसके लिए विविध **सामग्री का सञ्चय नहीं** करता ? शत्रुसे बचाता नहीं ? **रोग का इलाज** नहीं करता ? औषधि **सेवन** नहीं करता ?

समाधान—करता है, पर मोह परिणामसे नहीं। वह शरीरमें निजत्व नहीं देखता। वह अपनेसे भिन्न—जड़ वस्तु है—मैं चैतन्य का अखण्ड पिंड हूँ, ऐसी मान्यताके कारण शरीरकी रक्षा करता हुआ भी शरीरमें मोह नहीं करता। शरीर और आत्माका भेदविज्ञान जिन्हें नहीं है, वे शरीरकी उत्पत्तिमें अपनी उत्पत्ति, और शरीरके नाशमें अपना नाश देखते हैं। वे बहिरात्मा मिथ्या-दृष्टि हैं। उन्हें शरीरके प्रति मोह परिणाम होता है। उनके इहलोक और परलोक भयका कारण यही मोह है। दर्शन मोह कर्मके उपशम-क्षय क्षयोपशमकी अवस्था होनेपर आत्म सूर्यका प्रकाशमय उदय जिनके हुआ है वे जीव सम्यग्दृष्टि हैं, उनका मोह परिणाम अस्त हो गया। देहात्म भेद विज्ञान प्रकट हो गया। अतः उस देहके संयोग वियोगसे हर्ष विषाद नहीं होता।

(१९३) **प्रश्न**—लोकमें धर्म प्रभावना हेतु जन्मोत्सव मनानेमें क्या हानि है? धर्मात्मा पुरुषोंकी ही तो जन्म जयंतियां हम मनाते हैं। इससे तो धर्मकी प्रभावना ही होती है।

समाधान—इस प्रश्नका समाधान पहिले कलश १० की टीका में कर दिया है। धर्म प्रभावना तीर्थंकरोंके कल्याणकोंके मनानेसे होती है। जिन धर्मात्माओंके जन्मकी आप जयन्ती मनाते हैं, वे जन्मके समय 'सामान्यजन' थे, सम्यक्‌दृष्टि नहीं थे। पंचमकालमें कोई सम्यक्‌दृष्टि जीव यतः मनुष्य पर्यायमें जन्म नहीं लेता। अतः मिथ्यादृष्टिकी जयन्ती मनाना प्रकारान्तरसे मिथ्यात्व पोषण ही है। जो महाव्रती महाव्रतको प्राप्त हुए उनके **'दीक्षा दिवसको यदि मनाया जाय तो उचित माना जा सकता है** क्योंकि 'मुनिपनेका जन्म' दीक्षाके समय हुआ है। जन्म **तो उनकी अव्रती दशाका हुआ था।** व्रती अपनी अव्रती दशाका उत्सव मनावे, या दूसरोंको मनानेकी प्रेरणा दे तो इससे बढ़कर अविवेककी बात कोई नहीं है।

अतः जन्मकी **खुशी जिन्हें है वे देह संयोगकी खुशी मानते हैं। जब कि सम्यग्दृष्टि देहको कारागारकी तरह दुखदायक अनात्मरूप मानता है।** अनात्मरूप पदार्थोंको सम्यग्दृष्टि हेय तत्त्व मानता है। यही कारण है कि उसे उनके संयोग या वियोगमें हर्ष विषाद नहीं है। **संयोगमें हर्ष हो तो वियोगमें विषाद भी अवश्यंभावी है।**

(१९४) **प्रश्न**—विद्वान्, धर्मात्मा, प्रवक्ता या त्यागी व्रती, साधुजन स्वयं अपनी जयन्ती नहीं मनाते, न मनाने की प्रेरणा करते हैं। **यह कार्य तो धर्म प्रभावनाके उद्देश्यसे उनके भक्तजन किया करते हैं** अतः **उनको इसका दोष प्राप्त नहीं होना चाहिये?**

समाधान—प्रथम तो सज्जनों को **ऐसा स्वीकार नहीं करना चाहिए** कि आप मेरा जन्मोत्सव मनाओ। फिर भी यदि भक्तजन मनाते हैं **तो भक्तोंके हितकी दृष्टिसे ऐसे कार्यसे उन्हें रोकना चाहिए। यह कार्य धर्मप्रभावनाका नहीं है, व्यक्ति प्रभावनाका भले ही हो।** जो कार्य धर्मका है नहीं उससे धर्म प्रभावना कैसी? **मिथ्या मान्यताको प्रोत्साहित करना अकल्याणकारी है।**

इहलोकके पदार्थ, शरीर तथा पंचेन्द्रियोंके साधनभूत सचेतन-अचेतन-या मिश्र पदार्थ हैं। इनके संयोगमें हर्ष मनानेका अर्थ है कि इनका वियोग, जो अवश्यंभावी है, उसके प्रति विषादकी भावना होगी, तथा इस विषाद प्राप्तिकी आशंकाका भय होगा। यही तो **इहलोक भय** है।

सम्यक्‌ज्ञानी पुरुष, परमें निजत्वकी मिथ्या कल्पनाका दूरसे ही परिहार करता है, अतः उसे परके संयोग-वियोगमें किसी प्रकार हर्ष विषाद, भय या आश्चर्य नहीं है। वह अपने चैतन्य चिदानन्द ज्ञानमूर्त्तिमें रमता है अतः उसी लोकमें उसका निवास है। अन्य लोक न उसके हैं, न उनमें रमता है, न उनका उसे भय या शंका है। उसका जो चैतन्य लोक है वह उसीको देखता है। निःशंक निर्भय होकर वह अपने सहज ज्ञानका ही अनुभव करता है।

श्री शुभचन्द्रजीने इस श्लोकका अर्थ भिन्न प्रकारसे दिया है, उसे उसका सारांश इस प्रकार है—यह लोक शाश्वत है। किसीका बनाया नहीं है, न अन्य कोई लोक इसके अलावा है। सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा ज्ञात है अज्ञात नहीं। वे उसे ही अवलोकन करते हैं तब सम्यग्दृष्टिको उसकी नित्यताकी श्रद्धाके कारण भय नहीं है। और अन्य लोकके अभावसे परलोकका भी भय नहीं है। ईश्वर कर्तृत्वका भी यहां निषेध किया गया है ॥१५५॥

(१९५) प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव वर्तमान अवस्थामें सशरीर तो है। भले ही शरीरसे भिन्न पदार्थ हो तथापि शारीरिक वेदना मेरे न आवे ऐसी चिन्ता तो वह करता ही होगा ?

समाधान—वह ऐसी शंका भी नहीं करता इसी बातको आगामी कलशमें स्पष्ट करते हैं—

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।१५६।।

अन्वयार्थ—(अनाकुलैः) निराकुल सम्यग्दृष्टि जीवोंके द्वारा (सदा) निरन्तर ही (निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदकबलात्) अभेद रूपसे अपनेमें उत्पन्न जो वेद्य-वेदक भाव, उसकी पूर्ण सामर्थ्यसे (एकं) एकमात्र (अचलं) निश्चल (ज्ञानं) ज्ञान भाव ही (स्वयं वेद्यते) स्वयं रूप अनुभव किया जाता है। (एषा एका एव हि वेदना) यही एकमात्र उनका वेदन है (अन्यागतवेदना एव हि न) इसके सिवाय अर्थात् ज्ञानानुभवनके सिवाय अन्य पदार्थ पौद्गलिक शरीरादि-गत वेदन उनको निश्चयसे नहीं ही है। तब (तद् भीः कुतः ज्ञानिनः) उसका भय ज्ञानीको कैसे हो (स) वह तो (सततं निश्शंकः) सदा निर्भय होकर (स्वयं सहजं ज्ञानं) अपने सहज स्वाभाविक ज्ञान स्वरूपको ही (सदा विन्दति) सदा अनुभवन करता है ।।१५६।।

भावार्थ—वेदना पीड़ाको कहते हैं और वेदना अनुभवको भी कहते हैं ऐसी व्याख्या लोकमें प्रचलित है। तथापि पीड़ा भी अनुभव रूप ही है। ज्ञान द्वारा ही उसका अनुभव किया जाता है। अतः इस दृष्टिसे दोनों एकार्थक हैं।

जब मिथ्यादृष्टि जीव देहमें आत्मबुद्धि करता है तब देहमें होने वाले रोगादिकी पीड़ाका अनुभव करता है। उसका ज्ञानोपयोग उसीको वेदता है। कर्मोदय जन्य समस्त सुख दुःखोंका वेदन ज्ञानके उपयोगसे ही होता है। यदि उपयोग अन्यत्र हो जाय तो उस कालमें सुख दुःखका वेदन नहीं होता।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि सदा विकल्पकी भूमिका छोड़कर, अभेद अखण्ड आत्मापर अपना उपयोग रखता है। अतः आकुलतारहित होता है, और उसी निराकुलतामें स्वयं वेदक और स्वयं वेद्य, ऐसी अभेद दशाको जब प्राप्त होता है, तो अन्य पदार्थकी वेदना, अनुभवनपना, से रहित होता है। उस समय शरीरादिमें रोगादि पीड़ा हो तो भी उसे उसकी वेदनाका अनुभव नहीं होता। जिसका शरीरकी ओर उपयोग ही न हो उसे तत्संबंधी वेदना भी कैसे होगी। उसकी वेदना, अनुभवनपना तो एकमात्र अपने स्वरूपकी वेदना ही है, वह परकी समस्त आकुलताओंसे रहित निर्भयपनेसे अपने सहज ज्ञानस्वभावके वेदनको ही स्वीकारता है। यही कारण है कि सांसारिक वेदनाभय उसे नहीं होता। इस तरह सप्तभयोंमें तृतीय भयसे भी वह रहित है ऐसा जानना चाहिए।

(१९६ प्रश्न—शरीरमें पीड़ा हो और उसका सम्यग्दृष्टि वेदन न करे, यह बात क्योंकर संभव है ? सभी संसारीजन शरीरगत वेदनाका अनुभव करते हैं।

समाधान—ऐसा नहीं है। ज्ञान होना अलग बात है और पीड़ामें व्यथित होना अलग बात है। जब शरीरसे मोह होता है उस समयकी पीड़ाके अनुभवमें, तथा शरीरके प्रति निर्मोह दशामें, पीड़ाके अनुभवमें अन्तर है। प्रथम मोही व्यक्ति उस पीड़ामें रागद्वेषरूप परिणमन करता है, वह शरीरकी हानिको अपनी हानि मानता है, जबकि निर्मोही, 'शरीर परपदार्थ जड़ात्मक है उसके नाशमें मेरा नाश निहित नहीं है' ऐसा मानता है। सुख दुःखकी उत्पत्तिमें 'मान्यता' का बहुत बड़ा हाथ होता है।

एक उदाहरणसे समझिए—एक बालक नीली कमीज पहिने अपने घरके बाहर सड़कपर खेलता था। पिताने सड़कपर खेलनेको मना किया, पर उसने पिताके वचनपर ध्यान न दिया। आधा घंटे बाद एक मोटर उधरसे निकली। बार-बार हारन देने पर भी सामने वाला बालक दूर न हुआ और मोटरके नीचे आ गया। भीड़ इकट्ठी हो गई। पिताको चिंता हुई कि क्या हो गया ? दूरसे देखता है कि नीली कमीज वाला बालक मोटरके धक्केसे घायल हो गया। उसे दस कदम चलनेपर मूर्च्छा आ गई। मूर्च्छा आनेपर उसकी दुकानसे सब नौकर-चाकर दौड़े। उसे उठाकर दुकानपर लाए। उपचार किया। होश आनेपर रोने चिल्लाने भागने लगा। दरवाजेपर उसका वही पुत्र खड़ा था, उसने कहा पिताजी कहाँ जाते हो ? पिता अपने बालकको देखता है तो तुरन्त शोक भूल जाता है। वह बालक जो घायल हो गया है किसी अन्यका है, इतना सुनते ही उसका तमाम दुःख दूर हो गया। पूर्वमें सोचा था कि 'मेरा बालक कुचल गया' तो अपार कष्ट पाया, दूसरे समय मालूम हुआ कि वह बालक मेरा नहीं है, पराया है, तो दुःख दूर हुआ। इसी तरह शरीर अपना है ऐसा जानने वालेको अपार दुःख होगा। शरीरमें परत्वका यथार्थ भान करने वाला दुःखी न होगा।

(१९७) **प्रश्न**—शरीर आत्माका संयोग है तो पीड़ा होगी। चाहे वह मान्यतामें 'स्व' हो या 'पर'। एकक्षेत्रावगाहताके कारण दुःख दोनोंको समान होगा ऐसी हमारी मान्यता है।

समाधान—मान्यता इसलिए है कि शरीरके सम्बन्धमें आप निजत्वका परित्याग नहीं कर सके। जो भी व्यक्ति जो कुछ निर्णय करता है, अपने अनुभवके आधारपर करता है। तथापि उसे दूसरे अनुभवीके अनुभवका भी लाभ उठाना चाहिए।

(१९८) **प्रश्न**—क्या आपका शरीरसे निजत्व परिणाम छूटा है और आप शारीरिक रोगकी पीड़ामें दुःखका अनुभव नहीं करते।

समाधान—करते हैं। इसका कारण शरीरको अपनेसे भिन्न जानकर भी उससे पूर्ण मोह नहीं छूटा। जिनका छूट गया है वे अनुभवी साधुजन ऐसा कहते हैं कि शरीरका मोह छूट जाने से शरीरमें क्या हो रहा है इस तरफ ज्ञानी उपयोग ही नहीं लाते। ज्ञान सुखका हो या दुःखका हो, उपयोग वृत्तिके आधारपर होता है। ज्ञानी अपने उपयोगकी वृत्ति शरीरादि समस्त पर द्रव्यों-की ओरसे हटा लेते हैं, तब तज्जन्य सुखका भी अनुभव नहीं करते और तज्जन्य दुःखका भी अनुभव नहीं करते। अपने ज्ञान स्वभावमें उपयोग वृत्ति होनेसे उसीका वेदन करते हैं। अतः शरीरमें राग निमित्तक शारीरिक वेदनाका भय उन्हें नहीं है।

जब मुनिराज सप्तमगुणस्थानसे श्रेणीपर आरूढ होते हैं, तब उनका उपयोग बुद्धि पूर्वक रागादि परिणतिसे रहित होता है। वे अपनी आत्माके ध्यानमें रमण करते हैं। ऐसे समय कोई

दुष्ट घोरसे भी घोर उपसर्ग करे तो भी उनका उपयोग उस व्यक्तिकी तरफ, उस उपसर्गकी तरफ, या अपने शरीरकी तरफ नहीं जाता। तबही वे निर्विकल्प ध्यानी, समस्त घातिया कर्मोंका क्षय कर केवली बनते हैं। यदि उनका किंचित् भी उपयोग ज्ञानस्वभावी आत्मासे हटकर शरीरादि पर आवे, तो घाति कर्मका क्षय नहीं हो सकता। जैसे—

(१) भगवान् पार्श्वनाथपर कमठके जीवका उपसर्ग।

(२) सुकुमालपर स्यारनी कृत उपसर्ग।

(३) पांडवोंपर दुर्योधन पक्षके दुष्टों द्वारा किया उपसर्ग। शास्त्रोंमें ऐसे बीसों उदाहरण हैं जिनसे यह सब सिद्ध है।

(१९९) **प्रश्न**—आप महापुरुषोंके दृष्टान्त देते हैं। उनके अनुभवको वे जानते हैं। हमें अनुभव कराइए कि हम समझ सकें कि उपयोग वृत्ति अन्यत्र होने पर शरीरकी पीड़ाका भान नहीं होता ?

समाधान—सुनिए। एक व्यक्ति दुकानदार है दिनके बारह बजे हैं। भूख लग आई है। पर दुकानपर एक ऐसा ग्राहक आ गया है जो कई हजारका सौदा ले रहा है। वह मोलभाव भी अधिक नहीं करता—विश्वास करता है। जो भाव सौदाका बता देवे उसे लेना स्वीकार कर लेता है। सौदेका रुपया भी नगदी दे रहा है। दुकानदार सोचता है, इतना मुनाफा मुझे गत एक माहमें भी नहीं हुआ—जो मुझे आज मिल रहा है। सौदा बेचते-बेचते उसे दो बज गये। पेटमें भूख है पर उपयोग उस ओर नहीं है। बड़ा लाभ जो मिल रहा है।

इतनेमें घरसे नौकर आता है कि सेठजी बहुत देर हो गई, खाना खाने चलो। वह कहता है जाओ-जाओ फुरसत नहीं है। शाम तक खा लेंगे। इस समय शारीरिक पीड़ा भूखकी है, पर उपयोगकी वृत्ति अन्यत्र होनेसे, अधिक लाभकी मान्यताके कारण दुःखी नहीं होता। तथापि इसी समय घरसे खबर आई कि एकमात्र आपका लाड़ला पुत्र छतपरसे नीचे गिर पड़ा, काफी चोट आगई है। इतना सुनते ही पुत्रके रागसे वह सौदेका राग छोड़कर घरकी तरफ भागता है। उपयोग अब पुत्रके बचाव पर है, अब न भूखका दुःख है, न सौदा बिकनेका सुख है। एकमात्र उपयोग पुत्र की सुरक्षापर है।

(२) मखमलके गद्देपर सोनेवाला सोती अवस्थामें जमीनपर लुढ़का दिया जाय तो उसका उपयोग मखमलपर व जमीनपर नहीं जाता। अतः तज्जन्य सुख दुःखका वेदन नहीं होता।

(३) सुप्तावस्थामें जागृत दशाके सम्पूर्ण संसार व वैभव परसे उपयोग हट जाता है। अतः यदि लुट रहे हो तो सुप्तावस्थामें उसका दुःख नहीं होता। जागृत होनेपर उस तरफ उपयोग जावे तो दुःख होता है।

(४)किसीका पिता सोमवारको मरणको प्राप्त हुआ। उसे बुधवारको तार मिला। उपयोग के अभावमें उसे सोमवार तथा मंगलवारको कोई दुख नहीं हुआ।

(५) सामायिक करते, पूजा-पाठ करते, स्तुति करते हुए यदि उपयोग अन्यत्र चला जावे तो उक्त धार्मिक क्रियाएँ भी भूल जाती हैं क्योंकि उपयोग नहीं है।

उक्त लौकिक जनोंके अनुभव किये गये उदाहरणोंसे सिद्ध है कि सुख या दुःखका अनुभवन उपयोगवृत्तिके आधारपर होता है।

ज्ञानी साधुजन अपना उपयोग जितना-जितना परसे हटाकर स्वकी ओर लगाते हैं, उतना-उतना ही परनिमित्तजन्य विकल्पों, आकुलताओं, सुख-दुःखों तथा रागद्वेष परिणामोंसे वे दूर रहते हैं। यही कारण है कि शरीरादि परसे उपयोग हटाकर, स्वात्मरमण करने वाले सदुपयोगी **साधुओं को, पदवीके अनुसार श्रावकों व अविरत सम्यग्दृष्टियोंको** भी, **शरीरादिजन्य पीड़ाकी** वेदना **नहीं** होती। अतः वे **वेदनाभय से रहित हैं** ॥१५६॥

(२००) प्रश्न—सभी संसारी प्राणी परसे ही अपनेको रक्षित मानते हैं। रक्षकके अभावमें त्रस्त होते हैं। क्या सम्यग्दृष्टि रक्षकके अभावमें शंकाशील नहीं है?

समाधान—नहीं। वह अपने एकत्वका, अपने अविनाशी स्वभावका वल रखता है, अतः उसका विश्वास है कि वह अपने स्वभावमें सुरक्षित है। उसका नाश ही असम्भव है तव अरक्षितता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसे ही अरक्षा भयका अभाव कहते हैं।

निम्न कलशमें यही प्रतिपादित है—

यत् सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(**यत् सत् तत् नाशं न उपैति**) जो समस्त वस्तु जगत्में सत्तारूप है वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होती। (**इति**) इस प्रकारकी (**नियतं वस्तुस्थितिः**) वस्तुकी मर्यादा निश्चयसे (**व्यक्ता**) प्रकट है। इसमें फेर-फार न हुआ, न है, न होगा। इसी नियमके अनुसार (**ज्ञानं सत्**) मेरा आत्मा जो ज्ञानस्वरूपी है वह भी सत् है (**तत् स्वयमेव किल**) उसकी यह सत्ता स्वयमेव है। परकृत नहीं, ऐसा निश्चय है। (**ततः**) इसलिए (**अस्य**) इन ज्ञानकी या आत्माकी (**अपरैः**) दूसरोंके द्वारा (**त्रातं किम्**) रक्षा कैसी? (**अस्य अत्राणम्**) इसकी असुरक्षा (**अतः न किञ्चन**) अतः कुछ नहीं है। जबकि ऐसा है, तव (**ज्ञानिनः**) ज्ञानी पुरुष, (**तद्भीः कुतः भवेत्**) असुरक्षाका भय कहाँ से होगा? अर्थात् हो ही नहीं सकता। (**स**) वह ज्ञानी पुरुष (**सततं निश्शंकः**) निरंतर निर्भय निश्शंक होकर (**स्वयं**) अपने आप अपने (**सहजं ज्ञानं**) स्वाभाविक सहज ज्ञानानंद स्वभावका (**सदा विन्दति**) सदा अनुभव करता है ॥१५७॥

भावार्थ—जो पदार्थ है वह स्वयं 'सत्' रूप है। उसका अस्तित्व स्वयंका स्वयंसे है। 'सतो न विनाशः' जो है उसका नाश नहीं होता तथा 'नाऽसतः उत्पत्तिः' जो है नहीं, उसकी, नवीन द्रव्य की, उत्पत्ति नहीं होती। इस अकाट्य नियमका कोई अपवाद नहीं है।

ऐसी स्थितिमें ज्ञानी विचारता है कि मैं भी एक 'सत्तावान्' पदार्थ हूँ। मेरी उत्पत्ति नहीं है, मैं 'अनादि-अनन्त' पदार्थ हूँ। **जव मेरा नाश हो ही नहीं सकता तो असुरक्षितताका प्रश्न ही नहीं आता।** जव असुरक्षित नहीं, स्वयं स्वरूपसे ही सुरक्षित हूँ, तो 'मेरा कोई रक्षक नहीं'

ऐसी शंका भी नहीं होती। अत: किसीको अपना रक्षक मानकर उसकी खोज व्यर्थ है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टिकी है। उसे असुरक्षाकी शंका नहीं—भय नहीं है। वह असुरक्षाभयसे मुक्त है और सदा काल अपने सहजानंद परिपूर्ण, ध्रुव, शाश्वत स्वभावपर दृष्टि रखकर उसीका अनुभव करता है। यही उसका अत्राणभयसे रहितपना है।

(२०१) **प्रश्न**—सिद्धान्ततः यह कथन ठीक है, पर सिद्धान्तमें तथा व्यवहारमें अन्तर है। मुनिजनतपस्या करते हैं। दुष्टजन उपसर्ग करते हैं, और सम्यग्दृष्टि श्रावकजन उनका उपसर्ग दूर करते हैं। क्या सम्यग्दृष्टि श्रावकोंके लिए मुनिजनके उपसर्ग दूर करनेकी आज्ञा शास्त्रोंके आचार्योंने नहीं दी ?

समाधान—दी है। श्रावक अपने धर्मानुरागसे ऐसा करते हैं और करना चाहिए, **तथापि जिन पर उपसर्ग है वे रक्षाकी आकांक्षा नहीं करते।**

(२०२) **प्रश्न**—श्रावक यदि सम्यग्दृष्टि है तो वह स्वयं जानता है कि आत्मा मेरी भी अरक्षित नहीं है, उपसर्ग सहित मुनिकी भी आत्मा अरक्षित नहीं है। तब क्या आवश्यकता है कि वह उपसर्ग दूर करनेकी वृथा चेष्टा करे ?

समाधान—यद्यपि सिद्धान्ततः आचार्य भी जानते हैं और श्रावक भी जानते हैं, तो भी धर्मात्माकी उस "मुनि पर्याय" की सुरक्षाका उपदेश देते हैं। ताकि उनके द्वारा धर्म प्रवृत्ति रहे। तथा वे स्वयं भी धर्म साधन कर सकें।

(२०३) **प्रश्न**—यही तो हमने प्रारंभमें कहा था कि सिद्धान्त अलग है और व्यवहार अलग है। यह उपदेश आचार्योंके सिद्धान्तसे भिन्न व्यवहारपरक हैं। सिद्धान्तसे व्यवहार प्रायोगिक होनेसे श्रेष्ठ है। सिद्धान्त तो मात्र बुद्धिका व्यायाम है ?

समाधान—ऐसा नहीं है। व्यवहार जो धार्मिक आधारपर किया जाता है वह शुभराग है। उपदेश भी शुभराग है, और उपसर्ग दूर करना भी शुभराग है। इस शुभरागसे धर्मकी परम्परा तो चलती है पर मुक्ति नहीं होती। मुक्ति व्यवहार छोड़कर, सिद्धान्तका आश्रय करनेसे होती है। अत: सिद्धान्त श्रेष्ठ है व्यवहार हेय है।

(२०४) **प्रश्न**—तब ऐसे हेय व्यवहारका उपदेश देना आचार्योंके लिए ठीक नहीं है। स्वयं सिद्धान्तसे विचलित होकर हेय मार्गपर आते हैं, और शिष्योंको भी सिद्धान्त मार्गसे विचलित कर हेय मार्ग पर लाते हैं। ऐसे स्व-पर अकल्याणकारी साधुओंका उपदेश भी श्रावकोंको सुनना व मानना नहीं चाहिए ?

समाधान—परको सुनाना व सुनना दोनों शुभ व्यवहार हैं यह सत्य है, और व्यवहार हेय है यह भी सत्य है, पर आचार्य 'सिद्धान्त' से उतारकर व्यवहार पर नहीं लाते, किन्तु व्यवहारके प्रयोगसे सिद्धान्तके मार्गपर लाते हैं। सिद्धान्तका यदि जीवनमें आलंबन आ गया तो सिद्धान्ती साधु, स्वयं किसीसे रक्षाकी आकांक्षा नहीं करता। आत्मद्रव्य तो सुरक्षित है। पर्याय वर्तमान असुरक्षित है, वह नाशवान् है, सो सिद्धान्ततः उसे भी कोई अविनाशी नहीं बना सकता। तथापि जितने समय मुनिकी मुनित्व पर्याय कायम रहे, उतने समय तक सन्मार्गकी परम्परा कायम रह सकती है। ऐसा मानकर जो विकल्प शुभरागके आए, उनसे ऐसा उपदेश कथन व श्रवण बनता

है। वह धर्मकी परम्पराके चलनेमें हेतुभूत होनेसे तत्काल ग्राह्य है, स्वयं वह धर्मरूप नहीं है। वह स्वयं धर्मरूप हो तो इसी शुभोपयोगसे मुनि व श्रावक मुक्त हो जायेंगे, पर ऐसा होता नहीं।

जैनाचार्य भी आत्मकल्याण हेतु अन्तमें सर्व व्यवहार छोड़ परमार्थका ही आश्रय करते हैं। उनका उपदेश भी यही है कि अशुभ व्यवहार छोड़ शुभरूप व्यवहार करो। यदि उसे भी छोड़कर शुद्धोपयोगी वन सकते हो तो साधुपद अंगीकार कर शुद्धोपयोगी वनो। आत्मकल्याण व्यवहारसे न होगा। परमार्थका आश्रय करनेवाले यति ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। सिद्धान्त वस्तुतः साध्य है, व्यवहार उसको पूर्ण प्राप्त करनेका एक मार्ग है।

(२०५) **प्रश्न**—यदि व्यवहार हेय है तो उसे स्वीकार करना ही अश्रेयकर है। उसका उपदेश देना व स्वयं पालन करना अनुचित है। परमार्थको छोड़कर व्यवहारका आश्रय करना शास्त्रोपदेशके विरुद्ध है?[1]

समाधान—यह यथार्थ है। पर सम्यग्व्यवहार परमार्थको छोड़कर नहीं चलता, किन्तु परमार्थको साध्यकोटिमें—लक्ष्य भूत वनाकर, उसकी प्राप्ति जव तक न हो तवतक, परमार्थियोंके वंदन स्तवन अनुकरणमें शुभरागरूप होता है। यदि कोई पुरुष सम्यग्व्यवहारका आलम्बन न करे और परमार्थ भी हाथमें न हो, तो मिथ्याचारी वन जायगा। अतः शुभका आश्रय उस स्थितिमें अनिवार्य है।

(२०६) **प्रश्न**—क्यों अनिवार्य है? क्या शुभसे शुद्धताका जन्म है? यदि कोई पुरुषार्थी शुभाशुभ प्रवृत्तिको परित्याग कर शुद्धोपयोग रूप परिणत हो तो क्या हो नहीं सकता? यदि हो सकता है, तो शुभाचारका उपदेश क्यों दिया जाता है?

समाधान—शुभसे शुद्धताका जन्म है—ऐसा नहीं है, किन्तु शुद्धोपयोगी ही तव वनता है जव शुभोपयोगका अभाव होगा। तथापि शुभोपयोग अशुभोपयोगसे ऊपर उठाता है। अशुभोपयोगकी प्रवृत्तिका परित्याग शुभोपयोग प्रवृत्तिके अवलंवनपर ही होता है।[2] सामान्य मार्ग ऐसा ही है। अतः शुभाचारका उपदेश दिया गया है। हाँ यदि कोई विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थसे एक साथ शुभाशुभका परित्यागकर शुद्धोपयोगी साधु वन सके तो उसका कोई निषेध नहीं है। ऐसा पुरुषार्थी शुभोपयोग करे ऐसा उपदेश जिनागमका नहीं है।[3]

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको ऐसी श्रद्धा है कि आत्मद्रव्य अपने आप सुरक्षित है, कोई अन्य रक्षक द्वारा रक्षित नहीं है। तथापि भावना ऐसी है कि यदि धर्मात्मा जन उपसर्गादिसे पीड़ित न हों, तो उनके धर्मसाधन अवाधित हो सकेंगे, तथा अन्य जन उनके संपर्कका लाभ उठा सकेंगे, अतः धर्मात्मा साधक पर आये उपसर्गको दूर करनेकी शुभ भावना होती है, जो शुभराग रूप है। वह सिद्धान्त पक्षकी तुलनामें अपराधरूप है। उसका फल स्वयंके लिए पुण्य प्रकृतियोके वंध रूप ही है।

---

१. मोत्तूणणिच्चयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्टन्ति। परमट्ठमस्सिदाण दुजदीण कम्मक्खओ विहिओ।

समयसार गाथा १५६।

२. सुहजोगस्स पवत्ति, संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो, सुद्धुवजोगे संभवदि॥ —आचार्य कुन्दकुन्द, वारस अनुवेक्खा।

३. कोई द्रव्यलिंगी साधु प्रथम गुणस्थानसे एक साथ सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त करके सप्तम गुणस्थान प्राप्त करता है, उसकी अपेक्षासे ही यह कथन है। सप्तम गुणस्थानमें साधु शुद्धोपयोगी वन जाता है।

यदि कोई धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, परोपकारकी भावना न करे, अपने **स्वात्मरमणका** आश्रय ले और श्रद्धाके तथा वस्तु स्वभावके अनुकूल परकी सुरक्षा का, उपसर्ग दूर करनेका विकल्प न करे, निर्विकल्प समाधिमें ही स्वयं आरूढ़ हो तो वह अपराधी नहीं है—वह कर्म बंधन नहीं करेगा। वह **धर्मात्मा मोक्षमार्गी** हैं ॥१५७॥

जिस प्रकार परका आक्रमण नहीं हो सकता अतः मेरा जीव द्रव्य स्वयं सुरक्षित है, इसी प्रकार परका प्रवेश भी मुझमें नहीं हो सकता, न पर मेरा स्वरूप मिटा सकता। अतः अगुप्तिभय भी सम्यग्दृष्टिको नहीं होता ऐसा निम्न कलशमें प्रतिपादन करते हैं—

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(**वस्तुनः किल स्वं रूपं**) प्रत्येक वस्तुका स्वयंका स्वरूप (**अस्ति**) है, यही (**स्वरूपे परमा गुप्तिः**) उसकी स्वरूपमें परम गुप्ति है। (**यत् कोऽपि परः**) क्योंकि कोई दूसरा पदार्थ (**प्रवेष्टुं न शक्तः**) उसमें प्रवेश ही नहीं कर सकता। (**अकृतं ज्ञानं च नुः स्वरूपं**) अनाद्यनन्त स्थिति वाला ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है। अथवा उसका ज्ञानस्वरूप परकृत नहीं है, अनुत्पन्न है। (**अतः एव अस्य ज्ञानिनः**) इसलिये इस ज्ञानी पुरुषके (**काचन अगुप्तिः न भवेत्**) कोई अगुप्तिपना नहीं है, (**तत् भीः कुतः**) इसलिए उसे अगुप्तिजन्य भय भी कैसे होगा। यही कारण है कि (**सः**) वह ज्ञानी (**सततं निःशंकः**) सदा निर्भय होकर (**स्वयं सहजं ज्ञानं**) स्वतः अपने शुद्ध चैतन्यको (**सदा विंदति**) सदा अनुभवन करता है ॥१५८॥

भावार्थ—अत्राणभय और अगुप्तिभय ये दोनों शब्दार्थकी दृष्टिसे एकसे प्रतीत होते हैं तथापि दोनोंमें इस प्रकारका अन्तर है।

(१) अत्राण भयका अर्थ है कि परके आक्रमणसे मेरा नाश न हो। रक्षा करनेवाला कोई नहीं है ऐसी शंका होना अत्राण है।

(२) अगुप्ति भयका अर्थ यह कि पर मेरे अस्तित्वमें प्रवेश कर मुझे बिगाड़ देगा। ऐसा भय, स्वयंकी कमजोरीका भय, अगुप्ति भय है।

सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि मेरा कभी नाश नहीं होना है। मैं अविनाशी हूँ अतः पर रक्षककी मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। मैं असुरक्षित नहीं हूँ। यह अत्राण भयका अभाव है।

इसी प्रकार मैं स्वयं स्वरूपमें ठोस हूँ, परका मेरेमें प्रवेश नहीं, मेरे ज्ञानादि धनका कोई हरण नहीं कर सकता, स्वयं अछेद्य अभेद्य हूँ, यह अगुप्तिभयका अभाव है। सम्यग्ज्ञानी जानता है कि मैं ही नहीं, संसारकी प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे अपने अस्तित्वमें है, वह अपने ही कारणसे है, अतः स्वरूपसे अस्तित्वपना होनेसे, वह स्वयं सुरक्षित है। तथा जो वस्तु स्वास्तित्वसे है उसमें परका नास्तित्व भी है—अतः परका प्रवेश नहीं है, स्वयं गुप्त है। उसे स्वास्तित्वके कारण अत्राण-भय नहीं है, और पर नास्तित्वके कारण अगुप्तिका भय नहीं है।

आत्मा सहज ज्ञानका पुंज है। उसका यह अनाद्यनन्त स्वरूप न कभी नाश हुआ है, और न कभी नाश होगा। न वह पर वस्तुमें प्रवेश करता है, न परका उसमें प्रवेश हो सकता है। न

वह स्वभावसे च्युत होता है, न पर स्वभावको कभी ग्रहण करता है। उसकी ऐसी ही मर्यादा त्रिकाल अबाधित है। अतः उसे न अपने खोए जानेकी, अपने विनाशकी, अपनी गुण संपत्तिके अभावकी शंका है, और न परके प्रवेशका, परके साथ एकाकार हो जानेका डर है। अतः अपनेको भी एक वस्तु मानकर, वस्तुस्वभावके अनुसार ज्ञानी जीव सदा अपने सहजज्ञान चैतन्यमूर्त्ति नित्यानन्द स्वभावमें रहता है, उसीका निर्भय होकर अनुभवन करता है ॥१५८॥

(२०७) **प्रश्न**—द्रव्य दृष्टिसे उक्त विचार सही है, पर जब तक यह जीव संसारी है, तब तक सदेह है। सदेहावस्थामें देहका वियोग तो अवश्यंभावी है, अतः मरणकी शंका तो सदा रहेगी। ज्ञानी भी सोचता है कि पता नहीं कब मरण हो जावे।

समाधान—यह सत्य है तथापि ज्ञानी मरणसे भी भयभीत नहीं होता। क्यों नहीं होता यह निम्न कलशमें प्रतिपादित है—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(**प्राणोच्छेदं**) प्राणोंके विनाशको (**मरणम्**) मरण (**उदाहरन्ति**) कहा करते हैं। (**अस्य आत्मनः**) इस आत्माका (**प्राणाः किल**) प्राण निश्चयसे (**ज्ञानं**) ज्ञान ही है। (**तत्**) वह ज्ञान (**स्वयमेव**) स्वतः ही (**शाश्वततया**) आत्मामें सदा काल स्थायित्वपनेके कारण (**जातुचित् नोच्छिद्यते**) कदाचित् भी नाशको प्राप्त नहीं होता। (**अतः तस्य मरणं**) जब ऐसा है तब उस आत्माका मरण, ज्ञानप्राणके सदा सद्भावके कारण (**न किंचन भवेत्**) कुछ भी नहीं है। (**तत् ज्ञानिनः**) तो ज्ञानी पुरुषको (**कुतः भीः**) कैसे भय होगा? यही कारण है कि (**सः**) वह ज्ञानी (**सततं**) निरन्तर (**स्वयं सहजं ज्ञानं**) स्वतः अपने सहज ज्ञानको (**निश्शंकः सदा विन्दति**) निर्भय होकर सदा अनुभव करता है ॥१५९॥

भावार्थ—"**प्राणोंका नाश ही मरण है**" यह सर्व सामान्य जन विदित है। जब यह ज्ञात होता है कि "अमुक व्यक्ति मर गया" तो उसकी व्याख्या भी यही समझी जाती है कि उसके प्राणोंका नाश हो गया।

व्यवहारतः प्राण दस प्रकारके हैं। स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र, ये पाँचो इन्द्रियाँ इन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। यदि ये इन्द्रियाँ जो बाह्यमें दिखाई देती है अपना-अपना काम करना बन्द कर दें तो समझा जाता है कि यह मृत हो गया। इसकी सब इन्द्रियाँ निस्तेज हो गई। इन्द्रियोंके काम न करने पर भी उसके यदि मन वचन काय ये तीन बल प्राण हैं—अर्थात् जब तक मनोबल है—या वचन बल है—या शरीरमें नाड़ी संचालन आदि काम करनेकी, हिलने-डुलनेकी शक्ति है, तब तक भी इन तीन प्राणोंके कारण वह जीवित माना जाता है। इन आठ प्राणोंके सिवाय श्वासोच्छ्वास भी एक प्राण है जो प्रत्यक्ष प्रमाणके रूपमें देखा जाता है। इन्द्रियाँ काम न करती हों, मनोबल भी देखनेमें न आवे, बोले भी नहीं, शरीर भी हलन-चलन न करे और श्वास आती जाती हो तब तक प्राणीमें प्राण हैं वह जीवित है ऐसा माना जाता है।

अन्तिम प्राण तो आयु प्राण है। उक्त प्राणोंके न दिखाई देने पर भी यदि आयु है—तो व्यक्ति जीवित रहता है। शेष प्राणोंका कार्य लौट आता है। पर आयुके अन्त हो जाने पर कोई जीवित नहीं रहता। नौ प्राणोंके कार्य आयु प्राणके अस्तित्वकी सूचना मात्र हैं। वस्तुतः तो आयु ही एक मात्र सही प्राण है। फिर भी ये दस प्राण कहे गये हैं। इन सबका वियोग ही मरण है। मरणके बाद शरीर स्वयं सड़ गल जाता है। आत्मा शरीरको छोड़ जाता है। शरीर और आत्मा को एक मानने वाले मोही, शरीरके नाशमें अपना नाश मानते हैं, अपनी सत्ताको मेटना कोई नहीं चाहता इसीसे शरीरकी सब प्रकार सुरक्षा करते हैं। मरणसे भयभीत होते हैं।

सम्यग्दृष्टि यह मानता है कि शरीरसे शरीरान्तर होना यह जगत्का अनिवार्य नियम है, अतः उसमें दुःख मानना वृथा है। जो होना है वह होता है। चाहे कोई हर्ष माने, चाहे विषाद करे, उससे जगत्का नियम खंडित नहीं होगा। अतः नाशवान् शरीरके विनाशमें तत्त्वज्ञानी कभी दुखी नहीं होता, वह मरण भयसे रहित है।

(२०८) **प्रश्न**—तो क्या सम्यग्दृष्टि स्वेच्छासे मरणको स्वीकार कर लेता है?

समाधान—मरण आवे तो सम्यग्दृष्टि तो उसे स्वेच्छासे समाधिभाव पूर्वक स्वीकार करता है। समाधिमरण तो उसके लिए महोत्सव है। दुख कारक नहीं है।

(२०९) **प्रश्न**—तब तो स्वेच्छापूर्वक फांसीपर चढ़नेवाले राजनैतिक कैदी, अपघात करनेकी इच्छासे पानीमें डूब जाने-आगमें जल जाने, स्वयं फंदा लगाकर, विषभक्षणकर प्राणोंका विसर्जन करनेवाले व्यक्ति, सब महोत्सव पूर्वक, आनन्दपूर्वक ही स्वेच्छासे मरणको वरण करते हैं। ये सब आपकी व्याख्याके अनुसार सम्यग्दृष्टि हैं, मोक्ष पदके अनुगामी हैं, ऐसा मानना चाहिए?

समाधान—ऐसा नहीं है। युद्ध भूमिमें भी जो मरणकाल आनेपर, युद्धके परिणामोंसे विरत हो, सम्यग्ज्ञान पूर्वक समाधिका, समताभावका, आलम्बन करते हैं, उनका मरण 'समाधि मरण' हो सकता है। इसी प्रकार जलमग्न, आगमें जलता हुआ, किसी सर्पादि द्वारा डंसा हुआ विषग्रस्त, फांसीपर लटका हुआ प्राणी भी, उस समय समस्त रागद्वेष मूलक भावनाको दूर करके, आत्मस्वभाव के चिन्तनमें रत हो, तो समता भावी बनकर समाधिको प्राप्त हो सकता है। इन सबमें समाधि पूर्वक मरणकी कीमत है। केवल मरणके उद्देश्यको लेकर किसी भी प्रकार स्वेच्छासे मरण करना सम्यग्दृष्टिका लक्षण नहीं है।

(२१०) **प्रश्न**—जैन श्रावक या जैन साधुको समाधि-मरण स्वेच्छासे स्वीकार करनेका शास्त्रोंमें उल्लेख है, तब आपका कथन क्या शास्त्र विरुद्ध नहीं है?

समाधान—नहीं है। कारण यह है कि दोनों स्थितियोंमें महान् अन्तर है—

१. अपघात करने वाला जीवनसे नहीं जूझता, उससे हार जाता है, अतः कायर होकर मरण स्वीकारता है।

२. भोगी, जीवन में प्राप्त होने वाले विषय भोगोंसे अपनेको ऊपर उठा नहीं पाता, अतः विषयी मनोवृत्ति वाला होनेसे, विषयोंके वियोगमें मरणको प्राप्त होता है।

३. युद्ध भूमिमें अपनेको अर्पित करने वाला **लौकिक लाभका** या **मरणोत्तरकालमें भी प्रतिष्ठाका लोभी है अतः लोभ** कषायपर विजय न कर पानेसे मरणको वरण करता है।

४. संसारके अन्य जान जोखिमी कार्योंको भी मनुष्य लौकिक लाभ—नाम, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि के लोभसे करता है। जीवन समाप्त करनेपर भी उस लोभपर विजय प्राप्त नहीं कर पाता।

५. समाधिमरण करनेवाला श्रावक या साधु इन सबसे भिन्न प्रक्रियावाला है। **उसे जीवन से उदासी नहीं है।** जीवनकालमें समस्याओंसे जूझता है, उनका आत्मसंयमनके, नैतिकताके, धार्मिकताके, परोपकारके, निःस्वार्थताके, आत्मविश्वासके आधारपर सामना करता है, सुलझाता है। वह मानव जीवनको बहुत मूल्यवान् मानता है और श्रेष्ठतम जीवन बिताता है।

चूंकि मरण अवश्यंभावी है। अतः यदि वह समय आ गया है ऐसा निश्चय होता है, तो अपनेको सावधान करता है। जीवन उसका भोग प्रधान नहीं है **त्याग प्रधान** है, अतः भोगोंकी अनासक्तिके कारण मरणका भय उसे नहीं है। आत्माके अमरत्वपर भरोसा है, अतः उसके नाश होनेकी आशंका नहीं है। लोक प्रतिष्ठाका भूखा नहीं है, अतः जीवन अर्पण करनेका भाव उसे नहीं आता। शरीराश्रित कल्पित नामका भी उसे मिथ्या मोह नहीं है। 'मरणोत्तर कालमें मेरा नाम तो रहेगा' ऐसी मिथ्याधारणाओंमें भी वह नहीं फँसता, और न इन लोभोंसे जीवनका उत्सर्ग करता है।

बीमारी—अपघातके अन्य कारण—कोई आकस्मिक विपत्ति—शरीरपातके किन्हीं भी कारणोंके सामने आनेपर, वह उन सबका इलाज, उपाय तथा प्रतिकार करता है। जब उपाय न चले और मरण सुनिश्चित जान पड़े तो इस देहसे नाता तोड़कर, स्वावलम्बी होकर, अपने अखंड आनन्द ज्ञान स्वरूपको दृष्टिमें रखकर, संसारकी समस्त वस्तुओंका मोहत्याग, समस्त जनोंसे वैर-त्याग, सबपर क्षमाभाव लाकर, सबसे क्षमायाचना करके, सुख-दुःख, जीवन-मरण, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोगमें समान बुद्धि रखकर, मरणको स्वीकारकर देह त्याग करता है। इसे समाधिमरण स्वीकार करना कहते हैं। "समाधि लेकर मरण करना" यह समाधिमरणका अर्थ नहीं है। बल्कि "मरणके समय समाधि लेना" ऐसा अर्थ है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें यह बहुत स्पष्टताके साथ लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

अर्थात् भयानक उपसर्ग आनेपर, घोर दुर्भिक्ष पड़नेपर, अत्यन्त वृद्धावस्था हो जानेपर, अथवा शरीर रोगी होने पर, इन सभी अवस्थाओंमें, यदि कोई इनका प्रतिकार, याने दूर करनेका उपाय न रहे (इसका स्पष्ट अर्थ है कि यदि प्रतिकार हो तो प्रथम प्रतिकार करे) तब धर्माराधनाके साथ शेष जीवनकी समाप्तिको सल्लेखना या समाधि मरण कहते हैं।

उक्त कथनसे समाधिमरण और अपघातादि मरणका भेद समझकर ज्ञानी जीवोंका कर्त्तव्य है कि जब तक जीवन रहे, जीवनको भोगोंमें व्यतीत न कर, मानव जीवनको उपयोगी बनावें। तथापि मरण, जो अवश्यं भावी है, आवे तो कायर न बने, किन्तु उसे भी स्वीकारकर उसे महोत्सव बनावें। सम्यक्त्वीमें मरणके भय न होनेका प्रमुख कारण यह है कि वह जानता है कि

लौकिक दृष्टिसे उक्त दस प्राणोंका वियोग मरण है, पर परमार्थसे जीवके ये दस प्राण तो इक जन्मा हैं। जिस जन्ममें पाये गये उसी जन्मकी समाप्तिके साथ समाप्त हो जाते हैं। जन्मान्तरमें जन्मान्तरका शरीर तथा तत्संबंधी इन्द्रियादि प्राण होते हैं।

वह देखता है कि ये प्राण तो शरीरके बंधनमें जीवके साथ रहने वाले हैं। आत्मा शरीरसे भिन्न है। उसके प्राण तो मात्र ज्ञान दर्शन उपयोग हैं, जो सदा काल रहते हैं। आत्माका स्वयंका अस्तित्व ज्ञान-दर्शन स्वभावमें है। इनका कभी नाश होता नहीं है, इसीसे तो आत्माका अभाव नहीं होता है।

जैसे मनुष्य दिनमें दो-तीन बार वस्त्र बदल लेता है। वस्त्र उतर जाते हैं पर मनुष्य तो वही है। अथवा नाटकके रंगमंचपर आनेवाला पात्र विविध वेष रखकर आता है। उसके वेष उतर जाते हैं—बदल जाते हैं—पर मनुष्य जो पात्र था वह तो वही रहता है। इसी प्रकार शरीर, रूप, वस्त्र, या वेष बदल जाता है पर आत्मा तो सदा एक ही रहती है।

आत्मा या जीव शब्द एकार्थक है। जो जीवित रहे, या जीवित था, या जीवित रहेगा उसे जीव कहते हैं। यह जीव सदाकाल अपने चैतन्य भावसे ही जीवित रहा है, जीवित है, और जीवित रहेगा। अतः ज्ञानदर्शन ही मेरा यथार्थ प्राण है। मैं उसीसे सदाकालसे जीवित हूँ। और सदा उसीसे जीवित रहूँगा। वह मेरा निज स्वभाव है, वह कभी छूट नहीं सकता—न अन्य रूप परिणमन कर सकता है—अतः मैं अपने ज्ञान-दर्शन उपयोग प्राणोंसे सदा जीवित हूँ, मेरा मरण ही संभाव्य नहीं है तब मरणका भय कैसा ?

शाश्वत स्वभावी ज्ञानानन्दी मैं हूँ। परसे असंयुक्त हूं, अजर-अमर हूँ, जब मेरा मरण नहीं तब भय कैसा ? मरण तो शरीरका होता है। क्योंकि जन्म भी उसीका होता है। जन्म शरीरका हो और मरण आत्माका हो ऐसा होता ही नहीं। अतः शरीरके मरणमें मुझे भय कैसा ? ऐसा जान ज्ञानीके मरणका भय नहीं होता। वह अपने सहज ज्ञानानन्द स्वभावका ही सतत अनुभव करता है ॥१५९॥

यह माना कि मरण काल सुनिश्चित हो जावे तब सम्यग्ज्ञानी भय नहीं करता, पर अकस्मात् मोटर एक्सीडेंट हो जाय, मकानमें आग लग जाय, समुद्र यात्रामें जहाज डूबने लगे, हवाई यात्रामें विमान ध्वस्त हो जाय, ऐसी विषम परिस्थितिके आनेपर भी क्या ज्ञानीको भय नहीं होता ?

इस प्रश्नका समाधान ही निम्न कलशमें दिया गया है—

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(एकम् ज्ञानम् अनाद्यनन्तम् अचलं किल) मैं एक ज्ञान मात्र हूँ। मेरा यह स्वभाव अनादि कालसे है। अनन्त काल तक मेरा यह स्वभाव रहेगा। न कभी चलायमान हुआ, और न कभी चलायमान होगा। (एतत् स्वतः सिद्धम्) वह ज्ञान स्वभाव मेरा परकृत नहीं है

किन्तु स्वयं सिद्ध है। **(यावत् तावत् इदं सदैव हि भवेत्)** वह जितना जिस भाँति था उतना उसी भाँति सदा रहता है **(अत्र द्वितीयोदयः न)** इसमें किसी दूसरे पदार्थका प्रवेश नहीं है, अथवा यह दूसरे प्रकारके पदार्थके रूपमें वदल भी नहीं सकता। **(तत्)** इस कारणसे **(न अत्र किंचन आकास्मिकं भवेत्)** मेरे स्वरूपमें आकस्मिक रूपसे आने वाला कुछ भी नहीं है। **(ततः कुतः ज्ञानिनः भीः)** तव ज्ञानीको भय भी किसी प्रकारसे नहीं है। इस आकस्मिक भयके अभावमें **(सः)** वह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव **(सततं निश्शंकः)** सदैव निर्भय होकरके, अपने **(सहजं ज्ञानं)** सहज स्वरूप ज्ञानानंदको **(स्वयं सदा विन्दति)** स्वयमेव, रमण करता है, सदा आनंदित होता है, अनुभवन करता है ॥१६०॥

भावार्थ—आकस्मिक भयके दो कारण हैं—या तो निजका कुछ छिन जानेकी आशंका हो—उसके विगड़नेकी आशंका हो या उसके नाशकी आशंका हो। अथवा किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा अपनी कुछ हानि होती लगे, उसका अपनेमें प्रवेश हो—या वह अपनी पूर्ण सत्ता हम पर जमा लेगा, ऐसी आशंका हो।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव, जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपने स्वरूपका दर्शन कर रहा है और उसमें निःशंक है, वह जानता है कि मैं ज्ञान स्वभावी ध्रुव अचल पदार्थ हूँ। मेरा निजका ज्ञान छिनने वाला नहीं है, वह विगड़ने वाला भी नहीं है, न नाश होने वाला है। इसके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ मेरी कुछ हानि कर सके, मेरी सत्तामें प्रवेश कर सके, या मुझपर अपनी सत्ता जमा सके, ऐसा भी नहीं हैं।

मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव सदासे है, सदा रहेगा। वह अचल है अर्थात् हीनाधिक नहीं हो सकता। तव समस्त अन्य पदार्थ संसारमें जो हैं—वे रहो। मेरा वे कुछ विगाड़ करनेमें समर्थ ही नहीं हैं। किसी भी वस्तुको न कोई विगाड़ सकनेकी सामर्थ्य रखता है, न कोई वस्तु अपने स्वभावसे कभी च्युत होती है। यह सामान्य नियम है। मैं भी एक आत्म द्रव्य हूँ और वे ही शाश्वत नियम, जो प्रति द्रव्य, प्रति गुण, और प्रति पर्याय रूप, वस्तु मात्रपर लागू हैं, मुझपर भी लागू हैं। तव मैं अपने द्रव्यकी सत्तामें—अपने गुणोंमें—अपनी ही पर्यायोंमें रहा हूँ, और सदा रहूँगा। न मैं जीवसे अजीव वन सकता—न मेरे ज्ञानादि गुण अज्ञानादि रूप वनेंगे—और न मेरी सचेतन पर्याय कभी जड़ पर्याय वनेगी। तव मुझे भय किस वातका? यह निश्चल श्रद्धान ज्ञानी को है, अतः वह सदा अपने ज्ञान स्वभावमें निर्भय रहता है।

(२११) प्रश्न—ज्ञानी ज्ञान स्वभावमें सदा कहाँ रहता है? वह क्या खाता पीता नहीं, व्यापार नहीं करता, आता जाता नहीं, धन संचय नहीं करता? यदि यह सव करता है तो कैसे ज्ञान स्वभावमें सदा रहता है?

समाधान—ज्ञानी चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर वारहवें गुणस्थान तकके सव जीव होते हैं। उससे ऊपर तो अर्हन्त सिद्ध हैं, वे तो सम्पूर्ण ज्ञानको प्राप्त हैं। उनके संवंधमें प्रश्न ही नहीं उठता, प्रश्न इन गुणस्थानोंका है, अतः इनकी चर्चा करेंगे।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यात्व तथा अनन्तानुवन्धी कषायसे रहित हैं। उसकी श्रद्धा अपने स्वरूपमें अपनेपनकी हो गई है। परमें उसे परत्व वुद्धि आगई है। अतः पर-

रमण उस जीवके स्वप्नमें भी नहीं है। अनन्तानुबन्धी चारित्र मोहनीय कर्मकी प्रकृति है। उसके अनुदयमें सम्यग्दृष्टिकी परमें आसक्ति छूट गई, यही उस जीवके पर-रमणका अभाव है।

उस जीवको अपने स्वरूपकी दृढ़ श्रद्धा है, और उसमें स्थिरता है, यही उसका चारित्र गुण है। मद, मूढ़ता और अनायतन आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनकी इसी स्थिरताको आचार्य कुन्दकुन्द भगवानने 'सम्यक्त्वाचरण' कहा है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चाध्यायीके प्रणेताने इसीको 'स्वरूपाचरण' कहा है।

अप्रत्याख्यान आदि बारह कषायों तथा नोकषायोंके उदयके कारण, उस जीवने अभी व्रत-संयम धारण नहीं किया है, अतः वह अव्रती कहा गया है, तथापि वह खाना-पीना, आना-जाना, धन-संचय करना आदि जो भी क्रियायें करता है, अपने स्वरूपको न भूलकर ही करता है। ज्ञान-स्वभावी निजात्माकी श्रद्धा उसे सदाकाल रहती है, इसीसे कहा गया कि वह सम्यग्दृष्टि जीव सदा ज्ञान-स्वभावमें रहता है।

पंचमगुणस्थानी श्रावक एकदेश व्रती है, अतः वह बुद्धिपूर्वक पंच पापों का एकदेश परित्याग कर चुका है। इस परित्यागमें एक मान्य हेतु है उसकी परके प्रति परत्वकी तथा अपने ज्ञान स्पभावके प्रति निजत्वकी श्रद्धा।

इस श्रद्धान व तद्रूप एकदेश त्यागके कारण, वह शेष आठ कषायोंकी विद्यमानतामें अपने **पदके योग्य वस्तुका संग्रह करता** है। पदके योग्यका तात्पर्य यह है कि श्रावकको ग्यारह प्रतिमाएँ होती हैं, उनमें क्रमशः पंचेन्द्रियों के विषय **तथा तत्पोषक बाह्य पदार्थ छूटते जाते** हैं। अतः जिस प्रतिमारूप पदवीमें **जितना त्याग** है, उतनेके **संचयका व सम्हालका तो प्रश्न ही नहीं है**। जितना शेष बचा **है उसको साज सम्हाल करता** है। तदनुसार पंचेन्द्रियोंके विषय भोगता है, तथापि उन्हें हेय मानता है अतः उनसे **उदासीन** है। उनके प्रति आसक्ति नहीं है। **उसकी रुचि अपने स्वभावमें है।** अतः जहाँ **रुचि है, रति है—उसीमें लीनता** है। **इसलिऐ** इसे भी 'ज्ञान स्वभावमें लीन रहता **है'** ऐसा कहना सुसंगत है।

षष्ठम गुणस्थानवाले श्रमणोंकी तो बात ही निराली है। मोहके साथ-साथ उनके बारह कषायोंका भी अभाव हो चुका है। अतएव सम्पूर्ण पापोंसे उनका सम्बन्ध छूट गया है। उठने-बैठनेमें भी, खाते हुए, पीते हुए, सोते हुए भी वे सदा सावधान हैं। अपनेमें प्रमाद दशा न आने पावे इसके लिए सदा सन्नद्ध हैं। अतः उनका भी ध्यान सदा स्व-रमण ही रहता है।

आगेके सातवेंसे बारहवें गुणस्थान **तकके ज्ञानी तो ध्यानावस्थित** हैं। वे केवल आत्मनिष्ठ हैं।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव सातों प्रकारके भयसे रहित हो, निर्भय होकर स्वानुभव करते हैं, यह स्वानुभव ही स्वरूप रूप आचरण है अतः उसे स्वरूपाचरण भी कहते हैं।

(२१२) **प्रश्न**—स्वरूपाचरण चारित्रको यथाख्यात चारित्र कहना चाहिए। वह तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें ही संभव है। फिर चौथे गुणस्थानोंसे ही आपने स्वरूपाचरणकी बात कैसे कही?

---

१. तं चेव गुण विसुद्धं जिण सम्मत्तं सुमुक्ख ठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं॥ —चारित्र प्राभृत, गाथा ८.

समाधान—स्वरूप रूप आचरणका प्रारंभ तो चतुर्थ गुणस्थानमें हो जाता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पूर्णता क्रम-क्रमसे होती है, अतः वे तीन हैं। वस्तुतः वे तीन मात्र व्यवहारसे हैं, **परमार्थसे वे तीनों एक आत्मस्वरूप ही हैं।**[1] जब सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है तब सम्यक्त्वके घातक दर्शन मोहनीयका उपशमादि होता ही है। उसीके साथ चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी कषायका भी उपशमादि होता है। उसका फल भी है। जहाँ सम्यक्त्व गुण प्रकट होनेपर, परमें परत्व-बुद्धि आती है, वहाँ परके प्रति अनासक्ति आना भी सहज स्वभाव है। अतः आसक्तिकी कारण-भूत अनंतानुबंधी कषायका भी, उदयमें अभाव होना आवश्यक है। इन दर्शनमोह व अनंतानुबंधी दोनोंके उपशम-क्षयोपशम या क्षय बिना चतुर्थ गुणस्थान ही प्रकट नहीं होता।

(२१३) **प्रश्न**—पंडित दौलतरामजीने छहढालामें महाव्रतोंके वर्णनके बाद **स्वरूपाचरणकी बात** लिखी है। तब उसके पूर्व उसकी उत्पत्ति बताना सुसंगत कैसे होगा ?

समाधान—छहढालामें **स्वरूपाचरणका पूर्ण** स्वरूप बताया है। उससे क्या स्थिति होती है यह बताया है। वह दशा **सप्तमादि गुणस्थानगत आत्मध्यानीकी है। पर उसका प्रारंभ, परमें अनासक्तिसे चतुर्थ गुणस्थानमें ही हो जाता है। अनंतानुबंधी** कषायके **जानेका वह** फल है। पूर्णता होनेपर स्वरूपाचरण यथाख्यात रूपमें प्रकट होता है। तथापि चतुर्थ गुणस्थानके स्वरूपाचरण और यथाख्यात चारित्रके स्वरूपाचरणमें महान् अन्तर है। वह आंशिक है, प्रारंभिक है, और आगे उसकी पूर्णता है।

सम्यग्दृष्टि निश्शंक निर्भय होता है यह जाना, पर यह तो सम्यक्त्वका सिर्फ निःशंकित अंग हुआ। सम्यग्दर्शनके और भी सात अंग हैं उन सबका क्या फल है सो कहते हैं—

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन् पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(**टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित-ज्ञानसर्वस्वभाजः**) टांकीसे ऊकीरी गई पाषाण रेखा या मूर्तिके समान, चिरस्थायी अपने निज रससे खचित, ज्ञान स्वभाव ही है सर्वस्व जिसका, ऐसे (**सम्यग्दृष्टेः**) सम्यक्दृष्टि जीवके (**यदिह लक्ष्माणि**)जो संवेग निर्वेदादि गुण या निःशंकादि आठ गुण या आठ चिन्ह हैं वे (**सकलं कर्म घ्नन्ति**) रागादि भाव कर्मोंका नाश करते हैं। (**तत् तस्य**) इसलिए उस ज्ञानीके (**अस्मिन्**) पूर्वोक्त स्थितिमें (**पुनः अपि**) फिरसे (**मनाक् अपि**) थोड़ा सा भी (**कर्मणो बन्धः**) कर्मोंका बन्ध (**नास्ति**) नहीं होता। किन्तु (**पूर्वोपात्तं तत् अनुभवतः**) पूर्व बद्ध कर्म जो सत्तामें हैं उनका उदय आने पर उनका भोग करते हुए उसे (**निश्चितम्**) निश्चयसे (**निर्जरव**) निर्जरा ही होती है ॥१६१॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अपने "ज्ञान-सर्वस्व" का पूर्ण अधिपति है। उसके निःशंकित-निःकांक्षित आदि सम्पूर्ण लक्षण या गुण उसके समस्त विकारी भावोंको दूर करते हैं। उन विकारी

---

१. ववहारेणुव दिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ —समयसार गाथा ७.

भावोंके अभावमें उसे नवीन कर्मबन्धन किंचित भी नहीं होता। अतः उसके पूर्ण संवरभाव है। पूर्वबद्ध जो कर्म रागादि भावोंसे बाँधे थे, वे यथासमय उदयमें अवश्य आयेंगे। उदयागत होने पर उनके फलके परित्याग रूप अवस्थामें, उसे नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता। संवर भावकी स्थिति में वे कर्म निर्जराको ही प्राप्त होते हैं। संवर पूर्वक निर्जरा ही मुक्ति पथके लिए श्रेयस्करी है।

(२१४) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शनके वे आठ अंग कौनसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है, जिससे समझा जा सके कि वे कर्मके संवर निर्जरामें हेतु बन जाते हैं ?

समाधान—आठ अंगोंके नाम लिख चुके हैं। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **निःशंकित**—शंका या भय रहित होकर दृढ़तम आत्म स्वरूपका श्रद्धान निःशंकित अंग है। सात प्रकारके भयोंसे सम्यग्दृष्टि रहित है यह ऊपर बताया गया है। वह उसका वास्तविक स्वरूप है। ऐसी निर्भयतामें हेतुभूत उसका जिनशासनका दृढ़ श्रद्धान ही है। उसे पूर्ण श्रद्धा है कि श्री जिनेन्द्र ही परमाराध्य हैं, उनके वचन ही श्रेष्ठ शास्त्र हैं, जिनका स्वाध्याय या मनन करना चाहिए। आगमानुकूल सदाचरण युक्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, दिगम्बर जैनसाधु ही परमगुरु या सद्गुरु है, अतः इनका उपदेश परम ग्राह्य है। यह व्यवहारतः निःशंकित अंग है।

(२) **निःकांक्षित**—जिसे आत्म रसका स्वाद आ गया है वह अन्य रसका आकांक्षी नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण सांसारिक कांक्षाओंसे रहित, आतम रसास्वादी है। यही परमार्थसे उसका निःकांक्षित अंग है। व्यवहारतः, आत्म भिन्न पदार्थोंमें ऐसा उसका विश्वास है कि उनका संयोग कर्माधीन है, नाशवान् संयोगमें सुख नहीं है, सुखाभास है। वह सुखाभास भी दुःखोंसे मिश्रित है, एकान्त सुखका आभास उसमें नहीं होता। उन सांसारिक सुख भोगोंमें रागादि कषायोंका आलंबन रहनेसे, वे पाप बन्धके कारण बनते हैं, जिनका फल अत्यन्त दुःख है। ऐसे दुखान्त फलवाले सांसारिक सुखकी, उसे किंचित भी वांछा नहीं होती। यह निःकांक्षित अंगका व्यावहारिक रूप है। यही उसके अनन्तानुबंधी रागका अभाव या वीतराग भाव है।

(३) **निर्विचिकित्सा अंग**—जो वस्तुको उसके स्वरूपमें देखता है, उसे धर्ममें प्रीति होती है। धर्मके परिपालनमें विचिकित्सा नहीं होती। मिथ्यादृष्टि मंदकषायवान् कदाचित् धर्मका परिपालन करे तो उसे पालते-पालते कभी उदासीनता, विरक्तिका भाव, भी आ जाता है, इसे ही विचिकित्सा कहते हैं। ज्ञानीको अपने स्वरूप रूप प्रवर्तनमें दृढ़ रुचि है, यही उसका निर्विचिकित्सा अंग है। वह अन्य धर्मात्माजनोंकी सेवा करता है, साधुओंकी वैयावृत्ति करता है, यही उसका व्यावहारिक रूप है। उनकी सेवामें शारीरिक मलादिके कारण उसे घृणा नहीं होती। शरीर का स्वभाव सड़न-गलन है, चाहे अपना हो या साधुका हो उससे घृणा कैसी ? अतः व्यावहारिक रूपमें धर्मात्माओंसे प्रीति करता हुआ सेवा करता है। यह निर्विचिकित्सा अंग है। यही द्वेषका अभाव है।

(२१५) **प्रश्न**—शरीरसे आनेवाली दुर्गंधको दुर्गंध न मानना, साधुके मलमूत्र दूर करनेमें घृणा न होना अस्वाभाविक है, यह कैसे हो सकता है ? यह तो शिष्टतापूर्ण भी नहीं है। फिर

सम्यग्दृष्टि ऐसा कैसे कर सकता है। सम्यग्दृष्टिका अर्थ तो साँची दृष्टि वाला है। सब पदार्थोंको वे जैसे हैं, वैसा देखना चाहिए। निर्मलको निर्मल और समलको समल न माने तो कैसा सम्यग्-दृष्टि है ?

समाधान—यह सत्य है कि सम्यग्दृष्टि जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही देखता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं करता। मिथ्यादृष्टि रागी है तो अपनी कामेच्छाकी पूर्तिमें साधनाभूत महिलाके मलमूत्र आदि स्थानोंमें रमता है, अपने बालकोंका मलमूत्र स्वच्छ करता है, पर दूसरोंके बालकादिके मल-मूत्रको अशुद्ध मान घृणा करता है। वस्तुतः विचार करो तो मलमूत्र तथा शरीरादि सब अमेध्य हैं, चाहे आपके हों, आपकी पत्नी, पुत्र, पितादिके हों, चाहे पर पुत्रके हों, चाहे साधुके हों, चाहे अन्य धर्मात्मा श्रावकके हों, चाहे पापी रोगी कुष्टादि व्याधि ग्रसित रंकके हों। **सम्यग्दृष्टि ही उन सबके यथार्थ स्वरूपको समभाव से देखता है, अतः घृणा नहीं करता।** उसे विषयवांछा नहीं है, अतः समान **पदार्थोंमें भेद नहीं करता।** रोगादि अवस्थामें **उन्हें उनके स्वरूपमें** जानकर उनमें **घृणा भाव नहीं करता सबकी** समान भावसेसेवा करता है।

(२१६) **प्रश्न**—तब तो रोगीकी सेवासे कमाई करनेवाले डाक्टर, नर्स, कंपाउडर तथा पाखाना साफ करनेवाले मेहतर ही बड़े सम्यग्दृष्टि हैं, जो सबकी समान भावसे सेवा करते हैं।

समाधान—वस्तुतः ये **कार्य यदि आजीविकाके हेतु न किये जांय** तो सचमुच सम्यग्दृष्टिकी मर्यादाके कार्य हैं। पर जिनका प्रश्नमें उल्लेख है वे इन्हें आजीविकाके लिए करते हैं सेवाके लिए नहीं। जो कार्य धर्महेतु किये जाने चाहिए वे यदि **आजीविका**के साधन बन जाते हैं तो उनमेंसे **धर्मभाव दूर हो जाता है।** वे मात्र एक व्यापारके रूपमें ही सामने आते हैं।

(२१७) **प्रश्न**—आजीविकाके साथ धर्म हेतु किये जानेवाले कार्य, मन्दिरका पूजन करना, बच्चोंको धर्मशास्त्र पढ़ाना, प्रवचन करना, साहित्य रचना, साधुओंकी सेवा हेतु तथा आहारकी व्यवस्था हेतु साथ रहना, ये तो सब सातिशय पुण्य बंधके कारण हैं। क्या आप इन्हें भी धर्म नहीं मानते ?

समाधान—नहीं मानते। **धर्मके कार्य केवल धर्म भावसे** ही किये जाँय तो धर्म हैं। **आजी-विका हेतु किए जाँय तो वे आजीविकाएँ ही हैं।** उन कार्योंको करते हुए यदि आजीविकाकी दृष्टि प्रधान न हो, सेवाकी भावना प्रधान हो, तो वे किंचित् पुण्य बन्धके कारण बन सकते हैं। उन्हें व्यवहारमें धर्मका कार्य कहते हैं।

उक्त प्रश्नोत्तरोंसे फलित है कि सम्यग्दृष्टि समस्त **वस्तु धर्मोंको यथार्थ रूपमें देखता है।** मलको मल, मूत्रको मूत्र ही समझता है, तथापि उनके कारण धर्मात्माकी सेवासे मुकरता नहीं है। उसे अपना पावन कर्तव्य मानता है और घृणाको दूर कर उनकी सेवा करता है।

(२१८) **प्रश्न**—घृणाका अभाव तो म्लेच्छ भी करता है। चोर व्यभिचारी भी करता है। अघोरी भी करता है, तो क्या इन कार्योंकी परिगणना निर्विचिकित्सा अंगमेंकी जायगी।

समाधान—नहीं। कारण यह है कि इन सबको घृणाका अभाव नहीं है। ये मात्र **अपने प्रमाद या मलिन स्वभावके** कारण या **आजीविकाके** कारण ऐसा करते हैं। ये पापके प्रति घृणा नहीं करते पर **धर्मके प्रति घृणा** करते हैं, अतः उसमें निर्विचिकित्सा अंग नहीं है।

(२१९) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि धर्मात्माकी सेवा करता है। उसे प्रीति करता है पर मिथ्यादृष्टियों पापियोंके प्रति घृणा करता है, अतः वह भी सर्वत्र विचिकित्सा रहित नहीं है, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको धर्मात्माके रूपमें देख धर्मरुचिसे उसकी सेवा करता है। पापीके पापको हेय मानकर भी पापीसे प्रेम करता है। उसे **पापसे छुड़ानेके लिए उसपर हितदृष्टि रखता** है। जो व्यक्ति सड़े-गले व्याधिग्रस्त, पाप पंकमें फँसे प्राणियोंके प्रति घृणा करता है वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। **विचिकित्सा सम्यग्दृष्टिको नहीं होती पर विवेक होता है। वह सेवा करके भी लौकिक शुद्धता अशुद्धताका ख्याल रखता है और अशुद्धि दूरकर शुद्धतापूर्वक प्रवर्तन करता है।**

(२२०) **प्रश्न**—तो क्या जैन साधु विवेक नहीं रखते ? वे स्नानादि नहीं करते, शुद्धि अशुद्धिका ध्यान नहीं रखते।

समाधान—यह विचार गलत है। जैन साधु **मल-मूत्र परित्यागकर** लौकिक **शुद्धि** भी करते हैं, पर **वास्तविक शुद्धिः** तो **आत्माको** पवित्रता है। अतः वे **उक्त कार्यके बाद भी कायोत्सर्ग करके अपने परिणाम शुद्ध करते हैं।**

शरीर अशुचि, अपवित्र है यह वे जानते व मानते हैं, तथापि पापाचार आरम्भ रहित होनेसे स्नानादि क्रियारूप जलस्नान नहीं करते। शरीरका श्रृंगार नहीं करते। गृहस्थ तो शरीरसे पापाचार भी करता है अतः आरम्भ रहित न होनेसे स्नानादि करता है। साधुजन परम विवेकी हैं ऐसा जानकर उनकी सब प्रकार सेवा करना चाहिए। जो **उनके संयममार्गमें बाधक न हो वही सेवा यहाँ ग्राह्य है।**

४. **अमूढ़ दृष्टित्व चतुर्थ अंग** है। सम्यग्दृष्टिके निजात्मतत्त्वसे भिन्न सभी पंचेन्द्रिय विषयों पर मोहभाव नहीं है, यही उसकी मोह रहित दृष्टि है। इसे अमूढ़ दृष्टित्व कहते है। अपने निश्चय ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभावमें रुचि है यही उसका पारमार्थिक रूप है तथा समस्त पर पदार्थोंमें मोहका अभाव है। मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गियोंकी सराहना मन वचन कायसे न करना ही अमूढ़ दृष्टित्व है। यही उसका व्यावहारिक रूप है।

(२२१) **प्रश्न—निर्मोहका अर्थ तो निर्दय** परिणाम है। क्योंकि **शास्त्रकारोंने दयाको मोहका परिणाम** लिखा है। दूसरी तरफ दया परिणाम करनेका भी उपदेश है। ऐसे परस्पर विरुद्ध व्याख्यानमें अमूढ़दृष्टित्व अङ्गका पालन कैसे हो सकता है ?

समाधान—भाव शुभरागरूप और अशुभरागरूप दोनों प्रकारका है। जो शुभरागरूप है वह दया है। तथापि मोहरहित **परिणाम सर्वश्रेष्ठ है, उसमें न दया है, न निर्दयपना।** ऐसा नहीं है कि जहाँ दया नहीं है वहाँ निर्दयपना ही हो। यदि दया शुभराग है तो निर्दयपना द्वेषका परिणाम है। सम्यग्दृष्टि पदके अनुसार दया, शुभराग करता है पर द्वेषभाव नहीं करता। अशुभराग भी नहीं करता। रागद्वेष रहित समताभावका आलम्बन हो जानेपर, अपने आत्माके रत्नत्रय स्वरूपके अनुसार, परकीय शुभाशुभ रूप रागद्वेषमें प्रवृत्ति नहीं करता। उसकी यही मोहरहित दृष्टि ही अमूढ़दृष्टि अङ्ग है।

सम्यक्त्वके इन आठ अंगोंमें प्रथम निःशंकित अंगसे आत्माकी अखंड श्रद्धाके रूपमें जीवको सम्यक्त्वका यथार्थ स्वरूप प्राप्त होता है। दूसरे निष्कांक्षित अंगसे, विषयोंके प्रति अनाकांक्षा हो जानेसे तद्विषयक रागका अभाव होता है। तीसरे निर्विचिकित्सा अङ्गसे अनिष्ट पदार्थोंके प्रति

घृणा या तिरस्कारका परिहार होनेसे, तद्विषयक द्वेषका अभाव हो जाता है। चौथे अमूढ़ दृष्टित्व अङ्गके द्वारा गृहीत मिथ्यात्वके साधनोंका परिहार हो जानेसे, उसमें मोहभावका अभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानीमें राग, द्वेष, मोहके अभावका समयसार कलश ११९ का पूर्व कथन, इन अङ्गोंमें स्पष्ट लक्षित हो जाता है।[1] इन चार अङ्गोंकी साधनासे सम्यग्दृष्टि जीवका आंतरिक व्यक्तित्व संस्कारित हो जाता है। अन्य जीवोंके प्रति उसका व्यवहार शेष चार अङ्गोंके द्वारा परिष्कृत होता है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

५. **उपगूहन अङ्गका** स्वरूप है जो अपने सम्पूर्ण गुणोंको अपने भीतर सुरक्षित रखे। उपगूहन छिपानेको कहते हैं, सो जो चीज सुरक्षित करना है—वह बाहिर नहीं फेकी जाती, घरके भीतर सुरक्षित रखी जाती है। ज्ञानी अपने गुणोंको बाहिरी विकारी भावोंकी हवा नहीं लगने देता। अपने भीतर अन्तर्गर्भगृहमें ही छिपाकर रखता है। यही परमार्थतः उपगूहन है। उपगूहनका दूसरा नाम उपवृंहण है जिसका अर्थ बढ़ाना है। ज्ञानी अपने गुणोंकी निरन्तर वृद्धि करता है यही उसका उपवृंहण नामका वास्तविक गुण है।

व्यवहारतः उपगूहनका अर्थ इस प्रकार है—धर्मात्मा गुणी पुरुषोंमें यदि कदाचित् कोई दोष दिखाई दे जाय तो उसका प्रचार व प्रसार नहीं करना, बल्कि उनमें गुण बढ़ें ऐसी सहायता करना। व्यावहारिक पक्षमें उपगूहन व उपबृंहण दोनों अर्थको लिए यह सम्यग्दर्शनका अङ्ग है।

(२२२) **प्रश्न**—वड़े पुरुष यदि गलती करें तो उसे छिपा लेना, तथा सामान्य जनका दोष उजागर करना क्या यह कोई नैतिक कार्य है ?

समाधान—दोष किसीका हो, वड़े पुरुषका हो चाहे छोटे पुरुषका हो, उसे **उजागर कर उसके प्रचार व प्रसारका कार्य** उस **व्यक्तिके अपवादके लिए ही किया जाता है**। अतः **परापवाद का कार्य श्रेष्ठ कार्य नहीं है। सम्यग्दृष्टि परापवाद नहीं** करता। उपगूहनके लक्षणमें केवल यही वताया है कि धर्मात्माको कदाचित् दोष लगे तो उसे प्रकट कर उसका प्रसार नहीं करना। दूसरों का करना ऐसा नहीं बताया गया।

इसका मूल अभिप्राय यह है कि दोषवादनसे धर्मात्माके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होकर लोग धर्मके मार्गसे विरत होने लगते हैं। तथा धर्मात्मा भी "धर्मके पालनके मार्गमें अपवाद करने वाले लोग हैं" ऐसा मानकर, धर्मके प्रति शिथिल हो सकते हैं। इससे दोषोद्घाटन करना लाभके लिए न होकर धर्मकी हानिके लिए कारण वन सकता है इसलिए दोषोद्घाटन न करना दोनोंके लाभके लिए है।

(२२३) **प्रश्न**—हम समझते हैं कि इससे हानि होगी। दोषोद्घाटनसे होनेवाले अपवादके भयसे दोषकर्त्ता भी दोषसे विरत होगा, तथा दूसरे लोग भी इसी अपवादके भयसे दोष न करेंगे, अतः **पर दोष प्रकाशनको सम्यक्त्वका गुण माना जाना चाहिए न कि दोषोंका छिपाना।**

समाधान—दोष दृष्टि ही सम्यग्दृष्टिके नहीं होती। वह तो गुणोंका गवेषी है। जो गुण जिसमें मिले उसे ग्रहण करता है। अपने दोष दर्शनसे तो दोष दूर होते हैं, परन्तु पर दोष दर्शन

१. राग द्वेष विमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः।
तत एव न वन्धोऽस्य ते हि वंधस्य कारणम् ॥

—आश्रव अधिकार—समयसार कलश ११९.

तो आत्म प्रशंसाके अभिप्रायसे लोग करते हैं। अतः आत्म-दोष दर्शन तथा पर गुणोत्कर्ष करना ही सज्जनोंका लक्षण है।

भयोत्पादन करके किसी धर्मात्माके सुधार करनेकी बात सोचना ही गलत है। यदि दोष दूर करनेकी प्रबल आकांक्षा किसीके हित दृष्टिसे है, **तो उसका दोष एकान्तमें उसीसे कहकर उसे दूर करनेकी प्रेरणा करनी चाहिए।** इस स्थितिमें उसे अपना दोष दीखेगा—**स्वयं अपवाद न हो यह चिन्ता होगी, और दोष छूटेगा।**

परका दोष प्रकाशन तो उसका अपवाद रूप है। उसके हो जाने पर ऐसा ही सोचा जा सकता है कि "अब तो अपवाद हो ही गया," क्या शेष रह गया? ऐसे विचारसे धर्ममें शिथिलता ही आयेगी। अपवादकारकके प्रति दुर्भाव भी आ सकता है जिसका फल अनिष्ट ही होगा। अतः दोषोद्घाटन न करना ही उपगूहन अंगका व्यावहारिक पक्ष है। निश्चय तो परकी अपेक्षा न करके स्वयंमें गुण वृद्धि करना यथार्थ उपगूहन है।

(२२४) **प्रश्न**—धर्मात्माके दोष दूर करनेका फिर क्या मार्ग है?

समाधान—उसे ही **स्थितिकरण अंग** कहते हैं। उपगूहनके बाद इसीलिए छठवाँ स्थिति करण अंग कहा गया है। जैसे मार्ग चलनेवाला पुरुष यद्यपि स्वयं देखकर चलता है। तथापि क्वचित् कदाचित् उपयोग चूक जानेसे असावधानी हो जाती है, और मार्गमें ठोकर खा जाता है। जो मार्ग चलता ही नहीं है उसे क्या ठोकर लगेगी। ठोकर खाकर चलनेवाला सावधान हो कर चलता है पर मार्ग चलनेका परित्याग नहीं करता। ऐसे समय दूसरे हितैषी व्यक्तियोंका काम है कि मार्गमें यदि पत्थर पड़ा है, जिससे कोई यात्री गिर सकता है, तो उसे मार्गसे हटावें, यह सेवा होगी।

यदि ऐसा न करके मार्गमें भूलसे धक्का खाने वालेकी मदद न करे, बल्कि उसका हास्य करे तो यह सज्जनोचित कार्य नहीं है, किन्तु अशिष्टता पूर्ण कार्य है। इसी प्रकार मोक्षमार्गी यदि अपनी असावधानीसे मार्गमें भूल जाय या रागादि विषम परिस्थितिमें उसके व्रतको दूषण लग जाय, तो सज्जन पुरुष उसका हास्य या अपवाद न कर, उसकी सेवा कर, धर्मके मार्गमें उसे दृढ़ करता है। यही सज्जनोंका काम है। यह सम्यक्त्वीका स्थितिकरण नामक गुण है या सम्यक्त्वका छठा अंग है।

'धर्म' धर्मात्माके आश्रयसे ही चलता है। धर्मात्माके अपवादसे धर्मका अपवाद हो जाता है। अतः धर्मके मार्गको पवित्र बनाये रखनेके लिए धर्मात्माका स्थितिकरण आवश्यक है। उपगूहन अंगकी पूर्ति स्थितिकरण अंगसे ही होती है। यह उसका व्यावहारिक रूप है। परमार्थसे तो स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय करना ही विचलित होना है। स्वयं अपने ज्ञायक स्वभावसे विचलित न होकर उसीमें स्थिर रहना ही निश्चयसे स्थितिकरण अंग है।

७. इस स्थितिकरणसे धर्मात्माओंमें **वात्सल्य अंग** प्रकट होता है। 'वत्स' बालकको कहते हैं। बालकके प्रति किसीको द्वेष नहीं होता, न उसका कोई अपवाद करता है। उसके गुण प्रकट हों इस अभिप्रायसे उसे बढ़ावा ही दिया जाता है। यह सामान्य प्रचलन लोकमें है। इसी प्रकार धर्मात्माके प्रति द्वेष न हो, उसका अपवाद न हो, उसमें गुण प्रकट हों, इसलिए सम्यक्त्वी उसे बढ़ावा ही देते हैं, यही वात्सल्य अंग है।

मार्गसे भूले-भटके धर्मात्माको धर्ममार्गमें स्थिर करनेकी क्रिया स्वयं धर्मवत्सलता है। यह धर्मवात्सल्यका भाव सभी अंगोंको प्रभावित करता है। स्वयं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणोंकी प्राप्तिके प्रति अनुराग, निश्चय पक्षसे वात्सल्य गुण है। वह जिनके है उनका व्यवहारिक पक्ष धर्मात्माओंके प्रति वात्सल्य भाव रहता ही है।

रत्नत्रयके प्रति अनुराग—निश्चय वात्सल्य है रत्नत्रयके आराधकोंके प्रति वात्सल्य, व्यवहार वात्सल्य है। दोनों पक्षोंमें परस्पर पूर्ण मैत्री होती है।

धर्मीके उक्त गुणोंके अवलंबनसे धर्मका विस्तार बढ़ता है उसे ही प्रभावना अंग कहते हैं—

८. **प्रभावना अंग**—अपनी आत्मामें दिन-दिन रत्नत्रयके तेजको बढ़ाते जाना यह आत्म प्रभावना ही निश्चय नयसे प्रभावना अंग है[1]। बाह्य प्रभावनाके रूपमें जिनेन्द्रका रथ चलवाना, दान देना, तपस्वियोंकी रक्षा करना, दुखी रोगी जनोंका आहार-औषधि आदि तथा अन्य आवश्यक सहायता द्वारा दुखापहरण करना, ये सब जिनधर्मकी प्रभावनाके व्यावहारिक अंग हैं। अथवा जिनधर्मके प्रभावके अन्य सभी सामयिक उपाय प्रभावना अंगरूप हैं।

स्वयं ज्ञानारूढ़ होकर अपने विषय कषाय जन्य मनोरथोंके मार्गपर उस ज्ञानरथको चलाना, अर्थात् प्रत्येक कार्य ज्ञानमय हों, विवेकपूर्ण हों, धर्मकी अभिवृद्धिकारक हों, स्वयंको प्रभावित करें, तथा दूसरोंको भी प्रभावित करें, वह प्रभावना अंग हैं।

(२२५) **प्रश्न**—आजकल भगवान्‌के रथ चलानेका कार्य प्रभावनाका अंग नहीं रह गया, उससे अप्रभावना होती है। स्कूल कालेज खोलना, छात्रावासोंमें छात्रोंको निवास पठन-पाठनकी सुविधा देना, तथा गरीवोंको धन देना, वस्त्र देना, आजीविकामें लगाना, ये सब जिनधर्म प्रभावनाके कार्य हैं, अतः रथ चलाना बंद करना चाहिए ?

समाधान—भगवान्‌को रथमें विराजमान कर स्तुति भक्ति करना, तथा भगवान्‌के उपदेशोंका गद्य या पद्योंमें प्रचार प्रसार करना, भगवान्‌के विहारका प्रतीक है। इन्द्रादि देवोंने भगवान्‌के विहारके समय सर्वत्र दुंदुभी बजाई है। धर्मका उद्घोष किया है। समवशरण रचनाकी है। दिव्यध्वनिका सर्वत्र प्रसार किया हे। समस्त साधारण जनोंमें धर्म प्रसारका यह अंग है, अतः ‌से रोकनेकी वात प्रभावना अंगको रोककर अप्रभावना करना है। ऐसा शास्त्रोंमें तथा इतिहासमें प्रसिद्ध है अतः धर्मीको इसे रोकना नहीं चाहिए।

यह अवश्य है कि इसके सिवाय धर्म प्रचार व प्रसारके अन्य अनेक अंग हैं, उनका भी आलंबन करना चाहिए। जो पूजा-प्रभावना द्वारा, रथोत्सव, जलयात्रा, पंचकल्याणक द्वारा, धर्म प्रभावना करना चाहते हैं वे उस मार्गसे करें। जो विद्या प्रसार, रोगीसेवा, जनसेवा द्वारा करना चाहते हैं वे उस मार्गसे करें। सभी प्रभावनाके अंग हैं। किसी प्रभावनाके अंगको रोकना श्रेयस्कर नहीं है। विद्याप्रसारमें धार्मिक विद्याका प्रसार मुख्यतया करना चाहिए। लौकिक विद्या जो जैनधर्म व उसके सिद्धान्तोंके अविरुद्ध हो, वही प्रभावनामें सहायक बन सकती है। धर्मके विरुद्ध तरीकोंसे आजीविका तथा उसके साधनोंका प्रसार, धर्मके लिए बाधक हैं, उनमें धन व्यय करना अपव्यय है हानिकारक है। अप्रभावना कारक है।

---

१. आत्माप्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ३०

(२२६) **प्रश्न**—क्यों अपव्यय है ? उससे हमारे बालक सुखपूर्वक उत्तम आजीविका उपार्जन करते हैं, बड़े-बड़े ओहदों पर जाते हैं। राजनैतिक क्षेत्रमें बढ़ते हैं। अतः इस ओर समाजके बालकोंको बढ़ाना सद्व्यय है, और यह प्रभावनाका अंग है ?

समाधान—ऐसा आप लौकिक दृष्टिसे सोचते व कहते हैं। **लौकिक कार्य** प्रभावनाके **अंग तभी बनते** हैं जब ये धर्मका घात न करते हों। बालक बढ़ें, उत्तम आजीविका करें तथा सुखपूर्वक जीवनयापन करें इसमें आपत्ति नहीं है। बड़े ओहदोंपर रहें, राजनैतिक क्षेत्रमें रहें, पर इन सब पर रहकर यदि **अहिंसापूर्ण तरीकेसे आजीविका** करें, सत्यपूर्ण जीवन बितायें, जनहितके कार्य करें तो ग्राह्य है। धर्म प्रभावना कारक हैं। पर यदि केवल राजनैतिक हथकंडे अपनावें, सैर सपाटा करें, जनताको ठगें, अधिकारी होकर **जनताको** पीड़ित करें, घूसखोरी बढ़ावें तो उसे समाज व धर्मकी अवनति ही कहा जायगा। तब धनका अपव्यय ही होगा, अप्रभावनाकारक ही होगा, अतः धर्मकी प्रभावनाको लक्ष्यमें रखकर निर्दोष पद्धतिके कार्य ही प्रभावनाके अंग हैं।

सम्यग्दृष्टि इन सभी अंगोंको अपने जीवनका अंग बनाता है।

इस प्रकार सप्त भय रहित, अष्टांग सहित, सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गमें प्राणीको बढ़ाता है ॥१६०॥

सम्यग्दृष्टि जीव इन गुणोंके कारण ही आगामी कर्मोंका संवर तथा पूर्व कर्मोंकी निर्जरा करता है, इस बातको निम्न पद्यसे कहते हुए आचार्य निर्जराधिकारको पूर्ण करते हैं—

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्ज्जरोज्जृंभणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

अन्वयार्थ—(**निजैः अष्टाभिः अङ्गैः संगतः**) अपने निजके निश्चय सम्यक्त्व सम्बन्धी आठों अंगोंसे सहित होनेसे (**नवम् बन्धं निरुन्धन्**) नवीन कर्मका संवर करता हुआ तथा (**प्राग्बद्धतु** पूर्वमें स्वापराधसे बाँधे कर्मोंको (**निर्ज्जरोज्जृम्भणेन**) अपने निर्जरा योग्य परिणामोंके उठानसे (**क्षयम् उपनयन्**) क्षय करता हुआ वह (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि जीव (**स्वयम् अतिरसात्**) स्वयं स्वानुभवोत्पन्न अत्यन्त आनन्दके रससे भरा हुआ (**आदिमध्यान्तमुक्तम्**) आदि, अन्त और मध्य भावसे रहित (**ज्ञानं भूत्वा**) ज्ञानमय होकर, अर्थात् आनन्द विभोर होकर, (**गगनाभोगरंगं विगाह्य**) समस्त लोकाकाशरूपी नृत्यशालाकी रंगभूमिको व्याप्त कर (**नटति**) नृत्य करता है ॥१६२॥

भावार्थ—जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होनेसे अपने ज्ञानानन्द स्वभाव पर दृष्टि आई है, वह जीव उक्त आठ गुणोंसे संपन्न होकर, परसे दृष्टि हटाकर, स्वयं ज्ञानके रसास्वादमें विभोर होकर नृत्य करता है। अर्थात् जैसे कोई धीरोदात्त नायक आनन्द मग्न हो, नाटककी रंगभूमिमें सर्वत्र अभिनय पूर्वक नृत्य करता है, उसी प्रकार ज्ञानके रसमें मग्न ज्ञानी सर्वत्र अपनी ज्ञान लीला करता है। उसके इस कार्यसे उसे ज्ञानभावके कारण नवीन कर्मोंका संवर होता है, तथा पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आकर बिना फल दिये निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं ॥१६२॥

सारांश यह कि सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूपमें निश्शंक—निर्भय है, पर विषयोंकी इच्छा नहीं करता, स्वरूप निमग्न है, किसी प्रकारकी विचिकित्सा रागादिके अभावसे उसे नहीं है, दृष्टि स्वच्छ है, अपनेको अपने स्वरूपमें दृढ़तासे स्थित किये है, अपनी शक्तिको बढ़ाता है, अपने स्वरूपका अनुरागी है, अपने गुणोंके प्रकाशमें दत्तचित्त है। इसलिए उसे नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता।

यद्यपि चतुर्थसे नवमें गुणस्थान तक पदवीके अनुसार रागादि कर्मास्रव होता है, तथापि जड़ रहित वृक्षका भाग जैसे कुछ काल हरा रहे, पर वह सूखनेको हो है—पनप नहीं सकता, उसी प्रकार जड़रूप मोह (मिथ्यात्व) व अनन्तानुबन्धी कषाय रस जिसका सूख गया है—उसे अल्प बन्ध हो तो भी वह बन्ध उसे संसारमें बाँध रखनेमें समर्थ नहीं है। अतः "अनुदरा कन्या" के प्रयोगकी तरह, अल्प बन्धको अबन्ध ही कहा। इस तरह नवीन कर्मका अल्प बन्धक या अबन्धक ज्ञानी अपने उदयागत कर्मदण्डको समतासे भोगता है। अतः उसे निर्जरा कहा है। ऐसी निर्जरा ही मोक्षमार्गकी साधिका है। इस प्रकार निर्जरा भी रंगमंच से निष्क्रान्त हुई।

इति निर्जरा-अधिकार

■

□ बन्ध अधिकार □

संसारके रंगमंच पर जब बन्ध जगत्‌को उन्मत्त करता हुआ क्रीड़ा कर रहा था, तब ज्ञानका उदय उसकी मत्तताको मेट कर स्वयं प्रकाशमान होता है—

रागोद्‌गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बन्धं धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटंनाटयत्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ।।१६३।।

अन्वयार्थ—(**रागोद्‌गारमहारसेन**) रागादि परिणतिकी उत्कटता, वही हुआ महामदकारक रस, उस मादक रससे (**सकलं जगत्**) सम्पूर्ण जगत्‌के जीवोंको (**प्रमत्तं कृत्वा**) उन्मत्त बनाकर (**रसभावनिर्भरमहानाट्येन**) कर्मानुभागके नाना रसभावोंसे उपलक्षित महान् नृत्यके द्वारा (**क्रीडन्तम्**) अपनी मदोन्मत्त क्रीड़ामें मग्न, ऐसे (**बन्धं**) कर्मबन्धको (**धुनत्**) कंपायमान करता हुआ—नष्ट करता हुआ (**आनन्दामृतनित्यभोजि**) निजानन्दके अमृतका नित्य भोग करनेवाला (**निरुपधि ज्ञानं**) विभावभावकी उपाधियोंसे रहित ज्ञान, जो कि (**धीरोदारमनाकुलम्**) धीर है, उदार है, और अनाकुल रूप है, अर्थात् आनन्दमग्न है वह (**सहजावस्थां**) अपनी स्वाभाविक दशाको (**स्फुटं नाटयत्**) स्पष्ट करता हुआ अर्थात् अपनी सहजावस्थामें होनेवाले स्वाभाविक नृत्यको प्राप्त करता हुआ, प्रकाशित करता हुआ (**समुन्मज्जति**) रंगमंच पर उदयको प्राप्त होता है—प्रकट होता है ।।१६३।।

भावार्थ—जैसे नाटकके रंगमंच पर कोई खलनायक पात्र मद पीकर, उन्मत्त होकर, सब दर्शकोंको अपने अभिनयसे प्रभावित करते हुए झूम-झूमकर नाचता था। उसे दूसरा नायक पात्र जो धीर है, उदार है, निराकुल है, अपनी स्वभाव दशामें है, वह अपने स्वाभाविक कौशलको दिखाकर आनन्दित करता हुआ प्रकट होता है, तब खलनायक रंगमंच छोड़कर भाग जाता है।

इसी प्रकार 'बन्ध' जो राग-द्वेष मोहका रस पिये था, और उन्मत्त होकर जगत्‌के जीवोंके हृदय रूपी रंगमंच पर नाच रहा था, किसी सम्यग्दृष्टि जीवको निजात्मतत्त्वकी दृष्टि आई, तब उसे भेदविज्ञान हुआ। वह भेदविज्ञानी अपनी धीरता, उदारचरितता तथा निराकुल भावके आधार पर अपनी सहजावस्था रूप नृत्य करता है। तब उस जीवके हृदय रूपी रंगमंचसे बंधकी रागादि विकारी भावनाएँ स्वयं भाग जाती हैं।

जैसे प्रकाश और अंधेरा दोनों विरोधी पदार्थ हैं। दोनोंके उदयमें कार्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अँधेरेमें ज्ञानका अभाव होता है। सम-विषम-स्थल नहीं दीखते। इष्ट पदार्थ पासमें रहते हुए भी प्राप्त नहीं होते। अनिष्टकारक सर्पादि जहरीले जन्तुओंसे मुठभेड़ हो जाती है। मनुष्य मन्दोन्मत्तकी तरह अज्ञान भावमें लड़खड़ाता है। इसी प्रकार अज्ञानी भी मोहावेशमें स्व-परका भेद न जानकर, हित-अहितका विवेक न पाकर, हितकर उपदेशको छोड़कर, अहितकारक विभाव भावोंमें फँसकर दुःख उठाता है, यथा जैसे प्रकाश हो जाने पर उसे हित-अहितका भेदज्ञान हो

जाता है। इसी प्रकार ज्ञानका उदय होने पर जीवको स्व-परका बोध हो जाता है। इष्ट जन सद्गुरु आदिके उपदेशकी प्राप्ति हो जाती है। अनिष्टकारक पंचेन्द्रियोंके विषय तथा उनके साधन, क्रोधादि कषाय भाव, तथा उनके साधनोंकी भयंकरता, अनिष्टकारिता भी भासित हो जाती है। वह अनिष्टसे बचकर इष्टमें प्रवृत्त हो जाता है। अंधकारको प्रकाशकी तरह आत्माका सहजज्ञान, अनादिके अज्ञानान्धकारको मिटाकर इष्ट मार्गका दर्शन कराता है ।।१६३।।

जीव अनादि कालसे ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंधा है। उसका मूल कारण उसका स्वापराध है—वह है रागादि परिणामी। वह न हो तो जीव बंधनमें नहीं पड़ सकता। मिट्टीसे भरे अखाड़ेमें तेल लगाकर उतरने वाले पहलवान अपने मिट्टी चिपक जाती है। विना तेलवालेको मिट्टी नहीं लगती। यह एक दृष्टान्त है। इसी तरह विना राग-द्वेषभावके जगत्का प्राणी अपने पदके योग्य सांसारिक क्रियाओंके करते रहनेपर भी कर्मलिप्त नहीं होता। इस वातको निम्न पद्यसे प्रकट करते हैं—

न कर्मबहुलं जगत् न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो वन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति वन्धहेतुर्नृणाम् ।।१६४।।

अन्वयार्थ—(कर्मबहुलं जगत् न वंधकृत्) जगत्में कर्मकी वर्गणाएँ भरी हैं, वे बंध कराती हैं ऐसा नही हैं। जीवके (चलनात्मकं कर्म न) हलन चलन करानेवाले मन वचन-कायकी क्रियाएँ जीवको वंध नहीं करातीं। (नैककरणानि वा न) नाना प्रकारके वाह्य साधन, इन्द्रियां आदि भी जीवको वंध नहीं कराते (चित् अचित् वधः न वंधकृत्) सचेतन अचेतन पदार्थोंका घात भी कर्म-वंधन नहीं कराता, किन्तु (यत् उपयोगभूः) जीवके ज्ञानोपयोगकी भूमि जव (रागादिभिः समम् ऐक्यं समुपयाति) रागादि विकारी भावोंके साथ एकता को प्राप्त होती है (स एव किल) तव यही एकमात्र अवस्था (नृणाम्) प्राणियोंके लिए (वंघहेतुर्भवति) वंधका कारण होती है ।।१६४।।

भावार्थ—कर्मवंधन व उसका फलभोग ही संसार है। संसार दुखमय है, यह सभी मत-मतांतरोंका अनुभव है। इस वंधनका क्या हेतु है? यह न जाननेके कारण जीव भ्रममें हैं। वह उस दुखको दूर करनेके विविध उपाय करता है पर असफल रहता है। क्योंकि यथार्थ कारणोंका ज्ञान उसे नहीं है।

कोई कहते हैं कि लोकमें कार्मण वर्गणा भरी पड़ी हैं अतः जीव स्वयं उनके मध्य पतित होनेसे उनसे वँध जाता है। आचार्य कहते हैं वन्धनका यह सही हेतु नहीं है। कार्मण वर्गणाएँ तो सारे लोकाकाशमें है। यदि उनकी उपस्थिति मात्रसे जीव कर्मके वंधनमें आ जावे, तो सिद्ध परमात्मा भी पुनः कर्मवंधनमें आ जावेंगे। अतः यह हेतु सही नहीं है।

कोई कहते हैं मन-वचन कायकी क्रिया जीव करता है। अतः कर्मास्रव होता है। कर्मास्रव होगा तो वंध भी होगा। जैन ग्रंथकारोंने आस्रवके कारण मन-वचन-कायके योग वताये हैं। आचार्य कहते हैं कि मन, वचन, कायकी क्रियाएँ यदि वंधकर्त्ता हों तो वीतराग प्रभुके अर्हन्त दशा तक योग हैं अतः वे भी वंधनवद्ध हो जांयगे।

(२२७) **प्रश्न**—क्या वीतराग छद्मस्थ ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानमें या तेरहवें गुणस्थानमें केवलीके कर्मबंध नहीं होता ? एक साता वेदनीयका बंध तो वहाँ भी ग्रन्थोंमें लिखा है।

समाधान—आस्रव होता है, कर्मवर्गणा आती हैं, पर वह बंध स्थिति-अनुभागसे रहित है, अतः उसी क्षण ही वे खिर खिर जाती हैं, अतः उसे बंध नहीं कहते।

(२२८) **प्रश्न**—"समयट्ठिदिगो बंधो" इस प्रमाणसे एक समयकी स्थितिका बन्ध तो साता वेदनीयका केवलीके भी बताया है। आपने लिखा स्थितिबंध ही नहीं होता यह विरोध क्यों है ?

समाधान—"द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य" वेदनीय कर्मका जघन्य **स्थितिबंध बारह मुहूर्तका** होता है। यदि स्थिति बंध केवली भगवान्‌को होता तो कमसे कम बारह मुहूर्त्तका बंध होता। **एक समयका स्थितिबंध किसी कर्मका नहीं** होता। अतः सिद्ध है कि आस्रव होता है, प्रकृति प्रदेश बंध होता है, **पर स्थिति अनुभागबंध नहीं** होता। एक **समय मात्र** सम्बन्ध होकर छूट जाते हैं। उसे ही समयस्थिति वाला बंध लिखा है। यहाँ बंध शब्द उपचरित है।

नाना प्रकारके वैभव तथा पंचेन्द्रियोंको अच्छे लगनेवाले जो विविध करण—साधन हैं, उनके कारण जीव बंधनको प्राप्त होते हैं, ऐसा कोई कहते हैं। आचार्य कहते हैं यह भी ठीक नहीं है। यदि ऐसा हो तो भगवान् तीर्थंकरके समवशरणमें अचिन्त्य विभूति है। नाना करण साधन भूत हैं, पर उनके कारण वे तो बंधनको प्राप्त नहीं होते।

कोइ कहते हैं कि एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त जो जीवराशि है, उसके वधसे हिंसाका जन्म होता है और उससे कर्मका बन्धन होता है। आचार्य कहते हैं यह भी उसका मूल कारण नहीं है। सभी जीव अपनी आयुके क्षयसे मरणको प्राप्त होते हैं। यदि उनके मरण मात्रसे कोई जीव कर्म-बन्धनको प्राप्त हों, अपराधी हों, तो जगत्‌में कोई साधु अहिंसक या निरपराधी न रह सकेगा।

ईर्या समितिसे चलनेवाले साधुजन सावधान होकर चलते हैं, बचाव रखते हैं कि किसी जीवका घात न हो जावे, फिर भी कदाचित् जीव मर जाता है, तो उन्हें भी कर्म बन्ध होगा जबकि **आगमका वचन है कि समितिमें प्रवर्तमान साधुके शरीरादि निमित्तको पाकर किसी प्राणीका मरण हो जाय तो उस निमित्तसे भी उन्हें हिंसा का पाप या बंध नहीं होता।** अन्यथा "ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो" इस आगम वाक्यका विरोध हो जायगा। अतः चेतन अचेतन द्रव्यका वध भी बंधका कारण नहीं है।

(२२९) **प्रश्न**—जब कर्मसे भरा हुआ जगत्—मन-वचन-कायकी क्रियाएँ—पंचेन्द्रियोंके रमणीक अरमणीक विषयभूत पदार्थ—तथा चेतनादि वध, ये सब बन्धनके कारण नहीं है तब जीवके बंधका अन्य क्या हेतु है ?

समाधान—बन्धका कारण परपदार्थ नहीं होता, स्वापराध ही होता है। अतः जब जीवका उपयोग रागादि विकारोंसे विकृत होता है तब वे ही अशुद्ध उपयोग स्थित रागादि परिणाम, जीव को कर्म बन्धके कारण होते हैं—ये ही मूल हेतु हैं। इस कारणकी विद्यमानतामें अन्य सब हेतु, उपचारसे हेतु बन जाते हैं और रागादि विकारोंके अभावमें वे सब हेतु, कर्म बन्धके हेतु नहीं बनते बन्धका अन्वय-व्यतिरेक पूर्ण-रीत्या जीवके रागादि अशुद्ध भावोंसे है अतः वे ही कारण यथार्थ कारण मानना चाहिए।

(२३०) **प्रश्न**—मूल कलशमें 'नृणाम्' पद दिया है जिसका अर्थ होता है मनुष्योंके वन्धका कारण रागादिसे उपयोगकी एकता है। तो क्या वन्ध, मात्र मनुष्योंको होता है ? अथवा मनुष्योंके सिवाय अन्य जीवोंको वन्धके कोई अन्य कारण हैं ? या उनके वन्ध ही नहीं होता ?

समाधान—सभी जीवोंको वन्धका कारण अपना रागादिभाव रूप अपराध ही है अन्य कुछ नहीं। मनुष्य शब्द तो यहाँ उपलक्षण मात्र है। अर्थात् मनुष्यादिके वन्धका कारण यही है, उससे प्राणी मात्रको समझ लेना चाहिए। नृणाम पद यहाँ जीव मात्रका बोधक है ॥१६४॥

रागादि रहित विरागीके कर्मवन्ध नहीं होता इसे प्रकारान्तरसे प्रतिपादित करते हैं—

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(**लोकः कर्म ततः अस्तु**) लोक कार्मण वर्गणासे भरा हुआ हो तो हो। (**तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म**) जो योग प्रदेश चलनात्मक क्रियाएँ भी (**स च अस्तु**) हों तथा (**अस्मिन् तानि करणानि सन्तु**) इनके सवके साथ पाँचों इन्द्रियों मन तथा इनके साधन स्वरूप अन्य पदार्थ रूप करण भी हों, तथा (**तत् चिदचिद्व्यापादनं अस्तु**) वह चेतन अचेतनका घात भी हो, तथापि सम्यग्दृष्टि जीव यदि (**रागादीन् उपयोगभूमिम् अनयन्**) यदि उपयोगकी भूमिकामें रागादि रूप परिणमन नहीं करता और (**केवलं ज्ञानं भवन्**) मात्र अपने ज्ञान स्वरूपमें रहता है—तत् रूप ही परिणमन करता है—तो (**कुतः अपि**) किसी भी प्रकारसे (**सम्यग्दृगात्मनः**) उस सम्यग्दृष्टि जीवको (**नैव वन्धः**) वन्ध नहीं होता, यह (**ध्रुवम्**) सुनिश्चित है ॥१६५॥

भावार्थ—कलश १६४ में कौन-कौनसे हेतु कर्म वन्धके कारण नहीं हैं यह प्रतिपादित किया था। इस १६५ में उसीका विधिमुखेन निषेध किया है। इसमें बताया है कि सारा लोक कर्मसे भरा है तो भरा रहो, मन-वचन-कायके निमित्तसे आत्म प्रदेशोंका परिस्पंद होता है तो होता रहो, पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन व तत्साधन वाह्य पदार्थ हैं तो वने रहो, चेतनाचेतन पदार्थका घात होता है तो होता रहो। मात्र ये हेतु वन्धके कारण नहीं हैं। किन्तु ये सव वन्धके कारण तव वनते हैं जव जीव स्वयं अपने उपयोगमें रागादि रूप परिणमन करे। उसके अभावमें शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमे हुए जीवको कदाचित् भी कर्म वन्ध नहीं होता।

ज्ञानकी महिमा अगाध है, वह प्राप्त हो जाय तो स्वच्छन्द आचार करने पर भी जीव कर्मसे नहीं वँधता, ऐसी शंका उठने पर उपदेशका यथार्थ प्रयोजन, निम्न कलशमें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(**तथापि**) ऐसा उपदेश सुननेपर (**ज्ञानिनां**) ज्ञानी पुरुषोंको (**निरर्गलम्**) अनियन्त्रित-असंयमित (**चरितुं**) आचरण करना (**न इष्यते**) उचित नहीं है। क्योंकि (**सा निरर्गला व्यापृतिः**) वह स्वच्छन्द असंयताचार रूप निरर्गल प्रवृत्ति (**किल**) निश्चयसे (**तदायतनमेव**) बन्ध का ही आयतन है। "ज्ञानीके कार्य बन्धकृत नहीं हैं" इसका यह अर्थ है—कि (**अकामकृतकर्म**) बिना इच्छाके जो क्रियाएँ (**ज्ञानिनां**) ज्ञानीके होती हैं (**तत्**) वे क्रियाएँ, रागरस रहित होनेके कारण (**अकारणम् मतं**) बन्धके लिए हेतु नहीं हैं। ज्ञानी ज्ञानक्रियाका कर्त्ता है। अन्य क्रियाओं का कर्त्ता नहीं है। भले ही वे निरिच्छ ज्ञानीके होती हों, ज्ञानी उनका स्वामित्व भावसे कर्त्ता नहीं है। यदि कहा जाय कि ज्ञानी (**जानाति च करोति च**) जानता भी है और करता भी है तो (**द्वयं किमु न विरुध्यते**) ऐसा कहना क्या विरुद्ध कथन नहीं है। अर्थात् विरुद्ध है। ज्ञाता करता नहीं है, करता ज्ञाता नहीं है ॥१६६॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषके पूर्वबद्ध कर्मके उदयमें क्रियाएँ होती हैं, वह उनका 'कर्त्ता' नहीं है। कर्त्ता वह होता है जो इच्छासे राग-द्वेष-मोहसे उन्हें करता है। इच्छा मोहका परिणाम है। मोहका अभाव होनेसे ज्ञानी इच्छा नहीं करता। उसका निःकांक्षित होना सम्यग्दर्शनकी एक आवश्यक भूमिका है। अतः वह कर्त्ता नहीं है—ज्ञातामात्र है।

यदि इस उपदेशके हार्दको हृदयङ्गम न करके कोई अज्ञानी अपनेको ज्ञानी मानकर, इस आशयसे कि मैं ज्ञानी हूँ अतः मेरे कर्मबन्धन तो होगा नहीं, मनमानी रागादिकी क्रियाएँ—पंचेन्द्रिय विषय भोग करे, तो उसकी इस अर्गला रहित—नियंत्रण रहित—स्वेच्छाचारिता पर आचार्य प्रतिबन्ध लगाते हैं। यह सुनिश्चित है कि **व्यवहार चारित्रका अभाव हो और निश्चय चारित्र हो ऐसा त्रिकालमें नहीं होता**। यह हो सकता है कि बाहिरी चारित्र हो और अन्तरंग न हो। अतः जिसे अन्तरंगमें रागादिका अभाव हो ऐसा साधु, कर्मोदय जनित स्थितिमें आहारादि क्रिया करता है, पर निरिच्छ है, अतः मिथ्यात्वीकी तरह बन्ध नहीं करता, अतः उसे अबन्धक ही कहा। जो जीव सदा ज्ञानभावमें रहते हैं ऐसे श्रेणीपर आरूढ़ साधु तो बुद्धिपूर्वक समस्त बाह्य क्रियाओंसें मुक्त हैं। उस कालमें कर्मोदय वशात्, शरीर सम्बन्ध होनेसे, शरीरकी वर्गणाओंका आवागमन, श्वासोच्छवास-नाड़ियाँ-यंत्र संचालन-तथा अन्य शारीरिक क्रियाएँ ध्यानावस्थामें भी होती है। अथवा वचनवर्गणाओं मनोवर्गणाओंका आवागमन होता है, उससे आत्मप्रदेशकी जो क्रियाएँ हैं वे रागादि इच्छा पूर्वक नहीं हैं, अतः ये भी कर्मबन्धनका कारण नहीं हैं। वहाँ मात्र प्रकृति प्रदेश बन्ध है, या अल्पस्थिति अनुभाग है, वह अबन्क ही है, ऐसा जानना। अपने स्वभावसे रमण करना, तथा रागादि रूप परिणमन करना, ये दोनों कार्य एक साथ नहीं होते। अतः दोनों क्रियाएँ एक साथ होना विरुद्ध हैं ॥१६६॥

इसी विषयको और स्पष्ट करते हैं—

जानाति यः स न करोति, करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुः
मिथ्यादृशः स नियतं स हि (च) बन्धहेतुः ॥१६७॥

अन्वयार्थ—(**यः जानाति**) जो जानता है (**स न करोति**) वह करता नहीं है (**यः तु करोति**) जो करता है (**अयं न जानाति**) वह जानता नहीं है। (**तत् कर्म किल रागः**) करना है वह निश्चय से राग है। (**रागं तु अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः**) रागको अज्ञान रूप अध्यवसान कहते हैं। (**सः नियतं मिथ्यादृशः**) वह अज्ञान भाव नियमसे मिथ्यादृष्टि जीवको होता है। (**स च बन्धहेतुः**) और वही अज्ञान भाव बन्धका कारण बनता है ॥१६७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जानता है अर्थात् अनुभवन करता है, वह कर्मोदय जन्य फलोंकी इच्छा नहीं करता। जो जीव कर्मोदय जन्य फलोंमें, सुखदुखोंमें, रागद्वेष रूप इच्छा करते हैं अर्थात् तद्रूप परिणमते हैं, वे मिथ्यादृष्टि स्वात्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेमें असमर्थ हैं।

कर्मोदयके फलको स्वीकार करना अर्थात् तद्रूप परिणमना ही राग है, यही रागादि परिणमन **अज्ञान भाव** है। सम्यग्दृष्टि कर्मके प्रति व फलके प्रति निष्कांक्ष है, भले ही उदयागत कर्मका फल उसे भी भोगना पड़ता है, सो वह पूर्वबद्ध कर्मोंका भोक्ता तो है। पर नवीन कर्मबन्ध का कर्त्ता नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव, स्वरूप अनुभवनके अभावमें—परमें स्वत्वका अनुभवन करता है, अतः परके प्रति उसे मोह है। वह परकी अभिलाषा करता है। जिसकी अभिलाषा करता है, उसका 'लोभ' है। उसके बाधकके प्रति 'क्रोध' है। परकी प्राप्ति होनेपर उस वस्तुका 'अहंकार' है। न प्राप्ति होनेपर तत्प्राप्तिके लिए 'कूट कपट' का प्रयोग है। इस प्रकारसे चारों प्रकारकी कषायोंको अपनेमें उत्पन्न करता है। इस अज्ञानभावका कर्त्ता नियमसे मिथ्यादृष्टि है। और वह अज्ञानभाव ही नियमसे उसके बन्धका कारण है।

(२३१) **प्रश्न**—लोकमें यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'जो कर्त्ता सो भोक्ता' और जो 'भोक्ता सो कर्त्ता' इसलिए जो कर्मके उदयको भोगेगा वह कर्ता भी होगा, और जो करेगा वह भोगेगा भी।

समाधान—ऐसा नहीं है। प्रथम वाक्य तो ठीक है कि 'जो कर्त्ता है वह भोक्ता है।' जिन जीवोंने पूर्वमें अपनी स्वरूप दृष्टिके अभावमें रागादि रूप परिणमन किया है—अपनी उस अज्ञान-दशामें उन्होंने अपनेको कर्मके बंधनमें बद्ध किया है। यहाँ अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बांधता है ऐसा कहा है। वह उस कर्मके बंधके फलका भोक्ता भी अवश्य होगा। संसार परिभ्रमण ही उसका फल भोगना है। दूसरा वाक्य कि, जो भोक्ता है सो कर्त्ता है, ठीक नहीं है। कारण ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है। उसे आत्मदर्शन हो चुका है, वह अपने स्वरूपकी अखण्ड सत्ता स्वीकार कर चुका है। उसे परमें निजपनेका बोध अब नहीं है। जिनको ही निज मानकर उसमें ही रुचि है। परको अपनेसे सर्वथा भिन्न देख उसमें पूर्ण अनासक्ति—आनाकांक्षा—उपेक्षाभाव—रागद्वेषसे रहितपनेका भाव उत्पन्न हो गया है। अतः न उन्हें चाहता है न उनमें सुख-दुख मानता है।

अपने स्वरूपानुभवनके कालमें पर पदार्थ ज्ञानके विषय भी नहीं हैं। अतः सम्यग्दृष्टि अबन्धक है, अकर्त्ता है। इसी दृष्टिसे उसे निर्विकल्प अनुभव भी कहा है।[1]

---

१. शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्याज्ज्ञान चेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्था संक्रान्तसङ्गतेः॥ —पंचाध्यायी, उत्तरार्ध—८५६

एवं—"चैतन्य स्वरूप जो सविकल्पसे निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य-व्यापकरूप होकर, इस प्रकार प्रवर्तता है जहां ध्याता-ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशाका नाम 'निर्विकल्प अनुभव' है।"
मोक्षमार्ग प्रकाशक—रहस्यपूर्ण चिट्ठी, सोनगढ़—चौथा संस्करण, पृष्ठ ३४३

(२३२) **प्रश्न**—अनुभवनके कालमें यदि परपदार्थ ज्ञानके ज्ञेय बनें तो क्या इतने मात्रसे कर्मका बन्ध हो जायगा ? क्या परको पर जानना भी बन्धकारक है।

समाधान—परको पर जानना बन्ध कारक नहीं हैं। तथापि परपदार्थ उसके स्वानुभवनके विषय नहीं हैं, इसीको "पर पदार्थ ज्ञानके विषय नहीं हैं" ऐसा कहा है। उपयोग यदि स्वरूपानुभवमें है तो पर क्या हैं ? कहाँ हैं ? इसका उसे अवकाश ही नहीं है। सामान्यतः सम्यग्दृष्टि परको पर रूप तो जानता ही है परन्तु स्वानुभव जब करता है, तब तो उन्हें उपयोगमें न लाकर ही करता है। वह स्वानुभव करना ही जानना है। जाननेमें पराश्रयसे होनेवाले रागादि अज्ञान नहीं करता इसलिए "कर्त्ता नहीं है।" ऐसा उसे कहा। जानने और करनेमें 'विरोध' इसी अपेक्षासे कहा है। ज्ञानी अनुभवनके कालमें उदयागत कर्मके फलरूप परिणमन नहीं करता, इसीका अर्थ है कि फल भोगता है, पर तद्रूप परिणमनका कर्त्ता नहीं है। अतः उक्त कथन सुसंगत है।

(२३३) **प्रश्न**—स्वानुभवी सम्यग्दृष्टि जीव क्या सारे संसारसे न्यारा प्राणी है जिसे अपने सिवाय किसीकी परवाह नहीं है। न किसीकी चिन्ता है। संसारके दुःखी-दीन प्राणियों पर दया; उनकी सहायता करना, उन्हें विपत्तिसे बचाना आदि लोकोपकारी कार्य उसके सम्यग्दर्शनके विरुद्ध हैं क्या ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमनका स्वयं कर्त्ता है। तत्त्वतः कोई किसोंका कर्त्ता नहीं होता। मैं दूसरेका उपकार कर सकता हूँ यह मिथ्या अभिमान है। कोई किसीका उपकार या अपकार नहीं कर सकता।

(२३४) **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो पुण्य पाप दोनोंका अभाव हो जायगा। पुण्य-पापका अभाव होनेसे चतुर्गति संसारका अभाव होगा। तब शास्त्रकारों द्वारा कथित लोक-अलोक पुण्य-पापके फल, सब असत्य ठहरेंगे ?

समाधान—असत्य तो कुछ है ही नहीं, तथापि सम्यक्त्वकी बात ही कठिन है। परकर्तृत्व के भ्रमवश ही जीव परका सञ्चय विचय करता है। नाना रचनाएं करता है। पुण्य-पापका बंध करता है इसीसे चतुर्गति संसार है। इन सबका हेतु मिथ्यात्व है, भ्रमदृष्टि है, उसका अभाव नहीं है तब संसार असत्य कैसे होगा।

(२३५) **प्रश्न**—जब मिथ्यात्व स्वयं भ्रमदृष्टि है तो उसका फलभूत संसार भी भ्रमवश ही दीखता है। वह यथार्थ कैसे है ?

समाधान—भ्रम अभावात्मक नहीं होता, वह भी सद्भाव स्वरूप होता है। जहाँ रस्सीमें सर्पका भ्रम होता है—वहाँ रस्सीका भी अस्तित्व है और मान्यतामें सर्पका भी अस्तित्व है। रस्सी सर्प नहीं, और बोध सर्पका है। जिस सर्पका बोध है वह वहाँ नहीं है पर अन्यत्र वह सत्यभूत है। केवल वहाँ रस्सीका बोध होना था, सो वह नहीं है—इससे वह भ्रमात्मक ज्ञान कहा जाता है।

(२३६) **प्रश्न**—रस्सी और सर्प अपने-अपने स्थान पर रहें, पर जिसे रस्सीमें सर्पका ज्ञान है—वह ज्ञान तो असत्य है ?

समाधान—वह केवल एक अपेक्षतासे असत्य है। जो नहीं है उसका बोध हो रहा है अतः असत्य है। पर आप उसकी दृष्टिसे विचार करो—तो क्या वह भयका बहाना करता है, या

यथार्थमें उसे भय हो रहा है ? यदि भयभीत है तो भय सकारण है—या अकारण। यदि सकारण है, तो भयरूप कार्य और उसका कारण ये दोनों कारण कार्य सत्य हैं—अन्यथा कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति कैसी ?

(२३७) **प्रश्न**—भ्रम भी सत्य है, और भ्रम रहित भी सत्य है, ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। एक कुछ कहिए। दोनों सत्य कैसे ? सत्य तो एक होता है दो सत्य नहीं हो सकते ?

समाधान—सत्य कभी एकांगी नहीं होता, वह सापेक्षताको लिये ही होता है। जैसे—रामदत्तके तीन पुत्र हैं। एक २८ सालका, दूसरा २५ का, तीसरा २० सालका है। वड़ेका नाम—शरद है, दूसरे-मझलेका नाम—किशोर है, और तीसरे छोटेका नाम राजेश है। किशोर छोटा भी है, और वड़ा भी, दोनों सत्य है। क्या दोनों सत्य वड़े और छोटेकी अपेक्षा नहीं रखते।

(२३८) **प्रश्न**—किशोर वड़ा भी है, राजेशसे,—छोटा है शरदसे, यह तो व्यवहार सापेक्षतासे है। यदि स्वयं उसे देखा जाय तो क्या उसे छोटा वड़ा कह सकते हैं ?

समाधान—उस अवस्थामें यदि छोटे वड़ेका प्रश्न कोई उपस्थित करे तो—उत्तर होगा—यह तो पर सापेक्ष व्यवहारमें ही छोटा वड़ा है। पर निरपेक्ष व्यवहारमें "न छोटा ही है, न वड़ा ही है।" यह कथन भी स्वसापेक्ष है, सर्वथा निरपेक्ष नहीं। प्रकारान्तरसे तीन बातें स्वयं फलित हुई—

१. किशोर वड़ेकी अपेक्षा छोटा है। २. छोटेकी अपेक्षा वड़ा है।
३. दोनों अपेक्षा छोड़कर स्वयंकी अपेक्षा "न छोटा है न वड़ा है।"

इसके सिवाय सापेक्षताएँ भिन्न-भिन्नरूप में वढ़ती जायँ तो निर्णय भी वदलते जायंगे। वे सभी निर्णय उन-उन अपेक्षाओंसे सत्य होंगे। सिद्ध हुआ कि सत्य एकांगी नहीं होता अतः संसार भी है, उसका चातुर्गतिक रूप भी सत्य है और उनके कारणभूत पुण्य-पाप भी सत्य हैं।

(२३९) **प्रश्न**—तव परकर्तृत्व भी सत्य है। परका उपकार अपकार करने से ही तो पुण्य-पाप होते हैं ?

समाधान—नहीं। परके उपकारकी मात्र भावना करना आपके वशमें है, उससे पुण्यार्जन हो सकता है। इसी प्रकार अपकारकी भावना करना आपकी स्वेच्छापर है, उससे पापार्जन हो सकता है पर आप परका उपकार अपकार नहीं कर सकते।

(२४०) **प्रश्न**—यदि भावना मात्रसे पुण्य-पाप हो जाता है तो पुण्य-पाप करना वहुत सरल है। करना धरना कुछ नहीं हैं, सव संसारके उपकारकी भावना करो सातिशय पुण्य वंध हो जायगा ?

समाधान—सामने वाले व्यक्तिके स्वयं पुण्योदय हो तो उसका उपकार हो जाता है, यदि पापोदय हो तो अपकार स्वयं हो जाता है।

(२४१) **प्रश्न**—विना किये उपकार अपकार कैसे हो जाता है ? और उससे हमें पुण्य-पाप कैसे वंध जाता है ?

समाधान—आपके मनमें यदि दूसरेके भले होनेकी भावना है कि आप उसकी सुख सुविधा रूप पदार्थोंका उसे दान करें तथा स्वयं उसके अनुकूल देहादिकी क्रिया करें, यह आपके वशकी वात है। यदि उसके शुभ कर्मका उदय हो तो आपके साधन व क्रियाएँ उसकी सुख सुविधामें मात्र

निमित्त पड़ सकेंगी यदि उसके पापका उदय हो तो आपके कोई कार्य उसे सुख-सुविधा नहीं पहुंचा सकते। इसी प्रकार आप किसीकी बुराईका भाव कर सकते हो, तदनुकूल परके बाधक कारण उपस्थित कर दुःखी बनानेके निमित्त जोड़ सकते हो, तथापि यदि उसके पुण्योदय है, तो आपके ये निमित्त उसे दुःखी नहीं कर सकते यह भी निश्चित है।

आपको पुण्य और पाप बंध आपकी भावनाके कारण ही होता है। आपकी क्रियाएँ तथा साधन सामग्रीका एकत्रीकरण उस भावनाका फल है। ये दोनों निमित्तभूत कहे जायंगे तब, जब उसके पुण्य-पापके उदयसे वह सुखी दुःखी बन सके। यदि उसे पुण्य-पापका उदय नहीं है तो वह सुखी दुःखी न बन सकेगा। तब आपके भाव और चेष्टाएँ निमित्त नहीं कही जायेंगी।

(२४२) **प्रश्न**—जब निमित्त नहीं हो सकीं, तो हमारी चेष्टाएँ व भावनाएँ सब निष्फल हैं।

समाधान—परको सुखी दुःखी करनेमें अवश्य निष्फल हैं। तथापि आपके अनुसार पुण्य और पापका बंध अवश्य होगा अतः वे चेष्टाएँ सफल हैं, निष्फल नहीं हैं?

(२४३) **प्रश्न**—दूसरेकी भलाई भी नहीं हुई, बुराई भी नहीं हुई, पर हमें व्यर्थ पुण्य-पाप बँध गया यह कोई प्रक्रिया है?

समाधान—प्रक्रिया सही है। प्राणी अपनी सुकृति और दुष्कृति रूप परिणति तो स्वेच्छासे करता है अतः उससे पुण्य-पाप बंध होना भी अनिवार्य है। किन्तु दूसरेका भला-बुरा होना उसके भाग्य दुर्भाग्यके उदयपर अवलम्बित है। यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् तो तीर्थंकर सभी तीनों लोकोंके जीवोंके हितका उपदेश करते हैं तब उस निमित्तसे सारा संसार मुक्त हो जायगा।

(२४४) **प्रश्न**—कैसे हो जायगा? वे अपने-अपने कर्मानुसा र प्रवर्त्तेंगे। भगवान् केवल उपदेश कर सकते हैं, उठाकर स्वर्ग-मोक्षमें थोड़े ही धर देंगे।

समाधान—जैसे भगवान्में परकर्तृत्व नहीं है ऐसे ही संसारके सभी प्राणियोंमें परकर्तृत्व नहीं है। वे भी किसीको सुखी दुखी नहीं कर सकते।

(२४५) **प्रश्न**—भगवान् तो वीतराग हैं, अतः उनमें परके कर्तृत्वका प्रश्न ही नहीं उठता। उन्हें इसी वीतराग भावके कारण कर्मका बंध भी नहीं होता, पर अन्य संसारी प्राणी तो राग-द्वेष युक्त हैं, उन्हें शुभराग भी होता है, और अशुभराग भी है, इससे वे तो परका शुभाशुभ करते हैं, तभी तो बंधक हैं?

समाधान—वीतरागी राग-द्वेषके अभावसे पुण्य-पाप बंध नहीं करते। संसारी प्राणी शुभा-शुभरागसे पुण्य-पाप बंध करते हैं। यह सिद्धान्त स्वयं प्रश्नकारके कथनसे सिद्ध हो गया। तथापि—संसारी प्राणी परका शुभाशुभ कर सकते हैं यह सत्य नहीं है। वे परके शुभाशुभका निमित्त तो बन सकते हैं—पर उसे कर नहीं सकते। प्राणी अपने परिणामसे ही पुण्य-पापका बंध करते हैं।

(२४६) **प्रश्न**—क्या केवल परिणामोंसे बंध हो जाता है?

समाधान—केवल परिणाम ही वह कर सकता है अतः वही अपराध है। उस स्वापराधसे ही बंधता है। परके कारण नहीं बंधता। सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनों संसारमें हैं। दोनोंकी प्रवृत्ति समान है। दुनियासे न्यारे दोनों नहीं हैं। केवल न्यारे हैं अपनी दृष्टिमें। अर्थात् परका

कर्त्ता न सम्यग्दृष्टि है, न परका कर्त्ता मिथ्यादृष्टि है। दोनों परके कर्त्ता नहीं। जीवद्रव्यके सिवाय अन्य कोई द्रव्य जो अचेतन है, वे भी किसी अन्य सचेतन अचेतन द्रव्यके कर्त्ता नहीं हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि इस रहस्यका जानकार है और मिथ्यादृष्टि इस रहस्यमें अनभिज्ञ है मात्र इतना अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि यह जानकर, कि मैं अपनी शुभरागकी भावना वशात् उपाय करूँ, वह मेरा कर्त्तव्य है, परोपकारके कार्य करता है। इसके वाद भी परकी भलाई परके कर्मोदयके अनुसार होगी। इस सत्य परिज्ञानके कारण वह इच्छानुसार काम न होनेपर भी दुखी नहीं होता। मिथ्यादृष्टि भी प्रयत्न करता है और सत्य परिज्ञानके अभावमें उसकी इच्छानुसार परका परिणमन होने पर दुखी होता है। यदि मैं परका कर सकता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यता दूर हो जाय, तो दुखका अभाव हो जाय।

(२४७) **प्रश्न**—जव मैं परका कुछ कर नहीं सकता तव परके भले वुरेकी भावना करना भी निष्फल है?

समाधान—आत्महितकी दृष्टिसे दोनों भावनाएँ नहीं करनी चाहिए। उनसे आत्मा पुण्य-पापसे वंध जाती है। अपने स्वभावसे च्युत होकर शुभराग भी आत्महितकी दृष्टिसे 'अपराध' है। अतः वंधनका कारण है। तथापि रागादि न छूटें तव तक अशुभ रागसे छूटनेका उपाय शुभरागका आलंवन ही है। उससे वंध तो होगा पर अशुभरूप न होगा।

यदि वंधन स्वीकार करना है तो शुभ वंधन स्वीकार करिये, शुभ परिणाम करिये। यदि वंधन स्वीकार नहीं है-ऐसी परिस्थितिमें आप अपनेको ला सकते हैं, तो आप शुभाशुभ राग छोड़ वीतरागभाव स्वीकार करिये, क्योंकि दोनों परिणाम वंधनके हेतु होनेसे अपराध हैं ॥१६७॥

इसी तथ्यको निम्न कलशमें आचार्य निष्कर्मके रूपमें प्रतिपादन करते हैं—

सर्वं सदैव नियतं भवदि स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥

अन्वार्थ—(**स्वकीयकर्मोदयात्**) अपने-अपने उदयागत कर्मके अनुसार ही सभी जीवोंके (**मरणजीवितदुःखसौख्यम्**) मरण, जीवन, दुख, सुख, होते हैं। यह (**सर्वं सदैव नियतम् भवति**) सव सदा नियत हैं अर्थात् कर्मानुसार मरण-जीवन सुख-दुख नियत है, तदनुसार ही प्राणी उसे प्राप्त करते हैं। (**परः**) कोई (**पुमान्**) पुरुष (**परस्य**) दूसरे पुरुष या प्राणीके (**मरणजीवितदुःखसौख्यम्**) मरण-जीवन दुख-सुख (**कुर्यात्**) करे ऐसा मानना (**एतत इह अज्ञानम्**) यह सव अज्ञान भाव ही हैं यथार्थ नहीं है ॥१६८॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी संसारमें जीवन-मरण अपनी आयु कर्मके अनुसार करता है। सुख दुख अपने पुण्य पापके उदयानुसार ही प्राप्त करता है। यह सनातन सत्य नियम है। उससे कोई जीवन दे सकता है, या मरण दे सकता है, सुख दे सकता है, या दुख दे सकता है, ऐसा मानना अज्ञान-मूलक है।

(२४८) **प्रश्न**—क्या ईश्वरके द्वारा प्राणी कर्मफल नहीं पाते ?

समाधान—ईश्वर-परमात्मा स्वयं वीतरागी है। उसी वीतरागीका तो यह उपदेश है कि यथार्थमें कोई किसीका कर्त्ता-धर्त्ता विधाता नहीं है। सभी प्राणी अपने कर्मका स्वयं कर्त्ता-धर्त्ता-विधाता है, अतः अपनी बुराईके वे स्वयं जिम्मेवार हैं, और अपनी उन्नतिके भी स्वयं जिम्मेवार हैं। भगवान् तो ऐसा ही उपदेश करके मार्गदर्शन कर गए हैं। उस मार्गपर चलकर प्राणी अपना भला कर सकते हैं ॥१६८॥

इसी अभिप्रायको नीचे कलशमें प्रकारान्तरसे कहते हैं—

अज्ञानमेतधिगम्य परात् परस्य
पश्यन्ति ये मरण–जीवित–दुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

अन्वयार्थ—(**ये मिथ्यादृशः**) जो मिथ्यादृष्टि जीव (**एतत् अधिगम्य**) इस बातको मानकर (**परस्य**) दूसरेके (**मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्**) मरण-जीवन, दुख, व सुख. आदिको (**परात्**) किसी अन्यसे होना (**पश्यन्ति**) देखते हैं या मानते हैं (**एतत् अज्ञानं**) वह उनका अज्ञान है। (**ते अहंकृति-रसेन**) वे अपने इस अज्ञान जनित अहंकारके रसमें मग्न हो (**कर्माणि चिकीर्षवः**) कर्म करनेकी इच्छा करने वाले (**आत्महनः भवन्ति**) आत्मघाती हैं (**इतिनियतम्**) यह निश्चित है ॥१६९॥

भावार्थ—यद्यपि कलश १६८ में यह स्पष्ट बता दिया जा चुका है तथापि जो विपरीत-मोहित दृष्टि वाले अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि मैं परका उपकार या अपकार करनेमें, जीवन देने सुखी करने या मरणको प्राप्त कराने या दुखी करने आदिमें, समर्थ हूँ वे अज्ञानी जन अपने मिथ्या अहंकारमें लीन होकर परका कर्त्ता अपनेको मानकर कर्म बंधके कर्त्ता बनते हैं। यह उनका भाव उनके लिए स्वयं घातक है।

(२४९) **प्रश्न**—'आत्मघाती महापापी' ऐसी लोकोक्ति है। इसके अनुसार अपना अपघात करने वाले ही आत्मघातक हैं। पर जिसे आप मिथ्यादृष्टि कहते हैं—पापी है। वह तो परका घात करता है उसे (**आत्महनः**) आत्मघाती क्यों कहा ?

समाधान—यह पिछले समाधानोंमें भी स्पष्ट कर दिया गया है और इस कलशमें भी कर दिया गया है कि मिथ्यादृष्टि भी परका घात नहीं कर सकता। मैं परका घात करता हूँ—कर सकता हूँ"—ऐसा मात्र अभिमान वह करता है। सम्यग्दृष्टि साँचो तात्त्विकदृष्टि वाला है, वह ऐसा अहंकार नहीं करता ? क्योंकि वह जानता है कि मैं किसीको सुखी-दुखी नहीं कर सकता। सब जीव अपने-अपने शुभाशुभकर्मके उदयके फलस्वरूप स्वयं संसारमें सुखी-दुखी होते हैं। मैं किसीको मार नहीं सकता। जीवित नहीं कर सकता। सव अपने आयु कर्मके उदयमें जीते हैं व आयु कर्मके क्षयसे मरते हैं। मैं किसीके शुभाशुभ कर्मका कर्त्ता नहीं हूँ—सभी प्राणी स्वयं कर्त्ता व स्वयं भोक्ता हैं। वस्तुकी स्थिति ऐसी है, अतः मिथ्यादृष्टि भी ये सव परके काम नहीं कर सकता। किन्तु परकर्तृत्वके इस अध्यवसानसे ही वह कर्मका वंधन करता है।

(२५०) **प्रश्न**—तो क्या सम्यग्दृष्टिके पुण्यका भी बंध नहीं होता ? यदि होता है तो वह भी इसी अध्यवसानके कारण बंधको प्राप्त होता होगा। जब यह अध्यवसान दोनोंमें पाया गया तब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें अन्तर क्या है। परकर्तृत्वका अध्यवसान दोनों करते हैं, सम्यक्त्वी परोपकार रूप शुभ अध्यवसान करता है, वह पुण्यबंध करता है। मिथ्यादृष्टि अपकाररूप अध्यवसान करता है, वह पाप बंध कर लेता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है "परका कर्त्ता मैं हूँ" ऐसी मिथ्या धारणा सम्यग्दृष्टिके नहीं है। जिनकी ऐसी धारणा है वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थादि गुणस्थानोंमें देव-पूजा-गुरुपास्ति-स्वाध्याय आदि सत्कर्म करता है। उस समय शुभरागरूप परिणमता है, इसलिए पुण्य बंध करता है। वह इन सत्कर्मोंमें राग इसीलिए करता है कि—सर्वज्ञके उपदेशने—**परम्परागत वीतराग गुरुओंने, और उनके रचित सद्ग्रन्थोंने** ही उसे यह "अमोघ मन्त्र" बताया है कि "तू परका कुछ नहीं कर सकता—किन्तु तेरा भला बुरा अवश्य कर सकता है।"

सर्वज्ञसे इस उपदेशको मानकर ही उसे उन पर भक्ति आयी है। वह विचारता है कि इन्होंने उपदेश दिया है—मेरे भाग्यसे मैंने उसे स्वयं स्वीकार किया है। **मेरे तत्वज्ञानके लिए वे निमित्त बने अतः व्यवहारसें वे आदर योग्य हैं।** यदि उनमें मेरा आदर भाव रहेगा तो उस तत्त्वज्ञानके प्रति भी आदर भाव रहेगा। अतः उस आदर भावसे वह शुभबंध कर लेता है।

(२५१) **प्रश्न**—वह यह आदर भाव व्यवहारमें करता है तो **क्या मायाचारी नहीं** है, जो परमार्थ से उनका आदर न कर मात्र व्यवहारसे करता है ?

समाधान—ऐसा मानना मिथ्या है। परमार्थसे तो आदर उस तत्त्वज्ञानके प्रति आया है जो उसकी आत्मामें जगा है। उसीके कारण तो तन्निमित्त, देव गुरु शास्त्रके प्रति आदर भाव आया है, अतः माया कषायका यहाँ क्या स्थान है ? यह व्यवहार कपट रूप नहीं है।

मायाचारी तब होती जब बाहरसे आदर करता, भीतरसे उनका अनादर करता। पर ऐसा नहीं है। वह अन्तरंग बहिरंगसे आदर करता है, तभी पुण्यबंध होता है। यदि मायाचारीसे करता तो उसे पापबंध होता—पुण्यबंध नहीं होता। मायाचारी तत्त्वदृष्टि वाला नहीं होता।

(२५२) **प्रश्न**—जब वह आन्तरिक-दृष्टिसे भी उन महान् सत्ताओंको स्वीकार करता तथा उनकी सेवा भक्ति करता है तो वह बंधनमें क्यों पड़ता है ? इससे तो उसको मुक्ति होना चाहिए ?

समाधान—मुक्ति तो वीतराग भावको प्राप्त करनेसे होती है, वीतरागके रागसे नहीं होती। राग तो बन्धका कारण है चाहे शुभ हो या अशुभ हो, तथा वह सम्यग्दृष्टिको हो चाहे मिथ्यादृष्टिको हो।

सम्यग्दृष्टि अपने शुभाशुभ भावोंसे पुण्य-पाप दोनों बाँधता है, और मिथ्यादृष्टि भी शुभाशुभ भावोंसे पुण्य-पाप दोनों बाँधता है। ऐसा नहीं है जो सम्यक्त्वी पुण्य ही बाँधे और मिथ्यादृष्टि पाप ही बाँधे।

(२५३) **प्रश्न**—तब दोनोंमें भेद क्या रहा ? दोनों पुण्य-पाप बाँधेंगे और तदनुसार शुभाशुभ रूप चतुर्गति संसारमें परिभ्रमण करेंगे मुक्ति तो दोनोंसे दूर है। मुक्ति सम्यक्त्वीको भी कैसे होगी ?

समाधान—ठीक रास्ते पर आप चल रहे हैं। मुक्ति इन दोनोंको इस स्थितिमें न होगी। मुक्तिके लिए पूर्ण "वीतराग भाव" ही कारण होगा ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश है। जब तक पूर्ण

"वीतराग भाव" न होगा तब तक सम्यग्दृष्टि भी मुक्त न होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है। तथापि "वीतराग भाव" सम्यग्दृष्टिके ही प्रगट होगा, मिथ्यादृष्टिको नहीं। कारण सम्यग्दृष्टि "वीतराग भाव" का ही उपासक और उसीका आकांक्षी है। वह अशुभ राग छोड़कर, व्रतादि स्वीकार कर, छट्ठे गुणस्थानमें सातिशय शुभोपयोगी होगा। पश्चात् सप्तम आदिमें क्रमशः स्वयं शुद्धोपयोग पर आरूढ़ होकर, मुक्तिके मार्गमें बढ़ता जायगा तथा मुक्ति प्राप्त करेगा। स्वयं पूर्ण वीतराग बनने पर वीतरागीकी भी उपासना स्वयं छूट जाती है।

मिथ्यादृष्टि पुण्यका उपार्जन भी करे तो उसके फल स्वरूप प्राप्त, पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें फँसकर पुनः पापबन्ध करेगा। कारण यह है कि उसे "वीतराग भाव ही उपादेय है" ऐसा श्रद्धान नहीं है। "मैं ही अपना भला-बुरा करनेमें समर्थ हूँ—पर नहीं" ऐसी श्रद्धाके अभावमें वह, अपना भी भला-बुरा परसे होगा, ऐसा मानता है। जो परावलंबी है, वह मुक्त न होगा। स्वावलंबी ही मुक्त होगा। सम्यग्दृष्टि वीतराग भावमें जितना-जितना बढ़ता है, परावलम्बन छोड़कर उतना-उतना हीस्वावलंवी बनता जाता है। दोनोंमें यही भेद है, अतः एक मुक्त हो जाता है, दूसरा अपनी मिथ्या धारणाओंसे स्वयं अपना अहित करता है अतः "आत्मघाती" है, ऐसा आचार्यका कथनहै ॥१६९॥

मिथ्या अध्यवसान ही बंधका कारण है—

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

अन्वयार्थ—(**अस्य मिथ्यादृष्टेः**) इस मिथ्यादृष्टि जीवके (**यः अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते**) जो यह अज्ञान स्वरूप अध्यवसान दिखाई देता है (**विपर्ययात्**) विपरीत रूप या मिथ्यात्व रूप परिणाम होनेसे (**स एव बंधहेतुः**) वही बंधका कारण है ॥१७०॥

भावार्थ—परका कुछ भला-बुरा कर सकता हूँ ऐसा जो मोह युक्त अध्यवसान है—वह विपरीत है—आत्महितके विरुद्ध अतत्त्व श्रद्धान रूप है—अतः वह बन्धका कारण है, अज्ञान स्वरूप है। सम्यग्दृष्टिके ऐसा मिथ्या अध्यवसान नहीं होता।

(२५४) **प्रश्न**—पिछले प्रश्नके समाधानमें आपने कहा था कि सम्यग्दृष्टि भी शुभाशुभ रूप पुण्य-पाप बाँधता है। यहाँ कह रहे हैं कि अध्यवसान भाव सम्यग्दृष्टिके नहीं होता ऐसा, कथन विरुद्ध प्रतीत होता है?

समाधान—बुद्धि-व्यवसाय-अध्यवसान-मति-विज्ञान-चित्त-भाव-परिणाम ये सब शब्द एकार्थक हैं।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अध्यवसानका सामान्य अर्थ तो जीवके सकषाय परिणाम ही हैं। तथापि इस प्रकरणमें मोह युक्त परिणामको ही मिथ्या अध्यवसान कहा है। उसे ही बन्धका कारण कहा है।

---

१. बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥ —समयसार गाथा २७१

(२५५) **प्रश्न**—बन्ध तो सम्यग्दृष्टिको भी होता है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है। पिछले समाधानोंमें भी कहा गया है, तो क्या वह अध्यवसान भाव नहीं है ?

समाधान—सम्यग्दृष्टिका अध्यवसान मोह रहित होनेसे इस प्रकरणमें "अध्यवसान" नाम नहीं पाता। मिथ्या अध्यवसानको ही यहाँ अध्यवसान व बन्धका कारण कहा है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवको मिथ्या अध्यवसानके अभावमें 'अबन्धक' ही कहा है। उसे पिछले समाधानों में, व अन्यत्र शास्त्रोंमें शुभाशुभ पुण्य-पाप रूप बन्ध करना लिखा है, वह अल्प बन्ध उपेक्षणीय है। वह अनन्त संसारका कारण नहीं है। अतः उस बन्धको बन्ध नहीं माना। इसीसे चतुर्थादि गुण-स्थानोंमें शुभाशुभ रूप प्रवृत्ति होने, तथा अल्प स्थिति अनुभाग रूप बन्ध होनेपर भी, अबन्धक ही कहा है। मिथ्यादृष्टिको ही एक मात्र बन्धक कहा है, क्योंकि मिथ्यादर्शनके प्रभावसे वही अनन्त संसारके कारणभूत कर्मोंका अधिक स्थिति अनुभाग रूप बन्ध करता है।

सारांश यह कि ग्रंथमें जो प्रकरण चला है वह मिथ्याध्यवसानको ही "अध्यवसान" मानकर चला है। अतः यहाँ अध्यवसान शब्दका अर्थ मिथ्यात्व सहित परिणाम ही जानना चाहिए ॥१७०॥

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(**अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन विमोहितः**) इस प्रकारके मिथ्या अध्यवसायसे व्यर्थ विमोहित (**आत्मा**) प्राणी (**यत् आत्मानं न करोति**) आत्माको अर्थात् अपनेको जिस पदार्थसे एकत्व रूप न करता हो (**तत्**) ऐसा पदार्थ (**किञ्चनापि न**) कोई भी नहीं हैं ॥१७१॥

भावार्थ—मैं परका कर्ता हूँ पर मेरा कर्ता है। मैं परको चाहे जैसा कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ भी इष्ट अनिष्ट कर सकता है, ऐसे मिथ्या विकल्पोंसे मोहित होकर अपनेको पर पदार्थसे एकत्त्व रूप स्थापितकर, अपना इतना अनिष्ट करता है, जितना अनिष्टतम कार्य हो सकता है। सबसे अन्तिम अनिष्ट पाँच प्रकार संसार परिवर्तन है जो अनन्त काल तक प्राणीको दुःखी बनाता है। उस अनिष्टको मोही प्राप्त करता है। इष्ट फल मोक्षके प्रति कारणत्वके अभावसे ही मिथ्या अध्यवसानको निष्फल कहा, संसार रूप दुखद फल तो उसका है ही ॥१७१॥

मोहकी महिमा अनुपम है ऐसा बताते हैं—

विश्वाद् विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावात्
आत्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) यह जीव (**विश्वात् विभक्तः अपि**) संसारके सम्पूर्ण द्रव्योंसे भिन्न है तथापि (**यत्प्रभावात् आत्मानम्**) जिस अध्यवसानके प्रभावसे अपनेको (**विश्वम् विदधाति**) विश्वके स्वरूपसे अभिन्न रूप बनाता है, अर्थात् मानता है। (**एषः**) यह उसका (**मोहैककन्दः अध्यवसायः**) मोहमूलक अध्यवसाय है, अर्थात् इस प्रकारके अध्यवसायकी जड़ मोहकन्द ही है, (**येषां एषः नास्ति**) जिनको यह नहीं है (**त एव यतयः**) वे ही यति हैं ॥१७२॥

भावार्थ—मिथ्यात्वके उदयमें जो परके साथ एकाकारकी बुद्धि है, वह मोह परम्पराकी जड़ है। उससे अनन्तकाल तक प्राणी परमें मोहित हो भटकता रहेगा।

वस्तुतः जीव सब द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। जीव द्रव्य भी अनन्तानन्त हैं। वे सब लक्षणकी समानता रखते हुए भी परस्परमें अपने-अपने गुण, पर्याय, धर्मको लिए भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। संसार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार, विविध परिस्थितियोंसे गुजर रहा है। एक घरमें रहने-वाले माता-पिता, भाई-बन्धु, अपने-अपने कर्मोदयके अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। कोई किसीका सुख-दुःख बाँट नहीं सकता, अतः वे भी पृथक्-पृथक् हैं। तब अन्य अनन्तानन्त जीव तो भिन्न-भिन्न ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है। फिर भी प्राणी अपनी मोह परिणतिसे अपना स्वरूप न जानकर परमें निजपना मानता है और सारे विश्वको अपनाता है। ऐसी मिथ्या-मोहकी जड़ जिनकी उखड़ गई है वे ही यतीश्वर हैं।

(२५६)·**प्रश्न**—क्या सम्यक्त्वी गृहस्थकी मोहकी जड़ नहीं उखड़ी ? सम्यग्दृष्टिके तो चतुर्थ गुणस्थानमें भी मोहका परिणाम नहीं हैं, तब मोह रहितको यतीश्वर कहनेका क्या तात्पर्य है ? यहाँ **गृहस्थको भी मोह रहित होनेसे यतीश्वर कहा गया है ऐसा** है क्या ? या यतीश्वरके ही **मोह रहितपना** है अतः वे ही **सम्यग्दृष्टि हैं ? अन्य सब चौथे पाँचवें गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि** हैं ?

समाधान—भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके, तथा उनके ग्रन्थोंके टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यके सामने जो शिष्य वर्ग था उसे लक्ष्यमें प्रधान रखकर ही उन्होंने वर्णन किया है। उसीका एकदेश गृहस्थ पर लागू करना चाहिए। इसलिए यतीश्वरको प्रधान लक्ष्य करके ही आचार्य कहते हैं। वे उन्हें सम्बोधन कर कहते हैं कि यदि यति होकर भी तुमने परके साथ एकताका भाव रखा तो वह मिथ्यात्व होगा और तुम बन्धनमें पड़ोगे।

चतुर्थ पंचम गुणस्थानी भी मोह रहित है। वह भी परके साथ रहता हुआ भी उनसे एका-कारता नहीं रखता। यति तो समस्त गृहारम्भ, धनादि, परिग्रह, परिवार आदि, परिकर छोड़ चुका है—तब यति संज्ञाको प्राप्त है। गृहस्थ अभी उनसे छूट नहीं सका है तथापि वह भी मोह रहित है।

वस्तुतः बाह्य त्याग करनेका उतना बड़ा महत्त्व तभी है—जब वह **मोहके परित्याग पूर्वक हो। अन्यथा उसका मोक्षमार्गमें महत्त्व नहीं है।** इसी बातको निर्देश करनेका तात्पर्य श्री अमृत-चन्द्र स्वामीका इस कलशमें है। वे मोहजन्य अध्यवसायसे दूर यतिको ही यतीश्वर कहते हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि मोहसे दूर रहकर मोहकी समस्त सामग्रीका परित्याग करना ही मोक्षमार्गमें इष्ट है। इसलिए गृहस्थकी चर्चा न कर, यतिकी चर्चा की है। **चतुर्थ पंचम** गुणस्थान में वह **मिथ्याध्यवसाय तो नहीं** है जो परके साथ **एकताका प्रदर्शन करे**—तथापि वह रागभावका सर्वथा परित्याग तो नहीं कर सका, जो करना था। अतः **यतियोंका** अनुयायी वह है, पर यति नहीं है। यति तो उसे ही कहते हैं जो अपने स्वरूपमें ही संयत हो। अतः यतीश्वरसे जो तात्पर्य है वह यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है ॥१७२॥

अध्यवसान भावका त्याग ही समस्त अन्याश्रित व्यवहारका त्याग है, ऐसा इस कलशमें कहते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किम्
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

अन्वयार्थ—(**जिनैः**) भगवान् जिनेन्द्रने (**सर्वत्र**) पद-पदपर ग्रन्थोंमें (**अध्यवसानमेव त्याज्यं**) अध्यवसान ही त्याग करने योग्य हैं ऐसा (**यदुक्तम्**) जो कहा है (**तत् मन्ये**) सो मैं ऐसा मानता हूँ कि (**निखिलः अपि व्यवहारः**) सम्पूर्ण व्यवहार हो (**त्याजितः**) छुड़ाया है, जो कि (**अन्याश्रयः**) अन्य के आश्रयसे होना है। निजाश्रयसे नहीं होता। जब जिनेन्द्रका ऐसा उपदेश है तो ग्रन्थकार श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि (**अमी सन्तः**) ये सज्जन पुरुष (**एकमेव सम्यङ्निश्चयम्**) एकमात्र सम्यक् निश्चयको (**निष्कंपं**) अविचलित रूपसे (**आक्रम्य**) अवलम्बन लेकर (**शुद्धज्ञानघने**) शुद्ध ज्ञानसे घन स्वरूप अर्थात् ठोस (**निजमहिम्नि**) अपनी महिमामें ही (**धृतिम्**) धैर्य (**किम् न बध्नन्ति**) क्यों नहीं बांधते ॥१७३॥

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रका उपदेश आचार्योंने प्रत्येक जैन ग्रन्थमें निबद्ध किया है। प्रत्येक उपदेशका तात्पर्य इतना ही है कि **स्वाश्रय करो। पराश्रय छोड़ो।** जितना संसारका व्यवहार हैं वह **पराश्रयसे होता है। पराश्रयके त्यागका** उपदेश ही **परमार्थका उपदेश है।**

यहाँ सम्पूर्ण अध्यवसानोंको त्यागनेका उपदेश दिया गया है, उससे तात्पर्य यह निकलता है कि जिनेन्द्र आपको **समस्त पराश्रित व्यवहारको** त्यागनेका ही उपदेश देते हैं। जब भगवान् स्वयं ऐसा उपदेश देते हैं तो अमृताचन्द्राचार्य शिष्य वर्गसे कहते हैं कि सज्जन पुरुषो, आप उपदेशको स्वीकार कर अपनी निज महिमासे सर्वोत्कृष्ट शुद्धात्मामें ही धैर्य व सन्तोष क्यों नहीं करते ? पराश्रित व्यवहारमें क्यों भटकते हो ?

(२५७) प्रश्न—क्या व्यवहार सर्वथा त्याज्य है ऐसा तात्पर्य समझें ? यदि ऐसा है तो कौन जीव महाव्रतादिको धारण करेगा, यह एकान्त उपदेश तो लोगोंको चारित्र मार्गसे दूर फेंक देगा ?

समाधान—व्यवहार **तब तक आलंबन योग्य है जब तक जीव स्वाश्रयको पूर्णतया प्राप्त न हो जावें।**' जैसे जलमें तैरनेकी इच्छा रखने वाला प्रारम्भमें पराश्रयसे तैरना सीखता है। फिर जब कुछ कुछ सीख जाता है तब पराश्रय छोड़कर स्वावलम्वन करता है। जब कभी स्वसामर्थ्य कमजोर पड़ती है, तब फिर परावलम्वन कर लेता है। पर वह इसलिए परावलम्वन नहीं करता कि हमेशा परावलंवी रहूँ, बल्कि इसलिए करता है कि अभ्यासकर स्वावलम्वी बन जाऊँ। जब निष्णात हो जाता है तब परावलम्वका सर्वथा परित्याग करता है, तभी सच्चा तैराक होता है।

इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि प्रारम्भमें स्वावलंवनकी भावनासे ही, जो स्वावलंवी हैं, उनकी ओर देखता है। वे उसे बढ़नेके लिए महाव्रतादिकी क्रियाएँ बताते हैं। वह उनका आलम्वन करता है।

यह आलम्बन इसलिए नहीं करता कि उनको पकड़कर बैठ जाय, उनसे मुक्ति हो जायगी, बल्कि इसलिए कि हम भी स्वावलम्बी हो जाँय।[1]

आचार्य कहते हैं कि तुम जो पराश्रय से होनेवाली पुण्य क्रियारूप व्यवहार **करते थे--वह इसलिए कि पापारंभसे बच** जाओ। अब उससे बच गये हो तो **पराश्रय** व्यवहारको छोड़कर **स्वाश्रयको प्राप्त** करो ॥१७३॥

यहाँ प्रश्नके रूपमें आचार्य यह कलश लिखते हैं—मानों कोई शिष्य अपने गुरुसे पदार्थके उपदेशको सुनकर प्रश्न करता है कि हे गुरो !

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

अन्वयार्थ—(**बन्धनिदानम्**) बंधके कारण (**शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः**) शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकाश अर्थात् ज्ञानचेतनारूप शुद्धात्मासे सर्वथा भिन्न (**रागादयः**) रागादि विभावपरिणाम हैं (**इति उक्ताः**) ऐसा आपने कहा। सो समझा। अब प्रश्न यह है कि—(तन्निमित्तम्) इन रागद्वेष रूप विभाव परिणामोंका कारण (**किमु आत्मा वा परः**) क्या स्वयं आत्मा है कि अन्य पदार्थ पुद्गलादि बाह्य पदार्थ हैं ? (**इति प्रणुन्नाः**) ऐसे प्रश्नकार द्वारा सविनय पूंछे गए आचार्य (**पुनः एवं आहुः**) फिर इस प्रकारसे प्रश्नका उत्तर देते हैं ॥१७४॥

भावार्थ—यह जाना कि रागादि विभावरूप जो परिणाम, आत्मामें समय-समयपर उत्पन्न होते हैं, तथा यह आत्मा उन विभाव-परिणामोंके निमित्तको पाकर, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेद-नीय, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, गोत्र आदि आठ मूल प्रकृतिरूप, तथा १४८ उत्तर प्रकृतिरूप, तथा उत्तरोत्तर भेदरूप, द्रव्य कर्मोंसे, बन्धको प्राप्त हो जाता है। तथापि प्रश्न उत्पन्न होता है कि रागादि परिणाम जो आत्मा में होते हैं वे किस कारणसे होते हैं ? क्या आत्मा स्वयं उनका कारण है ? यदि आत्मा कारण हो, तो सिद्धात्मा हो जाने पर भी कर्म बन्ध हो जायगा, वे पुनः संसारी बन जायेंगे। अथवा आत्मभिन्न शरीरादि पुद्गल द्रव्य उन बन्धका कारण हैं ? अथवा स्वयं ज्ञानावरणादि ही आकर जीवको बन्धनमें डाल देते हैं ? या संसारकी अन्य सचेतन-अचेतन वस्तुएँ उनके बन्धनके कारण हैं ? ॥१७४॥

शिष्यने जब प्रणत होकर जिज्ञासु भावसे ऐसा उत्तम प्रश्न किया, तो आचार्य इस प्रश्नका उत्तर शिष्यके समाधान हेतु पुनः इस प्रकार देते हैं—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(**आत्मा**) यह शुद्ध चैतन्य मूर्तिस्वरूप आत्मा (**आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् न जातु याति**) स्वयंके रागादि परिणमनमें निमित्त अर्थात् कारण रूप नहीं है। (तस्मिन् निमित्तम्) किन्तु आत्मामें रागादि उत्पन्न होनेका निमित्त कारण (**परसंग एव**) पर द्रव्यका सम्बन्ध ही है, (**अयम् वस्तुस्वभावः उदेति**) वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है कि वह निमित्तरूप परसंगसे ही नैमित्तिक

१. कलश ५ भी देखिये।

भावको प्राप्त होता है। उदाहरण देकर समझाते हैं (**यथा अर्ककान्तः**) जैसे सूर्यकान्त मणि स्वयं पार्थिव है, वह ज्वालारूप परिणत स्वयं नहीं होता, किन्तु सूर्यके निमित्तको पाकर वैसा परिणमता है ॥१७५॥

भावार्थ—(१) सूर्यकान्त एक मणि है, जो पार्थिव परमाणुओंका एक पिण्ड है। स्वयं अन्य पार्थिव मणियोंकी तरह शीतल है। किन्तु उसमें यद्यपि ज्वालारूप परिणमनकी योग्यता स्वयंके कारण है, तथापि विना सूर्यके निमित्तके वह ज्वालारूप परिणमन नहीं कर सकता। इसी प्रकार—

(२) 'चन्द्रकान्त' एक मणि है। अन्य पार्थिव मणियोंके समान यह भी पार्थिव परमाणुओं का एक स्कन्ध है। स्वयं जलीय परिणमनकी योग्यता रखता है पर बिना चन्द्रोदयके जलरूप परिणमन नहीं कर सकता। चन्द्रोदयमें वह जल प्रवाही हो जाता है।

(३) अर्ककान्तका एक अर्थ स्फटिक भी होता है। स्फटिक भी एक मणि है—अन्य पार्थिव मणियोंकी तरह पार्थिव पुद्गल स्कन्धोंका एक पिण्ड है। स्वयं स्वच्छ श्वेतरंगका होता है, तथापि उसके पीछे यदि लाल-नीला-हरा फूल लगा दिया जाय—तो स्वयं लाल-नीला-हरा प्रतीत होने लगता है। उसके इस परिणमनमें अन्य पदार्थका संसर्ग ही निमित्त कारण है।

इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तथापि संसारी दशामें अशुद्ध है। यद्यपि अशुद्ध चैतन्य ही रागादिका उपादान कारण है, तथापि वह स्वयं बिना निमित्तके रागादि विभावरूप परिणमन नहीं करता। उसके रागादिका निमित्त कारण उन कर्मोंका उदय है, जो इस जीवने अपनी अनादिकालीन अशुद्ध अवस्थामें बाँध रखे थे। वस्तुका यह स्वभाव है। जो स्वयं उदयको प्राप्त है।

(२५८) **प्रश्न**—क्या स्वभाव है वस्तुका ?

समाधान—वस्तुका स्वभाव परिणमनशील है। वह कभी मिटता नहीं, चाहे वस्तु शुद्ध हो या परसंगसे अशुद्ध हो।

(२५९) **प्रश्न**—जब वस्तु स्वयं परिणमनशील है तो परिणमन होगा ही, फिर निमित्तका कोई स्थान नहीं है। उसकी चर्चा ऊपर क्यों की गई है ?

समाधान—वस्तुके परिणमन दो प्रकारके हैं, स्वभावरूप परिणमन और विभावरूप परिणमन। स्वभावरूप परिणमन तो स्वयं होता ही है। उसमें वस्तु स्वयं उपादानरूप कारण और काल द्रव्य, उसके परिणमनमें सहज उदासीन निमित्त है। विभावरूप परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें ही होता है। विभावपरिणमनमें दोनों ही एक दूसरेके निमित्त भी बन जाते हैं।

यहाँ जीवके विभाव परिणमनके सम्बन्धमें प्रश्न आया है। सो जो आत्मा अशुद्ध, संसारी है वह स्वयं अपने अशुद्ध परिणमनमें उपादान कारण है। अर्थात् परिणमनरूप शक्ति उसकी स्वयं की है। तथापि विभावरूप रागादि भावोंके परिणमनमें, कर्मोदय ही निमित्त है। इन निमित्तोंके अभावमें आत्माका रागादिरूप परिणमन नहीं हो सकता ॥१७५॥

वस्तुका ऐसा स्वभाव है यह ज्ञानी जानता है, अतः वह अपनेको रागादि रूप नहीं करता, इसका उल्लेख इस कलशमें करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यात् नातो भवति कारकः ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानी**) सम्यग्दृष्टि जीव (**इति**) उक्त प्रकारसे (**स्वयं वस्तुस्वभावं**) अपनी निज-आत्मा रूप वस्तुके स्वभावको (**जानाति**) **रागादिसे भिन्न** जानता है। (**अतः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**) इसलिए अपनेमें रागादिरूप विभाव परिणाम नहीं करता है (**अतः कारकः न भवति**) अतः रागादिका कर्त्ता भी नहीं है ॥१७६॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जानता है कि वस्तु पर निमित्तसे ही विभावरूप परिणमन करती है। यदि पराश्रय न किया जाय तो रागादि विभाव परिणमन नहीं होंगे। उनके अभावमें कर्म-बंधन भी नहीं होगा।

(२६०) **प्रश्न**—पूर्वबद्ध कर्मका उदय यदि रागादिमें निमित्त है तो ऐसा कर्मोदय क्या ज्ञानी-को नहीं होता ? यदि होता है तो निमित्तके आधारसे नैमित्तिक परिणमन भी करेगा। तब रागादिकी उत्पत्ति होना कैसे रुकेगा ?

समाधान—पूर्वबद्ध कर्मका उदय ज्ञानीके भी आता है और अज्ञानीके भी आता है। ज्ञानी अपने ज्ञान भावका आश्रय लेता है—क्योंकि वह वस्तु स्वभावको जानता है। वह जानता है कि यदि निमित्तका आश्रय लिया तो विकारभाव होंगे और बंध होगा। इसलिए कर्मोदयमें भी अपनेको संयत रखकर कर्मोदयके अनुकूल रागादिरूप परिणमन नहीं करता।

(२६१) **प्रश्न**—क्या यह स्वेच्छाकी बात है ? जब परिणमनशीलता अर्थात् स्वभाव रूप या विभाव रूप दोनों प्रकारकी योग्यता पदार्थमें स्वयं-स्वयंके ही कारण हैं, तब क्या कारण है कि विभाव परिणमनमें समर्थ कारणके रहनेपर भी विभावरूप परिणमन न करे ?

समाधान—यह सही है कि दोनों प्रकारके परिणमनकी योग्यता द्रव्यमें स्वयं है। परन्तु विभावरूप परिणमनमें परका निमित्त ही कारण बनता है। सो मन्द उदय रूप कर्म हो, और आत्मा स्वभावमें रहे, तो विभावरूप परिणमन न होगा। निमित्त कारक नहीं होते—उन्हें यदि साधु परिणमनमें निमित्त बनावें तभी वे निमित्त कारण बनते हैं अन्यथा नहीं।'[1]

स्वभाव-स्पर्शी साधु इस पुरुषार्थसे सत्तास्थित कर्मके स्थिति अनुभागमें हीनता करके, आगामी उदयकी धारामें परिवर्तन कर सकता है। मंदोदयमें पुरुषार्थ सफल होगा, तीव्रोदयमें नहीं, यहाँ ज्ञानीकी बात कही गई है।

(२६२) **प्रश्न**—मिट्टीमें घट परिणमनकी योग्यता है। कुंभकार उसे घट बनानेमें निमित्त है। यदि कुम्भकार उसका घट बनाना चाहता है तो क्या मिट्टीकी स्वेच्छा पर है कि वह बनना चाहे तो बने, न बनना चाहे न बने ?

१. द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः। —प्रवचनसार, अध्याय १, गाथा ४५. (तात्पर्य वृत्ति)

समाधान—यह उदाहरण अचेतनका है। उसमें इच्छा नहीं होती, सचेतनमें होती है। अतः सचेतनके लिए अचेतनका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

(२६३) **प्रश्न**—यदि कोई सचेतन स्वेच्छासे मुक्ति जाना चाहता है, तो क्या कर्मोदयकी विविध विचित्रताओंके होनेपर भी, वह मुक्त हो जायगा ?

समाधान—अवश्य हो जायगा। पाण्डवादि महापुरुषोंने, भगवान् पार्श्वनाथ तीर्थंकरादि महापुरुषोंने तीव्रसे तीव्र प्रहार करनेवाले असाता कर्मोदयको स्वीकृत नहीं किया, अतः वे मुक्तिगामी हुए।

(२६४)**प्रश्न**—इस पंचमकालमें मुक्ति नहीं होती, ऐसा कहा जाता है, हम तो इसी कालमें मुक्ति जाना चाहते हैं, तो क्या हम कर्मोदयकी उपेक्षा कर सकते हैं, और मुक्त हो सकते हैं ?

समाधान—केवल इच्छा मात्र से मुक्ति नहीं होती। मुक्तिके साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। इनकी पूर्णता होनेपर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है। रत्नत्रयकी लीनता ही वस्तुतः कर्मकी उपेक्षा या कर्मफलकी अस्वीकारता है। पंचमकालमें यह लीनता संभव नहीं है। इसलिए पंचमकालमें मुक्ति नहीं होती।

अज्ञानी वस्तु स्वभावको नहीं जानता, अतः तद्रूप परिणमन करता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यात् अतो भवति कारकः ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(**इति स्वं वस्तुस्वभावं**) उक्त प्रकारके अपने निजवस्तुके स्वरूपको (**अज्ञानी न वेत्ति**) अज्ञानी नहीं जानता है (**तेन**) इस कारणसे (**सः**) वह (**रागादीन्**) रागादि परिणामोंको (**आत्मनः कुर्यात्**) अपनेमें करता है। (**अतः कारकः भवति**) इसलिए ही अज्ञानी मिथ्यादृष्टि उन रागादि अशुद्धभावोंका कारक अर्थात् कर्त्ता होता है ॥१७७॥

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायका स्वयं कर्त्ता है, अपनी ही पर्यायका स्वयं भोक्ता है। यह मूल सिद्धान्त है। इसकी पूर्वमें कई वार चर्चा आ चुकी है। तदनुसार यह भी निर्णीत है कि जीव रागादिभाव अपनेमें करेगा वह उनका कर्त्ता तथा उनके फलका भोक्ता भी होगा। तथा जो ज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वका वेत्ता—अपने हिताहितका सच्चा परिज्ञायक है, वह अपने स्वरूप रूप परिणमन कर, उस स्वभावका कर्त्ता तथा स्वभावका ही भोक्ता होता है। ज्ञानीको इस मूल सिद्धान्तका भान रहता है, अतः विचलित नहीं होता। अज्ञानी इस मूल तत्त्वका अजानकार है अतः स्वरूपसे विचलित होकर संसारके दुःख भोगता है।

(२६५)–**प्रश्न**ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि भी, स्वीकार किये हुए कर्मोदयकी प्रबलतासे, संयमभाव से च्युत हो जाते हैं। तब उन्हें प्रायश्चित्तादिका विधान शास्त्रोंमें वर्णित है। यदि केवल स्वेच्छा ही से सचेतनके सम्पूर्ण परिणमन हों, तो मुनिको कभी दोष लग ही नहीं सकता। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मुनि जब मुक्तिकी इच्छा करते हैं, तथा रागादिरूप परिणमना नहीं चाहते, तब नहीं परिणमते। कभी-कभी उनकी इच्छा रागादि परिणमनकी हो जाती है तब वे रागादिके कारक

हो जाते हैं। यदि ऐसा हो तो आत्मा ही कारक है, चाहे जब रागादि करे, चाहे जब न करे। तब 'तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव' इस कथनकी सार्थकता नहीं रह जाती ?

समाधान—कारक तो आत्मा है पर अशुद्धात्मा, संसारी आत्मा है। शुद्ध चैतन्य स्वभाव की दृष्टिसे वह अकारक है। इसका तात्पर्य यह कि आत्मा स्वभावसे तो रागादि करता नहीं है पर कर्मबद्ध होनेसे अशुद्धात्मा रागादि करता है।

रागादि रूप परिणमन करना ही, रागादिका कर्त्तत्त्व है। ज्ञान भावसे, या संयमसे च्युत होने पर, न ज्ञानी-ज्ञानी रह जाता है, न संयमी-संयमी रह जाता है। वह प्रायश्चित्त विधानसे जब पुनः संयम भावपर आरूढ़ होता है, तब पुनः संयमी बनता है। संयम भावसे नहीं गिरना ही कर्मकी उपेक्षा है। वहाँसे पतित हो जाना ही कर्मकी स्वीकारता है।

(२६६) **प्रश्न**—एक ही आत्मा कर्त्ता भी है और अकर्त्ता भी है, ऐसा परस्पर विरोधी कथन कैसा ?

समाधान—अपेक्षाभेदसे दोनों कथन बनते हैं। इसमें विरोध नहीं है, यह बात पिछले समाधानोंमें बताई जा चुकी है।

(२६७) **प्रश्न**—अवस्थाभेदसे अशुद्ध अवस्थामें कर्त्ता हो जाता है, और शुद्धावस्था आनेपर अकर्त्ता भी हो जाता है। यह कथन तो अनेकान्तरूप बन सकता है, पर एक ही अशुद्धात्माको उस अवस्थामें अकर्त्ता कहना युक्ति संगत नहीं है ?

समाधान—विभाव दशामें भी वस्तु-स्वभावका नाश नहीं होता। यदि नाश हो जाय तो फिर परसंग छोड़नेपर भी स्वभाव दशा नहीं आ सकती। अतः जब स्वभावपर दृष्टि हो अर्थात् उसकी अपेक्षा देखें तो कहना पड़ेगा कि स्वभावसे तो आत्मा, कर्मके निमित्त जन्ममरणका कर्त्ता नहीं है। परके लक्ष्यके निमित्तसे रागादिका कर्त्ता है। इस कथनका ही तात्पर्य यह है कि यदि परकी अपेक्षा छोड़ दें तो उस विवक्षासे उसे अकर्त्ता भी कह सकते हैं।

(२६८) **प्रश्न**—पूर्व प्रश्नके इस अंशका समाधान नहीं हुआ कि, मुनिको भी ज्ञानी होते हुए, दोष लगते हैं, तब ज्ञानी बंधकर्त्ता नहीं है ऐसा कथन कैसे सुसंगत है ?

समाधान—ज्ञानी जिस काल ज्ञानभावरूप परिणमन नहीं करता तब वह अज्ञानी ही है। क्योंकि रागादि परिणमन अज्ञानभाव हैं। तथापि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको अज्ञानी नहीं कहते, इसका हेतु दूसरा है। यहाँ मोह जो मिथ्यात्वभाव है उसे ही अज्ञानभाव कहा है। मुनि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, अव्रती सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, और श्रावक भी पंचम गुणस्थानी ज्ञानी है, क्योंकि मोह-रहित है। तथापि मोहके अभावमें भी, उसके परिवारजन, राग-द्वेष, अल्प मात्रामें उदयमें पाये जायँ, तब यदि साधु कर्मोदयकी परवशतासे, तद्रूप परिणमें, तो अल्प बन्धको प्राप्त करता है। यह बात पहिले भी कही गई है। यदि वर्त्तमान पर्यायकी विवक्षा न करके, मूल वस्तु-परक स्वभावकी विवक्षाकी जाय, तो यह सीधा नियम है कि मोह तथा राग-द्वेष आदि सब विभाव-भाव, आत्माके शुद्ध चैतन्य से भिन्न हैं, अतः 'अज्ञान' हैं, और यह अज्ञान ही बन्धका कारण है। निर्मोह-वीतरागद्वेषादि विभाव परिणमनसे रहित, आत्माके शुद्ध चैतन्यके अनुकूल जो परिणमन हैं, वे ही शुद्ध ज्ञानभाव

हैं और वे ही अवन्धके हेतु हैं। इसी सामान्य नियमको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थमें ज्ञानी. अज्ञानीका विवेचन है।

(२६९) **प्रश्न**—क्या गृहस्थ सम्यग्दृष्टि अपनेको रागादिरूप परिणमन न होने दे, तो वीत-राग होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है ?

समाधान—जो वीतराग होगा, रागादिरूप परिणमन न करेगा, वह गृहस्थीको स्वीकार कैसे करेगा ? वह तो गृहत्यागी स्वतः हो जायगा। मुक्ति तो सराग दशासे होती ही नहीं।

(२७०) **प्रश्न**—वाह्यपरिग्रह तो जड़ अचेतन पदार्थ हैं, शरीरका सम्बन्ध है–उसे ज्ञानी अपने से भिन्न मानता है, उसी प्रकार वाहिर दीखनेवाले वस्त्र-आदि भी अचेतन जड़ हैं उन्हें भी अपनेसे भिन्न ही मानता है। मान्य ामें परपदार्थमें निजत्वभावना सम्यग्दृष्टिको नहीं होती, अतः मोहा-भावसे वह ज्ञानी कर्म वन्ध नहीं करता। पहिले ऐसा प्रतिपादन इसी ग्रन्थमें किया गया है। अतः ऐसा सिद्ध होता है कि वाहिरका वेष कुछ भी हो, उससे मुक्तिका मार्ग नहीं रुकेगा। मोक्ष तो आन्तरिक परिणामोंकी शुद्धताका फल है ?

समाधान—यह सत्य है कि मोक्ष आन्तरिक परिणामोंकी शुद्धताका फल है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं है। तथापि यह विचारणीय है कि वाह्य परिग्रहको जीव स्वेच्छासे स्वयं स्वीकार करता है या वह उसके साथ संलग्न हो जाता है ?

शरीर तो कर्मोदयकी विचित्रतासे स्वयं प्राप्त है। उसे वस्त्रादिकी तरह त्याग नहीं किया जा सकता। पर अन्य परिग्रह तो अपने रागादि परिणामोंके अनुसार ही जीव सञ्चय करता है। यह सव विना राग परिणामके तो होता नहीं।

(२७१) **प्रश्न**—वाह्य क्रियाएँ कुछ भी हों, पर अन्तरंग परिणाम शुद्ध हों तो वन्ध कैसे होगा ? वन्ध तो परिणामोंसे है ?

समाधान—अवश्य, वन्ध परिणामोंसे है, तथापि द्रव्यपरिग्रह तो भावपरिग्रह पूर्वक ही संभाव्य है। 'मेरे परिणाम शुद्ध हैं'—ऐसा अभिमान परिग्रही करे—यह वञ्चना मात्र है। द्रव्य-परिग्रह और भावपरिग्रहमें निमित्तनैमित्तिकपना है। जवतक ज्ञानी निमित्तभूत पुद्गल द्रव्य को वुद्धि पूर्वक नहीं त्यागता, तवतक नैमित्तिकभूत रागादिका परित्यागी नहीं हैं। यदि वुद्धि पूर्वक रागादिका त्याग करना चाहता है तो द्रव्य परिग्रहका परित्याग अनिवार्य है।[1]

(२७२) **प्रश्न**—यदि वाह्य परिग्रह ही रागादि का हेतु है तो पशु-पक्षी आदिके वाह्य परिग्रह का अभाव होनेसे उन्हें वीतराग मानना अनिवार्य होगा ? चूँकि ऐसा नहीं है, अतः उक्त समाधान ठीक प्रतीत नहीं होता ?

समाधान—परिग्रह होना न होना अलग वात है, और उसे स्वीकार करना न करना अलग वात है। दोनोंमें महान् अन्तर है। पशु-पक्षी आदि अपरिग्रही नहीं है—कारण उन्हें वाह्य

१. परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादि भावाः।.........ततः पर द्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव निमित्त-मस्तु।....यावन्निमित्तं भूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च यावन्नैमित्तिक भूतं भावं न प्रत्याक्रमति न प्रत्याचष्टे च ॥ —समयसार, वंधाधिकार, गाथा २८३-८४-८५ आत्मख्याति टीका,

परिग्रह प्राप्त नहीं है। यदि प्राप्त होता है तो वह उन्हें अस्वीकृत नहीं होता—स्वीकृत होता है। वे अज्ञान भावसे दुखी हैं उन्हें परिग्रहको संचय करने तथा रखनेकी कलाका ज्ञान नहीं है, इससे नग्न हैं। वे परिग्रहके त्यागी नहीं हैं।

मनुष्य पर्यायमें इसका ज्ञान है। वह परिग्रह को ग्रहण करता है तथा उसका संचय करता है, अतः उसके बाह्य परिग्रह देखा जाता है। वह उसे बुद्धि पूर्वक स्वीकार किए है। अतः जबतक वह बुद्धि पूर्वक उसका त्याग नहीं करता तबतक रागी है, त्यागी नहीं है। सिद्ध है कि जो ज्ञानी निमित्तभूत सचेतनेतर बाह्य पदार्थोंको स्वीकार किए हैं—उनको संकल्प पूर्वक त्यागकर स्वयं जबतक दिगम्बरत्व स्वीकार नहीं करते, तबतक वह आन्तरिक नैमित्तिकभूत रागादिकका त्यागी भी नहीं है। यही कारण है जो आत्महितेच्छु रागादिसे दूर हो वीतरागी बनना चाहते हैं, वे बाह्य परिग्रहको परित्यागकर दिगम्बरत्वको स्वीकार करते हैं ॥१७७॥

अग्रिम कलशमें यही प्रतिपादन करते हैं—

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्त्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

अन्वयार्थ—(**इति आलोच्य**) द्रव्य भावमें निमित्त नैमित्तिकपनेकी इस प्रकार आलोचना अर्थात् विचारणा करके, तथा (**तत् परद्रव्यं**) उस परद्रव्यको जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे भिन्न है (**समग्रं**) सम्पूर्ण रूपसे (**बलात्**) ज्ञानकी शक्ति पूर्वक (**विवेच्य**) अपनेसे पृथक् करके, (**तन्मूलाम्**) तथा परद्रव्यका स्वीकार है मूल कारण जिसका (**बहुभावसन्ततिम्**) ऐसी विविध प्रकारके विभाव भावरूप भावकर्मकी सन्ततिको (**समम्**) एक ही साथ (**उद्धर्तुकामः**) उखाड़ फेंकने की इच्छा करनेवाला आत्मा, (**निर्भरवहत्पूर्णैकसंवित् युतम्**) अत्यन्त प्रवाहसे परिपूर्ण जो संवित् अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान, उससे सहित (**आत्मानं**) ऐसी अपनी आत्माको (**समुपैति**) प्राप्त करता है। (**येन**) उस कारणसे (**उन्मूलितबन्धः**) बन्धको जड़से उखाड़कर (**एषः**) यह (**भगवान् आत्मा**) निर्बंध स्वरूप भगवान् आत्मा (**आत्मनि स्फूर्जति**) स्वयं अपने स्वरूपमें प्रकाशमान होता है ॥१७८॥

भावार्थ—बाह्य परिग्रहकी स्वीकारता अन्तरङ्गमें रागादिके विना नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाह्य पदार्थसे राग होगा तो बाह्य सामग्री संचित हो ही जानी चाहिए। तथापि जो भी संचय करता है या कर सकता है, अथवा जिनके पास बाह्य परिग्रह देखा जाता है, वे अपने रागके कारण ही उसे स्वीकार किए हुए हैं। यह सुनिश्चित है।

इन रागादि भावोंका परित्याग कैसे हो? इसका उपाय आचार्य बतलाते हैं। पूर्व सूत्रमें द्रव्यको निमित्त और भावोंको नैमित्तिक बनाया था। अर्थात् बाह्य परिग्रहके निमित्तसे अन्तरंगमें रागादि नैमित्तिक भावोंकी उत्पत्ति होती है। अतः यदि रागादिसे मुक्त होना चाहते हो तो प्रथम अपनी स्वसंवेदन शक्तिसे, बाह्य परिग्रहको, तथा रागादिको, अपने स्वरूपसे सर्वथा भिन्न स्वीकार करो। यह स्वीकारता ही सम्यग्दर्शन है। और ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। पश्चात् तत्त्वज्ञानपूर्वक बाह्य द्रव्यको अपनेसे पृथक् करो, अर्थात् उनका त्याग करो, क्योंकि उनकी

स्वीकारता रागोत्पादनका हेतु है। इसलिए रागादिको यदि जड़से उखाड़नेकी इच्छा हो तो प्रज्ञाके द्वारा भिन्न स्वीकार किये गए, अपनेसे भिन्न पदार्थोंको स्वीकार न करो, तव देखोगे कि भगवान आत्मा अपने ज्ञानरससे ही परिपूर्ण प्रवाहसे युक्त है, और वह अपनेमें स्वयं प्रकाशमान है।

(२७३) **प्रश्न**—यदि अन्तरंगसे रागका त्याग हो, तो वाह्य परिग्रह स्वीकार ही क्यों करेगा ? अतः प्रथम रागका त्याग होना चाहिए ?

समाधान—यह सत्य है कि अन्तरंग रागादि मिट गए हों तो वाह्य परिग्रहका संचय ही न करेगा। पर प्रश्न यह है कि अन्तरंगका त्याग प्रथम कैसे हो ? क्या परिग्रहके रहते हुए रागका त्याग संभाव्य है ? कदापि नहीं। तव वाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे छूटनेका उपाय क्या है ? इस प्रश्नका समाधान ही उक्त कलशमें दिया गया है।

(२७४) **प्रश्न**—रागका त्याग निश्चय मार्ग है, और वाह्यका त्याग व्यवहार मार्ग है। जव निश्चय होगा तो तदनुकूल व्यवहार सम्यग्व्यवहार होगा। निश्चयकी प्राप्तिके विना व्यवहार मिथ्या व्यवहार है।

आप पहिले कह चुके हैं कि वीतरागता निश्चयधर्म है, वह 'निश्चय चारित्र' है, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है। अतः वह होवे तो परका त्याग "व्यवहार-चारित्र" कहा जायगा। वीतरागता रूप निश्चय-चारित्रके विना जो महाव्रतादि रूप वाह्य चारित्र है, वह तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधुके भी होता है, अतः वह हेय है। केवल निश्चय चारित्र ही उपादेय है। वही सच्चा धर्म है। निश्चय रत्नत्रयको ही सच्चा मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार मोक्षमार्ग तो हेय है क्योंकि वह पराश्रयसे होता है, और पराश्रित मोक्षमार्ग सच्चा मोक्षमार्ग नहीं है ?

समाधान—'निश्चयचारित्र पूर्वक व्यवहार चारित्र होता है' यदि ऐसा माना जाय तो यह क्रमभंग मान्यता होगी। निश्चय, व्यवहारका कारण है—ऐसा नहीं है। क्योंकि निश्चयकी ओर जितना-जितना जीव वढ़ता है, उतना-उतना पराश्रय छूटता जाता है, इसीसे निश्चयको व्यवहारका निषेधक कहा गया है, व्यवहारका उत्पादक नहीं[1]।

व्यवहार कारण है व निश्चय साध्य है—ऐसा क्रम है। द्रव्यलिंगी साधुके कारण रहते भी कार्य नहीं देखा जाता यह सत्य है, सो निमित्त कारणभूत जितने पदार्थ हैं वे कार्य को उत्पन्न कर ही दें ऐसा नियम नहीं है। यही कारण है कि जो निमित्तके आधारपर भी कार्य न हो, तो उन्हें "निमित्त कारण" उस व्यक्तिके लिए न माना जायगा। जिनका कार्य सम्पन्न हो उन्हें वे "निमित्त कारण" हुए, ऐसा कहा जायगा।

---

१. एवं ववहारणओ पडि सिद्धो जाण णिच्छय णयेण।
णिच्छय णयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥

—समयसार, वंधाधिकार। २७२

एवं—तथाचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद् व्यवहार नयः प्रतिषेध्यः। निश्चय नयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वाद् तत्प्रतिषेधकः।

—समयसार, वंधादिकार गाथा—२७६-७७।
आत्मख्याति टीका.

(२७५) **प्रश्न**—उक्त नियमके रहते हुए 'निमित्त कारण' को कारणपना असिद्ध है, ऐसा माननाचाहिए। क्योंकि उसके साथ कार्यका अन्वय व्यतिरेक न मिला। अर्थात् कहीं निमित्तकी उपस्थितिमें कार्य हुआ—कहीं उसकी उपस्थितिमें भी कार्य न हुआ। तब उसे कारण कैसे कहा जाय ? कार्य कारणभावकी व्याख्या न्यायशास्त्रमें लिखी है कि "अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्य-कारणभावः।" अतः निमित्तकी अकारणता सिद्ध है।

समाधान—पूर्णरीत्या अन्वय व्यतिरेक तो कार्यका अपने उपादान कारणके साथ ही मिलता है, अतः 'कार्य कारण भाव' यथार्थ रूप से अपने उपादानके साथ ही है। वस्तुतः यथार्थ कारण तो स्वोपादान ही है। तथापि उपादानके अपने कार्यपरिणति कालमें, जो बाह्य पदार्थ अनुकूल सामग्रीरूप होते हैं, वे निमित्त कारण कहलाते हैं।

निश्चय चारित्र रूप वीतराग भावकी उत्पत्ति जब होगी तो "बाह्य परिग्रहका त्याग" उसकी उत्पत्तिमें अनुकूल सामग्री होगी। उसके बिना निश्चय चारित्रकी उत्पत्ति नहीं होती। दिगम्बर जैन साधु महाव्रती होते हैं, सो यद्यपि महाव्रतादि पुण्यभाव है, तथापि वे अशुभ रागकी सामग्रीके त्यागरूप हैं, अतः अन्तरंग अशुभ रागके त्यागमें निमित्त बन जाते हैं। यह वीतरागताके प्रति राग है, वीतरागताकी प्राप्तिमें साधनभूत है। यह आवश्यक नहीं है कि जो बाह्य त्याग करके महाव्रतादि स्वीकार करें, उन्हें अन्तरंग रागका त्याग हो ही जाय। तथापि जिन्हें वीतराग चारित्र होगा उन्हें पूर्वमें बाह्य त्यागरूप व्रतादि अवश्य होंगे। बिना महाव्रतादिकी भूमिकाके वीतराग चारित्र नहीं होता।

(२७६) **प्रश्न**—इसका अर्थ यह हुआ कि महाव्रतादि जो पुण्यभाव माने गए वे—शुभराग रूप परिणाम—वीतरागभावकी उत्पत्तिमें कारण हैं। सो क्या शुभरागसे वीतराग भाव होगा, या शुभरागके अभावसे वीतराग भाव होगा ?

समाधान—शुभ और अशुभ दोनों रागादिके अभावसे वीतरागभाव होता है तथापि वीतराग भावकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है ?

(१) सर्वप्रथम मिथ्यादृष्टि जीवके अधःकरण आदि परिणाम होते हैं। जो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें कारण हैं। ये परिणाम मिथ्यादृष्टिके ही परिणाम हैं, तथापि इन परिणामोंको स्वीकार किए बिना सम्यक्त्वकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः इन्हें सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण कहते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व होने पर इनका अभाव होता है। आंशिक राग यहाँ छूटता है।

(२) सम्यग्दृष्टि जीवके जब अपनी श्रद्धाके अनुसार पर पदार्थमें हेय बुद्धि है, तब उसकी बुद्धि पूर्वक परके त्यागकी क्रिया, उसके "देशव्रत" रूप चारित्रके परिणामोंमें हेतुरूप पड़ती है। यहाँ आंशिक वीतरागभावकी वृद्धि हुई।

(३) सम्यग्दृष्टि श्रावकको अपनी तात्त्विक श्रद्धाके अनुरूप, परके त्याग रूप वीतराग भावको बढ़ानेका, जब परिणाम होता है, तब महाव्रतादि स्वीकार करने रूप क्रिया, उसको वीत-राग परिणामोंके बढ़ानेमें कारणभूत होती है। वह सावधानी पूर्वक, अप्रमादी होकर उन्हें स्वीकार करता है। अतः सप्तम गुणस्थान ही सर्वप्रथम होता है। पीछे प्रमाद दोष लग जानेपर छठे

गुणस्थानमें आता है। उसकी बाह्य त्याग रूप महाव्रतादि क्रिया उसके वीतराग भावके बढ़नेमें कारण बनती है।

(४) आगे श्रेणी में जैसे-जैसे जीव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शुभक्रियाएँ मिटकर शुद्ध परिणामरूप वीतराग भाव प्रकट होता जाता है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, तथा सूक्ष्म सांपराय, इन चार संयमोंको जब जीव प्राप्त रहता है, तब तक इन संयमोंमें वीतराग-भाव पूर्ण नहीं प्रकट हुआ है। जब तक वीतराग भाव पूर्ण नहीं होता, तबतक अबुद्धि पूर्वक राग-भावका मिश्रण भी चलता है। जैसे-जैसे राग मिटता है, वीतराम भाव बढ़ता जाता है, और पूर्ण राग मिटने पर वह ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमें छद्मस्थ वीतराग बन जाता है।

सर्वप्रथम अशुभ भाव छूटकर शुभ होते हैं, फिर शुभ छूटते जाते हैं और शुद्ध परिणाम होते जाते हैं, यही क्रम है। सो यह व्यवहार कथन है। परमार्थसे स्वाश्रय ही शुद्धताको जन्म देता है।

(२७७) **प्रश्न**—क्रम तो ठीक है, उसमें कोई विवाद नहीं है, परन्तु शुभका अभाव ही तो शुद्धताका कारण हुआ, न कि शुभ भाव उसका कारण हुआ।

समाधान—यथार्थ कथन तो यही है, तथापि विचारणीय यह है कि शुभका अभाव तो अशुभकी उत्पत्तिका भी कारण हो जाता है, तब क्या शुभ का आश्रय न किया जाय ? यदि ऐसा विचार किया जाय तो एक ही बात फलित होगी कि शुभ और अशुभ दोनों का आश्रय छोड़ा जाय, तब ही शुद्ध वीतराग परिणाम उत्पन्न होगा।

सो स्वीकार है। सिद्धान्त भी यही है। यदि कोई भाग्यवान् दोनों एक साथ छोड़ सके तो किसी भी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। केवल वे जीव जो मिथ्यात्त्व गुणस्थान छोड़कर, एक साथ सम्यक्त्व और चारित्रका आश्रय सप्तम गुणस्थान करते हैं, गुणस्थान क्रमसे नहीं चढ़ते, उनकी अपेक्षा यह कथन है।

(२७८) **प्रश्न**—सिद्धान्तका निर्णय तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होने पर हो जाता है। तब शेष क्या रहा। सम्यग्दृष्टि अपनी श्रद्धामें शुभ-अशुभ-दोनों 'रागों' को समान रूपसे हेय मानता है। यदि अशुभको हेय तथा शुभरागको उपादेय माने, तो वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्यभावका पूर्ण निषेध मोक्षमार्गमें है। क्योंकि पुण्यबंध "बन्धन" ही होता है। जिससे बंधन हो वह पुण्यभाव, शुभराग, सर्वथा हेय है। कथंञ्चित् भी उपादेय नहीं हो सकता।

समाधान—सिद्धान्ततः प्रश्नकारका कथन बिलकुल सही है। तथापि सिद्धान्त जान लेने मात्रसे सिद्धान्तकी प्राप्ति नहीं हो जाती। उसे प्राप्त करनेके मार्ग हैं। उन मार्गोंसे ही उसतक पहुँचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

इसे एक उदाहरणके द्वारा समझिए। शीतल जलकी इच्छासे कोई कुम्भकार घड़ा बनाना चाहता है। सिद्धान्ततः घट ही उसकी इच्छाकी पूर्ति कर सकेगा। सिद्धान्तकी बात भी यही है, तथापि घट कैसे प्राप्त हो ? इसके लिए मिट्टी उपादान कारण है, सो वह ले आवे, और चाहे कि इच्छामात्रसे घट बन जावे, तो नहीं बनता। उसे बनानेके लिए वह चक्र-दण्ड आदिकी योजना करता है। इन साधनोंके आधार पर प्रथम—स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायें मिट्टीमें प्रकट होती हैं, वे इसे उस समय इष्ट हैं, क्योंकि इनके बिना घट न बनेगा। यदि इन्हें सर्वथा अनिष्ट मानकर

इन्हें न बनावे, तो घट भी न बनेगा। वह सिद्धान्त लिए बैठा रहेगा और घटकी रटना करता रहेगा पर प्यासा ही रहेगा।

जबतक घटाकार पूर्ण न बन जावे तबतक उसे वे सब आकार इष्ट हैं, जो घट बनानेके लिए अनुकूल साधन बनते हैं। घट बन जाने पर वे सब हेय हैं, क्योंकि उनके रहते हुए घट नहीं बन सकते, अतः वे घटके कारण हैं या नहीं, इसपर विचार करें। वे न बनें तो घट नहीं बन सकता—अतः वे कारणभूत हैं, तथा तत्काल उपादेय हैं। यदि वे बने रहें तो भी घट न बन सकेगा, अतः वे बाधक हैं, अनुपादेय हैं, क्योंकि उनका अभाव ही घटका कारण है, वे नहीं। अतः वे हेय हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें उनकी उपादेयता व हेयता है। वस्तुतः वे घटसे भिन्न हैं। उनसे शीतल जल प्राप्ति असम्भव है। यह तो दृष्टान्त हुआ, इसे वीतरागभाव रूप निश्चय चारित्रके ऊपर घटित कीजिए।

"पूर्ण वीतराग भाव ही निश्चय चारित्र है" यह सुनिश्चित सिद्धान्त है। इसमें मतभेद नहीं है। "शुभराग निश्चयसे चारित्र नहीं है" बल्कि उसके अणुमात्र भी रहते हुए पूर्ण वीतराग भावकी उत्पत्ति नहीं होती। "वीतराग भाव ही सर्व प्रकारसे उपादेय है"—अन्य भाव हेय है—सिद्धान्ततः यह कथन सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण सत्य है। तथापि इसे प्राप्त करनेका मार्ग अन्य है।

जो वीतरागी बनना चाहता है, वह एक साथ वीतरागी नहीं बनता। वह चतुर्थ, पंचम, षष्ठादि गुणस्थानोंको प्राप्त करके उससे श्रेण्यारोहण करके वीतरागी बनता है। यह सामान्य नियम है। अतः इन गुणस्थानोंमें अपने स्थानके योग्य-शुभ-भाव आना अनिवार्य हैं, न चाहते हुए भी ये भाव आते हैं, अतः वे तत्कालीन परिस्थितिमें कहीं बुद्धि-पूर्वक, कहीं अबुद्धिपूर्वक स्वीकार किए जाते हैं। आगममें उल्लेख मिलता है कि पापभाव सर्वथा हेय है, पुण्यभाव कथंचित् उपादेय है—वीतरागभाव सर्वथा उपादेय है। इसीका तात्पर्य ऊपर खुलासा किया गया है।

इस कलशमें श्री अमृतचंद्राचार्य यही कह रहे हैं कि द्रव्य और भावमें निमित्त नैमित्तिकपना है अतः द्रव्य रूप निमित्तको त्यागने पर, नैमित्तिक रागादि भाव दूर होंगे। आत्मिक बलपूर्वक अपनी उत्कृष्ट तात्विक आत्मश्रद्धा तथा भेद विज्ञानके बलसे, समस्त निमित्तभूत बाह्य पदार्थोंको अपनेसे सर्वथा पृथक् करे। पृथक् करनेका अर्थ आत्म-स्वभावसे सर्वथा विपरीत जान उन्हें स्वीकार न करना है। जो ऐसा करते हैं वे मुनिजन अपनी आत्माको ज्ञानके रस प्रवाहसे भरा हुआ पाते हैं। ऐसी आत्मा ही अपने तेजसे स्वयं प्रकाशमान होती है ॥१७८॥

इस स्थितिमें उत्पन्न ज्ञान-ज्योतिके ऊपर फिर आवरण नहीं आ सकता, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वत् यद्वत् प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

अन्वयार्थ—(रागादीनाम् कारणानाम्) बन्धके कारण रागादि कर्मके (उदयं अदयं दारयत्) उदय जन्य विभावों को जड़से दूर करके, तथा (तत्कार्यं विविधं बन्धं) उनका कार्य जो विविध

प्रकारका कर्म वन्धन उसे (**अधुना सद्यः एव प्रणुद्य**) अव तत्काल ही मेंट करके (**क्षपिततिमिरं ज्ञानज्योतिः**) अज्ञानान्धकारको मिटानेवाली यह ज्ञानकी ज्योति (**तद्वत् साधु सन्नद्धम्**) ऐसी प्रकट हुई है कि (**यद्वत् यस्य प्रसरं**) जिससे उसके विस्तारको (**अपरः कः अपि**) कोई भी दूसरी वस्तु (**न आवृणोति**) आवरण नहीं कर सकती ।।१७९।।

भावार्थ—ऊपर लिखे प्रकारसे उत्पन्न आत्माकी ज्ञानज्योति, रागादि विभावभाव, जो कर्म वन्धके कारण हैं, उनको निर्दयतासे विदारण करती है, जिससे आत्मामें अव ज्ञानवरणादि कर्म नहीं वंधते। अव अज्ञानांधकारकी विनाशक ज्ञानज्योति इस तरह निरापद उत्पन्न हुई है कि उसके लोकालोक पर्यन्त विस्तारको कोई रोक नहीं सकता।

सारांश यह है कि जव जीव, गुण स्थान क्रमसे वढ़ता हुआ वीतराग वनता है, तो तेरहवें गुणस्थानमें ज्ञान-ज्योति पूर्णरूपसे प्रकट होती है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर अज्ञान स्वरूप जो रागादिक वन्धके कारण थे, वे सर्वथा मिट गए। इसे ही रूपक देकर निर्दयपनसे मेटना लिखा गया है। इस ज्ञानज्योतिके प्रकट होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ।।१७९।।

इति वन्धाधिकारः समाप्तः।

■

□ मोक्ष अधिकार □

इस प्रकरणमें रंगमंच पर मोक्षतत्त्व आता है—

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद् बन्ध-पुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्-सहजपरमानन्दसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

अन्वयार्थ—(**प्रज्ञाक्रकचदलनात्**) प्रज्ञा अर्थात् हेयोपादेयका ज्ञान करानेवाली बुद्धि वही हुई करोंत, उस करोंतके द्वारा दलेजानेसे (**बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य**) बंध तथा आत्माको भिन्न-भिन्न करके पश्चात् (**उपलम्भैकनियतं**) स्वभावकी प्राप्तिसे जो सुनिश्चित है ऐसे (**पुरुषं**) आत्माको (**साक्षात् मोक्षं नयन्**) साक्षात् प्रत्यक्ष ही मुक्तिकी ओर ले जाता हुआ (**इदानीम् उन्मज्जत्**) इस समय उदयको प्राप्त होनेवाला (**सहजपरमानन्दभरसं**) अपने स्वाभाविक श्रेष्ठतम आनन्दरससे परिपूर्ण (**परं पूर्णं ज्ञानं**) ऐसा उत्कृष्ट केवलज्ञान (**कृतसकलकृत्यं**) जिसने करणीय सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर लिए हैं वह (**विजयते**) विजयशील है ॥१८०॥

भावार्थ—जैसे करोंत नामक शस्त्र काष्ठ पर चलाया जाता है उससे काष्ठ दो खण्ड रूपमें अलग-अलग हो जाता है। उसकी एकता मिट जाती है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी आत्मा जव अपनी भेद विज्ञानरूपी करोंतको, बंध और आत्माकी संयोगी अवस्था पर चलाता है, तव बंध दशामें एकरूप दीखने वाले कर्म बन्ध और आत्मा भी, पृथक्-पृथक् प्रतिभासमान होने लगते हैं। बन्ध जड़रूप और आत्मा उससे रहित प्रत्यक्ष ही अवन्धरूप प्रतिभासमान होते हैं।

उस समय जीवके केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह ज्ञान अपने स्वाभाविक देह और इन्द्रियों के आधार रहित, केवल, स्वात्मोत्थ, उत्कृष्ट आनन्द रसको झराता हुआ, उदयको प्राप्त होता है। 'पुरुषको बन्धनमुक्त करना' इतना ही कार्य ज्ञानका है। तव पुरुषको साक्षात् मोक्ष दशामें पहुँचाने वाला वह ज्ञान कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् करने योग्य सकल कार्यको पूर्ण कर सदा काल आत्माको आनन्द प्रदाता विजयशील रहता है ॥१८०॥

(२७९) **प्रश्न**—प्रज्ञा द्वारा बन्ध और पुरुषको भिन्न-भिन्न जाननेवाला भेदज्ञानी जानता है कि आत्मा वस्तुतः सदासे मुक्त है, तव उसे प्रज्ञासे भिन्न-भिन्न करनेकी वात क्यों कही ? जो एक हैं उन्हें भिन्न-भिन्न करना है, जो भिन्न-भिन्न ही हैं उन्हें क्या भिन्न करना है ?

समाधान—बन्ध जड़रूप तथा आत्मा चैतन्यरूप है—यह भेद-विज्ञान द्वारा सम्यग्दृष्टि जानता है। तथापि लक्षण भेद होनेपर भी वे अनादिसे परस्परकी निमित्त-नैमित्तिकतासे एकरूप जैसे बन रहे हैं, उन्हें ज्ञानके वलसे भिन्न-भिन्न करनेकी वात कही गई है।

कोई बन्धनबद्ध पुरुष अपने घरकी स्वतन्त्रताका, और कारागार रूप बन्धनकी पराधीनताका वोध कर ले तो उतने मात्रसे बन्धन-मुक्त नहीं होता। चाहे ऐसा ज्ञान बहुवार और बहुत

कालतक और वहुत प्रकारसे भी होता रहे। इसी प्रकार अनादि बन्धन वद्ध आत्मा, जिनागमके उपदेशसे, सद्गुरुकी संगतिसे, जिनेन्द्र के दर्शनसे, अपने स्वरूपको तथा कर्म बन्धनके स्वरूपको, भली-भाँति जान लेवे तथा उसपर पूर्ण श्रद्धा करे, तो भी इतने मात्रसे वह वन्धन रहित नहीं होगा।

जव कारागार स्थित पुरुष अपने सदाचारसे अपनी निर्दोषिता सिद्ध कर देता है, तव कारागारसे भी छूटनेकी स्थिति आ जाती है तभी स्वतन्त्र होता है। इसी प्रकार जीव भी सम्यक् चारित्रसे अपनेको निर्दोष वनाता है, तव कर्मके सम्ब्रन्धसे छूट कर स्वयं स्वतन्त्र हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं।

(२८०) **प्रश्न**—यदि सदाचारसे वन्धन छूटते हैं तो उसीका उपदेश होना कल्याणकारी है। जिनागमके अभ्यास—सद्गुरु संगति, तत्त्वज्ञान, और तत्त्वश्रद्धान आदि कारणोंका क्या उपयोग है?

समाधान—तत्त्वज्ञानी तथा तत्त्वश्रद्धानी ही वस्तु तत्त्वके अनुकूल आचरण कर वन्धन मुक्त हो सकता है। उसके विना **सम्यक्चारित्र** सम्भव ही नहीं है। यथार्थ ज्ञान श्रद्धानके बिना किया जाने वाला आचरण, स्वयं सदाचरण नहीं होगा, किन्तु आचरणकी नकल होगी। नकलसे प्रयोजनकी प्राप्ति सम्भव नहीं होती। अतः तत्त्वज्ञान, सत्संगति आदि का उपयोग सुनिश्चित है।

प्रज्ञाके द्वारा बन्ध और पुरुष किस प्रकार जुदे-जुदे होते हैं, इसका स्पष्टीकरण इस कलश द्वारा करते हैं—

प्रज्ञा छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तः सन्धिवन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
वन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्न-भिन्नौ ॥१८१॥

अन्वयार्थ—(**इयं शिता प्रज्ञाछेत्री**) यह प्रसिद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी छैनी (**कथमपि सावधानैः निपुणैः**) किसी भी उपायसे कुशल पुरुषों द्वारा सावधानी पूर्वक, (**रभसात्**) तेजीके साथ, (**आत्मकर्मोभयस्य**) आत्मा तथा कर्म इन दोनोंके (**सूक्ष्मे अन्तःसंधिवन्धे**) अत्यन्त सूक्ष्म जो मध्यका वन्धरूप संधिस्थल है, वहाँ (**पातिता**) गिराई गई। तव वह (**अभितः भिन्न-भिन्नौ कुर्वती**) सव प्रकार से उन दोनों को इस प्रकार भिन्न-भिन्न करती हुई जो (**आत्मानम्**) आत्मा को तो (**अन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे**) आत्मामें ही स्थित, शाश्वत, स्पष्ट, प्रत्यक्षीभूत, प्रकाशमान चैतन्यके प्रवाहमें (**मग्नम्**) मग्नकर, तथा (**वन्धं च अज्ञानभावे**) वंधको चैतन्य विकाररूप, अज्ञानमय रागादि भावोंमें (**नियमितं कुर्वती**) निश्चित करती हुई, (**निपतति**) गिरती है ॥१८१॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष सर्वप्रथम तो अपने भेद विज्ञान द्वारा, अनादिकालसे एकाकार जैसी हो रही आत्माकी कर्म संयोगज अशुद्ध परिणति, तथा निज स्वभावकी महिमा, उन दोनोंको भिन्न-भिन्न लक्ष्यमें लेता है, जानने लगता है। पश्चात् अपने शुद्धात्माके अनुभवन रूप

क्रियासे, उन दोनोंको भिन्न-भिन्न कर देता है। तब स्पष्ट होता है कि जो अपने प्रकाशसे स्थित है वह चैतन्य स्वरूप तो मैं हूँ, और मेरेमें जो रागादि भाव थे वे जड़के सम्बन्धसे उत्पन्न हुए, अखण्ड चैतन्यसे भिन्न, अचेतन भाव थे। अब वे दोनों पृथक्-पृथक् हुए। तब आत्मा अशुद्ध रूप परिणमनका त्याग कर, शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करता है, यही मोक्ष है।

यहाँ प्रज्ञा अर्थात् भेद विज्ञानके साथ होनेवाली स्वानुभूति रूप निज ज्ञानसंपत्ति, उसे तेज धारवाली छेनीकी उपमा दी है। छेनीका काम है कि यदि कुशल पुरुष द्वारा वह दो पदार्थोंके योगमें उनकी ठीक सन्धिपर पड़े, तो उन्हें पृथक्-पृथक् कर देती है। यदि चलाने वाला कुशल न हो और छेनी संधिपर न पड़े, तो वे दोनों पदार्थ पृथक् नहीं हो सकते।

इसी प्रकार आत्मा अनादि कालसे ही असावधान है। उसमें ज्ञान संपत्ति तो है, पर असावधानीके कारण उसे संधिकी ठीक पहिचान कर उसपर नहीं चलाई, इसीसे अवतक कर्म बन्धनसे नहीं छूटा। छेनी कितनी उत्तम हो, पर जबतक संधिस्थल पर नहीं चलाई जायगी, तब-तक दोनोंको अलग-अलग करना शक्य नहीं है।

जीवको जबतक सम्यग्दृष्टित्व प्राप्त नहीं है, तबतक 'ये दो हैं'—ऐसा भान ही नहीं हुआ। कर्मजन्य अशुद्ध परिणतिको ही निज परिणति मानता आता है, तब दूर किसे करे? उस अज्ञान दशामें वह ज्ञान बंधको ही पक्का करनेमें लगा रहा। तथापि दृष्टि प्राप्त होनेपर आत्माका निज स्वरूप, तथा अपनी अशुद्ध परिणतिका बोध हुआ; तब संधि दृष्टिगोचर हुई। वार-वार दोनोंके भेदज्ञानका अनुभव करते-करते, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभवन करने लगा। उसने परका विकल्प छोड़कर केवल स्वानुभव किया कि मैं स्वयं अखण्ड चैतन्यानन्द स्वरूप हूँ। मेरेमें अन्य वस्तुका न सम्बन्ध है और न तज्जन्य विकार हैं। यही आत्मा और कर्मको भिन्न-भिन्न करना है।[1]

इस प्रज्ञाके द्वारा आत्मा अपने रागादि भिन्न शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, और जड़ कर्म जो पौद्‌गलिक आत्मामें बन्धरूप थे, वे स्वयं अकर्म परिणतिको प्राप्त हो जाते हैं। परस्परका निमित्त-नैमित्तिकपना मिट गया। इसीका अर्थ हुआ कि वे भिन्न-भिन्न हो गये, आत्मा कर्ममुक्त हुआ और कर्म आत्मासे छूटे। न कर्म कर्मरूप रहा, और न आत्मा कर्मवद्ध रहा। इसीका नाम मुक्ति है। यही सबसे बड़ा गुण पुरुषार्थ था सो वह सफल हुआ।

धन्य है इस प्रज्ञाकी महिमाको जिसने अनादि बन्धनमें बद्ध भ्रमित आत्माको, उस भ्रमके चक्रसे निकाल कर, सही स्थितिमें ला दिया। यद्यपि इस दशाको प्राप्त करनेवाला कर्त्ता स्वयं आत्मा है, तथापि कार्यके लिये करणकी आवश्यकता रहती है सो इस कार्यमें करण स्वयंका ही ज्ञान है, अन्य वस्तु नहीं है। इसीसे निश्चयनय, कर्ता, करण तथा कर्म तीनोंको आत्मासे अभिन्न मानता है। अर्थात् आत्मा स्वयं अपनी भेद विज्ञान परिणतिके द्वारा अपनेको शुद्ध परिणति-रूप परिणमाता है। इस प्रकार वास्तविक कर्त्ता, करण, कर्म पदार्थसे अभिन्न ही होते हैं भिन्न नहीं।

(२८१) प्रश्न—उक्त कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा ही मुक्त नहीं हुआ, कर्म भी

१. कलश १३०-१३१ भी देखिये।

मुक्त हुआ। बंधनमें दोनों थे। दोनोंकी अशुद्ध परिणति थी वह दूर हुई। जब ऐसी बात है तो आत्माकी ही मुक्तिकी चर्चा क्यों है, कर्मके मुक्त होनेकी चर्चा क्यों नहीं आती ?

समाधान—आत्मा चैतन्य स्वभावी है। कर्म जड़ स्वभावी है। आत्मा अपने मुक्त होनेके लिये ही पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थसे वह कर्मबंधनसे छूट जाता है, और तन्निमित्त जन्य अपनी अशुद्ध परिणतिका भी त्यागकर शुद्ध रूपमें परिणत होता है। यद्यपि इस प्रक्रियामें जड़कर्म भी आत्मासे छूटा, अर्थात् पुद्गल वर्गणाओंकी कर्मरूप परिणति थी, सो वह छूट गई, अतः कर्म भी आत्मासे छूटा यह सही है। तथापि उपदेश तो चैतन्यको ही दिया जा सकता है, जड़को नहीं।

जैसे लोहेकी बेड़ी किसी पुरुषके पैरमें पड़ी थी। पुरुषने उस अवस्थामें बंधनका अनुभवन किया, उसी कालमें वह सांकल भी पुरुषमें लिपटी हुई बंधनपने को प्राप्त है। जब पुरुष अपने पुरुषार्थ से बेड़ी तोड़कर अलग हो जाता है, तब वह उसके बंधनसे मुक्त होता है। उस कालमें बेड़ी भी पुरुषके बंधनसे मुक्त हो जाती है। यद्यपि पुरुषार्थ पुरुष स्वयं करता है, बंधनका तथा मुक्तिका अनुभवन भी वही करता है। जड़ शृंखला भी बद्ध मुक्त हुई तथापि वह अचेतन होनेसे अपनी दोनों दशाओंका परिज्ञान नहीं करती। इसी प्रकार चैतन्य स्वभावी पुरुष, अपने बंधनका भी अनुभव करता है और पुरुषार्थ द्वारा बंधन मुक्त होकर, उस स्वतन्त्रताके आनंदका भी अनुभव करता है। जड़ कर्म, यद्यपि बद्ध मुक्त हैं, तथापि उन्हें दोनों दशाओंका ज्ञान नहीं है, अतः तज्जन्य दुःख-सुख भी नहीं हैं।

(२८२) **प्रश्न**—अज्ञानी जीवको भी 'मैं बँधा हूँ या छूटा हूँ' या 'मुझे छूटना है' इस बातका ज्ञान नहीं रहता। तब जड़ पदार्थ और अज्ञानी आत्मा दोनों समान हैं। फिर अज्ञानीको उपदेश क्यों दिया जाता है ? वह भी तो जड़के ही समान बंध-मुक्त दशाका अज्ञानी है ?

समाधान—यद्यपि ऐसा है, तथापि अज्ञानी और जड़ पदार्थमें महान् अन्तर है। जड़ तो चैतन्य शून्य है, पर अज्ञानी आत्मा चैतन्य शून्य नहीं है। उसका चैतन्य मूर्च्छित है। मूर्च्छितकी मूर्च्छा दूर हो सकती है, इसलिए उसे उपदेश दिया जाता है। जड़को नहीं दिया जाता। नशेमें मूर्च्छित व्यक्तिका उपचार किया जाता है कि वह होशमें आ जावे। मोहयुक्त आत्मा अपने चैतन्य स्वभावको अपनेमें रखते हुए भी उसे भूला है, अतः उसे सम्बोधित करके सावधान करते हैं। सोता हुआ व्यक्ति जगाया जा सकता है, मृत नहीं। आत्मा निज ज्ञानके अभावमें मोहयुक्त होनेसे सुप्त है, अतः उसे सम्बोधित कर जगाते हैं। उसे भेदविज्ञान होनेपर अपने स्वभावकी महिमाका ज्ञान होता है और उसमें उत्कृट पुरुषार्थ जगता है।

(२८३) **प्रश्न**—पुरुषार्थ जगने मात्रसे काम हो जाता है क्या ?

समाधान—नहीं, पुरुषार्थ करनेसे काम होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका होना पुरुषार्थका जागना है, पर चारित्रका धारण करना उस पुरुषार्थका करना है। जिन जीवोंने उस पुरुषार्थको किया है, वे ही अपनी दुरवस्थासे ऊपर उठ सके तथा सदवस्था प्राप्त कर सके हैं। यही आत्माकी शुद्धावस्था है और यही मोक्ष है।

ज्ञानके द्वारा आत्मा-कर्म दोनोंका योग है यह जाना जा सकता है, पर कर्म दूर किया कैसे जा सकता है ? प्रज्ञा छैनी केवल उनकी संधिको ही बता सकती है। ज्ञानका कार्य वस्तु स्थितिका

मात्र बोध कराना है पर उसे भिन्न-भिन्न करनेके लिए कौन सी छैनी है यह इस कलश में आचार्य कहते हैं—

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलात् भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

अन्वयार्थ—(**यत् भेत्तुं शक्यते**) जो पर संयोग भिन्न किया जा सकता है उसे (**सर्वम् अपि**) सभो को (**स्वलक्षणबलात् भित्त्वा**) दोनोंके अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न करके यह अनुभव करना है कि (**चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा**) चैतन्य लक्षण की मुद्रा उससे चिह्नित अन्य सभी विकल्पों से रहित जिसकी महिमा है, ऐसा (**शुद्ध चित् एव अहम् अस्मि**) शुद्ध चेतन तत्त्व ही मैं हूँ। (**यदि कारकाणि यदि वा धर्माः यदि वा गुणाः भिद्यन्ते**) यदि आत्मा स्वयं कर्त्ता है, वह अपने ज्ञानादिकरणके द्वारा ही अपनी शुद्ध परिणतिरूप कर्मका कर्त्ता है, ऐसे कर्त्ता कर्म करण आदि कारक भेद होता हो तो हो। अथवा उसमें अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म भेद भी होते हैं। अथवा वह अनन्त ज्ञान दर्शन सुख-शक्ति आदि गुणोंका आधार है ऐसा कर्त्तादि कारकजन्य—अथवा धर्मजन्य—या गुणभेदजन्य भेद, आत्मामें है ऐसा कहा जा सकता है। पर (**भिद्यन्ताम्**) ये भेद इनमें रहो, किन्तु (**विभौ विशुद्धे चिति भावे**) सर्वावस्थामें व्यापक अपने विशुद्ध चैतन्य भाव में (**काचन भिदा नास्ति**) कोई भेद नहीं है।

भावार्थ—प्रज्ञा जैसे जाननेका उपाय है उसी प्रकार वह छेदनेका भी उपाय है। पुरुष ज्ञान द्वारा जैसे रत्नको परख लेता है, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा ही उसे स्वीकार करता है। रत्न तो भिन्न पदार्थ है। संभवतः उसे जानने मात्रसे प्राप्ति संभव न भी हो, पर आत्माको तो जाननेमात्र से ही भेद विज्ञान होता है। उसे जानकर उसी प्रज्ञासे अपने स्वरूपमें रमणरूप क्रिया हो सकती है। वही स्वरूपकी उपलब्धि है।

कर्मको **आत्मस्वरूपसे भिन्न** कर्मरूप जानकर उसमें ममत्वका परित्याग करना ही उसका छोड़ना या दूर करना है। आत्म स्वभाव तथा कर्म स्वभाव और उसके निमित्तसे होने वाले अपने विभाव का परिज्ञान ही सबसे कठिन कार्य है। आत्मा अनादिसे ही अपने स्वभावका अजानकार है, और परमें निजपनेका उसे भ्रम है। केवल वह भ्रम ही दूर करना है। वह दूर हुआ कि निज-संपत्ति की प्राप्ति हुई। वह तो अपने में ही थी कहीं बाहिर से लाना नहीं है जो बाहिरसे आती है वह निज सम्पत्ति नहीं है ऐसे भेदज्ञानके द्वारा ज्ञानी स्वरूपको ग्रहण करता है। स्वरूपके ग्रहणसे परका त्याग स्वयं हो जाता है। इसीका अर्थ कर्मका भेदन, त्याग, दूरीकरण या नाश करना है। अन्य कुछ नहीं है। इस स्वरूपानुभवमें आत्मा यह देखता है कि मैं शुद्ध चैतन्यका प्रवाह हूँ। मेरी आत्मामें कर्ता करण-कर्म आदि षट्कारकके भेद भी नहीं हैं। न गुणभेद है, न धर्म भेद है। मैं तो मात्र एक चैतन्यका अखंड पिंड हूँ। उसीका सतत प्रवाह चल रहा है। उसमें परका तो प्रवेश है ही नहीं। इतना ही नहीं किन्तु उस अखण्ड चैतन्यके प्रवाह की व्यापकता में एक रस ही सर्वत्र है। एकरसतामें भेदकी कोई गुंजाइश नहीं है।

(२८४) **प्रश्न**—आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उपयोग दो प्रकारका है—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। यहाँपर आत्माको शुद्ध चैतन्य मात्र कहा है सो दोनों कथनमें सुसंगति है या विसंगति ?

समाधान—दोनोंमें सुसंगति है। जिसे उपयोग कहा है वही प्रतिभासमान चैतन्यगुण है। उसके द्वारा प्रतिभासित होनेवाले पदार्थके सामान्य प्रतिभासको दर्शन और विशेष प्रतिभासको ज्ञान कहते हैं।

(२८५) **प्रश्न**—यह द्विविधता चेतनामें स्वयंके कारण है, या पदार्थकी द्विविधताके कारण है ? यदि पर सापेक्षताके कारण द्विविधता है तो वह चैतन्यका स्वभाव नहीं, विकार कहा जायगा। ऐसी स्थितिमें केवलज्ञान-केवलदर्शन चैतन्यके विकार हैं, स्वभाव नहीं; ऐसा कहना उपयुक्त होगा ?

समाधान—चेतनामें द्विविधता अपने ही कारण है, परके कारण नहीं। प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है। चेतना भी सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य चेतना को दर्शन चेनना और विशेष चेतना को ज्ञान चेतना कहते हैं। जैसे समुद्र में उठने वाली विविध कल्लोलें समुद्रका विकार नहीं हैं, वे शुद्ध जलात्मक समुद्र स्वरूप ही हैं। समुद्र को देखनेपर शुद्ध समुद्र ही दिखाई देता है। कल्लोलोंमें भी समुद्र ही दिखाई देता है। वे कल्लोलें समुद्रके स्वरूपमें ही सम्मिलित हैं। समुद्र अपनेमें, अपने ही कारण, अपने ही द्वारा, अपने स्वरूप रूप दिखाई देता है। कल्लोलें समुद्रकी हैं, समुद्रमें ही हैं, समुद्रके लिए ही हैं; समुद्रको ही प्राप्त हैं, समुद्र द्वारा ही प्राप्त हैं, ऐसा कहिए, या यों कहिए वे स्वयं समुद्र हैं। उस काल उन्हें छोड़कर समुद्र अन्य कुछ नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा पदार्थको संचेतन करती है। संचेतन उसका गुण है, स्वभाव है। पदार्थ प्रतिभासन स्वरूप ही संचेतना है। पदार्थोंके साथ उसका चेतक-चेत्यमान, अथवा ज्ञान-ज्ञेय, या दर्शन-दृश्यमानका सम्बन्ध है। विकार स्वभाव नाशक होता है। चेतनाके विकल्प, विकल्प हैं, विकार नहीं हैं। अभेद अखण्ड पदार्थोंमें जो भेद होते हैं वे उसके ही विकल्प हैं। अन्यके नहीं हैं। ऐसी विवक्षा पूर्वक समझना चाहिए कि समुद्र के दृष्टांत की तरह आत्मा में भी षट्कारक व्यवस्था इस प्रकार है कि आत्मा जानता है, अपने को जानता है, अपने द्वारा जानता है, अपने लिए जानता है, अपनेसे जानता है, अपनेमें जानता है। इस प्रकार आत्मा स्वयंको जानता व देखता है, अथवा चेतता है, ऐसा निश्चय कथन है। आत्माकी स्वच्छतामें परका भी प्रतिभास है। अतः परकी अपेक्षा विकल्प करना मात्र व्यवहार है। एक वस्तुमें स्वके आश्रयसे जो भेद किये जाते हैं, वे वस्तु के ही अंश हैं, विकार नहीं हैं। आत्मामें स्वके आश्रयसे होनेवाले विकल्प भी चैतन्यके ही विकल्प हैं। वे विकारी भाव नहीं हैं, अतः केवलज्ञान व केवलदर्शन भी चैतन्य के विकार नहीं है।

अभेद नयसे आत्मा एक मात्र अखण्ड चैतन्य पिण्ड है। उसमें भेद या विकल्प नहीं है। इसी कारणसे इस कलशमें कहा गया है "मैं शुद्ध चैतन्य हूँ"। इसमें यदि कर्त्ता, कर्म, करण, आदिके भेद कहे जाते हैं तो भेद कारकोंके हैं, शुद्ध चैतन्यमें उन कारकोंके भेदसे, अथवा गुणभेदसे, या धर्म भेदसे, भेद कहे जाते हैं। वे भेद उन कारकों, गुणों व धर्मोंके भेद हैं, शुद्ध चैतन्य तो अभेद रूप एकमात्र वस्तु है। जब उसमें कारक कृत, गुणकृत, धर्मकृत भेदोंका ही प्रवेश नहीं तब पुद्‌गल कर्म, तथा उनके उदय जन्य रागादि विकारोंके कारण तो भेद हो ही नहीं सकता। वे तो आत्म वस्तु ही नहीं हैं। वे आत्मासे भिन्न लक्षण वाले हैं, अतः उनका पृथक् वस्तुत्व स्वयं सिद्ध है।

(२८६) **प्रश्न**—क्या रागादि विकार रूप वस्तु, जिसे आत्मासे भिन्न वस्तु कहा गया है, उसके और आत्माके प्रदेश भेद हैं ? यदि हैं तो रागादि कौनसे द्रव्य हैं ?

समाधान—रागादि भिन्न द्रव्य नहीं हैं। न उनके प्रदेश आत्म द्रव्यसे भिन्न हैं। वे तो आत्माके विकारी भाव हैं। वे विकारी भाव आत्म-प्रदेशोंमें ही हैं, किन्तु आत्म द्रव्यके स्वरूपसे भिन्न हैं।

(२८७) **प्रश्न**—जब दोनों अभिन्न प्रदेशीय हैं तो उन्हें भिन्न वस्तु कैसे कहा गया ?

समाधान—पृथक्ता तथा अन्यत्वमें अन्तर है। आत्मा और पुद्गल कर्ममें, द्रव्य भेद होनेसे प्रदेश भेद है। प्रदेशभेदपना दोनोंके पृथक्पनेका हेतु है। परन्तु एक ही द्रव्यमें होनेवाले गुण पर्यायके भेद, अपने नामसे भिन्नता रखते हैं। लक्षणकी भिन्नता रखते हैं, तथा उनका प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। अतः उनमें परस्पर अन्यत्व है, पृथक्पना नहीं है।

(२८८) **प्रश्न**—आत्माके ज्ञान-दर्शन-सुख-अमूर्त्तत्व आदि गुण, नाम मात्र को पृथक् हैं। वस्तुतः तो पृथक् नहीं हैं ?

समाधान—यह यथार्थ है कि वे पृथक् नहीं हैं। क्योंकि एक ही आत्म प्रदेशमें पाए जाते हैं। तथापि उनके लक्षण और कार्य भिन्न हैं, अतः उनमें अन्यत्व है। वे भिन्न-भिन्न वस्तु हैं।

(२८९) **प्रश्न**—द्रव्य और वस्तु दोनों एक हैं फिर आपने उनमें भेद कैसे किया ?

समाधान—उनमें भेद है इसलिए ऐसा लिखा है। द्रव्य, गुण पर्यायवान् होता है। किन्तु गुणोंमें गुण नहीं रहते।[1] इसी प्रकार पर्यायें व्यतिरेकी हैं अर्थात् परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। वे क्रमसे होती हैं, अतः पर्यायोंमें पर्यायें नहीं रहतीं।

इस प्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जिनमें प्रकार भेद हैं वे भिन्न-भिन्न द्रव्य न होनेपर भी वस्तु भेद रूप हैं। सत्ताभेदसे द्रव्य भेद माना जाता है, पर लक्षण भेदसे द्रव्य भेद हो ही जाय ऐसा नहीं है। अतः द्रव्य और अर्थ में भेद है। इसे उदाहरण द्वारा कहते हैं—

स्वर्णमें स्वर्णपनेके गुण हैं, वे नाना हैं। पर स्वर्ण नाना नहीं है। नमककी एक डली है, उसमें क्षारपना, कर्कशपना, श्वेतपना, अपनी गंध, ऐसे रूप-रस-गंध-स्पर्श चार गुण हैं, पर नमक एक है, चार नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि जो रूप है, वही रस है, वही स्पर्श है। प्रदेश अभेदकी अपेक्षा तो सभी गुण एक ही ठौर हैं तथापि उनमें वस्तु भेद है। रूप नेत्रसे देखा जाता है, रस जिह्वासे जाना जाता है। यदि वे दोनों सर्वथा एक वस्तु हों तो हाथके स्पर्शमात्रसे, या नेत्रके द्वारा देखने मात्रसे उसके चारों धर्मोका बोध हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। देखे हुए व्यञ्जन-का स्वाद नहीं आता, उसे जिह्वा संसर्ग करना ही पड़ता है। अतः प्रदेश भेद न होनेपर भी, नमकके रूप-रस-गंध-स्पर्श आदिमें वस्तुभेदपना है।

इसी प्रकार स्वर्णके विविध गुणोंकी स्थिति भी, उनमें स्वर्णसे भिन्न वस्तुत्व सिद्ध करती

---

१. गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥ —मोक्षशास्त्र अध्याय ५

है। सोनेके हार, कटक, बाजूबन्द, करधनी, आदि नाना आभूषण बनाये जाते हैं। वहाँ पर्यायभेद निश्चित है, उनके नाम भी भिन्न हैं, आकार भी भिन्न हैं, उनमें लोक रुचि भी भिन्न-भिन्न है। अतः उनमें वस्तुभेदपना सुनिश्चित है, तथापि स्वर्णसे वे सब अभिन्न हैं। वे उससे पृथक् द्रव्य नहीं हैं।

इन दृष्टान्तोंमें भली-भाँति सिद्ध है कि द्रव्यभेद अलग चीज है, और वस्तुभेद या अर्थभेद अलग चीज है। नमक और स्वर्णको दृष्टान्तमें द्रव्यके स्थान पर, तथा उनके विविध गुणोंको द्रव्यके गुणोंके स्थान पर, तथा उनकी विविध पर्यायोंको द्रव्यकी विविध पर्यायोंके स्थानपर मान-कर, यदि आप विचार करें तो द्रव्यकी ये पर्यायें और गुण भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, तथापि एक ही द्रव्य प्रदेशमें विलीन होनेसे पृथक् प्रदेशत्व इनमें नहीं है ॥१८२॥

वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। चेतना भी स्वयं सामान्य विशेषात्मक है। अतएव ज्ञान-दर्शन रूपता ही उसके अस्तित्वका सूचक है—

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात् सास्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकात्
आत्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति[1] चित् ॥१८३॥

अन्वयार्थ—(**जगति**) इस जगत्में (**चेतना अद्वैता अपि**) यह चेतना यद्यपि निश्चयसे देखा जाय तो अद्वैत अखण्ड एक है, तो भी यदि (**दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् चेत्**) वह एकान्तसे अद्वैत रूप ही हो और दर्शन ज्ञान रूप अपने भेदोंका सर्वथा परित्याग करे तो (**तत्सामान्य-विशेषरूपविरहात्**) सामान्य तथा विशेषोंके अभावमें (**सा**) वह चेतना (**अस्तित्वमेव त्यजेत्**) अपना अस्तित्व भी छोड़ देगी। (**तत् त्यागे**) अस्तित्व के अभाव में (**चितः अपि जड़ता**) आत्मा जड़ता को प्राप्त हो जायगी (**व्यापकात् विना**) व्यापक के विना (**व्याप्यः न**) व्याप्यका भी अभाव हो जाता है। पश्चात् (**आत्मा च अन्तम् उपेति**) आत्माका भी अभाव सिद्ध होगा (**तेन**) इसलिए यह मानना ही चाहिए कि (**चित्**) चेतना (**दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्ति**) दर्शन ज्ञानरूप है ॥१८३॥

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वयं सामान्य विशेषात्मक है। चैतन्य उसका सत्सामान्य स्वरूप है, तथा ज्ञान-दर्शन आदि उसीके विशेषरूप हैं। यदि चैतन्य को सर्वथा एक ही माना जाय, तो वह सामान्य विशेषात्मक नहीं रहेगा। स्वरूपके अभावमें वह अवस्तु होगा। चैतन्यके अवस्तु होनेपर या तो आत्मा जड़रूप माना जायगा, या उसका भी अभाव सिद्ध होगा। चेतनागुण व्यापक है। व्यापक चेतनागुणके अभावमें व्याप्यरूप आत्माका भी अभाव सुनिश्चित है। इन दोषों को दूर करनेके लिए यही मानना सुसंगत है कि आत्मा चैतन्यवान् है, वह अपने सत्सामान्य तथा सद्विशेषों-के कारण कथंचित अद्वैत है, सर्वथा अद्वैत नहीं है।

(२९०) **प्रश्न**—चेतन करने वाला चेतयिता, जाननेवाला ज्ञाता और देखने वाला द्रष्टा,

---

१. 'अस्तु' इति पाठान्तरम्।

शब्दोंसे व्यवहृत होता है। क्या आप उनमें परस्पर संबंध बनाकर उनकी एकरूपताका ही प्रकारान्तर, से समर्थन करते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है। चेतयिता-ज्ञाता-द्रष्टा ये तीनों एक आत्माके ही रूप हैं। भिन्न-भिन्न क्रियाओंसे भिन्न-भिन्न शब्द बन गऐ हैं पर वे क्रियाएँ एक ही आत्माकी क्रियाएँ हैं। उनमें परस्पर सम्बन्ध हैं, और द्रव्य दृष्टिसे उनकी एकता भी स्पष्ट है।

चेतना जिन वस्तुओंको प्रतिभासित करती है वे वस्तुएँ सामान्य और विशेषरूप हैं। इनका अतिक्रमण वे नहीं कर सकतीं अतएव चैतन्यमें ज्ञानरूपता व दर्शनरूपता स्वयं सिद्ध है। इन दोनोंके बिना चैतन्य स्वयं कुछ न रह जायगा, क्योंकि पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। इसके परित्यागका अर्थ उसके अस्तित्व का ही अभाव होगा जो इष्ट नहीं है।[1] अपने स्वरूपके उच्छेद होनेपर वस्तुका उच्छेद अविनाभावी है। अतः चेतना ज्ञान दर्शन रूपताको लिए हुए है यही मानना चाहिए।

(२९१) **प्रश्न**—आत्मामें चैतन्यभाव है यह सत्य है। पर रागादिभाव भी तो आत्मामें हैं, आत्माके प्रदेशोंमें हैं। आत्मासे उनका पृथक् प्रदेशत्व नहीं है। उसी प्रकार रागादि क्रोधादि भी तो आत्मप्रदेशोंसे अभिन्न हैं ? उन्हें अनात्मीय भाव क्यों कहते हो ?

समाधान—शुद्ध चैतन्यके परिणाम जैसे शुद्धज्ञान, शुद्धदर्शन हैं, इस प्रकार रागादि क्रोधादि शुद्ध चैतन्यके परिणाम नहीं हैं। वे पौद्गलिक जड़ कर्मके संयोगमें, उनके उदयके निमित्तसे होनेवाले भाव हैं, जो शुद्ध चैतन्य स्वभावको आच्छादित या मलिन करते हैं। आत्म प्रदेशोंमें होनेपर भी वे आनात्मीय भाव हैं। विकारके कारणोंके नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है। स्वभावका कभी नाश नहीं होता। रागादि तो विकारी पर्यायें थीं अतः नाशको प्राप्त होती हैं॥१८३॥

तो फिर आत्मीय क्या है ?—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततः चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥१८४॥

अन्वयार्थ—(**चित्**) आत्मा के (**चिन्मयः**) चैतन्य मय (**एव**) ही (**एकः भावः**) एकमात्र भाव हैं। (**ये परे भावः**) उस चिन्मय भावसे भिन्न जो अन्यभाव हैं (**ते परेषाम्**) वे आत्म भिन्न पदार्थके भाव हैं। (**ततः**) इस तर्क संगत निर्णयके कारण (**चिन्मयः**) चैतन्य स्वरूप (**भाव एव ग्राह्यः**) भाव ही आत्माको स्वीकार करने योग्य है। (**परे भावाः**) शेष पर भाव (**सर्वतः हेयाः एव**) सम्पूर्ण रूपसे छोड़ने योग्य ही हैं॥१८४॥

भावार्थ—आत्मा चैतन्य प्रतिभास स्वरूप है, वह उसका लक्षण है। यह लक्षण उसका आत्मभूत लक्षण है। यह चैतन्य खण्ड-खण्ड रूप नहीं होता, अखण्ड पिण्ड रूप है। उसमें रागादि स्वसापेक्ष नहीं हैं, परसापेक्ष हैं। संयोगजभाव वस्तुका स्वरूप नहीं होता।

---

१. सामान्य विशेषात्मक कस्तदर्थो विषयः। —परीक्षामुख.

जिस प्रकार कर्म, नोकर्म शरीरादिक, अथवा कर्मके उदयानुकूल, सहयोगी अन्य नोकर्म, स्वयं पर द्रव्य हैं, इसी प्रकार कर्मके उदयमें जीवके चैतन्यमें जो विकार हैं, वे सब शुद्ध अखण्ड चैतन्यभावसे भिन्न भाव हैं। अतएव आत्माको अपने अखण्ड शुद्ध चैतन्यभाव को ही अपना स्वरूप स्वीकार करना चाहिए। परभावों अर्थात् पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों, व तन्निमित्त जन्य रागादि विकारों की पृथक्ता तो है ही, किन्तु कर्म निमित्त जन्य, चैतन्यकी क्षायोपशमिक अवस्थाओंको भी छोड़कर, अखण्ड शुद्ध चैतन्यका स्वरूप ही यहाँ अभिष्ट है।

(२९२) **प्रश्न**—रागद्वेष परिणाम जीवमें होते हैं, जड़में नहीं होते। अतः इनको जीवके भाव ही मानना चाहिए। परभाव कहना तर्क संगत नहीं। यदि ये जीवमें न होकर पुद्गलमें होते तो परभाव कहे जाते। तब ऐसे 'पर पदार्थ और परभाव आत्माको स्वीकार नहीं करना चाहिए' यह उपदेश यथार्थ माना जाता ?

समाधान—यह सत्य है कि रागादि विकारी परिणाम जीवमें ही होते हैं, जड़ में नहीं, अतः वे जीवके हैं। अशुद्ध निश्चयनयसे ऐसा ही है। तथापि यहाँ कथन शुद्धनिश्चयनयका है। इस नयसे कहा जाय तो जो परनिरपेक्ष भाव आत्मामें है वही आत्माका त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य भाव है। रागादि संयुक्त आत्मा, अशुद्ध आत्मा है। अतः रागादि छोड़नेका अर्थ है कि अपनी अशुद्धावस्था को, जो पर संयोग निमित्त जन्य हो, उसे छोड़कर शुद्ध चैतन्यावस्था को प्राप्त करना चाहिए।

(२९३) **प्रश्न**—अनादिसे आत्मा कर्म संयुक्त है तन्निमित्त जन्य विकार भी अनादि से हैं। ऐसी दशामें उन कर्मोंका व विकारोंका संसर्ग छूट ही कैसे सकता है ?

समाधान—आत्मामें ज्ञानशक्ति ही ऐसी शक्ति है। उस ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मा स्व परका भेद समझकर, पररूप परिणमन त्यागकर, स्वाधीन परिणमन करने लगता है। अनादि अज्ञानरूप परम्परा भी टूट जाती है। जैसे बीजसे वृक्ष होता है, ऐसी अनादि परम्परा है। तथा बीज जला देनेपर उसकी भावी परम्परा समाप्त हो जाती है। इस दृष्टान्तसे समझना है कि जीवकी पराधीनताकी परम्परा, ज्ञान द्वारा संसारके बीज भूत मोहको दग्ध कर देनेपर, स्वयं समाप्त हो जाती है। जीव कर्मकी पराधीनतासे छूटकर स्वयं शुद्ध हो जाता है।

(२९४) **प्रश्न**—जब जीव पराधीन है, तब वह परवश है। जैसे बन्धनमें बँधा कैदी जब बन्धनसे छूटे, तब स्वतन्त्र विचरण कर सकता है। बन्धनसे तब छूटे जब कैदी छोड दिया जाय, छोड़ने वाला न छोड़े तो स्वन्तन्त्र कैसे हो ? इसी प्रकार जीव जिस कर्मके बन्धनमें अनादि से है वह कैसे छूटे ? यदि कर्म छोड़ दे तो वह स्वतन्त्र विचरण कर सके ?

समाधान—दृष्टान्त ठीक नहीं है। कैदी यद्यपि अपने अपराधके कारण, परके द्वारा बाँधा गया है, तथापि बाँधनेवाला व छोड़नेवाला अन्य सचेतन पुरुष है। यद्यपि बाँधना छोड़ना उस सचेतन राजकीय पुरुषका कर्म है, तथापि वह अपराधीको ही बाँधता है, निरपराधको नहीं। परन्तु कर्म चैतन्य स्वरूप नहीं, जड़ स्वरूप ही है। वह जीवको बाँधता नहीं है। स्वापराधसे जीव स्वयं जड़ पौद्गलिक कर्मोंको खींचकर अपनेको उनसे बाँध लेता है।

यद्यपि वे सूक्ष्म कर्म दिखाई नहीं देते, न जीव यह जानता है, कि कब कर्म आए और मैंने अपनेको कब बाँध लिया। तथापि वे जीवके अपराधसे आते हैं और जीव उनसे बँधता है। यह

युक्ति से सिद्ध है कि जीव ही जब अपने अज्ञान परिणामसे उनसे अपनेको बाँधता है तब जीव ही अपने ज्ञान परिणामसे, उस बन्धनको स्वयं दूर कर सकता है। अतः रागादि रूप बन्धनकारक भावोंको यहाँ परभाव कहा, और उनके छोड़नेका तथा आत्मामें स्वभाव जन्य ज्ञानभावको स्वीकार करके स्वतःको स्वतन्त्र करनेका उपदेश दिया है।

अपने स्वभावका भावरूप परिणमन ही ज्ञानभावकी स्वीकारता है, तथा परसापेक्ष अशुद्ध परिणमनका अभाव ही परका त्याग है, यही उपदेशका सार है ॥१८४॥

मोक्षार्थीको एकमात्र चैतन्य भावका ही आलम्बन करना चाहिए यह आचार्य कहते हैं—

सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्तचरितैः मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिस्सदेवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणाः
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धं चिन्मयम्**) जो शुद्ध चैतन्याकार (**एकमेव**) एकमात्र (**परमं ज्योतिः**) उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप है (**तदेवाहं अस्मि**) मैं सदा वहीं हूँ। (**एते**) ये (**पृथग्लक्षणाः**) जिनका स्वरूप मुझसे भिन्न रूप प्रकट है ऐसे (**ये तु विविधाः भावाः**) जो विविध प्रकारके असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसान भाव (**समुल्लसन्ति**) उठते हैं (**ते अहं नास्मि**) वे मैं नहीं हूँ। (**यतः अत्र ते समग्रा अपि मम परद्रव्यम्**) क्योंकि यहाँ वे सबके सब मेरे लिये परद्रव्य हैं। (**अयम् सिद्धान्तः**) ऐसा यह सिद्धान्त (**उदात्तचित्त-चरितैः मोक्षार्थिभिः**) मनस्वी सदाचारी श्रेष्ठ मोक्षार्थी पुरुषोंको (**सेव्यताम्**) सेवन करना चाहिए ॥१८५॥

भावार्थ—जो जीव संसारके दुखोंसे छूटना चाहते हैं वे उदात्तचित्त, मनस्वी, उत्कृष्ट, मोक्षार्थी, सदाचारी पुरुष हैं। उन्हें यह सिद्धान्त स्वीकार करना कल्याणकारी है कि आत्मा अपने स्वरूप का विचार करे, तो वह देखेगा कि वह चैतन्यका अखण्ड प्रवाह है। तथापि जैसे नदीके पूरमें मार्गमें बहुत-सा कूड़ा-कचरा भी बहकर आ जाता है, पर वह नदीका अंश नहीं है, जलप्रवाहको गंदला करनेवाली विकारी वस्तु हैं। इसी प्रकार चैतन्यके प्रवाहमें प्रवहमान, रागादि विकार भाव, आत्माके उस पवित्र चैतन्य प्रवाहको मलिन करने वाले भिन्न-भिन्न भाव हैं। वे आत्मा नहीं हैं। बुद्धिमान् मोक्षार्थी पर वस्तुको छोड़कर निज वस्तुको ही ग्रहण करते हैं ॥१८५॥

पर द्रव्यका ग्रहण अपराध है ऐसा कहते हैं—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः[1] ॥१८६॥

अन्वयार्थ—(**परद्रव्यग्रहं कुर्वन् अपराधवान्**) परद्रव्यको ग्रहण करनेवाला अपराधी है। जो अपराधी है वह (**बध्येत एव**) नियमसे बंधनको प्राप्त होता है। (**स्वद्रव्ये संवृतः मुनिः**, किन्तु

---

[1] यतिः इत्यपि पाठान्तरम् ।

मुनि अपने आत्म द्रव्यमें ही सुरक्षित हैं, वे (**अनपराधः**) निरपराध हैं, अतः (**न बध्येत**) बन्धको प्राप्त नहीं होते ॥१८६॥

भावार्थ—लोकमें यह बात सुप्रसिद्ध है कि जो वस्तु पराई है, उसे ललचाई दृष्टिसे देखना भी अपराध है। ग्रहण तो अपराध है ही। जो परवस्तुको निज वस्तु बनाता है वह अपराधी बंधनमें पड़ता है। जो निरपराधी हैं, स्वद्रव्यकी, स्वक्षेत्रकी, स्वकालकी व स्वभावकी महिमामें रत हैं, वे संवृत हैं; अर्थात् सुरक्षित हैं। वे कभी बंधनको प्राप्त नहीं होते। इसीलिये अपनी आत्माके गुणोंमें जो सुगुप्त हैं, कभी परमें प्रवेश नहीं करते, वे मुनिजन निरपराधी हैं। कर्मके वन्धनसे वे नहीं बँधते।

जो अपनी मर्यादा तोड़ते हैं, पर द्रव्यको ग्रहण करते हैं,। शरीर-वचन-मन स्त्री, पुत्रादि शुद्ध चैतन्यसे भिन्न होनेसे, शुद्धात्माकी दृष्टि वालेके लिए परवस्तु हैं। जो परद्रव्यको आत्मभावसे स्वीकार करते हैं, उनसे ममत्व करते हैं, वे अपराधी हैं, और प्रति समय नियमसे कर्मबंधनमें बंधते ही हैं।

(२९५) **प्रश्न**—अपराधी वंधता है यह ठीक है। परवस्तु—परस्त्री परधन हर्त्ता राज्य कर्मचारियों द्वारा वंधनमें डाले जाते हैं, पर अपने घर, स्वस्त्री-स्वपुत्र-स्वधनादिको स्वीकार करने वाला तो महाजन है? उसे राजकीय पुरुष नहीं बाँधते क्योंकि वह निरपराध है। ऐसा भाव कलश का निकलता है। तब आप उस गृहस्थको जो महाजन है, अपराधी और वन्धनबद्ध कैसे कहते हैं?

समाधान—लोकमें जो अपराधी हैं वे बन्धते हैं, यह आपको सिद्धान्त समझाने के लिए मात्र दृष्टान्त है। यहाँ राजकीय वन्धन के दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तकी सिद्धि करनी है। दार्ष्टान्त है—जीवका कर्मवन्धन बद्ध होना। अपने चैतन्य स्वरूपकी दृष्टि त्यागकर, जो चैतन्यसे भिन्न संसारके किसी भी द्रव्यसे, उसके गुणोंसे व पर्यायोंसे, तथा कर्मोदयकी स्थितिमें उत्पन्न हुए अपने आन्तरिक रागादिपरिणामोंसे, ममत्व करता है—उनमें अपनापन मानता है, उन्हें हितकारी मानता है, वह अपराधी है। वह अपराधी कर्म के वन्धन में अवश्य वन्धता है ॥१८६॥

इसी आशयको आगामी कलशमें स्पष्ट करते हैं—

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

अन्वयार्थ—(**सापराधः**) अपराधी (**अनवरतम्**) निरन्तर ही (**अनन्तैः**) अनन्त कर्मपुद्गलोंसे (**बध्यते**) बँधता है। (**निरपराधः**) जो अपनी शुद्ध चैतन्य परिणतिका आश्रय करने वाला अपराधरहित है, (**बंधनं जातु नैव स्पृशति**) वह कभी भी वन्धनको प्राप्त नहीं होता। अतएव (**अयम्**) यह संसारी जीव (**अशुद्धं स्वं नियतं भजन्**) अशुद्ध आत्माको ही निरन्तर सेवन करता है, अर्थात् अशुद्ध परिणतिमें परिणत हो रहा है, अतः (**सापराधः**) वह निश्चित अपराधी है। किन्तु (**साधु-**

शुद्धात्मसेवी) शुद्धात्माको भले प्रकार सेवन करने वाला (**निरपराधः भवति**) अपराध से रहित है, अतएव बन्धनको प्राप्त नहीं होता ॥१८७॥

भावार्थ—पर द्रव्यको अपनाने वाला उन समस्त परद्रव्योंके बंधनमें है। उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति-संयोग-वियोगमें, सुख-दुख रूप आकुलताको प्राप्त होता है। सूक्ष्म पुद्गल अनन्त-कर्म परमाणुओं से भी, जो ज्ञानावरणादि रूप हैं,—बन्धता है, जिसका परिपाक दुःखोत्पादक है। जो शुद्धात्मरूप परिणमन करते हैं वे शुद्धात्मसेवी हैं। वे न परसे ममत्व करते हैं, न परको निज रूप से एकाकार करते हैं। अतः न उन पदार्थोंसे बंधते हैं, और न पुद्गल कर्म से बन्धते हैं, न रागादि विकारी भावोंमें बंधते हैं, वे निर्बन्ध ॥१८७॥

अतएव—

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलं, उन्मूलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं चित्त
आसंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥

अन्वयार्थ—(अतः) उक्त कथनके अनुसार (**प्रमादिनः**) जो रागादि प्रमादके वश हो (**सुखासीनताम् गताः**) कर्मजन्य आकुलताको ही सुख मानकर उसमें निमग्नताको प्राप्त हैं, (हताः) वे मोक्षमार्गसे भ्रष्ट हुए। इस उपदेशसे (**प्रलीनं चापलम्**) उनकी चपलता मिटाई (**आलम्बनम्-उन्मूलितम्**) पर द्रव्यके आलम्बनको जड़से उखाड़ दिया तथा (**आसंपूर्ण विज्ञानघन उपलब्धेः**) पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति जब तक न हो तब तक (**चित्तम्**) अपने मनको (**आत्मनि एव आलानितम्**) अपने स्वात्मामें ही बांधा उससे ही सम्बद्ध किया ॥१८८॥

भावार्थ—जो जीव रागादि भावोंका आलम्बन कर, परद्रव्यको आश्रय कर, उसमें सुख मानकर अपनेको आनन्दित मानते थे, और उसीसे मत्त थे, वे आत्महितमें प्रमादी थे। ऐसे प्रमादी जन मोक्षमार्गसे बहुत दूर हैं। किन्तु जिन्होंने विज्ञानघन आत्माका आश्रय लिया—उनकी योगकी चपलता छूट गई, परावलम्बन छूटा—स्वाधीनता आई, आत्माका स्वाद आया और वे परम सुखी हुए। ऐसा जानकर संसारी जन पर पदार्थका, मोह-राग-द्वेषका, परित्याग करें तो उन्हें स्वात्मोपलब्धि हो सकती है तथा वे बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

(२९६) **प्रश्न**–प्रमाद क्या है? उसके द्वारा क्या हानि होती है। उससे बचने के क्या उपाय हैं?

समाधान—आत्म स्वभावकी प्राप्तिमें असावधानी को प्रमाद कहते हैं। यह संसारी प्राणी सांसारिक पदार्थोंके संचयमें, उनमें रागादि करनेमें, संलग्न है, अतः आत्महितके मार्गमें प्रमादी है। प्रमादी संसार परिभ्रमण करता है और विविध दुख उठाता है, यही बड़ी हानि है। मुख्यतः प्रमाद के पन्द्रह भेद कहे गए है। चार कषाय, चार विकथा, पाँच इन्द्रियों के विषय, निद्रा और स्नेह। प्रमादसे बचनेका उपाय आत्महितमें सदा जागते रहना ही है। जो आत्महितमें सावधान है वही जागता है। जो विषय कषायोंमें लगा हुआ है वह आत्महितमें सोता है, यही प्रमाद है, और दुख उसका फल है।

मोह राग द्वेष ये तीन प्रमाद मुख्य हैं। प्रमादके संपूर्ण भेद इनका ही विस्तार हैं। इनमें

मोह और द्वेष ये दोनों तो अत्यन्त अशुभ हैं। राग शुभ अशुभ दोनों प्रकारका होता है। पंचपरमेष्ठीके गुणानुराग पूर्वक भक्तिका राग, शुभराग है, पंचेन्द्रियके विषयोंके प्रति राग अशुभराग है। दोनों प्रकारके राग भी प्रमाद ही हैं।

(२९७) **प्रश्न**—अशुभराग आत्महित घातक है, अतः उसे प्रमाद कहना उपयुक्त है। पर पंचपरमेष्ठीमें भक्तिरूप शुभराग तो प्रमाद नहीं है। आत्महितमें जो सावधान हैं वे ही पंचपरमेष्ठीकी श्रद्धा भक्ति करते हैं। जिनभक्तिका बहुत बड़ा माहात्म्य आगममें आचार्यों द्वारा वर्णित है। आप उसे भी प्रमाद कहकर आत्महित के विरुद्ध बताते हैं। तब क्या आत्महितैषी वह हैं जो पंचपरमेष्ठीकी श्रद्धा भक्ति करना छोड़ दें?

समाधान—पंचपरमेष्ठीकी भक्ति अशुभरागसे बचाती है। पंचपरमेष्ठीके वीतरागता आदि गुणोंके प्रति अनुराग बढ़ाती है, अतः इस दृष्टिसे वह वीतरागताके प्रति साधक भी है। इसी कारण जैनाचार्योंने इसे कथञ्चित् उपादेय भी कहा है। तथापि शुभकर्ममें शुभयोग तथा मन्दकषायपना कारण है, उससे जीवको पुण्यका बन्धन होता है। मोक्षार्थीके लिए बन्धन इष्ट नहीं माना जा सकता अतः शुभ राग को भी प्रमाद कहा।

जो आत्माको शुभाशुभ कर्मों से निवृत्त करके, अपने ज्ञानानन्दकी सीमाके भीतर रखता है, वह उस प्रमादका प्रायश्चित रूप प्रतिक्रमण है, यह बात इस गाथा से स्पष्ट है—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥ —समयसार, गाथा ३८३

अर्थात् शुभाशुभके विस्ताररूप जो पूर्वकृत कर्म हों, उनसे अपनेको भिन्न कर लेना ही, प्रमादका प्रतिक्रमण है।

(२९८) **प्रश्न**—प्रतिक्रमणका क्या अर्थ है? उसके कितने प्रकार हैं। उनका क्या स्वरूप है, और उनका करना मोक्षमार्गीके लिए इष्ट है या नहीं?

समाधान—प्रतिक्रमण प्रतिशरण-परिहार-धारणा-निवृत्ति-निन्दा-गर्हा और शुद्धि, ये आठ प्रतिक्रमणके ही प्रकारान्तर हैं, इनका विस्तार निम्न प्रकार है—

प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषोंको प्रायश्चित्तादि द्वारा दूर करना।

प्रतिशरण—दोषोंके दूर करने हेतु परमगुरुकी शरण प्राप्त करना।

परिहार—दोषोंके दूर करने हेतु प्रायश्चित्त स्वरूप सावधि त्याग करना।

धारणा—दोष दूर करने हेतु कुछ विशिष्ट व्रतोंका धारण करना।

निवृत्ति—दोषोंके दूर करने हेतु कुछ परित्याग करना, उनसे चित्त वृत्तिको रोकना।

निन्दा—अपने दोषोंके प्रति पश्चात्ताप करना, स्वयंके समक्ष दोषोंकी निन्दा करना।

गर्हा—गुरु समीप अपने दोषों की निन्दा व पश्चात्ताप करना।

शुद्धि—अपने दोषों को दूर करना, परिणामोंमें शुद्धि उत्पन्न करना। गुरुप्रदत्त प्रायश्चित्त को स्वीकारना ही शुद्धिका कारण है।

ये सब दोष दूर करनेके उपाय मोक्षमार्गीके लिए उचित हैं। इन्हें अमृत कुम्भ कहा है। इनसे वह पापक्रियाओंसे दूर होता है। किए पापों पर पश्चात्ताप करता है। भविष्यमें पाप न करने का भाव उत्पन्न होता है। पापास्रव दूर होकर उसे पुण्यास्रव होता है।

(२९९) **प्रश्न**—समयसारमें इन प्रतिक्रमणादिकोंको विषकुम्भ कहा है, और प्रतिक्रमण आदिके अभावको अर्थात् अप्रतिक्रमणादिको अमृत कुम्भ कहा है। सो इस कथनसे आपका कथन विरुद्ध पड़ता है। किसे यथार्थ मानकर आचरण करना चाहिए ?

समाधान—समयसारमें 'द्रव्य प्रतिक्रमण' को विष कुम्भ और 'अप्रतिक्रमण' को अमृतकुम्भ कहा है, यह यथार्थ है। इस कथनकी विवक्षा स्पष्ट करते हैं।

लगे हुए दोषोंका प्रतिक्रमण नहीं करने रूप जो अप्रतिक्रमण है वह तो सभी मिथ्यादृष्टि जीवोंमें होता है। वह तो विष कुम्भ ही है, सर्वथा पापरूप ही है। उसे अमृतकुम्भ नहीं कहा गया। यहाँ उसकी चर्चा ही नहीं है। दोषोंका निराकरण ज्ञान भावमें स्थित होने पर ही होता है। ऐसी दशामें वह शुद्धोपयोगी साधु स्वयं निर्दोष है। दोषोंकी वहाँ कोई सम्भावना ही नहीं है।

ऐसी जो श्रेष्ठ दशा है वह ही 'अप्रतिक्रमण' दशा है, वह अमृतकुम्भ है। यह अप्रतिक्रमण, उस प्रतिक्रमणसे भी श्रेष्ठ है जो सदोष अवस्थामें, दोष निवारण हेतु किया जाता है। यह द्रव्य प्रतिक्रमण अर्थात् बाह्यप्रतिक्रमण भी, उसी शुद्धोपयोग दशाको प्राप्त करनेके लिए ही किया जाता है। शुद्धोपयोगकी प्राप्ति जब तक नहीं होती तब तक वह साधु शुभोपयोगी ही रहता है। इस प्रतिक्रमणसे पाप प्रक्षालन तो होता है परन्तु शुभआश्रव ही होता है। इस कारण वह उपरोक्त प्रथम अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा 'अमृतकुम्भ' है, परन्तु शुद्धोपयोगकी भूमिकासे नीचे होनेके कारण उसे ही 'विष कुम्भ' भी कहा गया है। शुद्धात्माकी आराधनासे रहित होनेके कारण इस प्रतिक्रमणको भी अपराध माना है। समस्त आश्रवभाव, मोक्ष मार्गमें अपराध ही हैं।

(३००) **प्रश्न**—प्रतिक्रमण करने वाला यदि निश्चयकी दृष्टिसे अपराधी है तो साधुको अप्रतिक्रमण ही श्रेष्ठ मानना चाहिए ?

समाधान—वस्तुतः ऐसा ही है, परन्तु मिथ्यात्वके साथ जो दोष रूप अप्रतिक्रमण है वह श्रेष्ठ नहीं है। वह तो 'विष कुम्भ' ही है। प्रतिक्रमणको इस सदोष अप्रतिक्रमणकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है और अमृत कुम्भ कहा गया है परन्तु ऊपरकी शुद्धोपयोगीकी भूमिका रूप 'अप्रतिक्रमण' को, इस प्रतिक्रमणकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेसे, 'अमृत कुम्भ' कहा गया है।

(३०१) **प्रश्न**—शुद्धोपयोगीका अप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ है, यह तो ठीक है, परन्तु प्रतिक्रमण करने वाला साधु भी तो उसी शुद्धोपयोगी भूमिका पर जाता है तब उसके प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहना कैसे संगत है ?

समाधान—द्रव्य प्रतिक्रमण शुद्धात्म भावनाके उद्देश्यसे ही किया जाता है, परन्तु जब तक वह शुद्धात्माके अनुभव स्वरूप नहीं बनता तब तक शुभोपयोग रूप है। शुद्धोपयोग रूप नहीं है। अध्यात्मकी दृष्टिमें यह, आश्रव भाव होनेके कारण अपराध है। इसीलिए उसे विषकुम्भ कहा है। जब वह साधु शुभोपयोगसे ऊपर उठकर, शुद्धोपयोगी बनता है तब उसकी उस अवस्थाको ही यथार्थ 'अमृतकुम्भ' कहते हैं। विवक्षा भेदसे यथार्थ स्थिति समझ लेने पर, प्रतिक्रमण और अप्रतिक्रमणके स्वरूपमें कोई विरोध या संशय नहीं रहता।

उपदेशका यथार्थ ग्रहण ही कल्याणकारी है—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः-
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

अन्वयार्थ—(**यत्र**) जिस मोक्षमार्गमें (**प्रतिक्रमणमेव**) दोषोंको दूर करनेके अभिप्रायसे किया जानेवाला शुभराग रूप प्रतिक्रमण भी (**विषं प्रणीतं**) रागात्मक होनेसे विषरूप वर्णित किया गया है (**तत्र**) उस मोक्षमार्गमें (**अप्रतिक्रमणम् एव**) दोषको दूर करनेका उपाय न करना, अशुभरागादि रूप ही प्रवृत्ति करना, ऐसा अप्रतिक्रमण (**कुतः सुधा स्यात्**) कैसे अमृतरूप कहा जा सकता है ? (**तत्**) तब (**जनः**) यह प्राणी (**अधः अधः प्रपतन्**) उपदेशको विपरीत ग्रहणकर, नीचे गिरता हुआ (**किं प्रमाद्यति**) क्यों प्रमादरूप प्रवर्त्तता है ? उपदेशका यथार्थ भाव ग्रहण कर (**निष्प्रमादः**) प्रमादको छोड़कर (**ऊर्ध्वं उर्ध्वं**) उन्नत-उन्नत मार्ग पर (**किं न अधिरोहति**) क्यों नहीं चढ़ता ॥१८९॥

भावार्थ—उपदेश तो यह था कि शुभरागादि रूप प्रतिक्रमण, वन्दना स्तुति आदि परिणाम भी पुण्यास्रवके कारण होनेसे व्यवहारसे मोक्षमार्ग हैं । तथापि दोषयुक्त अप्रतिक्रमण, और शुभ-रागरूप प्रतिक्रमण, इन दोनों विकल्पोंसे रहित, अपने स्वभाव परिणमन रूप, तृतीय अवस्था रूप अप्रतिक्रमण ही निश्चयसे मोक्ष मार्ग है । वहाँ कुशिष्यने उलटा अर्थ ग्रहण कर पापात्मक अप्रति-क्रमणको श्रेष्ठ मान लिया । उसपर आचार्य प्रश्नात्मक आश्चर्य करते हैं कि प्राणी यथार्थ उपदेश ग्रहण कर ऊँचा क्यों नहीं बढता ? विपरीत ग्रहण कर हीनाचारी प्रमादी क्यों बनता है ?

"अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुतः स्यात्" ऐसा पाठ मानकर शुभचन्द्रजीने इसका अर्थ किया है कि प्रतिक्रमण तथा अप्रतिक्रमण दोनों अवस्थाओंसे भिन्न जो अप्रतिक्रमण है वह सुधाका, अमृतका कुंभ है ॥१८९॥

कौन साधु शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं—

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवात् अलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यतेः चाऽचिरात् ॥१९०॥

अन्वयार्थ—(**प्रमादकलितः अलसः**) प्रमादी आलसी व्यक्ति (**कथं शुद्धभावो भवति**) कैसे शुद्धभाव रूप शुद्धात्मा बन सकता है (**यतः**) क्योंकि (**अलसता**) आलसीपना (**कषायभरगौरवात्**) **प्रमादः भवति**) कषायके भारसे ही गौरवशाली है, प्रमाद है । (**अतः मुनिः**) इसलिए साधु (**स्वरस-निर्भरे स्वभावे**) आत्माके निजरससे परिपूर्ण अपने स्वभावमें ही (**नियमितः भवन्**) नियमित होकर (**परम शुद्धताम् व्रजति**) उत्कृष्ट शुद्धोपयोगमय होता है, तथा (**च अचरात् मुच्यते**) और शीघ्र ही मुक्ति धामको प्राप्त होता है ॥१९०॥

भावार्थ—अपनी स्वभाव स्थितिमें शिथिलताका नाम ही प्रमाद है। विविध प्रकारके कषाय जन्य विकल्प ही आत्माको अपने स्वभावमें स्थिर नहीं रहने देते। आत्महितका इच्छुक समताभावी संयमी साधु, रागादि कषाय मार्गसे अत्यन्त दूर रहकर, आत्महितमें सावधानी रखकर, अपनेको अपने स्वभावमें ही बाँधकर, परम पवित्रताको स्वयं प्राप्त होता है। यही शुद्धोपयोग है[1]। इसीके फलसे प्राणी शीघ्र ही सांसारिक दुखके कारण कर्मबन्धके बन्धनसे भी शीघ्र छूट जाता है। इसी द्रव्यकर्म-भावकर्मसे छूटनेको मुक्ति कहते हैं जो शुद्धोपयोगीको ही प्राप्त होती है।।१९०।।

(३०२) **प्रश्न**—जो प्रमादी नहीं है न आलसी है—आत्मनिष्ठ गृहस्थ है, वह भी तो परमशुद्धताको प्राप्त हो सकता है। तब कलशमें 'मुनिः' पद देकर उसका कर्तृत्व मुनिको ही क्यों स्वीकार किया है ?

समाधान—जो अपने हितके मार्गमें अपूर्ण है, वह अभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंके भारसे संयुक्त है, ऐसा गृहस्थ आत्मश्रद्धानी या आत्मज्ञानी हो, पर आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। शुद्धोपयोगी नहीं हो सकता। गृहका ग्रहण, गृहिणीका ग्रहण, वित्तका संचय, परिवारका परिकर, ये सभी कषायके कार्य है। कषायवान् आत्महितमें प्रमादी ही है। यदि उसे अप्रमादी, निरालस बनना है तो वह इनका सेवन न कर, केवल अपने ज्ञानभावमें ही निमग्न रहेगा। यह अवस्था मुनि अवस्था ही होगी। इससे मुनि दशामें ही शुद्धताकी प्राप्ति और मोक्षका कर्तृत्व है। गृहस्थ दशामें नहीं।

(३०३) **प्रश्न**—गृहस्थ भी यदि धन-स्त्री-पुत्रका परित्याग कर दे और मुनि अवस्था धारण न करे, तो क्या शुद्धोपयोगी होना शक्य नहीं है ? क्या मात्र वस्त्र रहनेसे शुद्धोपयोगमें बाधा आ सकती है ?

समाधान—वस्त्रका परिग्रहण बाधक है। जब समस्त परद्रव्यसे भिन्न होनेपर ही स्वात्मसिद्धि हो सकती है, तब वस्त्रका भी परिग्रह कैसे होगा ? वस्त्र देहकी तरह जन्मसे साथ नहीं आता, वह बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है। बुद्धिपूर्वक किसी भी वस्तुका ग्रहण, बिना उस वस्तुके प्रति आकर्षण या रागके संभव नहीं है। अतः बिना मुनिदशाके न परम शुद्धि होती है, न शुद्धोपयोग होता है, और न मुक्ति होती है।

(३०४) **प्रश्न**—क्या नग्नता आत्मशुद्धिमें साधक है ? यदि ऐसा है तो द्रव्यलिंगी जैन साधु, परमहंस दशामें चलनेवाले अजैन संन्यासी, सूफीमतके लोग अथवा आजकल विदेशोंमें नग्न रहकर जीवन यापन करनेवाले स्त्री-पुरुष, ये सब आत्मनिष्ठ होकर मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं करते ?

समाधान—ये सब तनके नग्न हैं, पर मनके नग्न नहीं हैं। मनकी नग्नता समस्त मानसिक विकारोंसे रहित होनेपर ही होती है। विकार आत्माके स्वभावसे भिन्न आत्मघातक है। उसके रहते हुए नग्नताका अभाव ही है, भले ही शरीर नग्न हो। परसम्पर्कके अभावमें ही आत्मनिष्ठता आती है अन्यथा नहीं।

---

१. सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो सहसुख दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगत्ति ।।

—प्रवचनसार, प्रथम अध्याय, गाथा १४

(३०५) **प्रश्न**—तव मनकी नग्नताकी ही वात करनी चाहिए। तनकी नग्नता क्यों आवश्यक है ?

समाधान—मनकी नग्नता हो तो तनकी नग्नता उसकी भावनासे पूर्व ही आ जाती है। कारणके अभावमें कार्य नहीं देखा जाता। आन्तरिक परित्यागकी भावना होनेपर वाह्यका परित्याग अवश्यम्भावी है। हाँ, वाह्यका त्याग हो और अन्तरंग विकारोंका त्याग न हो, ऐसा हो सकता है। तनकी नग्नता, मनकी नग्नता के अभ्यासका प्राथमिक रूप भी हो सकता है। तथापि यदि कोई इसे कपटसे धारण करे और इसके द्वारा साधुपदकी प्रतिष्ठा, तथा लौकिक लाभ प्राप्त करे, तो वह निर्विकारी नहीं है, अतः आत्मनिष्ठ नहीं होता। उसकी समस्त क्रियाएँ निष्फल हैं।

(३०६) **प्रश्न**—वाह्य परित्याग करनेवाले भले ही आन्तरिक परिग्रहके त्यागी न हों, तथापि पदकी प्रतिष्ठा, उत्तम भोजन, लोक मान्यता आदि फल तो प्राप्त होते हैं। तव उसे निष्फल क्यों कहा ?

समाधान—जव मात्र वाह्य त्यागका यह फल है, तव यदि वह त्याग अन्तरंग त्याग सहित हो तो कितना लाभदायक न होगा इसका स्वयं विचार करो। निष्फल तो इसलिए कहा गया है कि इस पदका जो वास्तविक फल, आत्मशुद्धि और मुक्ति है, वह फल उसे प्राप्त नहीं होता। इससे वह क्रिया निष्फल कही गई है ।।१९०।।

शुद्ध और मुक्त होने का क्या मार्ग है, कौन व्यक्ति उसे प्राप्त करता है, इसका वर्णन करते हैं—

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ।।१९१।।

अन्वयार्थ—(**अशुद्धिविधायि**) अशुद्धताका प्रसार करने वाला (**समग्रं परद्रव्यं**) सम्पूर्ण परद्रव्य है, (**तत् किल त्यक्त्वा**) उसको निश्चयसे त्याग करके (**यः स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति**) स्व वल में जो अपने शुद्ध आत्म द्रव्यमें लीन होता है (**सः**) वह वीतरागी सम्यग्दृष्टि साधु (**नियतं**) निश्चयसे ही (**सर्वापराधच्युतः**) सम्पूर्ण अपराधोंसे रहित, निरपराध होता है। तथा **नित्यमुदितः**) सदा काल उन्नत या आनन्द स्वरूप होता हुआ (**वंधध्वंसम् उपेत्य**) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भावकर्म, तथा नो कर्मके वंधनोंका अभावकर, (**स्वज्योतिरच्छोच्छलत्चैतन्यामृतपूरपूर्ण-महिमा**) अपनी आत्म ज्योतिसे स्वच्छ, उछलते हुए चैतन्यरूप अमृतके पूरसे परिपूर्ण है महिमा जिसकी, ऐसा वह साधु (**शुद्धो भवन्**) पवित्रताको प्राप्त हुआ (**मुच्यते**) मुक्तिको प्राप्त होता है।।१९१।।

भावार्थ—परद्रव्य का ग्रहण ही अशुद्धताका कारण है। शुद्ध वस्तु लोकमें भी वही मानी जाती है जो स्वयं अपने स्वरूपमें हो, एक हो, परसंपर्क से सर्वथा रहित हो। आत्मा भी जव समस्त परद्रव्यको तथा विकारीभावोंको, अशुद्धताका कारण जानकर, स्वयंके पुरुषार्थसे दूर करता हुआ एक मात्र निजस्वभावमें लीन होता है, वह सर्वथा अपराधोंसे रहित होकर, कर्म वंधन का ध्वंस कर देता है। अपनी ज्ञानज्योतिके निरन्तर होनेवाले स्वभाव परिणमन रूप, स्वच्छ

चैतन्यामृतपूरसे परिपूर्ण महिमा वाला होकर पवित्र बनता है, तथा कर्म बंधनसे मुक्त होता है ॥१९१॥

मोक्ष अधिकारको समाप्त करते हुए आचार्य मोक्षके पवित्र स्वरूपकी महिमा कहते हैं—

वन्धच्छेदात् कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतत्
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

अन्वयार्थ—(**वन्धच्छेदात्**) कर्म वन्धनके छेदनेसे (**अतुलं अक्षय्यम् मोक्षम्**) जिसकी कोई तुलना नहीं है ऐसे अविनाशी मोक्षको (**कलयत्**) प्राप्त करता हुआ, (**पूर्णं ज्ञानं**) सम्पूर्ण केवलज्ञान (**नित्योद्योत स्फुटितसहजावस्थम्**) नित्य ही प्रकाशमान प्रकट की है अपनी स्वाभाविक अवस्था जिसने तथा (**एकान्तशुद्धम्**) जो सर्वथा शुद्ध है, पवित्र है, तथा (**एकाकारस्वरसभरतः**) अपने स्वभाव मात्र रूप जो स्वरस उसके द्वारा परिपूर्ण (**अत्यन्त गम्भीरधीरम्**) अत्यन्त गम्भीर, और धीर है, (**अचले स्वस्यमहिम्नि**) अविचलित अपनी स्वयंकी उत्कृष्ट महिमामें जो (**लीनं**) संलीन है (**एतत्ज्वलितम्**) वह पूर्ण ज्ञान सदा के लिए प्रकाशमान है ।।१९२॥

भावार्थ—मोक्षका स्वरूप यही है कि जीव अपने द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मके समस्त बंधनों को छेदकर उससे स्वयं रहित हो जाय । वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होता । उस अवस्थामें जीव अपनी निजात्म महिमामें लीन पूर्ण-ज्ञान ज्योतिको प्राप्त होता है । वह ज्ञानज्योति एकमात्र चैतन्य रसके निरन्तर चलनेवाले प्रवाहसे—परिणमनसे सहज गम्भीर और सदा निराकुल है । जीवकी ऐसी पवित्रावस्थाको ही मोक्ष कहते हैं ।

(३०७) **प्रश्न**—मोक्ष तो तीन लोकके ऊपर है, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णित है । अतः क्या वहाँ जाकर जीवकी शुद्धदशा स्वयं हो जाती है ?

समाधान—नहीं । मोक्ष जीवकी विशुद्ध दशाका नाम है । भले ही ऐसे जीव स्वाभाविक ऊर्ध्वगमनके कारण लोकाग्र भागमें स्थित होते जाते हैं, किन्तु जीवकी उस कर्ममल रहित अवस्था का नाम ही मुक्तिकी प्राप्ति है ।

(३०८) **प्रश्न**—स्थानका भी तो यह महत्त्व है ? क्योंकि वे ही पवित्र आत्माएँ वहाँ पहुँचती हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है । वहाँ तो अन्तिम वातवलय है, वायुकायिक जीव भी वहाँ हैं । निगोदके जीव भी हैं । तब उस स्थानको मात्र मोक्षस्थान संज्ञा कैसे दी जा सकती है ? घोर संसारी निगोदिया भी वहाँ हैं और मुक्त जीव भी हैं । यदि स्थानका महत्त्व होता तो दोनोंकी समानावस्था होती, पर ऐसा नहीं है । निगोदिया अभी अनन्तकाल तक भी संसारकी दुःखमय अवस्था भोगेंगे, जबकि मुक्तात्मा संसार परिभ्रमणसे छूट गए । जीवकी शुद्धावस्थाका नाम ही मुक्ति है । जहाँ जीव परिपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त अनन्त कालतक उसी परमशुद्धावस्थामें ही लीन है वही मोक्ष है ॥१९२॥

मोक्षाधिकार समाप्त ।

▫ सर्व-विशुद्ध-ज्ञानाधिकार ▫

ग्रन्थमें जीवाजीवाधिकार, पुण्य-पापाधिकार, कर्त्ताकर्म अधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बंधाधिकार और मोक्षाधिकार इन आठ अधिकारों द्वारा जीव तत्त्वका स्वरूप वर्णन किया। अव इस अध्यायमें उक्त सव प्रकारके, अर्थात् कर्त्ता-कर्मरूप, पुण्य-पापरूप, वंधमोक्षरूप आदि भावोंसे भिन्न, अपने निज स्वरूपसे सदा एकाकार, परसे—परके सम्पर्कसे, तथा परनिमित्त जन्य भावोंसे सर्वथा भिन्न, ज्ञानानन्दके पुञ्ज परम पवित्र आत्माका उदय होता है ऐसा कहेंगे—

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः
टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥१९३॥

अन्वयार्थ—(**अखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्**) समस्त कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि भावोंको (**सम्यक् प्रलयं नीत्वा**) पूर्ण रीतिसे मिटाकर (**प्रतिपदं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः दूरीभूतः**) प्रतिपदमें गुण-स्थानादिकक्रममें आनेवाली बंधमोक्षकी रचनासे अत्यन्त भिन्न (**स्वयं शुद्धः शुद्धः**) स्वभावसे ही अत्यन्त विशुद्ध तथा (**स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः**) अपने चैतन्य रसके विस्तारसे परिपूर्ण पवित्र देदीप्यमान, अविचलित किरणोंसे युक्त (**टङ्कोत्कीर्ण प्रकटमहिमा**) टांकीसे उकेरी प्रतिमा समान स्थिररूपसे जिसका माहात्म्य प्रकट है, ऐसा (**ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति**) ज्ञानका पुञ्ज, ज्ञान समुदायी आत्मा प्रकाशमान हो रहा है ॥१९३॥

भावार्थ—आत्माके शुद्ध स्वरूपका यहाँ कथन किया जा रहा है। इस अध्यायमें सर्वविशुद्ध आत्म तत्त्वका विवेचन करेंगे।

संसारी अवस्थामें जीवका अजीवके साथ सम्बन्ध है, जीवान्तरोंसे भी सम्बन्ध है। अपने अज्ञानसे यह उनका अपनेको कर्त्ता भोक्ता मानता है। पुण्य-पाप परिणाम करता है। उससे कर्मोका आस्रव व वंध होता है, ज्ञानी उस वंधको दूर करके संवर, निर्जरा व मोक्षको भी प्राप्त करता है। तथापि आचार्य कहते हैं कि ऐसी विविध अवस्थाएँ जिस जीवकी हो रही हैं, वह स्वयं कैसा है? इस एक प्रश्नका समाधान करते हैं—

संसारी अवस्था या मुक्त अवस्था दोनों अवस्थाएँ तो कर्मके क्रमशः संयोग तथा वियोग जनित अवस्थाएँ हैं, पर जिस जीवकी ऐसी दशाएँ होती हैं उसे, यदि दृष्टिसे संयोग वियोगको भिन्न करके देखें, तो वह जीव कैसा दृष्टिपथमें आवेगा इसकी चर्चा यहाँ की गई है।

इस दृष्टिसे देखें तो ज्ञात होगा कि जीव शुद्ध है, परसंयोग और संयोगजनित भावोंसे दूर है, कर्तृत्व-भोक्तृत्वका कोई विकल्प नहीं है? पुण्य-पाप, आस्रवादि सम्पूर्ण दशाएँ कर्मसंयोगकी हैं अतः इनसे भी वह दूर है।

जीव केवल मात्र अपने असाधारण गुण चैतन्यका धनी है। वह अनादिसे अनन्तकाल तक सदा एक रूप रहता है। पर्यायदृष्टि दूरकर उस द्रव्यका स्वरूप देखें तो आत्मा अपने उस चैतन्य रससे परिपूर्ण है, उसकी महिमा ही सर्वोपरि है। वह अपने अचल ज्ञान सूर्यकी किरणोंसे स्वयं प्रकाशमान है। टंकोत्कीर्ण है। यह शब्द दो अर्थोंमें आता है—टांकीसे पाषाणपर कोई लेख लिखा जाय तो अमिट लेख माना जाता है अतः आत्मा या उसका ज्ञान उसीके समान अचल है कभी नाशवान् नहीं है। दूसरे टांकीसे उत्कीर्ण पाषाण प्रतिमा जैसे अपनेमें सांगोपांग परिपूर्ण है, इसी प्रकार जो स्वयं प्रकट है, पाषाण खण्डमें भी वह थी। उस पाषाण खण्डमें मूर्त्तिके अलावा जो अन्य निरर्थक पाषाणके टुकड़े, याने अमूर्त्ति-रूप अंश थे, उनसे आवृत होनेके कारण मूर्त्ति सामान्य जनको दृष्टिगोचर नहीं होती थी, तथापि चातुर्य्य रखनेवाले मूर्त्तिकारको उस पाषाण खण्डमें भी शुद्ध सुन्दर मूर्त्ति दिखाई देती थी। अपने इस अमिट अखण्ड विश्वासके आधार पर वह टांकी लगाकर हथौड़ेकी चोटसे मूर्त्तिपर आवरण स्वरूप, अमूर्त्तिरूप, पाषाण खण्डोंको चतुराईसे तोड़-तोड़कर अलग कर देता है, तब मूर्त्ति सांगोपांग प्रकट हो जाती है।

टाँकीसे उत्कीर्ण होनेपर जो मूर्त्ति प्रकट होती है वैसा मूर्त्तिका स्वरूप पाषाण खण्डमें शक्ति रूपसे पहले भी था। द्रष्टाने उसे देखा, बाद भी देखा। जो पहिले देखा था, अनुभव किया था, वह अब प्रत्यक्ष देखा, यह उसकी मूर्त्तिरूप पर्याय है, जो प्रकट हुई।

इसी प्रकार विशुद्धात्मा अपने स्वरूपसे संसारी दशामें भी थी। द्रष्टाने द्रव्य दृष्टिसे उसे देखा और अज्ञानादि दूर कर उसे ही प्रकट किया है। यह भी टंकोत्कीर्ण का दूसरा अर्थ है।

सारांश यह कि आत्मा भी अपने पवित्र ज्ञानपुञ्ज स्वरूप अनादिसे है, अनन्त काल तक रहेगी। अपने शुद्ध स्वभावको छोड़कर न कभी रही, न रहेगी। इस ज्ञानी आत्माने अपने स्वरूपका सम्यक्त्व दशामें दर्शन किया और इसके साथ जो व्यर्थ पाषाण खण्डकी तरह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म अनात्मस्वरूप थे उन्हें अपनी पैनी ज्ञान छैनीसे छाँटकर अलग कर दिया तब ज्ञानानन्द ज्योतिमय आत्मा प्रकट हो गई।

(३०९) **प्रश्न**—कारीगर अपनी कलाकी कुशलतासे ही मूर्त्ति बनाता है। जैसा निष्णात कारीगर होगा वैसी ही सुन्दर मूर्त्ति बनायगा। अन्यथा असुन्दर बेडौल भी बन सकती है?

समाधान—मूर्त्ति तो उसमें सुन्दर ही है। जो कारीगर कुशल नहीं है वह मूर्त्ति पर आवरणरूप, अमूर्त्तिरूप पाषाण खण्डोंको कुशलतापूर्वक सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं कर पाता, तब मूर्त्ति बेडौल दीखती है। उसी बेडौल मूर्त्तिको दूसरा चतुर कारीगर पुनः टाँकीसे व्यर्थके पाषाण खण्डोंको, जिनके कारण मूर्त्ति बेडौल लगती थी, दूर कर, सुन्दर मूर्त्ति प्रकट कर सकता है।

(३१०) **प्रश्न**—कारीगर मूर्त्ति प्रकट करता है, या बनाता है। यदि मूर्त्ति पर कोई वस्त्र पड़ा है और वह आवरण दूर कर दिया जाय तो उसे प्रकट करना कहेंगे। क्योंकि मूर्त्ति तो वहाँ बनी बनाई थी, मात्र परदा ऊपर पड़ा था। पर यहाँ ऐसा आवरण तो था नहीं, न यहाँ मूर्त्ति थी, उसे तो मूर्त्तिकार बनाता ही है। लोकमें उसे इसीसे 'मूर्त्तिकार' अर्थात् मूर्त्तिको करनेवाला कहते हैं। अतः आपका कथन लोकविरुद्ध होनेसे असत्य है।

भाव जो रागादि, उनका कर्ता व भोक्ता भी होता है। जैसे ही ज्ञान-ज्योति प्रकट होती है वैसे ही वह अकर्ता व अभोक्ता हो जाता है। अर्थात जैसा उसका स्वभाव था वैसा प्रकाशमान प्रकट हो जाता है।

(३१९) प्रश्न—ज्ञानी ज्ञान दशामें भी कर्मोदयजन्य पीड़ा अनुभव करता है। और अज्ञानी भी करता है। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि पूर्वकर्मका उदय तो सबको भोगना पड़ेगा ?

समाधान—भोगते दोनों हैं पर अज्ञानी कर्मोदयजन्य स्थितिसे भिन्न जो अकर्म स्वरूप आत्मा है उसका ज्ञायक नहीं है, अतः उसे तन्मय होकर भोगता है, उसमें उसे आत्म बुद्धि है अतः दुःखी होता है, उसे कर्म फलका भोगना कहते हैं। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष है, जो अपने ज्ञान स्वरूपका ज्ञायक है और कर्मके स्वरूपका ज्ञायक है, तथा कर्मके उदय तथा उसके फलका भी ज्ञायक है। तथापि कर्ता भोक्ता नहीं है। वह उसे अपनेसे भिन्न नैमित्तिक भाव जानकर उससे तन्मय नहीं होता। तन्मयताको ही भोगना कहा है।

(३२०) प्रश्न—कोई तन्मय होकर भोगे या अतन्मय होकर भोगे, भोगना तो पड़ता ही है। तत्त्वज्ञान होनेपर या ऐसा समझ लेनेसे कि "कर्म मुझसे भिन्न हैं, उनका उदय उनकी अवस्था है, मैं उसके फलका भोक्ता नहीं हूँ, चिदानन्द चैतन्य स्वरूप हूँ" क्या उसका असाताके उदय जन्य ज्वर उतर जाता है ? चोट मिट जाती है ?

समाधान—यह सत्य है कि कर्मोदयकी बलवत्तामें पीड़ा होती है, तथापि उस पीड़ामें देहका रागी अधिक दुःखी होता है। वीतरागी ज्ञानी देहको अचेतन जानता है, अपनेसे भिन्न जानता है उसकी दुरवस्थाको अपनी दुरवस्था नहीं मानता, अतः वैसा दुखी नहीं होता।

(३२१) प्रश्न—सामायिक पाठमें अमितगति आचार्यने लिखा है—"स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभं।" अर्थात् इस आत्माने जो कर्म पूर्व समयमें किए हैं उनका फल शुभाशुभ उसे अवश्य प्राप्त होता है। यह नियम केवल अज्ञानीके लिए ही नहीं लिखा, ज्ञानीके लिए भी लिखा है। आपने कहा—ज्ञानी कर्मोदयमें भी उसे जड़की अवस्था जान दुखी नहीं होता। यदि ऐसा हो तो कर्मोदय निष्फल हो जायगा ?

समाधान—आचार्य अमितगतिने जो लिखा है वह यथार्थ है। उसका तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव, सुख दुख दाता पर पुरुषको मानकर, उससे रागद्वेष करता है, सो यह उसकी मान्यता मिथ्या है। सुख-दुख भी अपने द्वारा किए कर्मका ही फल है। अतः कर्मका कर्ता जीव, अपने सुख दुखका स्वयं जिम्मेदार है अन्यको दोष देना गलत है। इस तत्त्वको समझ ले तो अपने परिणाम ही सुधारे, परसे वैर प्रीति न करे। इस अभिप्रायको वहाँ व्यक्त किया है।

यहाँ प्रकरण विशुद्ध ज्ञानी सम्यग्दृष्टि आत्माका है। वह उदयागत कर्म व उसके फलको रोकरके नहीं भोगता किन्तु साम्यभावसे भोगता है। अतः अपने सम्यग्ज्ञानके आधार पर दुखी संक्लिष्ट होनेसे बच जाता है।

(३२२) प्रश्न—क्या यह संभव है कि कर्मका तीव्र उदय हो परन्तु जीव तत्त्वज्ञानकी चर्चा करे और दुखी न हो ?

समाधान—जब कोई रोगी आपरेशनमें चीर फाड़का कष्ट उठा रहा है, अथवा अन्य पीड़ा से पीड़ित है, तब अल्पकालको यदि उसे निद्रा आ जाय, या नशेकी दवा दी जाय, तो निद्रित या अचेतन अवस्थामें, उपयोग रोगकी तरफ न रहनेसे दुखी नहीं होता। यद्यपि शारीरिक दुरवस्था ज्योंकी त्यों है। उसमें अन्तर नहीं पड़ा, तब विचारने पर यह सिद्ध होता है कि उतने कालतक उसका उपयोग उस ओर नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त निष्पन्न हुआ कि-जीव सुख-दुखका वेदन भी उपयोगके आधार पर करता है। अतः यदि ज्ञानी ज्ञानभावका अवलम्बनकर अपना उपयोग उस दुरवस्थासे हटा ले तो उतने काल उस ध्यानावस्थामें, वह भी कर्मोदयकी दशामें भी दुखी न होगा। यह सिद्ध है कि जब अज्ञान दशामें कष्टकी सामग्री रहते हुए भी, कृत्रित उपायोंसे कष्टका शमन देखा जाता है, तो प्रकारान्तरसे भी कष्टदशामें कष्टका शमन हो सकता है।

(३२३) **प्रश्न**—कोई अन्य उदाहरणसे समझाइए जो जाग्रत दशाका हो।

समाधान—कोई व्यक्ति व्यापारी है उसे व्यापारमें बीस हजारका घाटा हो गया। वड़ा दुखी है, दिन रात चैन नहीं है। पड़ोसका व्यापारी आकर कहता है कि भाई साहब! आप तो मजेमें रहे जो उस समय माल बेच दिया, मात्र बीस हजारका घाटा हुआ। मैंने तो लाभकी अभिलाषामें माल अधिक दिन तक रोक लिया, सो भाव उतरनेसे मुझे चालीस हजारका घाटा उतने ही मालमें उठाना पड़ा।

व्यापारी दूसरे व्यापारीकी बात सुनकर मनमें विचारता है कि घाटा तो हुआ, पर बीस हजारके घाटेसे बच गए। यदि पड़ोसी व्यापारीकी तरह करता तो मुझे भी चालीस हजारका घाटा होता। सोचकर दुख भूल जाता है, संतोष करता है। उपयोगदशा बदलनेसे ही यहाँ उसका दुख घटा। एक दूसरा उदाहरण देखें—

किसीके पुत्रका मरण हो गया। बहुत दुखी है। परिवारके तथा बन्धुवर्ग-मित्रजन उसके घर सहानुभूतिके लिए जाते हैं। उसे समझाते हैं, तत्त्वज्ञानकी ही बातें, कोई कहता है कि भाई दुख तो हुआ बहुत वड़ा, पर अब तो जो हुआ, उसे ही बार-बार सोचनेसे पुत्र आता नहीं है। तब क्या लाभ है बार-बार स्मरणसे ? याद भुलानेका प्रयत्न करो। कोई कहता है आपका तो आठ सालका पुत्र गुजरा है, मेरा तो जवान बेटा मर गया, घरमें बहू विधवा बैठी है, छोटे-छोटे बच्चे हैं। इसे सुनकर दूसरेके दुखके सामने अपना दुख कमती जानकर, दुख भूल देता है। तीसरा समझाता है कि जीवनके साथ ही मरण सुनिश्चित है। एक दिन सभी प्राणी मृत्युको नियमसे प्राप्त होते हैं। अपनी-अपनी आयुके वश सब संसारी है।

ऐसी तत्त्वज्ञानकी बातें सुनकर उसका दुख भूल गया। सिद्ध है कि तत्त्वज्ञानके सिवाय कोई अन्य मार्ग स्थायी तौर पर दुख दूर करनेका नहीं है। अतः तत्त्वज्ञानी कर्मोदय जन्य पीड़ाके होनेपर भी, वस्तु स्वभावका विचार करता है साहस करता है और उस दुखको पार कर लेता है। संक्लेश परिणाम नहीं करता अतः नवीन कर्म बन्ध नहीं करता। पुरातन भी उदयमें आकर झर ही जाते है। इसलिये ज्ञानी रागादिका भी कर्त्ता उस काल नहीं बनता, ज्ञान-भावका ही कर्त्ता होता है। ज्ञान भावके अभावमें ही रागादि विकारी भावोंका कर्त्ता व भोक्ता है। तत्त्वज्ञानके अवलम्बन करने पर ज्ञानभावका कर्त्ता और ज्ञानभावका ही भोक्ता होता है ॥१९६॥

अज्ञानपना त्याज्य है, शुद्ध ज्ञानात्मक आत्मा ही सेवनीय है—

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद् वेदको
ज्ञानी तु प्रक्किस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतः) मिथ्या दृष्टि जीव अज्ञानी है वह प्रकृति जो द्रव्यकर्म उनके उदय जन्य भावोंमें अपनी एकाग्रता या एकत्व बुद्धि कर तल्लीन हुआ (**नित्यंवेदकः भवेत्**) नित्य ही कर्मफल भोगता है । (**ज्ञानी तु**) किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष (**प्रकृतिस्वभाव-विरतः**) कर्मके उदयजन्य भावोंको निज स्वभावसे भिन्न जान उनसे विरक्त होता है, अतः (**नो जातुचित् वेदकः**) कर्मफलको कदापि नहीं भोगता । (**निपुणैः**) अतः चतुर पुरुषोंको (**इत्येवं नियमं निरूप्य**) वस्तुके यथार्थ स्वरूपके इस नियमको जानकर (**अज्ञानिता त्यज्यतां**) अज्ञानपना—पर द्रव्यों साथ एकत्व बुद्धि त्यागना चाहिए । तथा (**शुद्धैकामममये महसि**) शुद्ध एकमात्र आत्मस्वरूप निज प्रकाशमें ही (**अचलितैः**) अचल पुरुषों के द्वारा (**ज्ञानिताआसेव्यताम्**) ज्ञानपना सेवन करना चाहिए ॥१९७॥

भावार्थ—अज्ञानी अपने अज्ञान भावके कारण अर्थात् मिथ्यात्वके भावोंसे ओत-प्रोत होनेके कारण, दृष्टिके विपर्यासे कर्मके उदय जन्य विकारोंमें अपने स्वभावकी एकत्व दृष्टि तथा बुद्धि करता है, तथा एकत्व रूप परिणति करता है । अतः संक्लेश परिणामी होकर अत्यन्त दुःखी होता है । यही कर्मका वेदन करना यानी भोगना है । किन्तु ज्ञानी पुरुष स्वपरभेद-विज्ञान हो जानेपर अपना स्वभाव जानता है, और कर्म प्रकृति निमित्त जन्य, रागादि विकारी भावोंको, अपने स्वभावसे भिन्न पौद्गलिक भाव जानता है । इसलिए उसको उन विकारोंमें निजत्व बुद्धि न होनेके कारण, परिणामोंमें संक्लेश भाव उत्पन्न नहीं होता । तद्रूप परिणमन नहीं करता । अपने चैतन्य तेजके पुञ्जमें अविचलित होकर शुद्धात्माका अनुभव करना ही ज्ञानीपना है । उसमें ही लीनताको प्राप्त करना ज्ञानीका कर्तव्य है ॥१९७॥

ज्ञानी कर्मोंके उदयको जानता है, भोगता नहीं है, इसे युक्तिपूर्वक घटाते हैं—

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात्
शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानी) सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी पुरुष (**कर्म न करोति**) रागादि भाव कर्मको करता नहीं है, तथा (**न च कर्म वेदयते**) कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःखका वेदन करनेवाला, भोगनेवाला भी नहीं है किन्तु (अयं किल) यह ज्ञानी (केवलं तत्स्वभावं) कर्म तथा कर्मके फलको मात्र (जानाति) जानता है । (करणवेदनयोः अभावात्) कर्ता भोक्तापनेके अभावसे (**परं जानन्**) केवल

उसे जानता हुआ (शुद्धस्वभावनियतः) अपने शुद्ध स्वभावमें ही मगन है, उसी मर्यादाके भीतर रहता है। अतएव (स तु मुक्त एव) वह निर्वन्ध-मुक्त ही है ॥१९८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी जीव रागादि रूप नहीं परिणमता, अतः द्रव्य कर्मका भी वन्ध नहीं करता, इससे कर्मका अकर्ता है। "जो कर्ता सो भोक्ता" इस लोकोक्तिके अनुसार जब वह कर्मका कर्ता नहीं है तब उसका भोक्ता भी नहीं है।

'कर्मके कर्तृत्व भोक्तृत्वका अभाव है,' इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी कर्मके स्वभाव और कर्म फलको जानता नहीं है। ज्ञायक तो वह है, पर जैसे अज्ञानी परका स्वामित्व अपनेमें मानकर रागादि रूप परिणमता है तथा वह उसके फलस्वरूप सुख-दुःखको भोगता भी है, वैसे ज्ञानी कर्ता भोक्ता न होकर करण वेदन क्रियाओंके अभावमें तथा जानन क्रियाके सद्भावमें मात्र उनका ज्ञायक है। यह रागादि विकार रहित शुद्ध ज्ञायक स्वभावकी मर्यादामें अवस्थित होकर रहता है, अतः निर्वन्ध होनेसे मुक्त ही है ॥१९८॥

(३२४) **प्रश्न**—लोकमें यह प्रचलित है कि अज्ञानी बालक या अन्य अपढ़ व्यक्ति या पागल व्यक्ति कोई अपराध करता है तो लोग उस पर क्रोध नहीं करते, पर कोई जानकार अपराध करता है तो उसपर रोष करते, उसे अधिक अपराधी मानते हैं। आपने इस प्रकरणमें अज्ञानीको अपराधी बताया और ज्ञानीको निरपराध बताया सो क्या कारण है ?

समाधान—यहां अपराधी ही अज्ञानी माना गया है। जो अपना हित न करे, अहित करे वह शास्त्रज्ञ भी हो तो भी अज्ञानी है। जो अपने अन्तरंगसे रागादि को विकार, हानि कारक तथा हेय मानकर रागादि नहीं करता, वह यदि शास्त्रका पंडित नहीं है तो भी ज्ञानी है। अतः वह निर्वन्ध है, अहित रूप परिणत अज्ञानी वन्धन वद्ध है।

(३२५) **प्रश्न**—सम्यग्दृष्टि तो गृहस्थ भी होता है। यदि गृहस्थ ज्ञानी होनेसे निर्वन्ध और मुक्त है तब मुनि पदके कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता रह जाती है ?

समाधान—कलश १९० में भी इस प्रश्नका उत्तर दिया जा चुका है कि—गृहस्थ रागी है, घरका, धनका राग है, तथापि वह अनन्तानुवन्धी राग नहीं है जो अनन्त संसारमें उसे भटकाये। वह रागके होते हुए भी रागको अहितकारक, हानि-प्रद और त्याज्य मानता है, अतः रागसे अनन्य नहीं है, वह अल्पवन्धक होनेसे अवन्धक कहा गया है। कर्म फलस्वरूप सुख-दुःखको, वे सुख और दुःख हैं, ऐसा जानता है, पर संक्लेश परिणाम नहीं करता, क्योंकि यह 'वे कर्मके फल मेरे आत्मस्वभावसे भिन्न हैं' ऐसा जानता है, अतः उनका भी स्वामित्व उसे नहीं है। अतः वह ज्ञाता ही है उनका भोक्ता नहीं है। उदयागत कर्म फलदानसे शून्य होकर निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं इससे वह मुक्त ही है ऐसा कहा गया है ॥१९८॥

जो आत्माको परका कर्त्ता मानते हैं तथा रागादि रूप परिणमते हैं वे चाहते हुए भी मोक्ष नहीं पाते—

ये तु कर्त्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत् तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

अन्वयार्थ—(ये) जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव (तमसा[1] तताः) अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हुए (आत्मनं कर्तारं पश्यन्ति) अपनी आत्माको रागादिका कर्ता देखते हैं, अर्थात् राग-द्वेष, भाव आदि अनेकों परिणमाते हैं (मुमुक्षुतामपि) वे मोक्षकी इच्छा रखते हों तो भी (सामान्यजनवत्) सामान्य मिथ्यादृष्टियोंकी तरह (तेषाम् अपि न मोक्षः) उन्हें भी मोक्ष नहीं होता ॥१९९॥

भावार्थ—परद्रव्यके कर्तापनेका सद्भाव किसी भी द्रव्यमें नहीं है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायोंके स्वयं ही कर्ता हैं। ऐसा सिद्धान्त होते हुए भी सिद्धान्तसे अनभिज्ञ अज्ञानी, मिथ्यात्व परिणामके प्रभावसे, अपनेको परका कर्ता मानते हैं और बन्धनमें पड़ते हैं। ऐसे अज्ञानी जैन कुलोत्पन्नोंमें भी पाये जाते हैं तथा बाह्यलिंग धारण कर द्रव्य लिंगी मुनि भी बन जाते हैं। वे सच्चे जैन नहीं हैं, जैनाभास हैं। सच्चा जैन वह है जो जिनोक्त तत्त्वोंका श्रद्धानी है। ऐसे जैनाभास मोक्षके अत्यन्त अभिलाषी भी हों, तो भी मिथ्या धारणाओंके सद्भावमें, उन्हें विकारीभाव होते हैं और वे भाव ही उन्हें संसारके बन्धनमें बाँधे रहते हैं।

(३२६) प्रश्न—जीवको विकारी भाव बाँधे हैं या ज्ञानावरणादि कर्म बाँधे हैं?

समाधान—रागादि विकारी भावोंका बन्धन ही बन्धन है और उसका छूटना ही मोक्ष है। रागादि भावोंके निमित्तसे आनेवाली कार्माण वर्गणाएँ स्वयमेव ज्ञानावरणादि नाना रूप परिणमन कर जाती हैं तथा आत्माके साथ उनका श्लेषात्मक बन्ध हो जाता है। वस्तुतः विचार किया जाय तो ये कर्मबन्ध तो आते जाते छूटते रहते हैं। कार्माण वर्गणाएं पुरानी छूट जाती हैं नवीन आ जाती हैं ऐसी परम्परा अनादिसे है। इनका संयोग वियोग दोनों होते रहते हैं, पर रागादि भाव कर्म, आत्माके विकारी भाव हैं, कोई आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं हैं, आत्माके ही परिणमन हैं। अतः इनकी परम्पराका सद्भाव ही आत्माका बन्धन है, और उनकी परम्पराका अभाव ही मोक्ष है।

(३२७) प्रश्न—ज्ञानीके क्या विकारी भाव मिट गये हैं जो वह बंधक नहीं है?

समाधान—जिस ज्ञानीके जितने अंशोंमें रागादि भाव मिट गये उतने अंशोंमें वह अबंधक है, और जितने अंश रागादि हैं उतने अंशोंमें उसे बन्ध ही है। तथापि अल्प बन्ध होनेसे उसकी विवक्षा न कर उसे अबन्धक ही कहा है। पूर्ण वीतरागी ज्ञानी ही पूर्ण अबन्धक होता है।

(३२८) प्रश्न—रागादि जनक सामग्री देखकर जानकर भी ज्ञानीको राग क्यों नहीं आता?

समाधान—आत्मज्ञानके सद्भावमें रागादि आते नहीं, क्योंकि वे अज्ञान भाव हैं। जैसे सूर्यके प्रकाशमें अंधकार नहीं रहता, दोनोंका विरोध है। इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भावका विरोध है, दोनों एक साथ नहीं रहते, अतः उसे रागादि नहीं आते।

(३२९) प्रश्न—कोई अनुभूत दृष्टान्त बताइए, जब ज्ञानी जानकर भी राग न करता हो?

समाधान—दृष्टान्त तो सभीके अनुभवमें है। जैसे—१. माताको स्त्री जाति जानकर भी पुत्रको उसके साथ कामभोगका राग नहीं आता। माताको युवा पुत्रको सामने देखकर भी भोगका राग नहीं आता। क्योंकि उनकी दृष्टिमें वह हेय है।

---

१. तमसावृताः इत्यपि पाठः। स्याद्वादतरंगिणी पृ० १२८ देखें।

२. त्यागीको अभक्ष्य पदार्थ देखकर भी उसे ग्रहणका राग नहीं आता। क्योंकि वह उसे हेय मानता है।

३. प्यासेको भी गंदला पानी देखकर जानकर भी उसे पीनेका राग नहीं आता। वह जल उसे अपेय होनेसे हेय है।

ये सब लौकिक दृष्टान्त हैं जिनसे सिद्ध है कि जिस पदार्थ पर उसकी हेय दृष्टि है उस पदार्थ का ज्ञान होने पर भी उस पर राग नहीं आता। इसी प्रकार ज्ञानीको ज्ञान मात्र आत्मा ही उपादेय है अन्य सब हेय हैं, अतः उनको देखकर भी उसे उनपर राग नहीं आता। जबकि अज्ञानी को आता है।

(३३०) **प्रश्न**—कर्तृत्वके अभावमें भी भोक्तृत्व देखा जाता है। जैसे—नेत्र सामने वाले पदार्थोंको देखता है, जानता है, उनका कर्त्ता नहीं है तथापि उनका भोक्ता तो है। नवीन चलचित्रको देखकर आनन्द आता है। नाटक-तमाशे, सुन्दर बाग बगीचे—प्राकृतिक विविध प्रकारके दृश्योंकी सुन्दरता, इन सबको देखकर उनका आनन्द नेत्र लेते हैं? यही तो उन पदार्थो का भोगना है। अतः पर कर्तृत्व न होने पर भी नेत्रमें पर भोक्तृत्व तो है ही?

समाधान—नेत्र तो उनके ज्ञानका ही कर्त्ता और ज्ञानका ही भोक्ता है। उन पदार्थोंका कर्तृत्व नहीं है यह आपने स्वीकार किया है। अब यह भी स्वीकार करने योग्य है कि वह उन पदार्थोंका भोक्ता भी नहीं है, मात्र ज्ञाता है।

(३३१) **प्रश्न**—यह स्वीकार करने योग्य नहीं है। हम सभी पंचेन्द्रियोंके द्वारा जिन-जिन विषयोंकी उपलब्धि करते हैं उन सभीके कर्त्ता न होकर भी भोक्ता हैं ही। यदि भोक्ता न होते तो आचार्य चरणानुयोग ग्रंथोंमें पंचेन्द्रियोंके विषयोंका त्याग क्यों कराते हैं? जब जीव ज्ञाता मात्र है और ज्ञानसे बन्ध नहीं होता तब तो सभी जीव पंचेन्द्रियोंके विषयोंके अभोक्ता ही ठहरे। वे उनको इन्द्रियोंसे जानते ही तो हैं। साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंमें पंचेन्द्रिय रोध है तो क्या इसका अर्थ इन्द्रिय भोगोंका त्याग नहीं है?

समाधान—नेत्रादि सभी इन्द्रियां तो मात्र ज्ञायक हैं। उनका ज्ञान होनेके बाद यदि आत्मा उनका ज्ञायक मात्र रहे तो निर्बंध ही रहेगा। पर ऐसा न होकर यदि वह उन्हें रागका या द्वेषका विषय बनाता है, रागद्वेषके कारण उन्हें इष्ट अनिष्ट मानकर विषम स्थितिमें आता है, तब वह बंधन प्राप्त करता है।

इन्द्रियोंका कार्य ज्ञानात्मक ही है। वे ज्ञानोपयोगकी साधन हैं, तथापि उनके अवलम्बनसे पदार्थ ज्ञान करके रागादि करना बन्धका कारण है। ज्ञान बंधका कारण नहीं है। ज्ञानी उनका ज्ञानमात्र करता है, अतः अबंधक है। पर रागी उनसे राग भी करता है अतः बन्धक है।

आचार्योंने राग ही छुड़ाया है, ज्ञान करनेका निषेध नहीं किया। पंचेन्द्रियोंके द्वारा इन विषयों, पदार्थोंमें रागका त्याग करना पंचेन्द्रिय रोध है। सभी साधारण संसारी मिथ्यादृष्टि जीव, मात्र ज्ञाता ही नहीं रहते, वे रागद्वेष भी करते हैं; अतः रागादिके कारण बंधक होते हैं ज्ञानके कारण बंधक नहीं होते। चरणानुयोग अध्यात्म दृष्टिका ही पोषक है।

साधु भी संसारके सम्पूर्ण दृश्य देखते हैं। गीत और गालियाँ दोनों सुनते हैं। स्वादिष्ट और कड़वे दोनों आहार करते हैं। सुगन्धित पुष्प तथा मलमूत्रादि की दुर्गन्ध दोनों सामने आने पर उनका ज्ञान करते हैं। कठोर और नरम भूमिका स्पर्श भेद भी जानते हैं। उनकी इन्द्रियाँ इन सबका ज्ञान करती हैं पर इनमें साधु समत्वका बोध रखता है, भेद नहीं करता। अतः रागादिका अभाव होनेसे साधु इनके भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता हैं।

(३३२) **प्रश्न**—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा न जानना, अज्ञान भाव है। सुन्दर-असुन्दर दोनोंको समान जानना—सुगन्ध दुर्गन्धका भेदज्ञान न कर दोनोंको एक जानना—गीत और गालीमें एकत्व बुद्धि करना, यह सभी क्या ज्ञायक आत्माके लक्षण हैं? हमारी समझमें जैसे अज्ञानी बालक कंचन कांचका भेद न जानकर कंचनको भी कांचकी तरह फेंक देता है, साधु भी यदि उस कंचन कांचके भेदको न जानकर, दोनोंको समान मानता है, तो वह बालककी तरह अज्ञानी ही है। उसे ज्ञानी कैसे कहना चाहिए?

समाधान—साधु जानता सब है—सुगन्ध क्या है, दुर्गन्ध क्या है, कंचन कौन है, कांच कौन है, गीत क्या है और गाली क्या है, यह भेद वह सब जानता है। इनका उसे अज्ञान नहीं है तथापि वह समदृष्टि है। इनको राग द्वेषका विषय नहीं बनाता अतः समदृष्टि है।

जीवको 'मात्र जीव है' ऐसा जानता है। पुद्गलको 'मात्र पुद्गल है' ऐसा जानता है। जीवकी विविध पर्यायों—बाल-वृद्ध-युवा-स्त्री-पुरुष आदि भेदोंको जानता हुआ भी, इन अवस्थाओं में मोहित नहीं होता। जबकि अज्ञानी, जीवको जीव-सामान्यकी दृष्टिसे न देखकर, पर्याय मात्र देख उनमें मोहित होता है। 'ये सब जीवकी पर्यायें हैं' ऐसा न जानकर, उनमें ये मेरे भोग योग्य हैं, ऐसा मानकर अज्ञानी राग करता है। वह ज्ञान करता है पर रागकी भूमिकामें ज्ञान करता है, अतः उसका ज्ञान दूषित है, वह अज्ञान है। ज्ञानी उनका ज्ञान तो करता है, स्त्री को स्त्री जानता है, संगीतको 'यह संगीत है' यह भी जानता है, 'गालीको यह दुर्वचन है' यह भी जानता है, तथापि उस ज्ञानके साथ राग द्वेष नहीं हैं, अतः उसका ज्ञान निर्दोष है। निर्दोष ज्ञानी-ज्ञानी है, और सदोष ज्ञानी ही अज्ञानी है। उनकी निर्दोषता ही अबन्धक हैं तथा दूसरोंकी सदोषता ही बन्धन कारक है।

(३३३) **प्रश्न**—भक्ष्य अभक्ष्य दोनोंमें भेद न कर, उनका खाने वाला, तथा माता और पत्नी दोनों में भेद न कर उनसे विषय सम्बन्ध करने वाला भी दोनोंमें समदृष्टि है। क्या वह भी अबंधक है?

समाधान—वह तो घोर बंधक है। उसने रागकी तीव्रतामें विज्ञान खोया है। वीतराग भावकी समत्व दृष्टि ही उपादेय है। रागकी समत्व दृष्टि घोर बंधका कारण है। ज्ञानीकी समत्व दृष्टिमें और अज्ञानीकी समत्व दृष्टिमें यही महान् अन्तर है। ज्ञानीका समत्व त्यागके लिए है, अज्ञानीका समत्व भोगके लिए है।

ज्ञानी कांच-कंचन समान जानता है इसका यह अर्थ नहीं है कि वह दोनोंको पहिचानता नहीं है। पहिचानता है तथापि दोनों पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं, अतः राग द्वेष करने योग्य नहीं हैं, ऐसी उसकी श्रद्धा है। इसी प्रकार वह भक्ष्य-अभक्ष्यमें विवेक रखते हुए भी उसे हेय मानता है।

अज्ञानी राग द्वेषकी भूमिकाके कारण उनमें भेद भाव करता है। उसका भेद भाव ज्ञान मूलक नहीं है रागमूलक है। इसी प्रकार उसका समत्व रागमूलक है ज्ञान मूलक नहीं है। किन्तु वीतरागीका भेद, ज्ञान मूलक है, रागमूलक नहीं तथा समत्व भी ज्ञान मूलक है, राग मूलक नहीं। यही दोनोंके सम्बन्ध तथा निर्बन्धपनेका कारण है।

निश्चयसे प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्यायका कर्त्ता और भोक्ता है। परपदार्थकी पर्यायका कर्त्ता भोक्ता नहीं है। रागी अज्ञानी भी अपने राग और अज्ञान भाव रूप पर्यायका कर्त्ता भोक्ता है, वह भी परका कर्त्ता भोक्ता नहीं है। तथापि वह अपनेको परका कर्त्ता भोक्ता मानता है, यही उसका अज्ञान है। उस अज्ञानके कारण ही वह कर्म वन्धक है, और ज्ञानी-बंधसे रहित है ॥१९९॥

पर द्रव्यका कर्तृत्व क्यों निषेध किया गया है? इसका क्या हेतु है—

नास्ति सर्वोऽपि संबन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसंबन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

अन्वयार्थ—(**परद्रव्यात्मतत्त्वयोः**) आत्मा नामक तत्त्वका अपनेसे भिन्न किसी भी चेतन अचेतन पदार्थोंसे (**सर्वोऽपि सम्बन्धः नास्ति**) किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। अतः (**कर्तृकर्मत्व-सम्बन्धाभावे**) जब परके साथ कर्त्ता कर्म सम्बन्ध भी नहीं है तव (**कुतः तत्कर्तृता**) आत्माके पुद्गल कर्मकी कर्तृता कैसे होगी ॥२००॥

भावार्थ—यदि द्रव्योंमें परस्पर कर्त्ता कर्म सम्बन्ध हो तो एकको कर्त्ता अन्यको कर्म कहा जावे। किसी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ कर्त्ता कर्मपना नहीं है, यह एक सामान्य नियम है। आत्मा नामक द्रव्य भी इस सामान्य नियमसे नियमित है, वह उसका अपलाप नहीं कर सकता। ऐसी वस्तु स्थिति है, अतः आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोका कर्त्ता नहीं होता।

(३३४) **प्रश्न**—रागादि भावोंको वे पौद्गलिक हैं, ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। और उनका कर्त्ता तो जीव ही है, क्योंकि जीवमें ही रागादि क्रोधादि भाव पाये जाते हैं, पुद्गलमें नहीं। तब यह नियम जो ऊपर कहा है खण्डित होता है। जीव पौद्गलिक और रागादिका कर्त्ता सिद्ध हुआ?

समाधान—रागादि जीवकी ही अशुद्ध पर्याय हैं। पुद्गलकी पर्याय नहीं। रागादि तो स्वतंत्र द्रव्य भी नहीं हैं। तव जीवकी पर्यायका कर्ता तो जीव ही होगा। तथापि अशुद्धावस्थामें ही जीव विकारी भावोंका कर्त्ता होता है।

रागादि पुद्गल द्रव्य नहीं हैं, तथापि उन्हें जो पुद्गल लिखा, वह अपेक्षासे कहा गया है। रागादिभाव आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे सर्वथा भिन्न अज्ञान भाव हैं, अतः अज्ञान या अचेतन होनेसे उन्हें पौद्गलिक कहा गया है। अथवा रागादि भाव, पुद्गल कर्मोदय जन्य नैमित्तिक भाव हैं, इससे निमित्तकी प्रधानतासे भी पौद्गलिक कहा गया है। उपादानकी दृष्टिसे वे जीवोपादान हैं, पर शुद्ध जीवोपादान नहीं, अशुद्ध जीवोपादान हैं। अतः अशुद्ध जीव ही उनका कर्त्ता है और अशुद्ध जीवकी पर्याय होनेसे वे जीवके कर्म हैं। सिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलसे सर्वथा भिन्न द्रव्य होनेसे उसका कर्त्ता कदापि नहीं है।

(३३५) **प्रश्न**—लोकमें तो पर कर्तृत्व माना जाता है?

समाधान—लोक कथन परमार्थ नहीं होता। यदि परमार्थतः परकर्तृत्व स्वीकार किया जाय तो ईश्वरको सृष्टिकर्तृत्व कथन करनेवालोंको भी यथार्थवादी मानना होगा।

(३३६) **प्रश्न**—पर कर्तृत्व माननेसे तथा ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता मान लेनेसे, मोक्षमार्गमें क्या बाधा पड़ती है ? पञ्चमहाव्रतादिरूप चारित्रके पालनेमें कोई बाधा इससे नहीं पड़ती ?

समाधान—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रात्मक है। सम्यग्दर्शन पदार्थ व्यवस्थाका यथार्थ दर्शन है। उसके विना ज्ञान भी मिथ्याज्ञान और चारित्र भी, भले ही वह महाव्रतादि पञ्चक ही हो, मिथ्या चारित्र ही है। ऐसी वस्तु स्थिति होनेसे, तत्त्वकी विपरीत मान्यता वाला अपना ज्ञान भी मिथ्या बनता है, और तदनुसार ही आचरण करता है। ऐसे मिथ्या दर्शन-ज्ञान और चारित्र तो मोक्षके मार्ग नहीं होंगे, संसारके ही मार्ग होंगे। परकर्तृत्वके मिथ्याभिमानको छुड़ानेका फल, जीवको उसके स्वकर्तृत्वका बोध ही है। यही स्वावलम्बन उसकी मुक्तिका एकमात्र मार्ग है। इसलिए पर कर्तृत्व या ईश्वर कर्तृत्व आदि मिथ्या मान्यताएँ मोक्षमार्गके लिए बाधक ही हैं यह सिद्ध हुआ। कलश १३७ और १४२ में भी इस तथ्यका वर्णन है ॥२००॥

उक्त कथनका पुनः पोषण करते हैं—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ॥
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च[1] तत्त्वम् ॥२०१॥

अन्वयार्थ—(**यतः इह**) क्योंकि इहलोकमें (**एकस्य वस्तुनः**) एक वस्तुका (**अन्यतरेण सार्धं**) किसी अन्य पदार्थके साथ (**सकलः अपि सम्बन्धः**) सभी प्रकारके सम्बन्ध (**निषिद्ध एव**) निषेधरूप ही हैं। (**तत्**) इसलिए (**वस्तुभेदे**) दोनों वस्तुओंमें सर्वथा भेद होनेपर (**कर्तृ कर्म घटना नास्ति**) कर्त्ता कर्मपनेकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए (**मुनयश्च जनाश्च**) मुनिजन तथा सामान्यजन भी (**तत्त्वम्**) जीवको वस्तुको (**अकर्तृ पश्यन्तु**) अकर्त्ता ही देखें। अथवा स्वतत्त्वको अकर्त्ता ही देखें ॥२०१॥

भावार्थ—जीव द्रव्यको शुद्ध नयसे देखनेपर उसका पुद्गल द्रव्यसे किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वे दोनों परस्पर विरोधी स्वभावके हैं। जीव सचेतन है, पुद्गल अचेतन है। पुद्गल मूर्त्तीक है—जीव अमूर्त्तीक है। शुद्ध जीव असंख्य प्रदेशी है, शुद्ध पुद्गल एक प्रदेशी है। पुद्गल रूप-रस गन्ध स्पर्श आदि गुणवाला है—जीव अरूप, अरस, अगंध, अस्पर्श स्वरूप है। पुद्गल इन्द्रियग्राह्य है, जीव इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार दोनोंमें वस्तुभेद है।

वस्तुभेदकी स्थितिमें उनमें परस्पर किसी भी प्रकारसे तादात्म्य सम्बन्ध, गुण-गुणी सम्बन्ध, लक्ष्य-लक्षणभाव, वाच्य-वाचक, विशेष्य-विशेषण, आदि सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होते, तब कर्त्ता-कर्मपनेका सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा ? अतः मुनिजनोंसे तो अनुरोध किया ही है, सामान्य जनोंसे भी आचार्य कहते हैं कि—आत्माको परका अकर्त्ता ही जानो यही हितकर है ॥२०१॥

---

१. जनः स्वतत्त्वम् इति पाठान्तरम्।

जो ऐसे वस्तुस्वभावको अंगीकार नहीं करते वे ही अपनी विपरीत मान्यताके कारण कर्मबन्ध करते हैं—

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानमग्नमहसः ये**) अज्ञान भावसे लुप्त है स्वयं चैतन्य प्रकाश जिनका ऐसे पुरुष (**इमं स्वभावनियमं**) इस कथित वस्तुके अकर्तृपनेके स्वाभाविक नियमको (**न कलयन्ति**) स्वीकार नहीं करते (**बत ते वराकाः**) खेद है कि वे बेचारे (**कर्म कुर्वन्ति**) अज्ञान रूप शुभाशुभ कर्मको करते हैं (**ततएव भावकर्मकर्त्ता स्वयं चेतन एव भवति**) अतः रागादि भाव कर्मका कर्त्ता स्वयं जीव ही होता है (**न अन्यः**) अन्य पुद्गलादि उनके कर्त्ता नहीं हैं ॥२०२॥

भावार्थ—इसका भाव पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि अज्ञानी जन ही परका कर्तृत्व स्वीकार कर अपनेको परका कर्त्ता मानते हैं। परन्तु आत्मामें और पुद्गलरूप परमें तो भिन्न-भिन्न वस्तुत्व है। एक वस्तु दूसरी वस्तुको नहीं बना सकती—उसके गुणोंसे भी भिन्न रहती है—और परिणमन भी अपनेमें ही होता है।

तथापि इस असत्य सनातन, व्यापक नियमको जो स्वीकार नहीं करते, वे परमें इष्टानिष्ट कल्पना कर परकर्तृत्वके अहंकारसे, उनपर अपना स्वत्व प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु यह स्वामित्व तो परके ऊपर कदापि संभाव्य नहीं है, अतः वे दुखी होते हैं। रागी, द्वेषी, क्रोधी बनते हैं। सिद्ध हुआ कि यह अज्ञानी भी अपने अज्ञान जनित रागादिक भावकर्मका ही कर्त्ता है, द्रव्य कर्मका कर्तृत्व तो उस दशामें भी नहीं है ॥२०२॥

भिन्न-भिन्न द्रव्य, भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, अतः उनमें कर्त्ताकर्मपना नहीं होना ऐसा सिद्ध कर देने पर कोई शिष्य कहता है कि—रागादि भाव किसके कर्म हैं इसका स्पष्टीकरण होना चाहिए। आचार्य इस प्रश्न का तर्क संगत उत्तर देते हैं—

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगाकृतिः[1] ।
नैकस्याप्रकृतेरचित्त्वलसनात् जीवोऽस्य कर्त्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत् पुद्गलः ॥२०३॥

अन्वयार्थ—(कर्म अकृतं न) रागादि भाव कर्म विना किए नहीं होते क्योंकि (कार्यत्वात्) वे कार्य हैं। (तत्) वह कार्य (जीवप्रकृत्योः द्वयोः न) जीव और प्रकृति अर्थात् पुद्गल कर्म, दोनोंने मिलकर किया है ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर (अज्ञायाः प्रकृतेः [illegible]

---

१. भावानुषंगात् कृतिः इत्यपि पाठः ।

रहित जड़ प्रकृति अर्थात् द्रव्य कर्मको भी (**स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगाकृतिः**) कर्मके फलस्वरूप सुख-दुख रूप फल भोगनेका सम्बन्ध प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि (**एकस्याः प्रकृतेः**) केवल प्रकृतिका कार्य रागादि भाव कर्म है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि (**अचित्त्वलसनात्**) प्रकृति अचेतन है जबकि रागादि भाव सचेतन है। (**ततः जीवः अस्य कर्त्ता**) इसलिए जीव ही रागादि भावकर्म का कर्त्ता है। (**चिदनुगं**) अशुद्ध चैतन्य सहित ये रागादि (**जीवस्यैव कर्म**) जीवके ही कर्म हैं (**यद् पुद्गलः ज्ञाता न**) पुद्गल तो ज्ञाता नहीं जड़रूप है अतः वह विकृतचैतन्य रूप, भाव कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता ।।२०३।।

भावार्थ—कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म। ज्ञानावरणादि अष्ट प्रकार जो द्रव्य कर्म हैं, वे पौद्गलिक कर्मवर्गणाओंसे वनते हैं। वे तो अचेतनोपादान होनेसे अचेतन, जड़रूप ही हैं। उनका यह त्रिकाली स्वभाव है। उनमें कभी चैतन्यरूप परिणमन नहीं हो सकता।

भाव कर्म—जीवके विकारी भाव हैं, वे चैतन्य के साथ पर्याय दशामें एक रूप होते हैं, चैतन्यको छोड़कर नहीं होते। चैतन्यकी संगतिके विना नहीं होते। अतः वे चेतनके भाव होनेसे जड़ या अचेतन नहीं हैं चेतनोपादान होने से वे त्रिकालमें भी जड़ रूप नहीं बनते।"**भाव कर्माणि चैतन्यविवर्त्तानि इति भान्ति नुः। क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथञ्चित्तदभेदतः**" ऐसा विद्यानंदि आचार्यने आप्तपरीक्षामें स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

ये रागादि रूप भाव विना किए नहीं होते क्योंकि ये कार्य हैं। एक कार्यानुमान है। कर्तृत्व और कार्यमें परस्पर अविनाभाव है। इनमें अन्वय-व्यतिरेक दोनों पाए जाते हैं। जो-जो कार्य हैं वे विना किए नहीं होते जैसे गृहादिक, यह अन्वयव्याप्ति है, जो दोनोंमें पाई जाती है। चूंकि रागादि भी अनाद्यनन्त नहीं हैं, वे उत्पन्न-ध्वंसी हैं, कार्यरूप हैं अतः वे कृत हैं। इसीप्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी पाई जाती है जैसे जो कृत नहीं हैं, अर्थात् किये या वनाये नहीं जाते, वे कार्यरूप भी नहीं होते, जैसे आकाशादि पदार्थ। दोनों व्याप्तियोंसे सिद्ध है कि रागादि भाव कार्य हैं—किए गए हैं।

(३३७) **प्रश्न**—रागादि किसके कार्य हैं? शुद्ध जीवका स्वभाव तो रागादि हैं नहीं। अशुद्ध जीवमें वे पाए जाते हैं, अतः ये जीव और प्रकृति (द्रव्य कर्म) दोनोंके मेलसे उत्पन्न संयोगज भाव जानना चाहिए?

समाधान—वे रागादिक दोनोंके कार्य नहीं हैं। दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं वनाते। यदि दो का कार्य होता तो उसके फल सुख-दुखादिके भोक्ता भी, आत्मा व कर्म दोनों होते। जैसे हलदी चूना मिलाने पर रक्तवर्णता हलदीके अंशों पर भी आती है और चूनेके अंशों पर भी आती है। वैसे ही यहाँ भी दोनों कर्मका फल भोगते। पर फल केवल आत्मा भोगता है। जड़ नहीं भोगता। अतः दो का मिलकर यह कार्य नहीं है ऐसा सिद्ध है।

(३३८) **प्रश्न**—तो केवल कर्मका कार्य रागादि हैं क्या?

समाधान—नहीं प्रकृति या पुद्गल, ज्ञानरहित है, अचेतन है, और रागादि चेतनमें होते हैं। अतः वे कर्म के कार्य नहीं हैं।

(३३९) **प्रश्न**—प्रकृतिके कार्य होने पर भी यदि विकार चेतनमें होता है तो होने दें, इसमें क्या आपत्ति है ?

समाधान—जिसका कार्य होता है फल भी उसीको प्राप्त होता है यह नियत है अतः यह कर्मका कार्य नहीं है। वह तो जिसमें होता है उसीका कार्य है। अशुद्ध जीवमें ही रागादि भावकर्म होते हैं, अतः वह जीव ही उनका उपादान हेतु है, और वही उनके फल सुख-दुखको भोगता है, अन्य नहीं।

(३४०) **प्रश्न**—क्या शुद्ध जीव कुछ भिन्न ही पाए जाते हैं और अशुद्ध जीव उनसे भिन्न हैं। ऐसे क्या दो प्रकारके जीव द्रव्य पाये जाते हैं ?

समाधान—मुक्तात्मा शुद्ध दशाको प्राप्त हैं, वे भाव कर्म रहित हैं, संसारी प्राणी अशुद्ध दशामें है, वे भावकर्म सहित हैं। जीवोंकी दो भिन्न-भिन्न जाति नहीं हैं।

(३४१) **प्रश्न**—यह तो द्रव्यकर्मके संयोगमें ही संसारी भावकर्म सहित पाया जाता है। अतः द्रव्य कर्म कारण और भावकर्म कार्य ऐसा मानना चाहिए।

समाधान—यह ठीक है कि द्रव्य कर्मके संयोगमें ही जीव, रागादि भावकर्म युक्त पाया जाता है। तथापि द्रव्यकर्म पौद्‌गलिक होनेसे जीवकी अशुद्ध पर्याय रूप भावकर्मका कर्ता नहीं है, वह केवल निमित्त कारण मात्र है। निश्चयसे कारण तो उपादान कारणको ही कहते हैं, क्योंकि कार्य उसीमें होता है।

(३४२) **प्रश्न**—दो द्रव्य मिलकर एक परिणमन नहीं करते ऐसा आपने कहा है। पर मनुष्य पर्याय, देह और आत्मा दोनों की मिलकर वनी है। इनमें भेद कैसे समझा जाय ?

समाधान—यह कहा जा चुका है कि दो की मिलकर एक पर्याय कथन करना उपचार मात्र है। वस्तुतः देहकी मनुष्याकृति देहमें रहती है, वह वर्णात्मक द्रव्य है। आत्माकी मनुष्योचित भाव सहित पर्याय आत्म द्रव्यमें होती है। मृत्यु हो जानेपर आत्मा मनुष्य पर्यायसे छूट जाता है, और जिस पर्यायमें जाता है तत्सम्वन्धी आयु और नामकर्म तत्काल उदयमें आ जाते हैं। मान लो उसे देव पर्यायमें जाना है, तो विग्रह गतिमें ही वह देव संज्ञाको प्राप्त हो जाता है। अन्तर्मुहूर्तमें वह सांगोपांग देव बनकर यहां यदि आवे, तो अपने पूर्व देहकी मनुष्य पर्यायको अलगसे साक्षात् देख सकता है, अतः दोनों की समान विभिन्न पर्यायोंमें एक मनुष्य पर्याय ऐसा मात्र उपचार है ॥२०३॥

किसीने आत्माके कर्तृत्वका लोपकर एकान्तसे प्रकृतिको ही रागादिका कर्ता माना है। ऐसी मान्यता सदोष है यह वताते हैं—

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः क्षिप्त्वात्मनो कर्तृतां
कर्त्तात्मैप कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेपामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिवंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

अन्वयार्थ—(**कैश्चित् हतकैः**) किन्हीं आत्मघाती वादियोंने (**आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा**) आत्मा रागादि भावकर्मका कर्त्ता है ऐसे आत्म कर्तृत्वका लोप करके तथा (**कर्म एक कर्तृ इति प्रवितर्क्य**) जड़ प्रकृति रूप कर्म ही इसका कर्त्ता है ऐसी तर्कणा करके (**एष आत्मा कथंचित् कर्त्ता**) यह आत्मा ही रागादिभावोंका कथंचित् (**अवस्था विशेषमें**) कर्त्ता होता है" (**इति अचलिता श्रुतिः**) ऐसी दृढ़तम जैन श्रुतिको (**कोपिता**) विराधित किया, अर्थात् उस श्रुतिका विरोध किया है। (**उद्धतमोहमुद्रित धियाम् तेषाम्**) उत्कट तीव्र जो मोह अर्थात् मिथ्यात्व कर्म, उसके उदय से मुँद गई है बुद्धि जिनकी, ऐसे उन व्यक्तियोंके (**बोधस्य संशुद्धये**) ज्ञानको शुद्ध करनेके लिए (**स्याद्वाद-प्रतिबन्धलब्धविजया**) स्याद्वादके सम्बन्धसे, अनेकान्तधर्मके कारण प्राप्त है विजय जिसको, ऐसी जो (**वस्तुस्थितिः**) वस्तुकी व्यवस्था वह (**स्तूयते**) प्रशस्तकी जाती है, कही जा रही है ॥२०४॥

भावार्थ—सांख्य (कपिल) मतानुयायी, आत्मा सर्वथा नित्य, अखण्ड, चैतन्य स्वरूप ही सदा काल रहता है, तथा रागादि प्रकृतिके ही कार्य हैं, ऐसा वे मानते हैं। उनका यह कथन जैनमतके विरुद्ध है। जैनमत स्याद्वाद रूप वस्तु स्थितिका ज्ञापक है। जैतमतका कथन है कि आत्मा निश्चय दृष्टिसे रागादिका अकर्त्ता है, पर संसार दशामें रागादिका कर्त्ता आत्मा ही है। एकान्तवादियोंके मोहको दूर करनेके लिये वस्तु स्थिति आगे कही जाती है ॥२०४॥

सांख्यके उक्त कथनकी समीक्षा करते हैं—

माऽकर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्त्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधाम नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥

अन्वयार्थ—(**सांख्या इव**) सांख्य मतकी तरह (**पुरुषं अकर्त्तारम्**) आत्माको रागादिका अकर्त्ता (**अमी आर्हता अपि**) ये जैनमतानुयायी शिष्य भी (**मा स्पृशन्तु**) न स्वीकार करें। किन्तु (**भेदावबोधात् अधः**) जबतक जीवको भेद विज्ञानरूप अवबोध नहीं हुआ, तबतक नीचली अवस्थामें (**तं किल सदा कर्त्तारम् कलयन्तु**) उसे सदा 'निश्चयसे रागादिका कर्त्ता आत्मा ही है' ऐसा जाने (**ऊर्ध्वं**) भेद ज्ञानरूप सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके अनन्तर (**एनं**) इस आत्माको (**उद्धतबोध-धाम नियतं**) जब वह अपने बढ़े हुए आत्मज्ञानके तेजमें ही लीन हो जावे तब उसे (**स्वयं**) स्वयं (**च्युत कर्तृभावम्**) रागागिके अकर्त्ता रूप (**एकं परम् ज्ञातारं**) तथा केवल श्रेष्ठ ज्ञातारूप, (**अचलं**) जो कभी चलायमान नहीं होगा ऐसा (**पश्यन्तु**) देखें ॥२०५॥

भावार्थ—सांख्यकी तरह जैन भी रागादिको प्रकृति (कर्म) का कार्य स्वीकार न करें। किन्तु ऐसा मानें कि जब तक यह संसारी जीव, मिथ्यात्वकी भूमिकामें है, तब तक वह अपने ज्ञान स्वभावको न जानता हुआ, परमें इष्टानिष्ट मान, उनसे रागद्वेष मोह करता है, तबतक वह उन विभाव परिणामोंका स्वयं कर्त्ता है। किन्तु सम्यक्त्वके होनेपर भ्रम बुद्धि दूर हुई, परमें इष्टानिष्ट कल्पना दूर हुई तब, राग-द्वेष को आत्मस्वरूप स्वीकार नहीं करता, इसलिये अकर्त्ता हुआ। ऐसा अकर्तृत्व उसका सदा काल रहता है, तब उस ज्ञान दशामें आत्माको अकर्त्ता मानो। इस तरह

स्याद्वाद मतमें आत्मा कथंचित् कर्त्ता है, अर्थात् मोहके उदयमें रागादि रूप परिणत होता है। अतः अपनी उस आत्मोपादान रूप अशुद्ध परिणतिका स्वयं कर्त्ता है। वही जीव जब ज्ञानी होता है तब ज्ञानभावका कर्त्ता है। रागादि भाव कर्मका अकर्त्ता ही रहता है तब कथंचित् अकर्त्ता कहा जाता है।

एकान्तसे कर्त्ता या एकान्तसे अकर्त्ता मानें, तो या तो सदा जीव संसारी ही रहेगा, या अकर्त्ता मुक्त ही रहेगा। पर ऐसी वस्तु स्थिति नहीं है। आत्म वस्तु तो अवस्था भेदसे कथंचित् कर्त्ता और कथंचित् अकर्त्ता है। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही आत्मा कदाचित् पूर्वावस्था में रागादिका कर्त्ता भी रहता है और कदाचित् उत्तर अवस्थामें ज्ञानी बननेपर फिर स्वयं उनका अकर्त्ता हो जाता है।

(३४३) **प्रश्न**—ज्ञानावरण उसे कहते हैं—जो जीवके ज्ञान स्वभावका आवरण करे, उसे ढांके, अर्थात् जीवको अज्ञान दशामें लावे। मोहनीय उसे कहते है जो आत्माको अपने स्वभावसे भुला देवे, मोहित करे। साता-असाता सुख-दुख रूप करता हैं। गति-आयुकर्म-नाना गतियोंमें घुमाता है। निद्रा कर्म सुलाता है। इत्यादि सभी कर्मोंकी व्याख्याएँ इसी प्रकारकी हैं, सभी आचार्योंने कर्म को ही जीवकी दुरवस्थाका कर्त्ता कहा है, अतः आपका कथन जैनागमके अनुकूल कैसे है इसका स्पष्टीकरण करें?

समाधान—जरूर ऐसा ही लिखा है, पर यह कथन निमित्तापेक्षया किया है। उसका अर्थ ऐसा समझना चाहिए कि ज्ञानावरण कर्मकी जब उदयावस्था होती है तब जीव अज्ञान परिणति रूप स्वयं परिणमता है। मोहनीयके उदयके कालमें जीव अपने स्वरूपको स्वयं भूलता है। कर्म-न ज्ञान मिटाता है, न भुलाता है। कर्म निमित्त मात्र है, परिणमन तो जीवका जीवमें स्वयं ही होता है।

(३४४) **प्रश्न**—परिणमन तो जीवमें होता है यह सत्य है। पर जब जीवके ज्ञानावरणादिका उदय नहीं होता, या मोहका उदय नहीं होता—तब तो विकारी परिणमन नहीं होता। उनके सद्-भावमें ही परिणमता है। अतः कर्मके साथ ही उसका अन्वय व्यतिरेक होनेसे कर्म ही जीवके विकारका कर्त्ता मानना चाहिए ऐसा न्यायशास्त्रमें लिखा है कि—

'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः'

अर्थात् जिनमें अन्वय-व्यतिरेक मिले उनमें परस्पर कार्य कारण भाव मानना चाहिए। अतः रागादिमें कर्मका कर्तृत्व है ऐसा निश्चित होता है।

समाधान—कार्योंकी उत्पत्तिके दो कारण होते हैं—एक उपादान कारण, दूसरा निमित्त कारण। सो न्यायशास्त्रका कथन सामान्यतया दोनों कारणोंकी कारणताको प्रदर्शित करता है। इनमेंसे अन्वयव्यतिरेककी बहिर्व्याप्ति निमित्त कारणके साथ मिलती है, वह निमित्त कारण, पर पदार्थ ही होता है जो कि बहिरंग कारण है। यथार्थ अन्तरंग कारण तो स्वयं पदार्थकी उपादान योग्यता है जिसमें उक्त कार्य या परिणमन स्वयं होता है। उसके साथ कार्यकी अन्तर्व्याप्ति रूप व्याप्यव्यापक भाव है, अतः वही उसका यथार्थ कारण है।

बाह्य निमित्तमें यथार्थ कर्तृत्व हो तो—जिसमें उस कार्यकी उपादान शक्ति नहीं है—उसमें भी निमित्त अपने कर्तृत्वपनेके कारण कार्योत्पादनमें समर्थ हो जायगा, पर ऐसा होता नहीं है। जैसे मिट्टीको घटका यथार्थ कारण मानना चाहिए क्योंकि वह उपादान रूप है, स्वयं घट रूप परिणमती है। उसके साथ घटका अन्तर्व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। कुलाल (कुम्भार) उस घटका मात्र निमित्त कारण है, कर्त्ता नहीं है। यदि परमार्थ कर्तृत्व कुम्हारमें माना जायगा तो रेत, जिसमें घट बननेकी योग्यता नहीं है, उससे भी घट बना सकेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। इसी प्रकार आत्मा ही रागादिका यथार्थ कर्त्ता है। कर्मका उदय उसमें निमित्त मात्र है।

सारांश यह कि—आत्मा स्वयं रागादिका कर्त्ता, कर्मोदय निमित्तमें होता है। यही उसकी संसार दशा है। वह यदि शुद्ध नित्य मुक्त अविकारी है, तो केवल शुद्ध द्रव्य निरूपणकी दृष्टिसे ऐसा कहा जा सकता है, जिसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह कर्मोदयके दूर होने पर ऐसा अपने स्वभावके रूपमें स्वयं दिखाई देता है। अतः स्वभाव दृष्टिसे रागादिका अकर्त्ता तथा पर संयोगमें अपने विभावोंका कर्त्ता नहीं हैं। पर द्रव्यका कर्त्ता नहीं है। स्याद्वादकी भाषामें इसे ही कथंचित् कर्त्ता और कथंचित् अकर्त्ता कहा गया है ॥२०५॥

जैसे एकान्तसे नित्यपना खण्डित है, इसी प्रकार एकान्तसे आत्माको क्षणिक मानकर अन्य को कर्त्ता और अन्यको भोक्ता मानना भी विरुद्ध है। ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

क्षणिक मिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतोघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

अन्वयार्थ—(**इह एकः**) यहाँ कोई एक एकान्ती पुरुष, (**तत्त्वम् इदम् क्षणिकं**) आत्मा तत्त्व क्षण-क्षण परिवर्तन रूप ही है, नित्य कोई नहीं है (**निजमनसि**) अपनी मान्यतामें (**इति कल्पयित्वा**) ऐसी कल्पना करके (**कर्तृभोक्त्रोः विभेदं विधत्ते**) कर्त्ता अन्य और भोक्ता अन्य है ऐसा भेद करता है। (**तस्य**) उस एकान्तवादीकी (**विमोहं**) भूलको (**चिच्चमत्कार एव**) इस चैतन्यका जो कालान्तर स्थायी चमत्कार है वह (**नित्यामृतोघैः**) सदा अविनाशीपनेके अमृत प्रवाहसे (**अभिषिचन्**) सींचता हुआ (**अपहरति**) दूर करता है ॥२०६॥

भावार्थ—जैसे किसी मूर्च्छित व्यक्तिको कोई दयावान् शीतल जलसे सींचकर होशमें लावे, तब वह अपनी मूर्च्छा दूर होनेपर अपनी भूलको समझ लेता है। इसी प्रकार जो एकान्तवादी, सम्पूर्ण जगत्के तत्त्व क्षण-क्षणमें बदल जाते हैं, नित्य कोई है ही नहीं, ऐसी भूलमें हैं, उनकी भूलको नित्यताके प्रतिपादन रूपी अमृत जलसे सींचकर, यह चैतन्यकी चमत्कृति स्वयं दूर कर देती है।

(३४५) **प्रश्न**—चैतन्यकी वह कौन सी चमत्कृत क्रिया है जो क्षणिकवादकी भूल मिटाती है?

समाधान—चैतन्यात्मा-भूतकालकी घटनाओंका स्वयं स्मरण करता हुआ देखा जाता है। यदि क्षण भरमें दूसरा ही आत्मा जन्म लेता तो पूर्वकी घटनाका स्मरण कैसे कर सकता। जैसे आपके द्वारा देखी घटनाका कोई अन्य व्यक्ति, जिसने वह घटना नहीं देखी, स्मरण नहीं करता

है। इसी प्रकार जब क्षण-क्षणमें उत्पन्न आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनमें अन्वय रूपताका धारण करनेवाला कोई नित्यद्रव्य नहीं है, तब स्मरण करना असंभव है। क्योंकि आपकी मान्यताके अनुसार उनमें भी आत्मान्तरकी तरह सर्वथा भिन्नता है। किन्तु स्मरण करते हुए जीव पाये जाते हैं, अतः क्षणिकपने (अनित्यपने) का एकान्त भी खण्डित ही है। तत्त्वकी क्षण प्रतिक्षण होने वाली परिवर्तन शीलताको लक्ष्यमें रखकर, उसे कथंचित् अनित्य कहा जा सकता है, सर्वथा एकान्त अनित्य नहीं ॥२०६॥

वृत्ति (पर्याय) और वृत्तिमान् (द्रव्यका) परस्पर सम्बन्ध स्वीकार न कर, केवल निरन्वय वृत्तियोंको स्वीकारना एकान्त क्षणिकवाद है, सो ऐसा एकांतपना ठीक नहीं हैं—

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्यः इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०७॥

अन्वयार्थ—(**अत्यन्तम् वृत्यंशभेदतः**) वृत्तियोंमें अर्थात् पर्यायोंमें परस्पर अत्यन्त एकान्त भिन्नता मान लेनेसे, (**वृत्तिमन्नाशकल्पनात्**) वृत्तिमान् जो द्रव्य उसके नाशकी स्थिति प्राप्त होत है। ऐसा मानने पर (**अन्यः करोति**) कोई वृत्ति अर्थात् पर्याय शुभाशुभ कर्म करती है (**अन्यः भुङ्क्ते**) तथा कोई अन्य वृत्ति फल भोगती है (**इति**) ऐसा (**एकान्तः**) एकान्त क्षणिकपना (**मा चकास्तु**) किसीको प्रतिभासित न हो ॥२०७॥

भावार्थ—पर्यायें द्रव्यकी होती हैं। द्रव्य तो त्रिकाल रहता है पर उसकी अवस्थाएं समय-समय पर पलटती रहती हैं। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयसे अर्थात् द्रव्यकी मुख्यतासे देखो तो द्रव्य नित्य है, सदा काल रहता है। इसीको उसकी परिवर्तनशीलताकी दृष्टिसे देखो तो प्रतिक्षण परिवर्तन ही दृष्टिगोचर होता है। अतः वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। ऐसा स्याद्वाद रूप जैनमतका प्रतिपादन है।

एकान्तवादी सांख्य, द्रव्य-दृष्टिको स्वीकार करके उसीके एकान्त रूपसे वस्तु-व्यवस्था स्वीकार करता है, अतः उसे आत्मा सर्वथा नित्य शुद्ध ही ज्ञात होती है। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तु ऐसी ही है, तथापि सर्वथा ऐसी ही नहीं है। उसमें पर्याय भेद भी प्रतिक्षण प्रकट देखा जाता है, अतः सांख्यका नित्यताका एकान्त वस्तु-व्यवस्थाके विपरीत होनेसे खण्डित है।

इसी प्रकार क्षणिकता याने अनित्यता अर्थात् परिवर्तनशीलताके सिद्धान्तको, एकांतसे स्वीकार करनेवाला बौद्ध, पदार्थको पदार्थ रूपमें न देखकर केवल परिवर्तनोंको स्वतंत्र रूपमें ही देखता है। पर्यायार्थिक नयसे वस्तुको परिवर्तनशील जैनमत भी स्वीकार करता है, पर वस्तु सर्वथा क्षणिक नहीं है। उन पर्यायोंके भीतर अन्वय रूपसे द्रव्य भी पाया जाता है, अतः "वस्तु कथंचित् नित्यानित्य है" ऐसी वस्तुकी व्यवस्थाके विपरीत, क्षणिकवादियोंकी मान्यता है, अतः वह भी खण्डित है। वस्त तो द्रव्य रूप भी है और परिवर्तनशील भी है। बिना परिवर्तनके कोई वस्तु नहीं है, और बिना आधारभूत वस्तुके परिवर्तन भी नहीं होते।

ऐसा न मानने पर यह दोष स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि पाप करेगा प्रथम समयकी पर्याय व्यक्ति, और फल भोगेगा किसी अन्य समयकी पर्याय रूप व्यक्ति। कर्म करेगा प्रथम सम-

वर्त्ती पर्याय व्यक्ति और चुकाना पड़ेगा अन्य किसी समयवर्त्ती पर्याय व्यक्तिको। इस तरह कर्त्ता अन्य और फलभोक्ता अन्य होगा। ऐसा न्यायविरुद्ध कार्यका प्रसंग आयगा।

(३४६) **प्रश्न**—यह बात तो जैनमतसे भी सम्मत है। वह इस प्रकार है कि पर्याय प्रतिसमय बदलती है, ऐसी मान्यता जैनधर्मकी है। कोई पर्याय दूसरे समय नहीं टिकती। तब पाप पूर्व समयकी पर्यायमें जीव करता है और फल उत्तर या उत्तरोत्तर पर्यायोंमें भोगता है। उदाहरण देखें—

नरकायुका बन्ध मनुष्यने किया, पर वह मनुष्य नरकायु कर्मका फल नहीं भोगता। मनुष्यायुके बाद जब पर्याय बदल कर नारक पर्यायमें होता है, तब ही मनुष्य पर्यायकृत पापोंका फल भोगता है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य पर्यायने पाप किए, नारकी पर्यायने भोगे।

इसी प्रकार मनुष्य तप आदि द्वारा सातिशय पुण्य बाँधता है और देवपर्यायमें उस पुण्यका फल भोगता है। बन्धकाल भिन्न है, उस कालकी पर्याय भिन्न है, और उदय काल उस प्रकृतिका भिन्न है। बन्धकालकी पर्यायमें ही उदयकालिक पर्याय नहीं आती। अतः क्षणिकवादीका मन्तव्य ही सिद्ध होता है। आपका आरोप लगाना व्यर्थ है। अन्य पर्याय कर्त्ता, अन्य पर्याय भोक्ता ऐसा आरोप तो जैनमत पर भी आता है?

समाधान—यह सत्य है कि बन्ध पर्याय और उदय पर्याय भिन्न-भिन्न कालमें होती हैं। तथापि जीव द्रव्यकी दृष्टिसे देखें तो जिस जीवने पूर्व पर्यायमें बन्ध किया था, वही जीव उत्तर पर्यायमें फल भोगता है। अतः जो कर्त्ता, सो भोक्ता, यही प्रसिद्ध हुआ। क्षणिकवादी तो दोनों क्षणोंके (पर्यायोंके) बीच, कोई जीव द्रव्य है जिसकी ये दोनों अवस्थाएँ हैं, ऐसा मानता नहीं है। इसलिए वह आरोप योग्य है। स्याद्वादी पर दोनों एकान्तोंके आरोप लागू नहीं होते॥२०७॥

क्षणिकवादीने हारके मणियोंको तो देखा, जो साथ ही हैं, पर हारके मणियोंके सूतको नहीं देखा जिसके बिना हार बनता ही नहीं। इस दृष्टांत द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितैः
आत्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः॥२०८॥

अन्वयार्थ—(**आत्मानं परिशुद्धं ईप्सुभिः अपरैः पृथुकैः अन्धकैः**) अन्य क्षणिकवादी अज्ञानी बौद्धोंने आत्माकी शुद्धताकी इच्छासे, (**कालोपाधिबलात्**) कालकी उपाधिके कारण, (**तत्रापि**) वहाँ आत्मामें (**अधिकां अशुद्धि मत्वा**) अधिक अशुद्धि स्वीकार करके (**अतिव्याप्तं प्रपद्य**) उसे अतिव्याप्ति दोषको प्राप्त होना मानकर, (**शुद्ध ऋजुसूत्रेरितैः**) शुद्ध ऋजुसूत्रनयके द्वारा माने गए विषयकी प्रेरणासे (**क्षणिकं प्रकल्प्य**) आत्माको सर्वथा क्षणिक कल्पना कर (**एषः आत्मा व्युज्झितः**) यथार्थमें इस आत्माका ही अभाव कर दिया। इसे दृष्टान्तसे समझाते हैं कि—(**निःसूत्र मुक्तेक्षिभिः हारवत्**) सूत्र रहित केवल मोतीकी ही इच्छा करने वाले जैसे हारको नहीं पाते, वैसे ही अन्वयी

भोक्ता है, यह किस अपेक्षा, ऐसे विविध नयोंसे वस्तुमें विकल्प होते हैं सो होओ। पर्याय दृष्टिसे कर्त्ता और भोक्ता भिन्न हैं। जो कर्त्ता है वह पर्याय भिन्न है और अन्य पर्यायमें वही भोक्ता है, किन्तु द्रव्य दृष्टिसे दोनों अभिन्न हैं। जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। इन विकल्पोंसे केवल वस्तुके स्वरूपकी जानकारी होती है, पर इनसे तुम्हारा लाभ नहीं है। लाभ तो अनेक शुद्ध चैतन्य परिणतियोंकी एक माला स्वरूप शुद्धात्माके अनुभवनसे है। सो सम्यग्दृष्टि पुरुष, अपने स्वरूपसे शुद्धात्मा का जैसा स्वरूप है उसका वैसा अनुभव करो।

जैसे मणिहार शोभा बढ़ाने वाला, हारको हाररूपमें अभिन्न एकाकार ही देखता है। मणि कितने हैं, किस प्रकार पिरोए गए हैं, कैसे धागेमें पिरोए गए हैं, इन विकल्पोंमें नहीं जाता यद्यपि सभी विकल्प उसमें हैं, सत्य हैं, पर वह मालाके बनानेके विकल्प हैं। उन विकल्पोंसे मनुष्यकी शोभा नहीं बनती। मात्र हारको हाररूपमें ही धारण करनेसे शोभा है।

इसी प्रकार आत्मामें विविधनयोंके आश्रयसे नाना विकल्प होते हैं। उनसे वस्तुके स्वरूप का वर्णन होता है। युक्ति पूर्वक सिद्धि होती है। तथापि इस सिद्धिसे आत्माके हितका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वह प्रयोजन तो शुद्ध चैतन्यकी परिणतियोंमें प्रोत जो शुद्ध आत्म-तत्त्व, उसके स्व संवेदनसे ही सिद्ध होता है। सो आचार्य कहते हैं कि वह चैतन्यके चमत्कारसे परिपूर्ण, चैतन्य परिणतिरूप मणियोंकी एकाकार माला ही प्रतिभासित होवे ॥२०९॥

कर्त्ता कर्मका भेद व्यवहार दृष्टिसे है निश्चयमें वे एक वस्तु रूप हैं—

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥२१०॥

अन्वयार्थ—(**कर्तृ-कर्म च विभिन्नम्**) कर्त्ता और कर्म भिन्न-भिन्न दो वस्तुओंमें होते हैं (**इति केवलं व्यावहारिकदृशा एव इष्यते**) ऐसा कथन केवल व्यवहारकी दृष्टिसे होता है। (**यदि निश्चयेन वस्तु चिन्त्यते**) यदि निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाय तो (**कर्तृ कर्म च सदा एकमिष्यते**) कर्त्ता कर्म दोनों सदा एक वस्तुमें ही इष्ट हैं। दो भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें नहीं ॥२१०॥

भावार्थ—यह कर्म है, और यह इसका कर्त्ता है। ऐसा कर्त्ता कर्मका व्यवहार भिन्न-भिन्न दो पदार्थोंमें होता है। जैसे वस्त्र एक कार्य है, और उसका बनाने वाला जुलाहा उस वस्त्रका कर्त्ता है, इस तरह कर्त्ता कर्म दोनों भिन्न-भिन्न हुए, ऐसा व्यवहारी जन, निमित्त सापेक्ष कथन करते हैं। यह कथन व्यवहारनय का है, यही ग्रंथकार लिखते हैं। निश्चयसे यदि विचार किया जाय तो कर्तृ-कर्म भाव दो पदार्थोंमें नहीं होता, किन्तु एक पदार्थमें ही घटित होता है। जैसे वस्त्र पर्याय एक कर्म है, कपास या सूत्र ही उनका कर्त्ता है। वह पर्याय कपास या सूत्रमें ही होती है, अतः कर्म और कर्त्ता एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, ऐसी उपादान सापेक्ष दृष्टि निश्चयनय की है।

(३४९) **प्रश्न**—जब जो दृष्टियां हैं—दोनों वस्तुको भिन्न-भिन्न रूपमें देखती है, तब दोनोंमें परस्पर विरोध हुआ। ऐसी अवस्थामें दोनों गलत हैं, ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है, दोनों दृष्टियां सही हैं। निश्चय उसका यथार्थ स्वरूप देखता है और व्यवहार संयोग को देखता है।

(३५०) **प्रश्न**—दो दृष्टियां किसी वस्तुका निर्णय भिन्न-भिन्न दें, तो वे दोनों ही सही कैसे हो सकती हैं ?

समाधान—अपेक्षा भेदसे दिया गया निर्णय, वस्तुकी अनेकान्तपनेकी स्थितिको प्रमाणित करता है, न कि विरोधके कारण अवस्तुको सिद्ध करता है, किन्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नय वस्तुको एक—अनेक रूप, या भेद-अभेद रूप सिद्ध करते हैं।

(३५१) **प्रश्न**—वस्तु तो जैसी है वैसी ही रहेगी। किसीके भिन्न-भिन्न वर्णन करनेसे दो प्रकार की न हो जायगी। यदि दोनों नय परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं तो उनमें कोई एक सही होगा, दोनों सही नहीं हो सकते ?

समाधान—यदि वस्तु ही दो प्रकारता रखती हो, तब एक-एक प्रकारका कथन करनेवाले अपनी-अपनी दृष्टिमें ठीक माने जायँगे।

(३५२) **प्रश्न**—आपका उत्तर स्वयं उलझन पूर्ण है, स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करता। वस्तु दो प्रकार कैसे हो सकती है ? वह भी परस्पर विरुद्धरूपताको लेकर ?

समाधान—पदार्थ स्वयं अनेकरूपताको लिए, विरोधी धर्मोंको अपनाए हुए है। नय विवक्षाएँ तो उस उलझनको सुलझाती ही हैं।

(३५३) **प्रश्न**—व्यवहार नय झूठा है, ऐसा अध्यात्मवादी कहते हैं, अतः निश्चयकी बात ही यथार्थ है ऐसा मानना चाहिए। दोनों सत्यार्थ कैसे हैं ? यदि दोनों सच्चे हैं तो आध्यात्मवादियोंका कथन गलत है क्या ?

समाधान—विविध दृष्टियोंसे देखनेपर पदार्थ भिन्न-भिन्न रूप दीखता है। दृष्टियोंको हटाकर देखें तो वस्तुमें कोई विकल्प नहीं है, वह निर्विकल्प है। निश्चयनय स्वाश्रित वस्तुका वर्णन करता है, अतएव कर्ता-कर्म स्वाश्रित ही देखता है। वह कार्यके उपादानको ही यथार्थ कर्त्ता मानता है, अतः द्रव्य स्वयं कर्त्ता, पर्याय उसका कर्म, वस्तुका ऐसा स्वाश्रित रूप देखना ही निश्चय नयका कार्य है। यही कारण है कि वस्त्र रूप कर्मका कर्तृत्व उसके सूत्रों पर, कुण्डलादि कार्योंका कर्तृत्व सुवर्ण पर, घटकार्यका कर्तृत्व मिट्टीपर ही वह स्वीकार करता है।

व्यवहारनय परसापेक्ष (निमित्तसापेक्ष) वस्तुको देखता है। वह कहता है कि विना जुलाहेके सूत कपड़ा नहीं वन पाता, अतः वस्त्रका कर्त्ता जुलाहा है। विना सुनारके सुवर्ण कुण्डल नहीं वन पाता, अथः कुण्डलादि कर्मका कर्त्ता सुनार है। विना कुम्भकारके मिट्टी घट नहीं वन सकती, अतः घटका कर्त्ता कुम्भकार है। निश्चय वस्तुका स्वरूप कहता है, अतः सत्यार्थ है। व्यवहारनय उसके संयोग और निमित्तकी अपेक्षा वस्तुका कथन करता है, इसलिये सत्यार्थ है। इसीको दृष्टि भेद कहते हैं। दोनों दृष्टियोंमें भेद-होते हुए भी दोनों स्थितियाँ यथार्थ हैं, अतः उनमें स्याद्वादकी दृष्टिसे विरोध भी नहीं है। कथन मात्रका विरोध है।

(३५४) **प्रश्न**—इसमें तो कथन मात्रका भी विरोध नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है ?

समाधान—आप अपने पिछले प्रश्नोंको पढ़ें और इस प्रश्नको पढ़ें, दोनोंमें स्वयं विरोध दिखाई देगा। आपने पहिले प्रश्न किया था कि दोनों नय विरुद्ध कथन करते हैं, अब आप कहाँ पहुँचे जो कहते हैं कि कथनमात्रमें भी विरोध नहीं है?

(३५५) **प्रश्न**—विरोध सा दीखता था, पर विचार करने पर विरोध नहीं ठहरता। अतः हम इस नतीजे पर पहुँचे कि अध्यात्म वादियोंका यह कथन ही गलत है कि 'व्यवहारनय झूठा है'?

समाधान—वह कथन भी सही है गलत नहीं है।

(३५६) **प्रश्न**—आप सभीको सही कह देते हैं। क्या गलत कुछ होता ही नहीं?

समाधान—हाँ, गलत कुछ होता ही नहीं है। दृष्टि भेदसे ही गलत और सही कहा जाता है।

(३५७) **प्रश्न**—क्या रस्सीको साँप, काँचको मणि समझनेवाले मिथ्यावादी नहीं हैं? वे भी सत्यवादी हैं?

समाधान—वे अपनी-अपनी दृष्टिमें सत्यवादी ही हैं। उनकी दृष्टिमें साँप और मणि ही दीखता है। जो दीखता है वही कहते हैं, उन्हें असत्यवादी कैसे कहें?

(३५८) **प्रश्न**—वे तो भ्रममें हैं—जैसा पदार्थ है वैसा नहीं देखते।

समाधान—भ्रममें हैं—यह सत्य है, पर भ्रम भी स्वयं सत्य है। यदि वह असत्य है तो 'वे भ्रममें नहीं हैं' ऐसा कहना होगा।

(३५९) **प्रश्न**—'भ्रम' कैसे सत्य है? यदि 'भ्रम' सत्य है और वह भ्रमित ही सत्यवादी है, तो जिसे 'भ्रम' नहीं है, वह असत्यवादी ठहरेगा। तब तो विपरीत ही व्याख्या हो जायगी। भ्रमरहित यथार्थ बोलनेवाला, असत्यके पापका भागी हो जायगा, और भ्रमयुक्त असत्य बोलनेवाला सत्यका पुण्य प्राप्त करेगा?

समाधान—ऐसा नहीं होगा। भ्रमवादी अपनी दृष्टिमें सत्य है, पर पदार्थके स्वरूपको यथार्थ नहीं देख रहा इसलिए असत्य है, भ्रममें है; भ्रमका फल भोगता है। इसीलिए रस्सी होनेपर भी वह भयभीत होता है। साँप समझकर मूर्च्छित हो जाता है। मणिके भ्रमवाला वैभवका अभिमान करता है। अन्तमें भ्रम दूर होनेपर अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता है।

(३६०) **प्रश्न**—भ्रम दूर होनेपर पश्चात्ताप करते हैं। अतः भ्रममें रहना ही ठीक था। ऐसा माना जाय क्या?

समाधान—ठीक नहीं था। पश्चात्तापका कारण यथार्थ ज्ञान हो जाना नहीं है। पश्चात्तापका कारण तो अपनी भूल है। न भूलकी होती, न पश्चात्ताप होता। भ्रमकालमें मणि मानकर अपनेको धनवान् मानता था सो सुखी था। पर वह मान्यता मात्र भ्रम थी, उसके पास धन नहीं था। वह उस धनसे अपनी इच्छित सुख-सामग्री नहीं पा सकता था। सिद्ध हुआ कि अपने-अपने स्वरूपकी दृष्टिसे दोनोंका अस्तित्व है। जिनका अस्तित्व है वे उस रूपमें सत्य ही माने जावेंगे।

(३६१) **प्रश्न**—सत्य असत्यको झूठा कहेगा और असत्य सत्यको झूठा कहेगा, क्योंकि दोनों-की दृष्टियाँ एक दूसरे पर ऐसी ही हैं, तब सत्यासत्यका निर्णय केवल काल्पनिक है, या यथार्थ ?

समाधान—सत्यासत्यमें कौन सत्य है और कौन असत्य है, यह विषयके अनुसार निर्णीत होता है। जैसा पदार्थ है, वैसा कथन सत्य है, तथा जैसा पदार्थ नहीं है वैसा कथन या ज्ञान असत्य है। इसीसे सत्य यथार्थ अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा (यथा + अर्थ) को जानता व कथन करता है। असत्य (अयथा + अर्थ) जैसा पदार्थ नहीं है, वैसा कथन करता है या जानता है। अतः वह भ्रमपूर्ण कहा जाता है।

(३६२) **प्रश्न**—तब अध्यात्मवादी, जो व्यवहारको असत्य कहते हैं, और आपने उसका समर्थन भी किया है, वह कैसे गलत हैं ?

समाधान—व्यवहारनय, या तत्सम्बन्धी दृष्टि, निमित्त सापेक्ष कथन करती है। कुम्भ-कारने घट बनाया है, ऐसा कहती है। वस्तुतः घट तो अपनी उपादानभूत मिट्टीसे बना है, अतः उसका कार्य है,—मिट्टी और घटमें कर्त्ता कर्मपना घटित करना चाहिए। वह पदार्थ व्यवस्थाके अनुकूल है। कुम्भार केवल निमित्तमात्र है। वह यथार्थमें मात्र अपनी क्रियाओंका कर्त्ता है। उसकी क्रियाएँ मिट्टीके घट बननेमें निमित्त अवश्य हैं, अतः निमित्तकी अपेक्षा व्यवहार नय, उसे 'कर्त्ता' और घटको 'कर्म' ऐसा कर्त्ता—कर्मभाव दो पदार्थोंमें मिलाकर कहता है। इस प्रकार व्यवहार-नयका कथन परसापेक्ष कथन है। अध्यात्म मूलपदार्थको लेकर चलता है। जब कि व्यवहार उसके पर द्रव्य रूप निमित्तको भी साथ ले लेता है। उसे मूलके साथ मिलाना तथा मिलाकर कहना ही असत्य है, अतः अध्यात्मकी दृष्टिमें वह गलत है।

(३६३) **प्रश्न**—क्या निमित्त है नहीं ? कार्योत्पत्तिमें निमित्त होता नहीं है ? केवल उपादान कारण ही कारण है, निमित्त नामक कोई कारण नहीं है ? एक ही उपादान कारणसे वस्तु बनती है ?

समाधान—बहुतसे प्रश्न आपने एक साथ प्रस्तुत किये हैं तथापि प्रश्न एक ही रूप हैं जिनका निर्णय इस प्रकार है—

प्रत्येक कार्यमें दो कारण होते हैं। उपादान कारण और निमित्त कारण। उपादान कारण कार्यका यथार्थ कारण है, जब कि निमित्त कारण केवल सहायक कारण हैं। सहायक कारण उपादानके लिए अपने कार्य प्रकट करनेमें अनुकूल पड़ता है, अतः उसे सहायक कारण कहते हैं। वह अपना कार्य तो अपनी परिणति रूपसे करता है, उपादानका कोई कार्य नहीं करता, तथापि उसकी परिणति उस कालमें उपादानको अपने कार्य सम्पन्न करनेमें अनुकूल हुई तो उसे उसका निमित्त कारण कहा जाता है।

जैसे बिजलीके स्तम्भ मार्गमें प्रकाशमान हैं, वे अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। मार्ग चलने-वाला प्रकाशके अवलम्बनसे मार्ग तय कर रहा है। विचार कीजिए तो-चलने रूप क्रिया तो यात्री की स्वयंकी है, स्वयंमें है, स्वयंके द्वारा है, और स्वयंको गन्तव्य स्थान पर पहुँचाती है। प्रकाश न उसका है, न उसमें है, न उसके कारण है, और न स्वयं यात्रीके गन्तव्य स्थान तक उसके साथ

जाता है। वह केवल स्वयं प्रकाश है, स्वयंमें प्रकाशित है, स्वशक्तिसे प्रकाशित है, स्वयं अपने स्थान पर स्थित है। यात्री और प्रकाश दोनोंके अपने-अपने कार्य हैं। अतः दोनों अपने-अपने कार्योंके कर्ता हैं, और दोनोंके कार्य उनके अपने-अपने कर्म हैं। वास्तविक दृष्टिसे दोनोंमें अपने कर्मके (कार्योंके) साथ कर्तृ-कर्म भाव हैं। तो भी अनुकूल परिणति होनेके कारण पुरुषकी यात्रामें प्रकाश निमित्त कारण है, और उन दोनोंमें भी कर्तृ-कर्म भावका व्यवहार कर लिया जाता है। यह निमित्तता तो सत्य है, पर कर्तृ-कर्म भाव उनमें सत्य नहीं हैं। अतः व्यवहारका कथन निश्चयकी अपेक्षा कथंचित् असत्य है, और निमित्तकी अपेक्षा कथंचित् सत्य है। तथापि निश्चय-नयका कथन वस्तु स्वरूप ग्राही होनेसे एकांत सत्य है।

(३६४) **प्रश्न**—तब तो जो एकांत है वह सत्य नहीं हो सकता, जैन मतकी ऐसी मान्यता है। अतः निश्चय, असत्य है। कथंचित् सत्य और असत्य ऐसा अनेकान्त स्वरूप व्यवहारनय ही सत्य है। जैनमान्यता तो एकान्तको ही अयथार्थ और अनेकान्तको ही यथार्थ कहती है। ऐसी स्थितिमें आपका कथन जैनमान्यताके विपरीत है?

समाधान—स्वरूपकी दृष्टिसे यथार्थका जो वर्णन है वह अपनेमें एकांतसे सत्य है, क्योंकि वस्तुमें स्वरूपका एकांत-सद्भाव है। स्वरूपका असद्भाव उसमें कदापि नहीं है। असद्भाव उसमें पररूपका ही है। जैनमान्यताके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने स्व-चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है, नास्तित्व तो उसमें परचतुष्टयका है, अतः उसकी अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अनेकान्तकी इस व्याख्याके अनुसार जब आप विचार करेंगे, तो निश्चयनय वस्तुके स्वरूपकी दृष्टिसे सत्य ही है। प्रत्येक एकांत नयात्मक होने पर सत्य ही होता है, असत्य नहीं। अथवा ऐसा कहिये कि प्रत्येक नय अपने स्वरूपका वर्णन करते हुये भी परनयका विरोध नहीं करता, अतः वह नय अपने विषय का एकांत प्ररूपक होकर भी अनेकान्त स्वरूप है। सत्य है।

निश्चयनय वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन करता है अतः सत्य है, यथार्थ है, वास्तविक है। व्यवहारनयके विषयको वह गौण करता है। मुख्य-गौण व्यवस्था ही नयोंके नयपनेको सामने लाती है। जैनमान्यता यदि उपादानकी मुख्यतासे कर्तृ कर्म भाव एक ही पदार्थमें वर्णित करती है, तो निमित्तका भी सर्वथा निषेध नहीं करती। निमित्त सापेक्षतामें कर्तृ-कर्म भाव भिन्न पदार्थों में बनता है, ऐसा भी वह वर्णन करती है। यही तो इस कलशमें बताया गया है। व्यवहारनयको सर्वथा झूठा ही मानते तो दोनों नयोंके विषयोंको कलशमें क्यों लिखते।

(३६५) **प्रश्न**—आपने निश्चयनयको जब सत्य,—यथार्थ, वास्तविक बताया, तब व्यवहारनय असत्य, अयथार्थ, अवास्तविक है, ऐसा ही तो तात्पर्य हुआ। तब व्यवहारनयको झूठा न मानकर 'कथंचित् सत्य' मानना यह कैसी उलझन है?

समाधान—उलझन नहीं है—विचारको गहरा कीजिये। असत्य और झूठमें अन्तर है। वह किस प्रकार है उसे समझिये। लोकमें झूठ उसे कहते हैं जो किसीको ठगनेके अभिप्रायसे अन्यथा प्रतिपादन करे। व्यवहारनय और निश्चयनयमें जो परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध-असत्य और सत्य-शब्दका प्रयोग है, उसे शब्दके अर्थकी दृष्टिसे समझिये। सत्यार्थ—उसे कहते हैं जो वस्तुकी सत्तासे सम्बन्धित अर्थको कहे। निश्चयनय "स्वाश्रितो निश्चयः" इस लक्षणके अनुसार, उपादान, जो वस्तुकी निजसत्ता स्वरूप है, उसके आश्रय वर्णन करता है, अतः सत्यार्थ है।

व्यवहारनय-वस्तुकी सत्तासे भिन्न, पर पदार्थ जो निमित्त कारण रूप है, उसके साथ कर्तृ-कर्म भावकी चर्चा करता है। निमित्त मिथ्या नहीं है, वह है तो, पर वह मूल वस्तु, जिसका वर्णन प्रकरणके अन्तर्गत है, उसकी सत्तासे भिन्न है। शाब्दिक व्युत्पत्तिके आधारपर वह "असत्यार्थ" है। इसी प्रकार 'यथार्थ' इस शब्दका अर्थ है कि यथा जैसा अर्थ याने पदार्थ, अर्थात् जैसा मूल पदार्थ है उसके आश्रित वर्णन करना। स्वाश्रित वर्णन है वह यथा+अर्थ है। व्यवहारनय मूल पदार्थको निमित्तभूत, अन्य पदार्थकी सापेक्षतासे उपचरित वर्णन करता है। वह अन्य पदार्थ मूल-पदार्थ तो नहीं है। अतः वह "अयथा-अर्थ" है, अर्थात् भिन्नार्थ है। अतः व्यवहारनयको "अयथार्थ" कहते हैं। तथा वास्तविक शब्दको देखिये—वस्तुका जो मूलरूप है उससे सम्बन्धित वर्णन "वास्तविक" है। अतः मूलपदार्थवाची निश्चयनय तो 'वास्तविक' है, और वस्तुकी सत्तासे भिन्न, परवस्तु सापेक्ष वर्णन करने वाला, केवल विवक्षित मूल वस्तु भी नहीं कहता, अतः "अवास्तविक" है।

(३६६) **प्रश्न**—पञ्चाध्यायीमें निश्चयको प्रतिषेधक कहा है और व्यवहारको प्रतिषेध्य कहा है—

'व्यवहारः प्रतिषेध्यः तस्य प्रतिषेधकश्च शुद्धनयः'

आपने कहा कि नय परस्पर सापेक्ष होते हैं, अतः अनेकान्त स्वरूप हैं। निरपेक्षतामें वे ही एकांत हो जाते हैं। आपके कथनका पंचाध्यायीकार के कथनसे मेल नहीं बैठता ?

समाधान—ऐसा नहीं हैं, उनमें अत्यन्त सुमेल है। निश्चयनय स्वाश्रित वर्णन करता है, और व्यवहार पराश्रित होनेसे स्वाश्रित वर्णन नहीं करता। तब उसका 'प्रतिषेधक' ही कहा जायगा, और व्यवहार 'प्रतिषेध्य' ही होगा। तथापि 'निश्चयनय प्रतिषेधक है' इसका अर्थ इतना ही है कि निश्चयनय, व्यवहार कथित, निमित्त रूप परवस्तुको, मूलभूत वस्तु नहीं मानता। उसके विषयको अपने विषय स्वरूप स्वीकार न करनेसे प्रतिषेधक है, ऐसा नहीं है कि उसके विषयको उसका विषय भी नहीं मानता।

व्यवहारनय स्वयं मूलवस्तुका वर्णन, पर-सापेक्ष करता है। उसकी दृष्टि तो मूलवस्तु को ही इङ्गित करती है, तथापि वह निश्चयनयकी तरह शुद्ध मूलवस्तुको ही नहीं ग्रहण करती, अतः दोनों नयोंमें प्रतिषेधक-प्रतिषेध्य भाव है। ऐसा होते हुये भी उनमें परस्पर सापेक्षता है, अतः सुमेल ही है। जैसे आगे जाने वाला पीछेसे आया है, पर अब पीछे की ओर न देखकर आगे देखता है। बढ़ता है। पर पीछे वाला आगे वालेको देखता है, उसीके पास जाता है, वह उसका विरोधी नहीं है। इसी प्रकार निश्चयनय, अन्य भिन्न पदार्थोंको छोड़कर, मूलवस्तुको पकड़ता है। अतः वह पर सापेक्ष दृष्टिका प्रतिषेधक है। व्यवहारनय परसापेक्षताके आधारसे मूलवस्तुकी ओर ले जाता है।[1] वह मूल वस्तुका वर्णन परसापेक्ष भले ही करे, पर वर्णन मूल वस्तुका ही करता है, अतः वह निश्चयके विषयका प्रतिषेधक नहीं है। इस तरह दोनों नय प्रकारान्तरसे मूल वस्तुको ही समझाते हैं, अतः सुमेल दोनोंका सुप्रसिद्ध है।

---

१. एवं व्यवहारनयोऽपि परमार्थ प्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽय।

—समयसार गाथा ८, आत्मख्याति टीका।

वस्तु-स्वरूपके जाननेमें तो दोनों ही नय प्रयोजनीय हैं। इस अपेक्षासे उनमें प्रतिषेध्य-प्रतिषेधक भाव नहीं है। परन्तु स्वानुभूतिमें, आत्मानुभवनमें, निश्चयनय एकमात्र उपादेय, तथा व्यवहारनय हेय होनेसे, इस अपेक्षा उन दोनोंमें प्रतिषेध्य-प्रतिषेधक भाव है।

(३६७) **प्रश्न**—"निश्चयनयाश्रित मुनि निर्वाणको प्राप्त करते हैं।" 'परमार्थके आश्रय करने वाले यति ही कर्मक्षय करते हैं' समयसारके इस कथनके अनुसार तो एकमात्र निश्चयनय ही परमार्थ है, वही मोक्षका हेतु है, वही ग्राह्य है, सत्य है, व्यवहारनय नहीं। तब सुमेल दोनोंका कहाँ रहा ?[1]

समाधान—निश्चयनय आश्रय करने योग्य है। वह शुद्ध आत्माका स्वरूप दरशाता है। शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्ष है, अतः उसकी उपादेयता सुनिश्चित है। व्यवहारनय अशुद्धात्माका प्रतिपादक है; 'अशुद्धात्मा' उपादेय नहीं है, अतः हेय है। ये दोनों बातें सही हैं। यह निष्कर्ष भी सही है कि निश्चय-परमार्थनयके विषयभूत शुद्धात्माका ग्रहण ही कल्याणकारी है। तथापि व्यवहारनय आत्माकी वर्तमान अशुद्धावस्थाका प्रतिपादन करता हुआ हमें अपनी हेयरूप वर्तमान दशाका बोध कराता है। अपनी दुरवस्थाकी ओर यदि ध्यान न जाय, और उसे हेय न माने तो वह छूटे कैसे ?

हेयरूप संसारी, अशुद्ध दशाका अस्तित्व, पर्याय रूपमें सत्य ही है, असत्य नहीं है। इस दृष्टिसे व्यवहारनयका विषय भी सत्य है। परन्तु द्रव्य स्वरूप शुद्ध होनेसे, पर्यायगत अशुद्धताको त्रिकाली द्रव्य स्वरूप न होनेसे, उसे असत्य भी कहते हैं। यहाँ असत्यता का अर्थ अनुपादेयता ही है। उसका सर्वथा अभाव ऐसा अर्थ नहीं है। यदि मोक्ष प्राप्ति करनी है तो अपनी संसारी दशा, जो सत्य है पर अनुपादेय है, उसकी अनुपादेयता स्वीकार करनी होगी। तभी उसे छोड़कर उपादेयभूत मुक्त दशा अर्थात् शुद्धदशा प्राप्त होगी। निश्चयके आश्रय या परमार्थके आश्रयका यही रहस्य है। यहाँ मूल कलशमें भी निश्चयकी उपादेयताके लक्ष्यसे ही, यह कहा है कि निश्चयसे यदि वस्तु विचार किया जाय तो, कर्त्ता कर्म एक ही वस्तुमें हैं।

(३६८) **प्रश्न**—कर्तृ कर्म भाव एक ही पदार्थमें रहो, या भिन्न-भिन्न पदार्थमें रहो, इससे आत्माके हित-अहितका क्या सम्बन्ध है, जिससे निश्चयके विषयको ही उपादेय मानें ?

समाधान—बहुत बड़ा सम्बन्ध है। वह इस प्रकार है—

आत्मामें ही कर्त्तापना और कर्मपना है। इसका तात्पर्य यह है कि यह आत्मा-स्वयं अपने विकार रूप भावकर्मका यथार्थ कर्त्ता है, अतः स्वयं अपनी दुरवस्थाका जिम्मेवार है। यदि वह स्वावलंबन कर, परमें अपने स्वरूपको भिन्न ज्ञातकर, सम्यग्दृष्टि वाला बने, और रागादि विकारोंको दूर कर वीतराग भावरूप परिणति करे, तो वह अपनी वीतरागभाव परिणतिका कर्त्ता होगा। वह परिणति उसका कर्म होगी। इसका ही फल आत्मशुद्धि या मुक्ति है। वही सुख है।

---

१. तम्हिट्ठिदासहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥१५१॥
परमट्ठ वाहिरा जे णिव्वाणं ते न पावन्ति ॥१५३॥
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

—समयसार कर्त्ता कर्म अधिकार।

पुद्गल कर्मका कर्त्ता आत्मा है, यह मात्र व्यवहार कथन ही है, परमार्थ नहीं है। मेरी परिणति का पर कर्त्ता है, यह भी यथार्थ नहीं है। परको दूर करनेकी चेष्टामें कभी सफलता नहीं मिलती, क्योंकि परके ऊपर मेरा अधिकार नहीं है। उसका कर्तृत्व भी मेरी परिणतिके लिए कथन मात्र था, अवास्तविक था। आत्माको संसारकी उलझनसे सुलझा लेनेका एकमात्र उपाय यही है जो वास्तविक कर्तृ-कर्म भाव है, उसे स्वीकार किया जाय। तथा जो कर्तृ-कर्म भाव दो पदार्थों में कहा जाता है, उसे 'यह उपचार कथन किसी अपेक्षा है, यथार्थ नहीं है' ऐसा जानकर त्याग किया जाय।

(३६९) **प्रश्न**—जो सत्य है उसे स्वीकार करना चाहिए। व्यवहारनयका विषय उसकी दृष्टिसे तो सत्य है। झूठा नहीं है। तव उसे भी निश्चयकी तरह स्वीकार करना चाहिए। दोनों सत्य उपादेय ही हैं। ऐसा कथन आप क्यों नहीं करते ?

समाधान—जो-जो सत्य हैं वे अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। दूसरेके स्थानके लिए सत्य नहीं हैं। जो-जो सत्य हैं, वे सव उपादेय हैं, ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा हो तो गुड़ और गोवर दोनों समान उपादेय हो जायेंगे, क्योंकि ये अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। अतः विवेकीको सत्य होने पर भी हेय—उपादेयका भेदकर, उपादेयको ग्रहण करना चाहिए, और हेयका परित्याग करना चाहिए।

(३७०) **प्रश्न**—मनुष्योंकी दृष्टिसे भोजनके लिए गुड़ उपादेय है, गोवर अनुपादेय है। पर गोवरमें होनेवाली अपनी विशेषता है, अतः जव भूमि गुड़से खराव हो जाती है तव गोवरसे लीप दी जाती है। वहाँ गुड़ अनुपादेय है गोवर उपादेय हो जाता है। एकान्त तो नहीं है ?

समाधान—आपकी वात सत्य है। इसी प्रकार मुक्तिके लिए निश्चयनयाश्रित शुद्धात्मा ही उपादेय है। व्यवहारनयका विषय अशुद्धात्मा हेय है। इसे यों कहें कि मुक्तिके लिए वीतरागता उपादेय है, रागादि हेय है। इसके विपरीत संसारी दशा कायम रखनेके लिए वीतरागता अनुपादेय है और रागादि ही उपादेय हैं। क्योंकि वे ही संसारी दशा में जीवको वनाये रखनेमें समर्थ हैं।

इसी वातको लक्ष्यमें रखकर यह स्वीकार करने योग्य है कि आत्मा—परकर्तृत्वको, उपचरित मानकर, स्वकर्तृत्वको यथार्थ मानकर, रागादिका कर्तृत्व छोड़कर, अपनी वीतराग परिणतिका कर्त्ता वने, उसे ही अपना कर्म वनावे तो उसका हित हो सकता है। यह कलशका तात्पर्य है ॥२१०॥

एक वस्तुगत कर्तृ-कर्म भाव ही यथार्थ कर्त्ता कर्म है। यह नियम घटित करते हैं—

> ननु परिणाम एव किल 'कर्म' विनिश्चयतः
> स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
> न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
> स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

अन्वयार्थ—(विनिश्चयतः) यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो (परिणाम एव) वस्तुकी पर्याय ही

(**कर्म भवति**) कर्म है। (**सः किल परिणामिन एव भवेत्**) वह परिणाम तो परिणामी द्रव्यका ही निश्चयसे होता है। (**न अपरस्य**) अन्य किसी दूसरेका नहीं होता। (**कर्तृशून्यम् कर्म इह न भवति**) कर्त्तासे रहित कर्म नहीं होता, (**न च एकतया इह वस्तुनः स्थितिः**) तथा वस्तुकी स्थिति लोकमें सदा एक सी नहीं पाई जाती (**ततः तदेव कर्तृ**) इसलिए परिणामी ही उस परिणामका कर्त्ता है ॥२११॥

भावार्थ—किसी कार्यके करनेवालेको कर्त्ता कहते हैं, और उसकी कार्य करनेकी क्रियासे निष्पन्न दशाको उसका 'कर्म' कहते हैं। यह कर्त्ता कर्मकी व्याख्या व्याकरण शास्त्रमें प्रसिद्ध है। इस व्याख्याके अनुसार—मिट्टीमें घटरूप कार्य हुआ, उसे कर्म संज्ञा प्राप्त है, यह निर्विवाद है। अब यहाँ उसका कर्त्ता कौन है? इस प्रश्नका समाधान लौकिक दृष्टिसे तदनुकूल क्रिया करनेवाला कुम्भकार उसका निमित्त कर्त्ता है, ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है। वह स्वीकृत है।

यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो कार्य निष्पन्न होनेमें क्रिया मिट्टीमें हुई है, अतः कार्यका फल भी उसीमें निष्पन्न हुआ है। अतः उस घट कार्यका कर्त्ता स्वयं मिट्टी है, कुम्भकार नहीं।

परिणाम या पर्याय एकार्थ वाचक है। उसे परिणमन या परिवर्तन भी कह सकते हैं। परिणमन रूप क्रिया, परिणमनशील द्रव्यमें हुई है, अतः वह द्रव्य ही उसका यथार्थ कर्त्ता है। परिवर्तन क्रियासे निष्पन्न फल भी द्रव्यको ही प्राप्त होता है। अन्य किसीको प्राप्त नहीं होता। कुम्भकारकी घट पर्याय कभी नहीं होती।

कर्त्ता न हो और कर्म हो ऐसा भी नहीं होता। जब कर्म है तो उसका कर्त्ता अवश्य है। यदि वस्तुमें कर्त्ता कर्मपना ही स्वीकार न किया जाय तो, 'वस्तु कूटस्थ नित्य है' ऐसा कहना होगा। परन्तु वस्तुकी स्थिति सदा एक सी न रहती है, और न दिखाई देती है। अतः सिद्ध है कि परिणाम रूप कर्मका कर्त्ता परिणामी द्रव्य ही है, अन्य कोई नहीं।

वस्तुकी नित्यता केवल द्रव्य दृष्टिसे है। अर्थात् वह द्रव्य अनादिसे है अनन्तकाल रहेगा। उस द्रव्यकी न कभी नए सिरेसे उत्पत्ति हुई है और न कभी उसका सर्वथा नाश होगा। वह सदासे है और सदा रहेगा। ऐसा सुनिश्चित होनेपर भी, वह कुछ न कुछ परिवर्तन अपनेमें करता रहता हैं। यह उसका स्वभाव है। विना परिवर्तनके उसका एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता। ये प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तन ही उसके कार्य हैं। कार्य ही 'कर्म' है और जिसके ये कार्य हैं वही द्रव्य उस 'कर्मका' कर्त्ता है। यह यथार्थ स्थिति है, जो अनाद्यनन्त है। न कभी द्रव्य (मूल वस्तु) मिटेगा और न उसका परिवर्तनशील स्वभाव मिटेगा। प्रत्येक द्रव्य अपने कर्मका स्वयं कर्त्ता है ॥२११॥

अन्य वस्तु अन्य वस्तुके परिणमनका कर्त्ता नहीं है, क्योंकि दो वस्तुओंका पृथक् सत्तापना सिद्ध है, इस हेतुसे उसे सिद्ध करते हैं—

> बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
> तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
> स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
> स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२१२॥

अन्वयार्थ—(यद्यपि स्वयं स्फुटदनन्तशक्तिः) यद्यपि द्रव्य स्वयं अनन्त शक्तिकी प्रकटतारूप (स्वयं) स्वयं ही है। (तथापि अपरवस्तुनः अन्यवस्त्वन्तरम् न विशति) तो भी दूसरी किसी भी वस्तु (द्रव्य) का अन्य वस्त्वन्तररूप परिणमन नहीं होता। एक वस्तु दूसरेमें प्रवेश नहीं करती। दोनोंके संयोग होनेपर भी (बहिर्लुठति) वह एक दूसरेकी सत्तासे भिन्न होनेके कारण उससे बाहिर बाहिर ही रहती है—(यतः सकलम् एव वस्तु) क्योंकि सभी वस्तुएँ (स्वभावनियतं इष्यते) अपने स्वभावको नहीं छोड़ती यह माना गया है, तब (स्वभावचलनाकुलः मोहितः इह किम् क्लिश्यते) दूसरे पदार्थोंको मैं बदलूं इस प्रकार अपने स्वभावसे च्युत होने रूप परकर्तृत्वके अभिमानसे व्याकुल हुआ प्राणी क्यों व्यर्थ कष्ट उठाता है॥२१२॥

भावार्थ—संसारके समस्त प्राणी अपनी-अपनी पुरुषार्थ शक्तिका उपयोग परद्रव्यके बनानेमें उसके परिवर्तन करनेमें, उसे अपनी इच्छानुकूल परिणमानेमें अनादिसे ही कर रहे हैं। यह उनका मोहित परिणाम है, भूल है। क्योंकि प्रत्येक ही वस्तु अपने-अपने स्वभावमें नियत है। चेतन सदा चेतन रहेगा। अचेतन, अचेतन रहेगा। कभी इनके स्वभाव बदलेंगे नहीं। इतना ही नहीं, किन्तु पुद्गल (अचेतन) पुद्गल रूपमें परिवर्तित होते हुए भी, तद्रूप ही परिणमेगा, जिस रूपमें परिवर्तन होनेकी उसकी अपनी योग्यता है। उसे अन्य रूपमें कोई परिवर्तन नहीं करा सकता, ऐसा वस्तु-स्वभाव है। ऐसी स्थितिमें कर्तृ-कर्म भाव निश्चयसे एक वस्तुका उसी वस्तुमें है यह सिद्ध है। "परको करूँ" ऐसा भाव अज्ञानीको आता है, पर ऐसा भाव करना मोह—मिथ्यात्व या अज्ञान का परिणाम है, अर्थात् वस्तु स्वभावकी अजानकारीका ही यह फल है।

सर्वज्ञ भगवान् अर्हन्तदेवने अपने ज्ञान बलसे वस्तुकी यथार्थ स्थिति देखी है, और बताया है कि पदार्थ स्वयं अनन्त शक्ति वाला है। उसकी अनन्त शक्तियाँ स्वयंमें, स्वयंसे हैं। उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन होना उस ध्रुव, स्थिर, कथंचित्—नित्य द्रव्यका स्वभाव है। वह सदा स्वयं परिवर्तन करता रहेगा, जो करता रहेगा वही उन परिवर्तनोंका "कर्त्ता" यथार्थमें है तथा वे परिवर्तन ही उसके कर्म हैं।

निमित्तभूत अन्य द्रव्य, उस परिवर्तनके अनुकूल ही अपनी क्रिया करे तो उस परिवर्तनका निमित्त कहा जायगा। तथापि उस निष्पन्न कार्यमें उसका प्रवेश नहीं होगा। वह बाहिर ही लोटता रहेगा, जबकि परिणामी द्रव्य परिणामोंमें पूर्ण प्रविष्ट होगा। अतः अन्तः प्रवेश करने वाला उसका यथार्थ कर्त्ता है—बाहिर ही बाहिर रहने वाला उसका यथार्थ कर्त्ता नहीं है, निमित्त-मात्र होनेसे व्यवहारीजन उसको कर्त्ता कहते हैं, पर यह मात्र उपचार कथन है।

(३७१) **प्रश्न**—उपचार कथन व्यावहारिक है या अव्यावहारिक ?

समाधान—व्यावहारिक है। व्यावहारिकताका हेतु पदार्थके परिणमनमें निमित्तका स्वयंका तदनुकूल परिणमन है। वह अपनी उस परिणतिका ही यथार्थ कर्त्ता है क्योंकि उससे वह अभिन्न है। जिस दूसरे पदार्थका वह निमित्त है उससे वह सर्वथा भिन्न है ?

(३७२) **प्रश्न**—क्या मूल वस्तुसे भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, वे सब निमित्त कहे जा सकते हैं ?

समाधान—नहीं। भिन्नता होनेसे निमित्तता नहीं है, निमित्तता तो उत्पन्न होनेवाले कार्य-के प्रति उसकी अनुकूल परिणतिका कारण है। अतः जो अनुकूल परिणत हैं, वे ही निमित्त हैं अन्य नहीं। तदनुकूल सक्रिय कुम्भकार ही घटोत्पत्तिमें निमित्त है।

(३७३) **प्रश्न**—फिर उस निमित्तको कर्त्ता क्यों नहीं कहा जाता ?

समाधान—क्योंकि वह अनुकूल परिणति करते हुए भी उस कार्यकी सीमामें प्रवेश नहीं कर पाता। जबकि उपादान उस कार्यकी सीमामें पूर्ण प्रविष्ट है। उसने कार्यके प्रति अपना सर्वस्व समर्पण किया है—उस कालमें उसकी सम्पूर्ण सत्ता उस कार्यमें ही प्रविष्ट देखी जाती है, उससे भिन्न वह अलगसे कुछ शेष नहीं है। अतः उपादान ही कर्त्ता है। निमित्त तो अपनी तदनुकूल क्रिया करनेके बाद, स्वयं स्वतंत्र रूपमें अलग खड़ा है। इस अवस्थामें उसका कार्यसे कोई सम्बन्ध नहीं देखा जाता। दोनों अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सत्तारूपमें, अपनी-अपनी परिणतिको प्राप्त दिखाई दे रहे हैं। वे जिन-जिन परिणतियोंको लिए हैं, अपनी उन-उन परिणतियोंके ही वे कर्त्ता हैं। और वे ही परिणतियाँ उनके पृथक्-पृथक् कर्म हैं। एक दूसरेके परिणमनके कर्त्ता दोनोंमें कोई नहीं हैं। तथापि जीव अपने अज्ञानके कारण, दृष्टि विपर्याससे पर द्रव्यको अपनी इच्छानुसार परिणमानेका वृथा प्रयास करता रहता है, और जब वह असंभव कार्य संभव नहीं होता तो व्यर्थ क्लेश उठाता है। संसारमें प्राणियोंके दुखका एकमात्र कारण यही भ्रम है। आचार्य करुणायतन हैं, अतः संसारी भोले प्राणियोंकी उस अज्ञानता पर द्रवित होते हुए कहते हैं कि ये बेचारे भ्रमवश क्यों दुःखी होते हैं ?

(३७४) **प्रश्न**—क्या आचार्य संसारके अज्ञानी प्राणियोंको देखकर दुखी हैं, तब तो उनका दुख संसारी प्राणियोंकी अपेक्षा बहुत अधिक है, क्योंकि संसारी तो अपने दुःखसे दुःखी हैं, परसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है। पर आचार्य अनन्त अज्ञानी प्राणियोंके दुःख देख-देखकर दुःखी हैं, अतः उनका दुःख संसारी प्राणियोंके दुःखसे बहुत अधिक कहलाया ?

समाधान—ऐसा कथन तर्कसंगत नहीं है। स्वयं दुःखका अनुभव करनेवाला संसारी उस दुःखका भोक्ता है। द्रष्टा उसका भोक्ता नहीं है, तथापि यदि करुणाभाव आवे तो वह शुभराग है, राग होनेसे वह किंचित् आकुलता ही है।

(३७५) **प्रश्न**—भगवान् केवली समस्त संसारके प्रति करुणावान् होनेसे ही हितका उपदेश करते हैं। तब अन्य जैनाचार्योंकी तरह इन्हें भी प्राणियोंके इस अज्ञानके प्रति, शुभराग रूप आकुलता होती होगी। ऐसी स्थितिमें अनन्त सुखका सद्भाव कैसे माना जायगा ?

समाधान—भगवान् केवली पूर्ण वीतरागी हैं, अतः न उनके अशुभ राग है, न शुभ राग है। रागके बिना भी प्राणियोंके सौभाग्यसे ही उनकी वाणी विकासको प्राप्त होती है, इच्छासे नहीं। अतः उन्हें शुभराग भी नहीं है।

(३७६) **प्रश्न**—भगवान्को करुणानिधान भी कहा जाता है, तो क्या वे करुणावान् नहीं है ?

समाधान—वे करुणावान् नहीं हैं। करुणा या दया शुभराग रूप है, वे रागादिसे सर्वथा रहित हैं। वे परका उपकार या अपकार नहीं करते।

(३७७) **प्रश्न**—तब हम किसलिए उनकी पूजा करें ? लोकमें पूजा या तो भक्तिसे की जाती है, जो अपने उपकारीके प्रति होती है, या इस भयसे होती है कि ये हमारा बिगाड़ न कर दें। वीतरागी जब बनाव और बिगाड़ दोनों नहीं करते, तब उनसे न लाभ है न हानि है, अतः उनकी पूजा करना भी निरर्थक है ?

समाधान—वीतरागकी पूजा, वीतराग भावको ही आदर्श मानकरकी जाती है। लाभ-हानिकी बात आप सांसारिक लाभ-हानिकी अपेक्षा सोचते हैं। सांसारिक या पारमार्थिक दोनों प्रकारकी हानि या लाभ, भगवान् केवलीसे नहीं होते, क्योंकि मूलसिद्धान्तके अनुसार वे भिन्न द्रव्य हैं, आप भिन्न द्रव्य हैं। तब वे वस्तुस्वभावसे आपके परिणमनके कर्त्ता ही नहीं हैं।

हम उनको निमित्त बनाकर अपना सुधार स्वयं करते हैं। लोकमें निमित्तको श्रेय दिया जाता है। अतः जिन वीतरागको निमित्त बनाकर अपना कल्याण प्राणी करते हैं, उनके प्रति आदरका भाव स्वयं प्रकट होता है, यही उनकी पूजाका कारण है। अतः पूजन करना निष्फल नहीं है। वे भले ही हमारा बनाव-बिगाड़ न करते हों, पर हम तो उनकी श्रद्धासे अपना कल्याण कर लेते हैं। अतः पूजा करना सार्थक है।

(३७८) **प्रश्न**—ठीक है, हम अपना सुधार कर लें, पर उनकी पूजा क्यों करें ?

समाधान—जो वीतराग भावकी स्वयं प्राप्ति चाहता है उसे वीतरागीके प्रति आदर-भाव आना स्वाभाविक ही है। अस्वाभाविक नहीं है। अतः पूजा तो स्वयं हो जाती है, करनी नहीं पड़ती। जिन्हें पूजा करनी पड़ती है, वे पूजा यथार्थमें करते नहीं हैं, कोई लोक-लज्जा कुलाम्नाय-की मजबूरी उनके सामने है, अतः करनी पड़ती है। करना और करना पड़ना दोनोंमें महान् अन्तर है।

(३७९) **प्रश्न**—सहस्र नाममें भगवान् केवली अरहन्तको 'दयाध्वजः' 'दयामूर्त्तिः' आदि नामोंसे जो लिखा है, क्या मिथ्या है ?

समाधान—जैसे भक्तिवश हम उक्त शब्दोंका प्रयोग करते हैं, वैसे उन्हें "अत्यन्त निर्दयः" ऐसा भी तो लिखा है, यह भी तो उनके अनेक नामोंमें एक नाम है।

(३८०) **प्रश्न**—'निर्दय' तो हिंसक परिणाम वालेको कहते हैं, तब ऐसा नाम उन्हें देना अज्ञानताका सूचक है।

समाधान—ऐसा नहीं है। दया राग है—उससे रहित होनेसे जैसे "वीतराग" कहना उप-युक्त है, उसी तरह 'निर्दय' कहना भी अनुपयुक्त नहीं है। दयारूप शुभरागसे सर्वथा रहित होनेसे 'अत्यन्त निर्दय' शब्दका प्रयोग किया है। उसका अर्थ "अत्यन्त वीतराग" ऐसा ही है।

वस्तुतः वीतरागी पुरुष—वीत-द्वेष भी हैं, अतः लौकिकजनों द्वारा प्रयुक्त—'दयावान् और निर्दय' दोनों शब्दोंके प्रयोग, उनके लिये नहीं किये जा सकते। फिर भी जो किये गए हैं सो उन दोनों प्रकारके परस्पर विरोधी शब्दोंका प्रयोग भी, इस बातका प्रमाण है कि वे वीतरागी वीतद्वेषी हैं। अतः दोनों विरोधी शब्द उनकी यथार्थ स्थितिके ही प्रतिपादक हैं। इनमें कोई विरोधी नहीं है। परस्पर विरोधी धर्म भी एक वस्तुमें पाये जा सकते हैं, इसका विवेचन कलश ७०-७९ में स्पष्ट रूपसे किया गया है।

(३८१) **प्रश्न**—आचार्य भी तो वीतरागी हैं, तब वे 'दुःखके या खेदके साथ कहते हैं' ऐसा प्रयोग आपने क्यों किया ?

समाधान—आचार्य जिस समय उपदेश रूप प्रवर्तन कर रहे हैं, उस समय भव्य प्राणियों पर दयाभावका उदय उनको आया है, वे उस समय शुभोपयोगी हैं, शुद्धोपयोगी वीतराग नहीं हैं।

(३८२) **प्रश्न**—फिर उन्हें वीतरागी क्यों कहते हैं ?

समाधान—अशुभराग उनका छूट गया है और शुभरागको भी छोड़ने योग्य मानते हैं, अतः वीतरागी हैं, ऐसा कहना उपयुक्त है।

(३८३) **प्रश्न**—जिसे छोड़नेलायक मानते हैं, उस शुभरागको करते क्यों हैं ?

समाधान—करते नहीं हैं, हो जाता है। वे अपनेको शुद्धोपयोगमें लगाना ही श्रेष्ठ मानते हैं, और प्रयत्न भी उसीका करते हैं, किन्तु ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र होनेसे जब शुद्धोपयोग में नहीं टिक सकते, तव शुभोपयोग स्वयं ही हो जाता है। इसीलिए वे उस करुणारूप शुभरागके कालमें, वस्तु स्थितिका, परके अकर्तृत्वका, जब विचार करते हैं, तो पर-कर्तृत्वकी मान्यताके भ्रमसे जो दुखी हैं, करुणा कर उस मार्गसे उन्हें विमुख होनेका उपदेश देते हैं ॥२१२॥

एक वस्तु दूसरी वस्तुकी मर्यादामें प्रवेश नहीं कर सकती, अतः परवस्तुको अपना कर्म मानना उचित नहीं है इसी अर्थको पुष्ट करते हैं—

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥

अन्वयार्थ—(**येन**) जिस कारणसे (**इह**) इस जगत्में (**एकम् वस्तु**) कोई एक द्रव्य (**अन्य-वस्तुनः न**) अन्य द्रव्यरूप नहीं परिणमती, (**तेन**) यही कारण है कि (**तद् वस्तु वस्तु**) वह वस्तु, वस्तु है। (**अपरः**) अन्य वस्तु (**बहिर्लुठन्नपि**) दूसरी वस्तुके बाहिर ही बाहिर रहती हुई (**अपरस्य अयम् किं करोति**) उस वस्तुका यह क्या करती है ? अर्थात् कुछ नहीं करती (**इति निश्चयः**) ऐसा निश्चय है ॥२१३॥

भावार्थ—चेतन द्रव्य वस्तुतः अमूर्तीक है। वह अन्य समस्त चेतन द्रव्योंका सजातीय होते हुए भी, उनकी सत्तासे सर्वथा भिन्न ही है। ऐसा न हो तो जीवोंकी अनन्तानन्त संख्या ही न रहेगी। सजातीयताके कारण सब एक दूसरेमें मिलकर अपनी सत्ता खो बैठेंगे। सत्ता किसीकी नाश नहीं होती, न असत् पदार्थ कभी नवीन सत्ताको प्राप्त करता है। वह अकाट्य नियम सभी मानते हैं। अतः सर्व जीव भिन्न हैं, भिन्न सत्ता वाले हैं, और सदा भिन्न-भिन्न सत्तामें ही रहेंगे। पुद्गल द्रव्य भी अपने सजातीय पुद्गलोंके साथ, एकमेक स्कंध दशाको प्राप्त हो सकते हैं, पर अपनी-अपनी सत्ता अलग-अलग रखते हैं, वे भी अपनी सत्ता विलीन नहीं करते।

जब सजातीय द्रव्य परस्पर मिलने पर भी अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं, तब विजातीय दो द्रव्य, जीव और पुद्गल तो मिली हुई दशामें भी अपनी सत्ता भिन्न रखते ही हैं। वे अपने-अपने गुण और प्रदेश तथा अपनी-अपनी पर्याय भी भिन्न-भिन्न रखते हैं। ऐसी वस्तु व्यवस्था है—सभी वस्तु अपनी वस्तुता कायम रखे हुए है। एक वस्तु दूसरी वस्तुके बाहिर ही बाहिर रहती है—दूसरेका कर्तृत्व उसमें कैसे है ? किसी भी प्रकार नहीं है ॥२१३॥

(३८४) **प्रश्न**—लोकमें ऐसा व्यवहार पाया गया है कि मैंने अमुकका उपकार किया। अमुकने मेरा उपकार किया। क्या यह मिथ्या है ? इस प्रश्नके समाधान रूपमें निम्न कलश है—

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

अन्वयार्थ—(**स्वयं परिणामिनः**) जो वस्तु अपने स्वभावसे स्वयं परिणमन शील है (**अन्य-वस्तुनः**) ऐसी किसी अन्यवस्तुका (**यत्तु वस्तु किंचन कुरुते**) कोई अन्य वस्तु कुछ करती है ऐसा कथन होता है। (**तत्व्यावहारिक दृश एव**) वह केवल व्यवहारकी दृष्टिसे ही कहा जाता है। (**निश्चयात्**) निश्चयसे तो (**अन्यत् इह किम् अपिनास्ति**) अन्य वस्तु उस कार्यमें कुछ भी करती नहीं है ॥२१४॥

भावार्थ—सामान्य संसारी जनोंमें ऐसा जो प्रवाद चलता है कि मैंने परका उपकार या अपकार किया, अथवा मैंने गृह-वस्त्र-घट-पटादि वनाए, यह केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे निमित्त सापेक्ष कथन है, परमार्थ नहीं है। परमार्थमें तो एक वस्तुका दूसरी वस्तुके परिणमनके कर्तृत्वसे कोई सम्वन्ध नहीं है।

(३८५) **प्रश्न**—क्या परमार्थमें अन्य वस्तु निमित्त भी नहीं है ? घट-पटादि कार्योंमें कुम्भकार या जुलाहा उपादान कारण नहीं है, यह परमार्थ सत्य है, पर वे निमित्त कारण तो हैं ? उन्हें निमित्त कहना भी क्या अपरमार्थ है ?

समाधान—निमित्तको निमित्त कहना तो यथार्थ है, पर निमित्तमें कर्तृत्वका जो व्यवहार है—वह व्यवहार है। व्यवहार यथार्थ नहीं है। व्यवहारको व्यवहार मानना, परमार्थको परमार्थ मानना ही सम्यग्दर्शन है। व्यवहारको परमार्थ मानना ही विपरीत दृष्टि है।

(३८६) **प्रश्न**—पर यहाँ तो ग्रन्थकार कहते हैं कि निश्चयसे एक वस्तुका दूसरेके परिणमनके कर्तृत्वसे कोई सम्वन्ध नहीं है। माना कि वस्तु स्वयं परिणमनशील है, सो इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि परिणमनशीलताकी योग्यता उपादानमें है, सो परिणमेगा तो वही, पर बिना निमित्तके कैसे परिणमेगा ? अतः परिणमनमें निमित्तकी अपेक्षा तो है, और वह यथार्थ है। तब ग्रन्थकारका उक्त कथन क्या अर्थ रखता है ?

समाधान—तात्पर्य तो स्पष्ट है कि निमित्त, अनुकूल सहायक मात्र है, न कि कर्त्ता। सहायक कर्त्ता नहीं होता, कर्त्ता तो द्रव्य स्वयं होता है।

(३८७) **प्रश्न**—मैंने अमुककी सहायतासे उक्त कार्य किया, उसके विना मैं नहीं कर सकता था। क्या यह कथन यथार्थ नहीं है ?

समाधान—किसी अन्य सहायकके अवलम्वनसे किया, यह सत्य है, तथापि किया तो मैंने ही है, अतः कर्त्ता मैं हूँ। सहायक मात्र सहायक है। उस क्रियाका कर्त्ता नहीं है। जिस सहायकका अवलम्वन मैंने किया, वह मेरे कार्यमें निमित्त है, उसको निमित्त माननेसे कोई इनकार नहीं है। मूलवस्तु अपनी पर्यायमें अपने पुरुषार्थसे ही परिणमती है। अन्य वस्तु उसे परिणमाती नहीं है।

तथापि अन्यके साथ वहिर्व्याप्ति है, यदि यह भी न हो तो उसे निमित्त भी कौन कहता ? वह भी अनिमित्तक अन्य पदार्थोंकी तरह ही माना जाता । अतः निमित्तको निमित्त माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, मानना चाहिए । न मानना अयथार्थ है । तथापि निमित्त, उपादानके कर्तृत्वकी मर्यादासे बाहिर ही रहेगा । उसके अधिकार पर अपना स्वत्व वह त्रिकालमें भी स्थापित नहीं कर सकता ।

(३८८) **प्रश्न**—आपने निमित्तको कार्यकी प्रकटतामें कुछ स्थान तो दिया । बहुतसे अध्यात्म शैलीका पठन-पाठन करने वाले तो कहते हैं, निमित्त कोई वस्तु ही नहीं है ? तो उनका कथन तो सत्य प्रतीत नहीं होता ।

समाधान—उनका कथन निश्चयकी दृष्टिसे ही है । निश्चय की दृष्टिमें निमित्त कार्यकारी नहीं है, उपादान ही कार्यकारी है । इसे ग्रन्थकार की दृष्टि स्पष्ट कह रही है । निश्चय और व्यवहार दो दृष्टियाँ पदार्थके स्वरूप को देखने की हैं । एक दृष्टिमें दूसरी दृष्टिके कथन को मिलाने से ही भ्रम होता है । प्रत्येक व्यक्ति जव परमार्थ की दृष्टिसे देखे तो परकी दृष्टि दूर होगी । पर-कर्तृत्वका अभाव होगा ।

ज्ञानीकी जव परके ऊपर दृष्टि जाती है, तव परकी यथार्थ स्थितिका बोध होता है । परन्तु वह उसे अन्य द्रव्यका कर्त्ता नहीं मानता । निमित्तमें कर्त्तापनेका व्यवहार मात्र करता है । उसे यथार्थ कर्त्ता व्यवहारी भी नहीं मानता । परमार्थ समझकर व्यवहार करना ही सच्चा व्यवहार है । अन्यथा व्यवहारको यथार्थ समझना अपरमार्थ है, उसे ही मिथ्या दर्शन कहते हैं ॥२१४॥

निश्चयकी दृष्टि क्या है ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

> शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
> नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
> ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
> किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः**) शुद्ध द्रव्यके निरूपण करनेकी मुख्यतासे प्रतिपादन करने या देखनेकी वुद्धिवाला व्यक्ति (**तत्त्वं समुत्पश्यतः**) जो शुद्ध तत्त्वका अनुभव करता है वह देखता है कि (**एकद्रव्यगतं**) उस एक द्रव्यमें (**द्रव्यान्तरम्**) कोई अन्य द्रव्य (किम् अपि) कुछ भी (**न चकास्त**) दिखाई नहीं देते, क्योंकि वे उसमें हैं ही नहीं । (**यत्तु ज्ञानं ज्ञेयमवैति**) ज्ञान जो चेतन द्रव्य है, वह जो अन्य द्रव्योंको भी जानता है, (**तदयं शुद्धस्वभावोदयः**) वह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका ही उदय है, विकास है । जव ऐसा है तो (**जनाः**) ये सव प्राणी (**द्रव्यान्तरचुम्बनाकुल-धियः**) अपने शुद्धात्मतत्वसे भिन्न ज्ञेयभूत अन्य चेतन अचेतन द्रव्योंको चुम्बन करने, अर्थात् प्राप्त करनेकी वुद्धिसे, आकुलित होकर (**तत्त्वात्किच्च्यवन्ते**) क्यों अपने शुद्धात्म स्वभावसे [illegible] हैं ? ॥२१५॥

भावार्थ—परके सम्वन्धसे रहित शुद्ध द्रव्य को देखनेवाली दृष्टि [illegible] हैं । वह स्व-परकी परस्पर सम्वन्धित दशामें भी, दोनों द्रव्यों [illegible] भिन्न-भिन्न [illegible]

है। निश्चय दृष्टिमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सत्तासे, उसके गुणोंसे, उसकी पर्यायोंसे, उसकी प्रदेश संख्यासे, सर्वथा भिन्न सत्तावाला है, भिन्नगुणों वाला है, भिन्न पर्याय तथा भिन्न प्रदेशों वाला है। एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका कभी प्रवेश नहीं होता। निश्चय दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टिको शुद्धात्मतत्त्वका अनुभव होता है। वह उस समय उसे छोड़कर अन्य कुछ भी उसमें नहीं देखता।

(३८९) **प्रश्न**—यहाँ यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि जब ज्ञान, शुद्ध चैतन्यका स्वरूप है, उसमें अन्य पदार्थ नहीं हैं, तब केवलज्ञान जो परिशुद्ध ज्ञान है, उसमें समस्त चेतन अचेतन पदार्थ किस प्रकार प्रकाशित हो जाते हैं? क्या यह चेतनमें अन्यका प्रवेश नहीं है?

समाधान—इस प्रश्नका उत्तर कलशमें ही आचार्य श्रीने दिया है, कि ज्ञानमें ज्ञेय की जानकारी होना, ज्ञानके शुद्ध स्वभावका ही विकास है—प्रकटपना है।

ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता; और न ज्ञेयको ज्ञानरूप बनाता है। ज्ञेयको जानने मात्रसे उनकी यथार्थ स्थिति ही स्पष्ट हो जाती है। उस ज्ञानमें यह स्पष्ट हो जाता है कि ये समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ मुझसे सर्वथा भिन्न, अपने-अपने स्वरूपमें प्रकाशमान हैं।

ज्ञान का कार्य ज्ञेयको जानना मात्र है। जैसे दर्पण अपने स्वरूपमें स्वच्छ है, सामनेके लाल पीले पदार्थ उसमें प्रतिबिंबित हो दिखाई दे रहे हैं, पर जो दिखाई दे रहा है, वह दर्पणके स्वच्छ स्वभावका ही प्रदर्शन है। दर्पणमें अन्य पदार्थ का प्रवेश किंचित् भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञेयके जाननेसे कोई अशुद्धता नहीं आती। जानना तो उसका स्वभाव ही है ॥२१५॥

जाननेके सिवाय ज्ञान ज्ञेयमें कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात् किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद् द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात् स्वभावः।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥

अन्वयार्थ—(**शुद्धद्रव्यस्वरस भवनात्**) शुद्ध आत्म द्रव्य जब अपने ज्ञानके द्वारा अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है, तब वह जानना उसका शुद्ध परिणमन ही है तब (**शेषं अन्यद द्रव्यंकिं स्वभावस्य भवति**) ज्ञेयभूत अन्यद्रव्य क्या ज्ञान रूप हो जाएंगे? (**यदिवा**) यदि ऐसा हो जाय (**तस्यकिं स्वभावः स्यात्**) तब आत्म द्रव्य का क्या स्वभाव होगा? इसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—(**ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति**) चन्द्रकी चाँदनी जब फैलती है तो समस्त पृथ्वी श्वेत ही दीखती है तथापि (**भूमिः न तस्यास्ति**) भूमि ज्योत्स्नाकी नहीं हो जाती। इसी प्रकार (**ज्ञानं ज्ञेयं सदा कलयति**) ज्ञान ज्ञेयको सदा जानता है, तथापि (**ज्ञेयं अस्य नैव अस्ति**) ज्ञेय ज्ञान का नहीं हो जाता ॥२१६॥

भावार्थ—आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप परिणमता है तब वह आत्मा पूर्ण द्रव्य है। उसका कोई अंश उस स्वभाव परिणमनके बाहिर, अलगसे शेष नहीं बचा रहता। न वह अन्य द्रव्य रूप कभी होता है। यदि ऐसा हो जाय तो चेतन अचेतन रूप हो जायगा। तब उसकी

चैतन्य शक्ति युक्त जो सत्ता थी.उस सत्ताका क्या होगा ? अतः सिद्ध है कि कोई द्रव्य, पर द्रव्य रूप परिणमन नहीं करता जैसे चन्द्रमाके पूर्णोदयमें समस्त पृथ्वी ऐसी दिखाई देती है, जैसे वह दूधमें नहा गई हो। वस्तुतः ऐसा दिखाई देने पर भी चाँदनी, चाँदनी रहती है, वह पृथ्वी नहीं बनती, न पृथिवी चाँदनी बनती है। इसी प्रकार ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूप परिणमन करता है तो समस्त ज्ञेय उसमें प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा होनेपर भी ज्ञानमें चेतन अचेतन द्रव्यों का प्रवेश नहीं है। ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहते हैं, और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है। वे कभी एक दूसरे रूप नहीं परिणमते हैं ॥२१६॥

(३९०) **प्रश्न**—क्या यह सत्य है कि ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता ? देखा तो यह जाता है कि ज्ञानमें सभी पदार्थ विद्यमान हैं ? अन्यथा उनको ज्ञान कैसे जानता ? इसके बिना सर्वज्ञ का ज्ञान सबको कैसे जानता ?

समाधान—ज्ञानका स्वभाव जानने का है। ज्ञेयका भी स्वभाव ज्ञानके द्वारा जाना जाये ऐसा है, अतः अपने ज्ञान-ज्ञेय-स्वभावकी अनुकूलतासे दोनोंमें अपनी-अपनी क्रियाएँ पाई जाती हैं। ज्ञेय ज्ञानमें विद्यमान नहीं हैं, अपने-अपने स्थानमें विद्यमान हैं। यदि ज्ञानमें आ जाते तो उन-उन स्थानोंमें उनका अभाव हो जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं देखा जाता। उससे सिद्ध है कि ज्ञेय चलकर ज्ञानमें नहीं आते।

(३९१) **प्रश्न**—यह भी सत्य है कि ज्ञेय अपने-अपने स्थानमें पाए जाते हैं, अतः वे ज्ञानमें नहीं आए। तथापि ज्ञानमें दिखाई देते हैं, जैसे दर्पणमें वस्तुएँ दिखाई देती हैं। प्रश्न यह है कि जब पदार्थ अपने-अपने स्थानमें ही रहते हैं, तब ज्ञानमें या दर्पणमें दिखाई देनेकी क्रिया क्या भ्रम पूर्ण है ?

समाधान—पदार्थ का ज्ञानमें झलकना भ्रमपूर्ण नहीं है। वह वास्तविक है, क्योंकि वे पदार्थ भी वास्तविक हैं। परन्तु ज्ञेयों का यह ज्ञान, ज्ञान की स्वच्छता रूप उसीका अपना परि, णमन है। ज्ञेयोंके निमित्त से होने-वाला ज्ञानका यह परिणमन, यथार्थ ही है। भ्रम नहीं है। इसी प्रकार पदार्थों का दर्पणमें प्रतिबिम्बित होना, दर्पण की स्वच्छता रूप, उसका अपना परिणमन है। पदार्थ उस परिणमनमें निमित्त हैं। दर्पण तो अचेतन पदार्थ है इसलिये उसके भ्रमित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३९२) **प्रश्न**—यह माना कि दर्पण अचेतन है अतः उसे ज्ञान नहीं हो सकता। सो भ्रम ज्ञान भी उसमें नहीं होता। तथापि दर्पणमें पदार्थ हैं, यह भ्रम देखने वाले को होता है। हम तो ऐसा समझते हैं कि—पदार्थ अपने स्थानमें हैं, ज्ञानमें या दर्पणमें पदार्थ हैं नहीं, और दिखाई उनमें भी दे रहे हैं, तब या तो वह भ्रम है, या फिर पदार्थ दो-दो हो गए हैं। एक ज्ञानमें है—दूसरा सामने है ?

समाधान—ऐसा नहीं है—यदि ऐसा माना जायगा तो जितने अनन्त सिद्ध हैं, उन सबके ज्ञानमें सभी पदार्थ झलकते हैं अतः सबके ज्ञानमें अलग-अलग पदार्थ होवें तो अनन्त पदार्थों की उत्पत्ति माननी अनिवार्य होगी।

(३९३) **प्रश्न**—बात तो सही है, तब 'ज्ञानमें पदार्थ की छाया पड़ती है, जैसे दर्पणमें छाया पड़ती है' ऐसा मानना ही सत्य होगा। फलतः दर्पण या ज्ञानमें सामने वाले पदार्थ का आना दिखाई नहीं देता, वे तो अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं, पदार्थ उनमें नया उत्पन्न होता नहीं है, तब उन पदार्थोंसे उनकी छाया ही अंश रूपमें—ज्ञान या दर्पणमें आती है, ऐसा मानना उपयुक्त होगा ?

समाधान—पदार्थका कोई अंश, ज्ञान या दर्पणमें नहीं आता। यदि छाया को मूल पदार्थ का अंश रूपमें आना माना जाय, तो सौ दर्पण चारों ओर रखे जाने पर सामने वाले पदार्थ में से सौ अंशोंके निकल जानेके कारण, पदार्थ क्षीण हो जायँगे। परन्तु पदार्थोंमें क्षीणता दृष्टि गोचर नहीं होती। अतः पदार्थमें से कोई अंश नहीं आता ऐसा मानना होगा।

(३९४) **प्रश्न**—तब यथार्थ क्या है ? पदार्थ ज्ञानमें आता नहीं। ज्ञान पदार्थमें जाता नहीं। उसके कुछ अंश भी आते जाते नहीं। ज्ञानमें या दर्पणमें पदार्थ दिखाई देते ही हैं, भ्रमपूर्ण ज्ञान वह है नहीं ? फिर क्या है ? इस उलझनको सुलझाइए। इस स्थितिमें तो ज्ञान और पदार्थबोध, तथा पदार्थ, सभी उलझनमें पड़ गये हैं।

समाधान— वे उलझनमें नहीं पड़े। वे तो सदा कालसे अपना-अपना काम करते आ रहे हैं अतः सुलझे हैं। उनकी स्थितिको न समझ पानेसे आप उलझनमें हैं, सो आप अपनी उलझनको इस प्रकार सुलझाइए—

दर्पण स्वच्छ है, अतः उसके स्वच्छाकार स्वभावके कारण, जो पदार्थ उसके सामने होता है—उसके निमित्तसे दर्पण ही तत्काल अर्थाकार जैसा स्व परिणमन करता है। वे आकार जो उसमें दिखाई देते हैं—दर्पणकी ही स्वच्छताके परिणमन हैं। वे दर्पणके अलावा कोई अन्य पदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानादि सम्पूर्ण ज्ञानोंमें, जगत्के समस्त पदार्थ, जो दिखाई देते हैं, वे उस शुद्ध ज्ञानके ही परिणमन हैं—न उसमें पदार्थ है—न पदार्थका भ्रम है। जो दिखाई देता है वह ज्ञानका ही तत्समानाकार परिणमन है, अतः यथार्थ ही है। भ्रम नहीं है।

एक सौ क्या एक कोटि भी दर्पण हों, तो उन सबमें हम अपना मुख देख सकते हैं। सो वस्तुतः हमारा मुख तो हमारे ही पास है। उसका कोई अंश दर्पणमें जाता तो हमारे मुखके एक कोटि अंश उनमें चले जाते। तब मुख दुर्बल हो जाता। इतना ही नहीं, कुछ और अधिक दर्पणोंके योगमें वह मिट ही जाता। पर ऐसा नहीं देखा जाता। इसी प्रकार ज्ञानका अर्थ समानाकार परिणमन ही होता है। न पदार्थ आता है—न जाता है—न अंश आते जाते हैं, किन्तु स्वच्छ ज्ञानका अर्थके निमित्तसे स्वभावरूप ही परिणमन है, ऐसा जानना चाहिए।

(३९५) **प्रश्न**—ज्ञान क्या (सिर्फ) ज्ञान मात्र है, या वह स्वयं ज्ञेयरूप भी है ? यदि वह स्वयं ज्ञान रूप ही है, तो अनन्ते सिद्ध परमात्माओंका ज्ञान (सिर्फ ज्ञान) है यह कोई केवली भी न जान सकेगा। ऐसी अवस्थामें सबसे बड़ा दोष यह होगा, कि हम सब सचेतनोंको केवली कैसे देखेंगे ? क्योंकि हम सब सचेतन ज्ञान रूप हैं, ज्ञेयरूप नहीं। तब उनके ज्ञानके विषय आत्मद्रव्यके सिवाय पाँच द्रव्य ही होंगे ?

समाधान—ज्ञान ज्ञानरूप भी है, और ज्ञेयरूप भी है। ज्ञान दीपककी तरह स्व पर प्रकाशक है, दीपकके द्वारा सामनेके पदार्थ दिखाई देते हैं, पर दीपक भी अपने प्रकाशमें स्वयं दिखाई देता है। दीपकको देखनेको जैसे दूसरा दीपक आवश्यक नहीं होता, इसी प्रकार ज्ञानके जाननेको अन्य ज्ञान आवश्यक नहीं होता—वह भी स्व-पर प्रकाशक है अतः वह ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है, यह निश्चित है।

ज्ञान अपने शुद्ध स्वरूपमें नहीं होता तब तक ही राग द्वेष दोनों की उत्पत्ति होती है—

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्¹।
ज्ञानं ज्ञानं भवति तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषद्वयम् तावत् उदयते**) रागद्वेष तब तक ही जीवमें उठते हैं (**यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति**) जब तक ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं बनता, और (**बोध्यं बोध्यतां न याति**) ज्ञेय केवल वे ज्ञेय मात्र हैं ऐसा उनके सम्बन्धमें ज्ञान नहीं होता। (**तत् इदं ज्ञानं न्यक्कृताज्ञानभावं ज्ञानं भवतु**) अतएव अज्ञान भावको दूर करके, ज्ञान शुद्ध-मात्र ज्ञान रूप बनो। (**येन**) जिससे कि (**भावाभावौ तिरयन्**) भाव अर्थात् उत्पत्ति और अभाव अर्थात् विनाश, एतद्रूप जो संसार परिभ्रमण, उसका अभाव करके जीव (**पूर्णस्वभावः भवति**) अपने परिपूर्ण अनन्त ज्ञानादिरूपमें प्रकट हो ॥२१७॥

भावार्थ—मिथ्यात्व भावके आनेपर ज्ञान, अज्ञान रूप होता है, अर्थात् विपरीत ज्ञानरूप परिणमन करता है। इसी अज्ञान परिणतिमें ही रागद्वेषका उदय होता है। अर्थात् मिथ्यात्व परिणामके होनेपर ही जीव अपनेसे भिन्न देहादिमें, या स्त्री-पुत्रादिमें, या घर मकान धन, धान्यादिमें—जो इष्ट रूप हों, अपने विषयके साधक हों, उनमें राग अर्थात् प्रीति करता है, तथा जो विषयके साधक न हों, किन्तु बाधक हों, उनमें द्वेष करता है।

अज्ञानभाव दूर हो, अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम मिटे, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो, तो ज्ञान अपने जानन स्वरूप मात्रमें स्थित हो, ओर ज्ञेय ज्ञानके विषय मात्र रहें, तो उनमें फिर इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि ही नहीं होगी, तब रागद्वेष भी नहीं होंगे। अतः प्रत्येक हितेच्छु को चाहिए कि वह मिथ्यात्व रूप परिणति का त्याग करे। सम्यग्दर्शन अपनेमें उत्पन्न करे। तत्त्वज्ञानी को किसी पदार्थमें रागद्वेष की उत्पत्ति नहीं होगी—इसे ही सम्यग्चारित्र कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ही संसारके दुखोंसे मुक्ति दिलाते हैं।

करुणायतन आचार्य यही भावना करते हैं कि संसारके सभी दुखी प्राणी, जो अपने अज्ञानसे दुखी हैं, चतुर्गति संसार रूप परिभ्रमण करते हैं, वे इस तात्त्विक रहस्य को समझें, जिससे परमें निजत्वका संकल्प, अथवा निजमें परकी एकता का जो भ्रमज्ञान है, जिससे रागद्वेष की प्रसूति होती है, वह दूर हो जावे। आत्मा अपने निज अखण्ड चैतन्यके पुंजको अपने रूपमें देखें। यही

---

१. बोध्ये इति पाठान्तरम्।

उसका पूर्ण स्वभाव रूप प्रकट होना है। यही ज्ञानकी पूर्णता या केवल ज्ञानकी प्रकटता है। इसीसे इसके भाव = उत्पत्ति, अभाव = विनाश रूप चतुर्गति परिभ्रमण समाप्त हो जाता है ॥२१७॥

राग-द्वेषका अभाव कैसे हो इसका उपाय वताते हैं—

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१८॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञान अज्ञानभावात्**) जब ज्ञान (मिथ्यात्वके उदयमें) अज्ञान भाव रूप परिणत होता है तब (इह) आत्मामें (**रागद्वेषौ हि भवति**) राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। (**वस्तुत्व-प्रणिहितदृशा**) यदि जीव नामक वस्तु को वस्तुत्व की दृष्टिसे (**तौ दृश्यमानौ**) उनको देखा जाय तो (**न किंचित्**) वे कुछ भी नहीं हैं। वे तो केवल अज्ञान दशामें प्रकट होनेवाले हैं (ततः) इसलिए (**सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या स्फुटंतौ क्षपयतु**) सम्यग्दृष्टि जीव अपनी तत्त्वदृष्टिसे निश्चयसे उन दोनोंका क्षय करे (**येन**) जिससे कि (**पूर्णाचलार्चि**) पूर्ण किरणों वाली स्थिर, अविचलित, सम्पूर्ण (**ज्ञानज्योतिः सहजं**) केवलज्ञानकी ज्योति सहज ही (**ज्वलित**) प्रकाशमान होती है ॥२१८॥

भावार्थ—जब जीवके मिथ्यादर्शन कर्मका उदय होता है तब ज्ञानावरणके, क्षयोपशमसे प्राप्त ज्ञान भी मिथ्याज्ञान रूप परिणत हो जाता है। उसे ही यहाँ 'अज्ञान' शब्द द्वारा कहा गया है। इस मिथ्याज्ञानपने की दशामें ही जीवको परमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है। अतः उनसे रागद्वेष भी होता है। ये मिथ्यात्व तथा रागद्वेष सब आत्मस्वभावसे भिन्न हैं, अर्थात् स्वभाव रूप नहीं हैं। इसलिए शुद्ध आत्माका अनुभवन करने पर उस आत्मतत्त्वमें, इनका अस्तित्व ज्ञात नहीं होता।

यही कारण है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शनके प्रभावसे, अज्ञान भाव दूर कर अपनेमें सम्यग्ज्ञान प्रकट करता है, तब उन रागद्वेषादि समस्त विकारी भावोंका, अपने तत्वज्ञानके बलसे क्षय कर देता है। विकारोंके क्षयसे उस आत्मामें अपनी सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, केवलज्ञानकी ज्योति प्रकट होती है, जो सदाकाल अचल रहती है। कभी बुझती नहीं है।

(३९६) **प्रश्न**—रागद्वेप यदि आत्माके स्वभाव नहीं हैं तो किसके स्वभाव हैं? उत्पत्ति तो उनकी आत्मामें ही होती है, अतः वे आत्म-स्वभाव ही माने जाना चाहिए। यदि आत्म-भिन्न पदार्थके स्वभाव हैं तो वे परभाव आत्मामें कैसे आते हैं?

समाधान—यह सत्य है कि एक द्रव्यके भाव दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं पाते। अतः ये किसी अन्य द्रव्यके भाव नहीं हैं. तथापि वे आत्माके भी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वे कर्मोदयमें होते हैं। परके उदय के निमित्तसे हों वे नैमित्तिक भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं।

(३९७) **प्रश्न**—माना कि कर्मोदयके निमित्तमें ही वे होते हैं, पर होते तो आत्मामें हैं। यदि तत्स्वरूप परिणत होने की उपादान योग्यता आत्मामें न होती तो क्या निमित्त उसे परिणमा सकता? कभी नहीं। रागद्वेप आत्मोपादान हैं अतः वे आत्मस्वभाव ही हैं?

समाधान—रागद्वेष अशुद्ध आत्मोपादान हैं, अतः वे आत्मस्वभाव नहीं हैं। आत्म स्वभाव वे हैं जो निमित्तके विना स्वयं सहज होते हैं। स्वभाव सदा काल रहता है, पर निरपेक्ष होता है। जबकि नैमित्तिक भाव निमित्त सापेक्ष होता है। निमित्तकी अनुपस्थितिमें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है।

(३९८) **प्रश्न**—सभीके सदा काल, अनादि से रागद्वेष पाए जाते हैं. अतः उन्हें आत्माका स्वभाव मानना चाहिए। केवलज्ञानादि तो सदा काल से नहीं हैं. कभी किसीके उत्पन्न हो जाते हैं, अतः वे क्वचित् तथा कादाचित्क होनेसे स्वभाव रूप नहीं माने जाना चाहिए ?

समाधान—यह सत्य है कि रागद्वेष की परम्परा अनादिसे है, तथा अनंतानंत प्राणियों में है. पर इतने मात्रसे वे स्वभाव तथा उपादेय नहीं हो सकते। सदासे चला आना, और सर्वत्र पाया जाना यह स्वभाव का नियामक नहीं है। उनके स्वभाव रूप न होनेका हेतु यह है कि वे आत्मोपादान होते हुए भी, जीवकी अज्ञान दशा प्रसूत हैं। ज्ञान दशामें वे मिट जाते हैं। जो मिट जाता है, वह स्वभाव नहीं होता, क्योंकि स्वभावका कभी भी घात नहीं होता। यदि स्वभावका घात हो जाय. तो वस्तुका अस्तित्व ही मिट जाय। आत्माका अस्तित्व अनाद्यनन्त है और रागद्वेष उत्पन्न ध्वंसी हैं, अतः वे रागद्वेष स्वभाव रूप नहीं हैं।

प्रश्नका दूसरा अंश था केवलज्ञानको स्वभाव न माननेका, सो केवलज्ञान, ज्ञानगुणकी शुद्ध पर्याय है, आत्मा ज्ञान-गुण स्वभावी है। यह सामान्य ज्ञान-गुण उसमें अनादि कालसे है, अनन्त काल तक रहेगा, अतः केवलज्ञान आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु वह आत्मा के चैतन्य गुण की शुद्ध पर्याय है। जव जीव अज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप परिणति त्यागता है, अर्थात् ज्ञानकी अशुद्ध परिणतिको त्यागता है, तव वही ज्ञान अपनी केवलज्ञान रूप शुद्ध पर्यायको प्रकट करता है; ऐसा ग्रंथकार स्वयं इसी कलशमें प्रतिपादन कर रहे हैं।

(३९९) **प्रश्न**—रागादि आत्मोपादान हैं. आत्मामें ही होते हैं। निमित्त भूत-कर्म रागद्वेष रूप नहीं परिणमता। जिन पदार्थोंसे हम रागद्वेष करते हैं—उन अचेतन पदार्थों में रागद्वेष परिणति नहीं है तव रागद्वेष आत्मस्वभाव क्यों नहीं हैं ?

समाधान—इसका समाधान पूर्वमें दे चुके हैं, कि जो-जो आत्मोपादान हों वे वे आत्म स्वभाव हों, ऐसा नियम नहीं है। रागद्वेष संयोगज-भाव हैं न कि स्व-भाव। स्वभाव स्व से स्व में होता है, वह पर-संयोग में नहीं होता। जैसे जल स्वयं स्वच्छ स्वभावी है, उसमें शैवाल पर संयोग में, मलिन पदार्थों के संयोग में होता है। वह जलोपादान है, पर वह जल नहीं है—जल स्वभाव भी नहीं है। वह तो जल को ही मलिन करने वाला है।

इसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वभावी है, मिथ्यात्वके योगमें विकारी बनता है, उस विकारसे ही राग-द्वेष दोनों होते हैं। वे आत्मामें होते हैं,—आत्मोपादान हैं, अन्यत्र नहीं होते, तथापि आत्मस्वभावके घातक होनेसे, स्वयं स्वभाव रूप नहीं, विभाव हैं। विकार हैं। यही कारण है कि जिसने आत्माको स्वभाव दृष्टिसे देखा,—उसने देखा कि—स्वभाव की स्वच्छतामें विकार अपना अस्तित्व नहीं रखते। ज्ञानी फिर विकाररूप नहीं परिणमता और इसी स्वभाव साधनाके फलस्वरूप अनन्त कैवल्यको प्राप्त होता है।

(४००) **प्रश्न**—आपने केवलज्ञानको पर्याय कहा। पर्याय उत्पन्न ध्वंसी है, नैमित्तिक ही होती है, क्योंकि कार्योत्पत्तिमें उपादान व निमित्त दोनों अन्तरंग वहिरंग कारण वताए गये हैं। अतः केवलज्ञान स्वभाव नहीं है, तो क्या वह विभाव है? नाशवान् है?

समाधान—केवलज्ञान एक शुद्ध पर्याय है। यह सत्य है कि पर्याय उत्पाद-व्यय युक्त ही होती है, अतः केवलज्ञान भी उत्पाद-व्यय सहित है। तथापि शुद्ध पर्याय अव शुद्ध पर्यायके रूपमें ही परिवर्तित होती है। केवलज्ञानको सादि अनंत कहा गया है क्योंकि वह सदा उसी केवलज्ञान-रूप शुद्ध पर्यायमें ही परिणत होता रहेगा। एक वार शुद्ध हो जाने पर जीवमें शुद्ध पर्याय ही प्रकट होती है, फिर अशुद्ध पर्यायें प्रकट नहीं होतीं।

(४०१) **प्रश्न**—कहा तो यह जाता है कि केवलज्ञान आत्माका स्वभाव है। वह कर्म क्षयसे प्रकट होता है। कर्मके कारण ढँका था, जो प्रकट हुआ?

समाधान—जो कहा जाता है वह सत्य है। ज्ञान आत्माका गुण या स्वभाव है,—लक्षण है, वह अनाद्यनन्त है। उसका पूर्णरूप केवल ज्ञान है। वह रूप अप्रकट था, अर्थात् वह पर्याय शक्ति रूप तो आत्मामें विद्यमान थी, अव कर्मोदयके अभावमें प्रकट हो गई है। अतः ज्ञान शक्तिका, जो जीवका स्वभाव रूप है, पूर्ण प्रकट हा जाना—स्वभावका प्रकट हो जाना कहा जाता है। अपेक्षा भेदसे यह कथन किया जाता है।

सभी कार्योंमें निमित्त होता है, इतने मात्रसे वे नैमित्तिक या विभाव नहीं हो जाते। जिन निमित्तोंके आधार पर द्रव्य विभाव रूप परिणमन करें, वे नैमित्तिक या विभाव हैं। पर जिन काल आदि सामान्य निमित्तोंके होनेपर स्वभाव रूप ही परिणमन हो, वे कार्य स्वभाव रूप हैं।

(४०२) **प्रश्न**—अज्ञान भाव, ज्ञानावरणके उदयका कार्य है। रागादि मोहोदयके कार्य हैं। अतः कारणभेद होनेसे कार्यभेद अवश्यंभावी है। तव इन दोनोंका परस्पर क्या सम्बन्ध है?

समाधान—कारण भेद अवश्य हैं पर दोनों कर्मोंके उदयजन्य विकारकी भूमि तो मात्र एक आत्मा ही है, अतः मोहसद्भावमें विकारी ज्ञान ही रागादि रूप है ऐसा कहना असंगत नहीं है॥२१८॥

राग द्वेष परनिमित्तक होने पर भी, परद्वारा उत्पन्न नहीं किए जाते, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्टया नान्यत् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्व-स्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

अन्वयार्थ—(तत्त्वदृष्टया) वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो (**रागद्वेषोत्पादकं**) रागद्वेषको उत्पन्न करने वाले (**किञ्चन अपि**) कोई किञ्चित् भी (**अन्य द्रव्यं**) आत्मभिन्न द्रव्य (**न वीक्ष्यते**) नहीं दिखाई देते। (**यस्मात्**) क्योंकि (**सर्वद्रव्योत्पत्तिः**) सभी द्रव्योंकी उत्पत्ति (**स्वस्वभावेन**) अपने अन्तरंगमें अपने स्वभावसे स्वयं ही (**अत्यन्तं व्यक्ता अन्तः चकास्ति**) निश्चित ही स्पष्ट रीतिसे स्वयं प्रकाशित होती है। अन्य गुण पर्याय रूप नहीं होती॥२१९॥

भावार्थ—पूर्व कलशमें वताया था कि रागादि भाव जीव अपनी अज्ञानतासे करता है। रागद्वेष उसके स्वभाव रूप नहीं हैं—परनिमित्तसे होते हैं। यहाँ आचार्य कहते हैं कि इसका यह

अर्थ न समझना कि उनके उत्पन्न करने वाले, कोई आत्मभिन्न चेतन या अचेतन परद्रव्य कारण रूप होंगे। सभी द्रव्योंका उत्पाद अपने स्वयंमें स्वयंसे स्वभावतः होता है। क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सभी द्रव्योंका स्वभाव है। यह बात अत्यन्त निश्चित, अत्यन्त स्पष्ट, हरएकको स्वयं ज्ञात होती है ॥२१९॥

(४०३) **प्रश्न**—जब वे रागादि स्वभाव रूप नहीं हैं, तब 'उनकी उत्पत्ति आत्मामें स्वयं स्वभावसे होती है' ऐसे परस्पर विरोधी वाक्य कैसे संगत हो सकते हैं ? या तो वे परसे होते हैं अतः विभाव हैं—स्वयंसे नहीं होते अतः स्वभाव नहीं हैं ऐसा कहिए, या ऐसा कहिए कि स्वयं आत्माके स्वभावसे होते हैं अतः स्वभाव हैं। स्वभावसे होते हैं और वे विभाव हैं, ऐसा कथन तो आपके लिए स्व-वचनबाधित है। आचार्य स्व-वचन-बाधित प्रयोग कभी करते नहीं, तब उक्त कथन का क्या रहस्य है स्पष्ट करें ?

समाधान—रागद्वेष आत्माके स्वभाव नहीं हैं। यह सत्य है, तथापि परिणमन वस्तुका स्वभाव है। वह परिणमन चाहे स्वभावरूप हो, अथवा विभावरूप हो, पर परिणमन अवश्य होगा। यहाँ कलशमें स्व-स्वभावेन शब्दका अर्थ परिणमन स्वभाव जानना चाहिए। जैसे रस पुद्गल द्रव्यका गुण स्वभावतः है। किसी अन्य द्रव्यके कारण पुद्गल रसवान् नहीं है, तथापि खट्टा-मीठा आदि रूप परिणमन उसका परनिमित्तसे हो जाता है। जब परिणमन उसकी स्वयंकी योग्यता है तभी तो परनिमित्तसे विभावरूप परिणमन करता है, और परनिरपेक्षतामें स्वयं अपने स्वभाव रूप परिणमन करता है। इस योग्यताके अभावमें—द्रव्य स्थिर हो जायगा—परिणमन शीलता रुक जायगी, पर ऐसा होता नहीं है। संसारी दशा हो या मुक्तावस्था हो, शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो, परिणमन प्रति समय अनिवार्य रूपसे होता ही है। अतः रागद्वेष आत्माका विभावरूप परिणमन है और ज्ञान-दर्शनादि परिणमन उसके स्वभावरूप परिणमन हैं। यह नियम केवल आत्मद्रव्यके लिए ही नहीं है, समस्त द्रव्योंके लिए है।

(४०४) **प्रश्न**—राद्वेषकी उत्पादक मोहादि कर्म प्रकृतियाँ हैं, यह करणानुयोगमें पद-पद पर बताया है। जीव तो संसारमें पराधीन है। कर्माधीन होनेसे ही संसारमें नाना दुःख उठाता है। जब कर्मबंधन टूट जाते हैं तब मुक्त होता है। अतः रागद्वेष स्वयं आत्मकृत नहीं हैं परकृत ही हैं। कलश १७५ में भी 'तस्मिन्निमित्तं पर संग एव' पद, इसी अभिप्रायका तो पोषक है ?

समाधान—ऐसा नहीं है—मोहादि कर्म प्रकृतियोंके उदयकी निमित्तता उनमें अवश्य है, पर वे प्रकृतियाँ रागादिकी उत्पादक नहीं हैं। यदि ऐसा न हो तो जीव तो निरपराध ही रहेगा। अपराधी तो कर्म प्रकृतियाँ ही होंगी। ऐसी स्थितिमें फलका भोग, कर्म प्रकृतियाँ करेंगी—क्योंकि जो कर्त्ता होगा वही भोक्ता होगा। जीव जब रागादिका अकर्त्ता है तो उसके फलका भोक्ता भी न होगा, तब सांख्यमतका प्रसंग आयगा। कलश १७५ के उक्त पदमें आपका ध्यान केवल 'पर' शब्द पर गया है। उसके साथ जुड़े हुए 'संग' शब्द पर नहीं गया। आत्मा जब अपने उपयोगके द्वारा परको इष्ट-अनिष्ट रूप देखता है, तब उस 'परसंग' से स्वयं अपनेमें रागद्वेष उत्पन्न करता है। अतः परद्रव्य निमित्त होते हुए भी, अपराधी नहीं हैं, किन्तु परका संग करनेके कारण आत्मा स्वयं ही अपराधी है। अतः रागादिकी उत्पत्तिका कर्त्ता आत्मा ही है। कोई अन्य नहीं है।

आचार्य इसीको विशेष स्पष्ट करते हैं—

> यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
> कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
> स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
> भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

अन्वयार्थ—(**यदिह रागद्वेषदोषप्रसूतिः भवति**) इस संसारी आत्मामें जो रागद्वेष दोनोंका उत्पत्ति होती है (**तत्र**) इसमें (**परेषां**) दूसरोंका (**कतरत् अपि**) थोड़ा सा भी (**दूषणं नास्ति**) दोष नहीं है। (**अयम् स्वयम् अपराधी**) यह प्राणी स्वयं ही इस अपराधका अपराधी है (**तत्र**) इस कार्य की उत्पत्तिमें (**स्वयं अबोध**) स्वयं अज्ञान भाव ही (**सर्पति**) प्रसारको प्राप्त होता है। अतः (**अबोधः**) यह मेरा अज्ञान भाव स्वयं (**अस्तं यातु**) अस्तपनेको प्राप्त होवे, क्योंकि (**अहं बोधः अस्मि**) मैं स्वयं ज्ञानस्वरूपी हूँ (**विदितं भवतु**) यह विदित हो ॥२२०॥

भावार्थ—संसारी जीव रागादि विकार रूप परिणमता है। वह अपने स्वभावमें नहीं होनेके कारण परिणमता है। अस्वस्थतामें ही ये विकारी भाव हैं। जैसे कोई व्यक्ति शरीरकी अपेक्षा स्वस्थ है। उत्तम स्वास्थके कारण निर्बाध, निर्दोष जीवन व्यतीत करता है। किन्तु व्यक्ति यदि रोगाक्रान्त हो, अस्वस्थ हो, तो कभी पेटमें, कभी सिरमें, कभी कमरमें, पीड़ाका अनुभव करता है। कभी पित्त दोष—कभी कफ दोष—कभी वात विकार आदि नाना विकार उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी यदि स्व-स्वरूपमें स्थित हो—तो स्वस्थ है, ऐसी स्वास्थ्यकी दशामें रागादि विकार उत्पन्न ही नहीं होते। पर जब यह आत्मा स्वमें स्थित न हो, पर में निजत्व मानकर चलता है, तब अस्वस्थ होनेसे, रागद्वेष आदि रूप परिणमता है। अपने आत्मस्वरूपका अबोध अर्थात् अज्ञान भाव, तथा परमें स्व-पनेकी कल्पना ही इसका कारण है। अतः यह अपनी इस दुर्दशा का अपराधी स्वयं है। 'ज्ञानावरणादि कर्म, इसे 'अज्ञानी' और मोहादिकर्म 'रागी' बनाते हैं, अतः पर इसका अपराधी है' ऐसा मानना उचित नहीं है। उनका उदय यद्यपि है—और उनके उदयमें ही अज्ञान रागादि विकार हुए हैं, तथापि वस्तु स्वरूपसे विचार करें तो यह अपराध जीवका ही है। कर्म का नहीं।

इसका प्रमाण यह है, कि ये विकार तभी मिटते हैं—जब जीव स्व-पर भेद पहिचानकर, परमें तथा पराश्रयी भावोंमें, निज बुद्धि त्यागकर, सम्यक्त्वी होकर, अपने स्वरूप को ही उपादेय मानता है। निज में ही रमण करना सम्यक्चारित्र है, जिसके होने पर रागादि भी नहीं होते और ज्ञानावरणादि भी छूट जाते हैं। जो अपने पुरुषार्थसे छूट जाते हैं, दूर हो जाते हैं, वे अपने ही विपरीत पुरुषार्थसे हुए थे या बंधे थे, यह भी सुनिश्चित होता है। करणानुयोग आदि ग्रन्थोंमें जो ज्ञानावरणके उदयमें अज्ञानी, रागके उदयमें रागी, लिखा गया है, वह कथन इस कथनसे विरुद्ध नहीं है। यह कथन स्वाश्रित है, अतः निश्चय नयका कथन है, तथा करणानुयोगका कथन उस रागादिके निमित्त क्या हैं—इस प्रश्नके समाधान रूपमें निमित्तका प्रतिपादन करता है अतः वह कथन व्यवहारनयसे है।

आगममें सर्वत्र नय सापेक्ष कथन है। अतः जहाँ स्वाश्रित वर्णन हो, वहाँ समझना चाहिए कि वस्तुकी उपादानगत शक्ति और योग्यता ऐसी ही है। जब परनिमित्तकी अपेक्षा कथन आवे तब समझना चाहिए कि जिस कार्यके उपादान का कथन निश्चियने किया था, उसके निमित्तका कथन यहाँ किया गया है। उभय कथन अपनी-अपनी कथनीमें अपने-अपने नयसे ठीक हैं। अतः मेरा ज्ञानभाव प्रकट हो, और अज्ञान भाव नाशको प्राप्त हो, इस प्रकार अपने ज्ञानस्वरूपको प्रकट करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥२२०॥

जो रागकी उत्पत्तिमें सारा दोष निमित्त कारणों पर देते हैं, अपने अपराधको नहीं देखते, वे मोहभाव (अज्ञान) से नहीं छूटते ऐसा कथन करते हैं—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥

अन्वयार्थ—(**ये तु**) जो अज्ञानी पुरुष (**रागजन्मनि**) रागकी उत्पत्तिमें (**परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति**) परद्रव्य ही कारण है ऐसा एकान्तसे मानते हैं, (**ते**) वे (**शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः**) शुद्ध आत्माके स्वभावके अज्ञात होनेसे अज्ञानरूप परिणमी है बुद्धि जिनकी, ऐसे एकान्ती मिथ्या दृष्टि जीव (**मोहवाहिनीम्**) मोहकी सेना जो मोह राग द्वेष विकार, उनको (**न हि उत्तरन्ति**) नहीं जीत पाते हैं अथवा मोह रूपी नदीको पार नहीं कर सकते हैं ॥२२१॥

भावार्थ—यद्यपि रागादि विकारोंकी उत्पत्तिमें परद्रव्य, अर्थात् मोहनीय आदि द्रव्य कर्मोंदय निमित्त हैं,—तथा बाह्य भोगोपभोग साधक—या बाधक सामग्री भी रागद्वेषका निमित्त है, तथापि जो निमित्तको ही रागादिका कर्त्ता मानकर, अपनेको अकर्त्ता मान लेते है, सांख्यमतकी तरह वे वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं। यदि वस्तु स्वरूप पर विचार करते तो ज्ञात होता, कि आत्मा रागादिरूप स्वयं परिणमा है। यह अपने स्वरूपको पहिचाने, पुरुषार्थ करे,—तो निमित्त स्वयं दूर हो जाते हैं, वे निमित्तपनेको भी नहीं भजते। यदि रागादि परकी करतूत हों, तो पर मेटे तब मिटें, अपना पुरुषार्थ कुछ ठहरता ही नहीं। अपने पुरुषार्थके अभावमें मुक्ति भी पराधीन ही ठहरेगी। ऐसे एकान्तसे पर कर्तृत्व मानने वाले कभी भी मोह सेनाको नहीं जीत पाते, या मोह रूपी नदीको पार नहीं कर पाते।

(४०५) **प्रश्न**—क्या स्व-कर्तृत्व स्वीकार कर लेनेसे रागादि दूर हो जाते हैं?

समाधान—"स्व-कर्तृत्व है" ऐसा स्वीकार करने वाला, यथार्थताको स्वीकार करता है। यथार्थताको स्वीकार करने वाला ही सही पुरुषार्थ कर सकता है। रागादि तो उस पुरुषार्थसे ही दूर होंगे। रागादि की उत्पत्तिमें अपनी ही भूल मानने वाला परके प्रति द्वेष नहीं करता। वह तो स्वभावके आश्रयसे रागद्वेषकी निवृत्तिका सम्यक् पुरुषार्थ करेगा और वही मोह नदी पार करेगा।

(४०६) **प्रश्न**—परकी निमित्तता है, अतः परकर्तृत्व है, क्या यह मिथ्या है? यह भी तो व्यहवहार नयका विषय है। क्या इस नयका कथन झूठा है? मिथ्या है तो यह नय नहीं रहेगा अथवा ऐसे मिथ्या नयका आश्रयकर शास्त्रकारने करणानुयोग शास्त्र क्यों रचे हैं?

समाधान—परकी निमित्तता होती है, इसी निमित्तताका प्रतिपादन करणानुयोग शास्त्रमें किया है। परन्तु पर-कर्तृत्व उन्होंने भी स्वीकार नहीं किया। व्यवहारको व्यवहार मानना ही सत्य है। उसे परमार्थ मानना असत्य है।

परकर्तृत्वका व्यवहार, भाषा प्रयोगमें होता है, उसे इसी रूपमें स्वीकार करना कि यह व्यवहार नयका विषय है। व्यवहार नयके अवलंबनसे विस्तृतका विवेचन करनेवाले सभी शास्त्र, सम्यक् निरूपण ही करते हैं, मिथ्या नहीं। वे भी व्यवहारको परमार्थ नहीं कहते।

(४०७) **प्रश्न**—परन्तु यहाँ इस कलशकी व्याख्यामें तो जो परकी निमित्तताको स्वीकार करते हैं उन्हें बोध रहित अन्ध कह दिया। ऐसा कहना क्या निश्चयैकान्त नहीं है जो निमित्तका ही निषेधक है?

समाधान—ऐसा नहीं है, यह कलश एकान्तसे निमित्तका निषेध नहीं करता, इस कलशमें आचार्यने 'निमित्तको ही एक मात्र रागादिका कारण माननेका जो एकान्त करते हैं' उनका निषेध किया है। 'निमित्तता' शब्दका अर्थ यहाँ कारणता या 'हेतुता' है। रागत्पत्तिमें यथार्थ हेतुता निमित्त पर नहीं है, तथापि उसे ही जो यथार्थ हेतु मानते हैं, स्वयंके अपराधको स्वीकार न करके अपनेको अकर्त्ता मानते हैं, व पुरुषार्थ करके मोहको पार नहीं कर पाते।

(४०८) **प्रश्न**—रागद्वेषकी उत्पत्तिका अन्वय व्यतिरेक, स्त्री पुत्रादि अथवा शत्रु कण्टकादि पर द्रव्यसे है, अतः उनके साथ भी कारणता है। 'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः।' ऐसा सूत्र है?

समाधान—स्त्री आदिके सद्भावमें राग होते हैं, न होने पर नहीं होते, ऐसा—एकान्त अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता। स्त्रीके मरणके पश्चात् भी उसका राग देखा जाता है। रागके अभावमें भी स्त्रीकी सत्ता देखी जाती है। अतः इनमें यथार्थ अन्वय व्यतिरेकपना नहीं है ऐसा तात्पर्य आचार्यका है ॥२२१॥

अज्ञानीजन आत्माकी सहज उदासीनताको छोड़कर अपनेको रागद्वेष मय बनाते हैं? इस पर आश्चर्य है, ऐसा आचार्य कहते हैं।

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो[1] न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२२॥

अन्वयार्थ—(**पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा**) अपने परिपूर्ण अखण्ड शुद्ध अचल ज्ञानसे ही है महत्व जिसका, ऐसा (**अयं बोधः**) यह चैतन्यका पुञ्ज आत्मा, (**बोध्यात्**) ज्ञानके विषयभूत ज्ञेय पदार्थोंके जाननेके कारण (**काम् अप विक्रियाम्**) किसी प्रकारके रागादि विकारको (**न यायात्**) प्राप्त नहीं होता। (**दीपः प्रकाश्यादिव**) जैसे दीप जिनको प्रकाशित करता है, उनके कारण विकारको प्राप्त नहीं होता। (**तत्**) तथापि (**वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणाः**) वस्तुकी यथार्थ स्थितिके जाननेमें जिनकी बुद्धि वन्ध्या है ऐसे (**एते अज्ञानिनः**) ये मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी प्राणी, (**तत इतः**)

---

१. बोधा-बोधाः-बोधः ऐसे तीन प्रकारके पाठ पाये जाते हैं तात्पर्यमें भेद नहीं हैं। बोधा अर्थात् ज्ञाता। बोधा, बोध स्वरूप चैतन्य स्वरूप सब जीव। बोधः ज्ञान अथवा ज्ञानस्वरूप एक जीव।

तब फिर (**सहजां उदासीनतां**) अपनी स्वाभाविक उदासीनताको (**किं मुञ्चन्ति**) क्यों छोड़ते हैं तथा (**रागद्वेषमया भवन्ति**) क्यों रागद्वेषरूप परिणमते हैं ? आचार्य इस पर आश्चर्य करते हैं ॥२२२॥

भावार्थ—परिपूर्ण अखण्ड अचलितपनेसे ही जिसकी महिमा प्रकट है, ऐसा शुद्ध आत्मज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थोंको जानते हुए भी, किंचित् भी विकारको प्राप्त नहीं होता। जैसे—दीपक सम्मुख आए समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है, तथापि घट पटादि नाना पदार्थोंको प्रकाशित करनेसे दीपकमें कोई विकार नहीं आता। जब ऐसी वस्तुस्थिति है तब ये संसारी अज्ञानी जीव, जिनकी बुद्धि वस्तुकी सही स्थितिको ज्ञान उत्पन्न करनेमें बन्ध्याके समान है—अर्थात् यथार्थ वस्तुका ज्ञान नहीं कराती वे रागद्वेषरूप बनते हैं, तथा आत्माकी जो सहज वीतरागता है उसे छोड़ते हैं, सो ऐसा क्यों है ? आचार्य आश्चर्य करते हैं।

(४०९) **प्रश्न**—सत्तामें स्थित मोहादि कर्म रागद्वेषोत्पादक हैं, जब उनका उदयकाल आता है तब जीव वस्तुस्थितको जानता हुआ भी, रागीद्वेषी बन जाता है। इसमें जीवका क्या दोष है ?

समाधान—दोष तो उसे ही देना समुचित है। क्योंकि वह वस्तुस्थितिको यथार्थ जानकर भी रागादिमय बनता है अतः आचार्य उसे दोष भी देते हैं और आश्चर्य भी करते हैं। ज्ञानीको चाहिए कि वस्तुस्वभावको समझकर ज्ञानभावमें रहे—रागादि न करे। यदि रागादि करता है तो वह अज्ञानी ही है। अज्ञानीके इस अज्ञान पर आचार्य आश्चर्य या खेद प्रकट करते हैं।

(४१०) **प्रश्न**—जब पूर्व कर्मोदयसे रागादिकी उत्पत्ति है तब जीवको दोष क्यों दिया जाता है ? ज्ञानी हो या अज्ञानी—कर्मोदयसे दोनों पीड़ित होते हैं ?

समाधान—पूर्व कर्म भी तो जीवने अपनी भूलसे बांधे हैं। उसी भूलका वह फल है, अतः दोष अपराधीका ही होता है। इसी प्रकार मार्गको न देखकर चलने वाला यदि मार्गमें पड़े किसी पाषाण खण्डके निमित्तसे गिर पड़े, और चोट खा जाय, तो वह स्वयं अपराधी माना जाता है। पाषाणका दोष नहीं माना जाता। प्रमाद ही अपराधोंको जन्म देता है। लोकमें भी चोरी करने-वाला न्यायाधीशसे जेलकी सजा पाता है। हत्या करनेवाला फांसीकी सजा पाता है, क्योंकि अप-राधी तो वह स्वयं है।

(४११) **प्रश्न**—उसे कष्ट देनेवाला, फांसी देनेवाला न्यायाधीश क्या अपराधी नहीं, और हत्याका दोषी नहीं होता ?

समाधान—कदापि नहीं होता। अपराधी न्यायाधीशके कारण नहीं, मात्र अपने अपराधके कारण दण्ड पाता है। न्यायाधीश अपराधीको उसके अपराधके विना कभी दण्ड नहीं देता।

(४१२) **प्रश्न**—यदि न्यायाधीश उसे सजा न देते तो वह विचारा क्यों पीड़ित होता ? क्यों फांसी पर चढ़ता ? अतः न्यायाधीश ही इस कष्ट देनेका और उसकी मृत्युका जिम्मेदार है ?

समाधान—यदि ऐसा हो तो न्याय ही समाप्त हो जाय। कोई कितना भी अन्याय अत्या-चार करे उसे सजा नहीं देना चाहिए, क्योंकि वे बेचारे अपराधी कष्ट पायेंगे। यदि तत्काल न्यायाधीश अपराधीको दण्ड न दे तो प्रजाजनोंमें आततायी लोग नित्य ऐसे अपराध ही करेंगे। इससे पापोंकी संख्या बढ़ेगी और उनका दोष न्यायाधीश पर आयगा।

(४१३) **प्रश्न**—जेल आदिकी सजा देना इस दृष्टिसे अच्छा है, पर फाँसी देनेसे तो हत्या होती है? यदि फाँसी न देकर उसे भी लम्बी कैदकी सजा दे दी जाय तो कदाचित् वह अपने जीवनमें सुधार कर सकता है। फाँसी देनेसे तो उसके सुधरनेका कोई मार्ग ही नहीं रहता?

समाधान—आपकी इस तर्क पूर्ण बातसे हम सहमत हैं। यही अधिक उचित है कि अपराधीको सुधरनेका अवसर दिया जाय। परन्तु मूल वस्तुका समाधान ऐसा नहीं है। दण्ड कुछ भी दिया जाय वह दण्ड ही है। और दण्ड पानेवाला अपने दण्डको अपने अपराधके कारण पाता है, दूसरा तो उसमें निमित्तमात्र है। निमित्त अपराधी नहीं होता। अतः रागद्वेषकी उत्पत्तिके निमित्त कोई भी हों, वे अपराधी नहीं हैं।

अपराधी स्वयं जीव है, जो निमित्तोंको आलंबन बनाकर अपराध करता है। यदि जीव नाना पदार्थोंको देखे जाने, तो इसमें कोई अपराध नहीं है। अपराध तो उनसे रागद्वेष करना है। अतः अपने स्वभावमें स्थिति ही निरापराध है, तथा स्वभावसे च्युत ही अपराधी है।

(४१४) **प्रश्न**—उत्तम भोगोपभोगकी सामग्री सामने आती है तो उसमें इच्छा हो ही जाती है। यह प्राकृतिक है। इसे रोका भी तो नहीं जा सकता?

समाधान—सर्व प्रथम तो वे भोगोपभोगकी सामग्री, आपको अपनेसे राग करनेकी, या अनिष्ट सामग्री द्वेष करनेकी प्रेरणा नहीं करती। क्या कभी भोजन कहता है, या प्रेरणा करता है कि तुम मुझे खा लो। तब उनका क्या अपराध है? वे आपके विकारी भावमें निमित्त बने, इतने मात्रसे क्या अपराधी हैं? यदि ऐसा माना जाय तो न्याय उलटा हो जायगा। जैसे कोई पुरुष हलवाईकी दुकान पर जाय और उसे मिठाइयों पर राग आ जाय, वह उन्हें उठाकर खाने लग जाय, तो वह तो निरपराध माना जाना चाहिए, क्योंकि न सामग्री सामने होती, न उसकी इच्छा खानेकी होती। अतः वह सामग्री तथा उसे बनाने वाला अपराधी होगा, और खानेवाला निरपराध होगा। इसी प्रकार किसी सुन्दर महिलाको देखकर उसका अपहरण करनेवाला निरपराध होगा, और महिला तथा उसकी सुन्दरता ही अपराधी होगी। इस तरह सारी व्यवस्था विपरीत हो जायगी।

अतः सिद्ध है कि निमित्त अपराधी नहीं होता। इसी सिद्धान्तसे कर्मोदय निमित्त मात्र है, वह अपराधी नहीं है। जीव स्वयं अपने स्वात्मबोधसे विमुख होता है, अतः वही अपराधी है, अन्य नहीं। रागादि भाव अप्राकृतिक हैं, क्योंकि जीव स्वभावसे रागादि रूप नहीं है। संसारी भूलसे ही उन्हें प्राकृतिक कहता है। प्रकृति और स्वभाव एकार्थक हैं। परकी अपेक्षारहित जो गुण पदार्थमें पाये जाते हैं वे प्राकृतिक हैं, जो पर सापेक्ष विकृतियाँ होती हैं वे अप्राकृतिक हैं। इस अप्राकृतिक स्थितिको रोका भी जा सकता है। प्रकृतिका आश्रय करनेसे अप्राकृतिक स्थिति रुक जाती है।

अतः जीव अपनी शुद्ध ज्ञानमय प्रकृतिका अवलंबन करे और अप्राकृतिक रूप, पर निमित्त जन्य विकारोंको, दूर करे तो वह रागादिसे भिन्न हो सकता है, और अपने सहज वीतराग भावको प्राप्त हो सकता है॥२२२॥

पूर्व बद्ध कर्मका भी अभाव अपने स्वभावके आलंबनसे ही होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं[1] स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढ़चरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषविभावमुक्तमहसः**) राग और द्वेष आदि रूप जो जीवकी विभावपर्यायें, उनसे रहित है चैतन्य तेज जिनका, तथा (**नित्यं स्वभावस्पृशः**) नित्य ही अपने स्वभावका ही जो स्पर्श करते हैं वे जीव (**पूर्वागामिसमस्तकर्मविकलाः**) अपनी प्रतिक्रमणादिको कलासे पूर्व कर्मका भी अभाव करते हैं तथा प्रत्याख्यानसे अगामी कर्मसे भी निवृत्त होते हैं (**तदात्वोदयात् भिन्नाः**) तथा तत्काल वर्तमानकालमें आलोचनासे रागादिसे भिन्न रहते हैं, ऐसे जीव (**दूरारूढ़चारित्र-वैभवबलात्**) दृढ़ताके साथ ग्रहण किये गए अपने चारित्रके माहात्म्यके बलसे (**चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं**) प्रकाशमान चैतन्यकी किरणोंसे युक्त तथा (**स्वरसाभिषिक्तभुवनां**) अपने स्वरससे समस्त भुवनको सींचती हुई (**ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्**) ज्ञान चेतनाका (**विंदन्ति**) अनुभव करते हैं ॥२२३॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष, रागद्वेषके दूर हो जानेसे जिनका तेज प्रकाशमान है, तथा जो अपने परमपारणामिक भावस्वरूप नित्य स्वभावका ही स्पर्श करते हैं, अर्थात् उसे ही ध्यानमें रखते हैं, अन्य विकल्प ज्ञानमें नहीं लाते, वे अपनी इस विशुद्ध प्रवृत्तिके द्वारा, पूर्व कर्मका भी नाश करते हैं, निर्जरा करते हैं। अथवा पूर्व किये शुभाशुभ भावोंका प्रतिक्रमणके द्वारा निराकरण करते हैं। साथ ही वर्तमान कालमें नवीन कर्मका बन्ध नहीं करते, तथा 'अगामी कालमें मेरेसे दोष न हो' ऐसा प्रत्याख्यान करते हैं। वर्तमान कालमें उदयमें आने वाले समस्त कर्मको, अपनी स्वभावस्पर्शी परिणतिसे नीरस कर देते हैं, निष्फल कर देते हैं। यह आलोचना कर्म है। इस तरह प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान व आलोचनाके द्वारा त्रिकालके दोषोंको दूर करके, अपने उन्नत चरित्रकी दृढ़तासे, अपनी चैतन्यकिरणोंसे दैदीप्यमान "ज्ञान चेतना"को प्राप्त होते हैं।

चेतनाके तीन प्रकार कहे गये हैं—१-कर्म चेतना, २-कर्म फल चेतना और ३-ज्ञान चेतना।[2] निजस्वरूपसे भिन्न, मिथ्यात्वादि कर्म बन्धके योग्य परिणाम, 'कर्म चेतना' है। कर्मके फलस्वरूप दुख-सुख परिणाम "कर्म फल चेतना" है। कर्म और कर्मफल चेतनासे भिन्न, अपनी आत्माकी जो स्व-रमणरूप प्रवृत्ति है, वह "ज्ञान चेतना" है। अथवा परका कर्तृत्व भोक्तृत्व अज्ञान चेतना, तथा

१. नित्यस्वभावस्पृशः ऐसा भी पाठ है। इसका अर्थ ऐसा है कि 'अपने आत्माके नित्यस्वभावका जो स्पर्श करता है।'

२. कर्मचेतना—ज्ञानात् अन्यत्र इदं अहम् करोमीति चेतनं कर्मचेतना।
कर्मफलचेतना—ज्ञानात् अन्यत्र इदं वेदये अहम् इति चेतनं कर्मफलचेतना।

—समयसार, गाथा ३८९ आत्मख्याति टीका।

ज्ञान चेतना—स्वयम् ज्ञानमात्रस्य चेतनाति ज्ञान चेतना।

—समयसार, गाथा ३८६ आत्मख्याति।

स्वकर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञान चेतना है। ज्ञानी जीव कर्म और कर्म फल चेतनाको दूर करता है। वह न तो तात्कालिक अशुद्ध-परिणाम कर कर्म वंध करता है, और न पूर्व कर्मके उदयसे प्राप्त विषम या सम परिस्थितियोंमें दुख-सुखका अनुभव करता है, किन्तु तीसरी ज्ञान स्वभावके संचेतन स्वरूप जो ज्ञान चेतना, केवल उसका ही अवलम्वन करता है। इसके फलस्वरूप उसे सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाश-पुञ्ज स्वरूप, केवल ज्ञान प्रकट होता है ॥२२३॥

ज्ञान चेतना तथा कर्म-कर्मफल चेतनाका फल क्या है, इसे प्रतिपादित करते हैं—

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं,
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्–
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥२२४॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य नित्यं सञ्चेतनया**) अपने स्वभावानुभवरूप जो ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टि जीवको निरन्तर होती है उसके फलस्वरूप (**अतीव शुद्धम् ज्ञानं प्रकाशते**) अत्यन्त विशुद्ध ज्ञानकी प्रकटता होती है, जो सदा काल रहती है। (**तु**) और (**अज्ञानसञ्चेतनया**) अज्ञानचेतना अर्थात् कर्म और कर्मफल चेतना मिथ्यादृष्टि जीवको होती है इससे (**बंधः धावन**) वंध दौड़ता हुआ (**बोधस्य शुद्धिम्**) ज्ञानकी पवित्रताको (**निरुणद्धि**) रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता प्रकट नहीं होने देता ॥२२४॥

भावार्थ—ज्ञानका संचेतन, अर्थात् अपनी शुद्धात्माका संचेतन, ज्ञान चेतना है। ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके होती है। वह आत्माकी चैतन्य परिणतियोंका ही कर्त्ता भोक्ता है, अतः अपनी उस ज्ञान चेतनासे वढ़ता हुआ क्रमशः अखण्ड सर्वतोविशुद्ध केवलज्ञानको प्रकट कर लेता है, जो अनंत काल तक प्रकाशमान रहता है।

अज्ञानचेतना मिथ्यादृष्टि जीवके होती है। वह परमें अपना कर्तृत्व और परका भोक्तृत्व, जो मिथ्यात्वकर्मके वंध योग्य परिणाम हैं, उन्हें करता हुआ, तीव्र कर्मका वंध करता है। इससे संसार वढ़ता है और ज्ञानकी विशुद्धताको प्राप्त नहीं होता। यह तो स्वाश्रित क्रिया है और स्वाश्रित फल है। जैसी क्रिया करोगे वैसी ही परिणति होगी। शुद्धात्मानुभवकी क्रियासे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होगी, तथा अशुद्धात्मानुभवसे आत्मा अशुद्ध ही रहेगी।

(४१५) **प्रश्न**—विना पूर्ववद्ध कर्मोंकी निर्जरा किये—केवल 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा अनुभवन-वेदन करनेसे केवल ज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो जायगी ? क्या मन चिन्तामणि रत्न है कि जो सोचे सो ही वन जाय ?

समाधान—वात तो ऐसी ही है। पर कठिनाई यह है कि मन सोचता ही तो विपरीत है, अतः विपरीत फलको प्राप्त होता है। मन जव यह चाहेगा कि मुझे केवलज्ञान चाहिए, तव यह अपनी मानसिक परिणतिकी अशुद्धताको दूर कर देगा, और शुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्ति करेगा। यह नहीं हो सकता कि मन अशुद्धतारूप परिणमन करता रहे और उसके फलस्वरूप शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति चाहने मात्रसे मिल जाय। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा आलोचना ये तीनों ही कर्म, जो

भूतकालके अपराधोंसे, भविष्यके अपराधोंसे तथा वर्तमानके अपराधोंसे, आत्माको मुक्त कर देते हैं, आत्मशुद्धिके कारण हैं, उन्हींका फल केवल ज्ञान है।

(४१६) **प्रश्न**—इन तीनोंका क्या स्वरूप है ? क्या ये तीनों कर्म एक साथ हो सकते हैं ? एक समयमें तो एक ही क्रिया होगी ?

समाधान—एक ही क्रियाके ये तीन फल हैं। आत्माकी ऐसी ही विचित्र यह क्रिया है। इन तीनोंके स्वरूप समझनेसे, इसका सहज ही स्पष्टीकरण हो जायगा। इन तीनोंका स्वरूप ग्रंथकार आगे स्वयं कहेंगे। इनका संक्षेप इस प्रकार है—

(१) **प्रतिक्रमण**—भूतकालमें जो अपराध अर्थात् आत्म स्वभावसे भिन्न शुभाशुभ भाव किये हैं, उनके फलस्वरूप ज्ञानावरणादि बंध किये हैं, वह मैंने अपराध किया है। इन अपराधोंका मैं विशोधन करना चाहता हूं। साधक पुरुष इस प्रकार पूर्वकृत कर्मोंपर पश्चात्ताप करता है। इसे प्रतिक्रमण क्रिया कहते हैं।

(२) **आलोचना**—वर्तमानमें उस प्रकारके परिणाम न करना जिनसे पुनः कर्मबंध हो। अपने वर्तमान परिणामोंका आलोचन या अवलोकन कर सावधानी वर्तना आलोचना है।

(३) **प्रत्याख्यान**—भविष्य कालमें भी ऐसे वे बंधयोग्य अशुद्ध परिणाम न हों—उनका परित्याग करना प्रत्याख्यान कर्म है।

ये तीनों प्रयत्न अपना भिन्न-भिन्न नाम पाते हैं। अतः व्यवहारतः प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना हैं। परमार्थसे तो एकमात्र वर्तमानकी सुविशुद्ध रागादि विकारोंसे रहित, शुद्धात्माके अनुभवन स्वरूप, एकाग्र परिणति है। उससे ही वर्तमानमें शुद्ध होनेसे वह अबन्धक है, तथा पूर्व कृत कर्मकी भी निर्जरा इस सुविशुद्ध परिणामसे होती है, जिसे प्रतिक्रमण कहना चाहिए। तथा इसीका फल है कि आगामी कर्मबंध नहीं होता, वही प्रत्याख्यान कर्म है। वर्तमानका आत्मावलोकन ही आत्मालोचना है। ऐसे तीनों कार्य एक साथ अपनी वर्तमान परिणतिसे होते हैं। अतः सर्वप्रयत्नोंसे अपने वर्तमान परिणामोंकी सम्हाल मन कर ले, तो वही चैतन्यभाव स्वयं चिन्तामणि रत्न है, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं है।

इस सुविशुद्ध परिणामका फल केवलज्ञान है, मोक्ष है, और अविशुद्ध परिणामका फल संसार है, क्योंकि वह संसारका ही बीज है। इसी सुविशुद्ध परिणामको ज्ञान चेतना तथा अविशुद्ध परिणाम को कर्म-कर्मफल चेतना कहते हैं ॥२२४॥

मोक्ष तो कर्मरहित अवस्था है। उसकी प्राप्तिके लिए कर्म सन्यासकी भावना करते हैं—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकाल विषयं मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२५॥

अन्वयार्थ—(**कृत-कारिता नुमननैः**) कृतसे, कारितसे तथा अनुमोदनासे तथा (**मनोवचः-कायैः**) मन-वचन, कायसे (**सर्वं त्रिकालविषयं कर्म परिहृत्य**) भूत-भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी सकल शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार करके (**परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे**) मैं परम अर्थात् सर्वोत्कृष्टपनेसे 'निष्कर्म' अवस्थाका अवलम्बन करता हूं। अर्थात् सर्व शुभाशुभ कर्मकी क्रियाओंका त्यागकर एकमात्र चैतन्य क्रियाका अवलम्बन करता हूं ॥२२५॥

भावार्थ—कर्मरहित जो नैष्कर्म्य अवस्था, उसीसे मुक्ति होती है। कर्मका अर्थ है—मन-वचन कायसे होनेवाली क्रियाएँ। ये क्रियाएँ राग-द्वेष-मोह परिणामके कारण, शुभाशुभ रूपमें अज्ञान दशामें सतत होती रहती हैं। भूतकालमें हुई, वर्तमानमें भी हैं और आगामी भी हो सकेंगी। इन क्रियाओंको व्यक्ति जब स्वयं करता है, तब उसे 'कृत' कहते हैं। जब दूसरेसे कराता है उसे 'कारित' कहते हैं। जब करने वालेके कार्यकी सराहना करता है, वह 'अनुमोदना' कहलाती है। तीनों क्रियाएँ कर्मबंधकी कारण हैं।

मन-वचन-काय इन तीनके एक-एकका पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेसे तीन भेद होते हैं। दो-दो को एक साथ लेनेसे भी तीन भेद बनते हैं। तीनोंको एक साथ लेनेसे एक भेद बनता है। ऐसे सात भेद बने। कृत-कारित-अनुमोदनाके भी इसी प्रकार एक-एक रूपमें तीन भेद, द्विसंयोगी तीन भेद, तथा तीनों मिलाकर एक भेद, ऐसे सात भेद बनते हैं। मन-वचन काय सम्बन्धी सातोंको कृत-कारित-अनुमोदना सम्बन्धी सातों भेदोंसे मिलावें तो उनचास (७×७=४९) भेद हो जाते हैं। इन उनचास प्रकारसे जीव शुभाशुभ कार्य करता है।

भूतकालकी अशुद्ध परिणति रूप क्रियाएँ उनचास भेदोंसे हुई हैं। वर्तमानकालमें भी इन ही उनचास भेद रूप अशुद्ध परिणति चलती है। भविष्यकालमें भी इन्ही उनचास प्रकारसे अशुद्ध परिणति सँभाव्य है।

अत: भूतकालकी क्रियाओंका प्रतिक्रमण—वर्तमानकी क्रियाओंकी आलोचना—तथा भविष्यत् कर्मका प्रत्याख्यान करता हुआ मैं, निष्कर्मावस्था स्वरूप स्वात्माका अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार कर्म, कर्मफल, चेतनाका त्याग करने वाला जीव निष्कर्मा होकर ज्ञान चेतनाके आश्रयसे सिद्धपद प्राप्त करता है ॥२२५॥

भूतकालके कर्मके सम्बन्धमें इस प्रकार विचार करना चाहिए—

"यदहं अकार्षं—यदचीकरं—यत्कुर्वन्तम् अपि अन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।" —(इसी कलशकी आत्मख्याति टीका)

अर्थ—जो पाप मैंने किये—जो मैंने अन्य को प्रेरणा करके कराये—जो अन्य ने स्वेच्छा से किये उनका समर्थन किया, ये तीनों कार्य मनसे, वचनसे, कायसे किये हैं। वे मेरे पाप या अशुद्ध परिणति रूप भाव मिथ्या हो जावें, अर्थात् मिट जावें।

इसी भावको कहते हैं—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

अन्वयार्थ—(**मोहात्**) अपने अज्ञानसे (**यत् अहं अकार्षम्**) जो पापादिके कार्य मैंने किये हैं (**तत्समस्तमपि कर्म प्रतिक्रम्य**) उन सब क्रियाओंका प्रतिक्रमण करके मैं (**चैतन्यात्मनि आत्मनि**) चैतन्य स्वरूप आत्मामें (**निष्कर्मणि**) जो स्वयं कर्मरूप नहीं है, उसमें (**नित्यम्**) सदाकाल (**आत्मना**) अपने स्वरूपसे (**वर्ते**) वरतता हूँ ॥२२६॥

भावार्थ—ऊपर जो उनचास भेद कहे थे उन उनचास अंगों से जो भूतकालमें पाप क्रियाएँ हुई हैं, मैं उन सबका प्रतिक्रमण करता हूँ, और अब अपने निष्कर्म स्वरूप चैतन्याकार रूप शुद्धात्मा

में ही रहता हूँ, वे मेरे सब कर्म मिथ्या हो जावें। यह भूतकाल सम्बन्धी पापोंके परित्याग रूप प्रतिक्रमण कार्य है ॥२२६॥

आलोचन किस प्रकार करना चाहिए उसका निदर्शन करते हैं—

"न करोमि—न कारयामि—न कुर्वन्तमपि अन्यं समनुज्ञानामि मनसा च—वाचा च कायेन चेति।" (—इसी कलशकी आत्मख्याति टीका)

अर्थ—वर्तमानमें मैं पापादि क्रियाएँ मन-वचन-कायसे न करता हूं—न कराता हूं और न अन्य करने वालेका समर्थन करता हूं—

इसी भावको प्रगट करते हैं—

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

अन्वयार्थ—(**मोहविलासविजृंभितम्**) मोहके प्रसारसे वृद्धिगत (**इदम् उदयत् सकलं कर्म**) उदयको प्राप्त समस्त कर्मकी (**आलोच्य**) आलोचना करके अर्थात्, यह अनात्म स्वरूप है ऐसा विचार करके, मैं (**निष्कर्मणि**) समस्त कर्मोंसे भिन्न (**चैतन्यात्मनि आत्मनि आत्मनावर्ते**) चैतन्यके अखण्ड-पिण्ड स्वरूप निजात्मामें अपने स्वयंके पुरुषार्थसे प्रवर्तता हूं ॥२२७॥

भावार्थ—वर्तमानके समस्त दोषोंकी, जिनकी भंगसंख्या उनचास है, मैं आलोचना करता हूँ। अर्थात् आप ही अपने पापोंकी समालोचना करता हूँ, उन्हें अनुपादेय मानता हूँ, और उनसे निवृत्त होकर चैतन्यस्वरूप कर्मोपाधिसे सर्वथा पृथक्, ऐसी आत्मामें अपने ही प्रयत्नसे वर्तता हूँ। यह आलोचना क्रिया है ॥२२७॥

प्रत्याख्यानकी क्रियाका विवेचन—

"न करिष्यामि—न कारयिष्यामि—न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति॥" (—इसी कलश की आत्मख्याति टीका.)

अर्थ—मैं आगामी, भावी कालमें भी पापादि अशुद्ध क्रियाओंको, मन-वचन कायसे न करूँगा—न कराऊँगा और न अन्य करनेवालेकी अनुमोदना करूँगा। यही भाव स्पष्ट करते हैं—

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

अन्वयार्थ—(**भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय**) आगामी कालकी संपूर्ण पापादि क्रियाओंको त्यागकर (**निरस्तसंमोह**) समस्त मोह, अर्थात् मिथ्यात्वमय अज्ञानभावसे रहित हुआ मैं (**निष्कर्मणि**) समस्त द्रव्य-भाव कर्मस्वरूपसे भिन्न है स्वरूप जिसका, ऐसी (**चैतन्यात्मनि आत्मनि**) चैतन्य रसात्मक अपनी निजात्मामें (**आत्मना वर्ते**) अपने स्वरूपसे ही प्रवर्तता हूँ ॥२२८॥

भावार्थ—मैं मन वचन काय, कृत-कारित-अनुमोदनाके उनचास भंगोंसे भविष्यत्कालमें कोई भी अशुद्ध क्रिया न करूँगा। अभी तक ये क्रियाएँ मिथ्यात्वादि अज्ञान भावोंसे हुई हैं,—अब मैं मोह रहित हुआ, अतः इन क्रियाओंसे अपनेको मुक्तकर कर्म-नोकर्मकी समस्त उपाधियोंके स्वरूपसे सर्वथा भिन्न, चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मामें ही वरतूँ यह प्रत्याख्यान कर्म है ॥२२८॥

उक्त प्रकार समस्त कर्म परित्यागकर शुद्धात्माका अवलंबन करनेका उपदेश देते हैं—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म, त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥२२९॥

अन्वयार्थ—(**विलीन मोहः**) मोह रहित (**शुद्ध नयावलम्बी**) शुद्ध नयका अवलम्बन करने वाला मैं, (**इत्येवं समस्तमपि त्रैकालिकं कर्म अपास्य**) उक्त प्रकारसे अपने तीनों काल सम्बन्धी समस्त कर्मों को दूरकर, (**अथ**) इसके बाद (**विकारैः रहितम्**) निर्विकार (**चिन्मात्रं आत्मानम्**) चैतन्यमात्र आत्मा का (**अवलम्बे**) अवलम्बन करता हूँ ॥२२९॥

भावार्थ—कर्म, नोकर्म-भावकर्म जन्य समस्त विकार शुद्धात्मामें नहीं हैं। अशुद्धात्मामें हैं। वे स्वरूप रूप नहीं हैं, आत्म स्वरूपसे सर्वथा भिन्न स्वरूप हैं। अतः शुद्धनयके अवलंबनसे शुद्धात्मका दर्शी, निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका ही अवलोकन करता है। भूत भविष्यत् वर्तमानके समस्त कर्मोंको, अनात्मस्वभाव जानकर उनका त्याग करता है। यही उसका कर्म सन्यास है ॥२२९॥

(४१७) **प्रश्न**—ज्ञानी पुरुषकी भावना तो अच्छी है जो त्रिकालके लिए पापोंसे मुक्त होना चाहता है, और शुद्धात्मामें रमण करना चाहता है। पर प्रश्न यह है कि "मेरे पुरातन कर्म मिथ्या हो जाँय, वर्तमानमें मैंने जो पापादि किए उनकी समालोचना करता हूँ, भविष्यमें वे मुझसे न हों" ऐसा कहनेसे तो कर्म छूट नहीं सकते। तब उस प्रतिक्रमणादि द्वारा उनका परिहार कैसे होता है ?

बंधन तो अनेक कालोंमें संचित दुर्भावनाओंसे हुआ है। उन बंधे कर्मोंमें स्थिति अनुभाग सागरोंके लिये हैं। तब एक बार ऐसी सद्भावना करनेसे कि वे मिथ्या हो जाँय, क्या क्षण भरमें मिथ्या हो जायेंगे ? तथा मैं चैयन्यात्मामें प्रवर्तता हूँ ऐसा कथन करनेसे समस्त मोह तथा तज्जन्य विकार दूर होकर, आत्मा अपने स्वरूपमें सदा को निमग्न हो जाय ? ऐसा देखा नहीं जाता, तब इसकी प्रतीति कैसे होवे ?

श्रावक तथा साधु दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक-मासिक-चातुर्मासिक-वार्षिक प्रतिक्रमण करते हुए देखे जाते हैं। तथापि वे रागादि विकारोंसे रहित, निज शुद्धात्मा में सदाकालको रत हो गए ऐसा नहीं देखा जाता। तब इससे क्या लाभ है ?

समाधान—बंध दुर्भावनासे हुआ था, अतः सद्भावनासे बंधसे छूटना भी होगा। अतः प्रतिक्रमणादि निरर्थक नहीं हैं, सार्थक हैं। साधुजन तथा श्रावक—दैवसिक प्रतिक्रमण द्वारा दिनमें हुए दोषोंको दूर करते हैं। रात्रिकसे रात्रिसंबंधी दोषोंको दूर करते हैं। इसी प्रकार मासिक, चातुर्मासिक आदिमें, उस मासमें या चातुर्मासमें जो दोष हो जाते हैं उनका प्रतिक्रमण कर उन दोषोंसे मुक्त होते हैं। भेद ज्ञानके बलपर अपनी आत्मा को दोषोंसे पृथक् करना ही प्रतिक्रमण है।

(४१८) **प्रश्न**—यदि एक बार प्रतिक्रमणसे भूतकालके दोष दूर हो जाते हैं और प्रत्याख्यानसे भविष्यमें दोष न करनेकी भावना हो जाती है तो फिर बार-बार दोष क्यों होते हैं ? यदि बार-बार दोष न होते, तो बार-बार प्रतिक्रमण भी न करना पड़ता। साथ ही प्रत्याख्यान करके भी यदि दोष करना है तो उस प्रत्याख्यानका क्या अर्थ है ? यह तो एक नाटकीय कार्य दिखावा

प्रतीत होता है। दोष न होनेकी प्रतिज्ञाकर, पुनः दोष करना अक्षम्य है, उसका प्रतिक्रमण कैसा? इसका समाधान करें।

समाधान—सम्यग्दृष्टि जन, इस पद्धतिसे अपने अशुद्ध भावोंको "ये त्याज्य हैं 'आत्म-स्वरूप नहीं है" ऐसा मानते हैं। इस भावनाका अर्थ यह है कि उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गयी कि मैंने अज्ञान दशामें यें सब कर्म किए हैं—ये मेरे अपराध हैं। मैं इन अपराधोंसे छूटूँ। भविष्यमें ऐसे अपराध मुझसे न हों ऐसी भावना उसकी है। उस पूर्वकृत कर्मका पश्चात्ताप, तथा उनसे छूटनेकी भावना ही उनसे छूटनेका उपाय है, अन्य नहीं। जिसके भावना ही नहीं है, उन्हें हेय ही नहीं मानता, वह कैसे छूटेगा। यह सत्य है कि वहुत कालके बंधे सागरोपमस्थितिवाले कर्म कथनमात्रसे न छूटेंगे, पर जब छूटेंगे तो ऐसी भावनाकी दृढ़तासे ही छूटेंगे। बलवती भावना एक बारमें भी पापांधकार की विनाशक हो सकती है, जैसे सैकड़ों वर्षोंकी अंधकार ग्रस्त गुफाके ससस्त अंधकार को प्रकाश, एक बारमें ही मिटा देता है। इसीसे कहा है कि—'चिरस्थाय्यन्ध कारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति।'

प्रतिक्रमण 'कथन मात्र' शाब्दिक वस्तु नहीं है, वह तो क्रियात्मक वस्तु है। दोषोंको हेय मानकर छोड़ना ही वस्तुतः प्रतिक्रमण है। यह सही है कि बार-बार दोष होते हैं, इसीलिए बार-बार उनसे छूटनेकी भावना करता है। बार-बारकी भावनासे आत्मामें दृढ़ता आती है, और वह दोषोंसे क्रमशः मुक्त होकर शुद्धात्म तत्त्वमें प्रवेश करनेकी भावनाके कारण, शुद्ध तत्त्वको प्राप्त भी करता है। शुद्ध तत्त्वमें प्रवेश करनेपर अशुद्धता स्वयं मिट जाती है, अतः सिद्ध है कि प्रति-क्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, ये तीनों ही आत्माको विशुद्ध करनेके सफल साधन हैं।

(४१९) **प्रश्न**—क्या बिना भोगे असमयमें कर्म निर्जराको प्राप्त हो सकते हैं? यदि ऐसा हो तो कर्म करना निष्फल ही हुआ?

समाधान—उदय कालके पूर्व, बिना फल दिये भी, कर्म असमयमें निर्जराको प्राप्त हो जाते हैं। उसी को तो अविपाक निर्जरा कहते हैं। फल देकर यथासमय होनेवाली कर्मोंकी निर्जरा-को सविपाक निर्जरा कहते हैं, वह तो समस्त संसारी जीवोंके प्रति समय पाई जाती है, वह मोक्ष-मार्गमें उपयोगी नहीं है। अविपाक निर्जरा, समय आए बिना भी जीवके विशुद्ध परिणामोंके अनुसार हो जाती है। तप आदिके द्वारा भी निर्जरा होती है, ऐसा "तपसा निर्जरा च" सूत्रमें उमास्वामी द्वारा कहा गया है।

(४२०) **प्रश्न**—तपस्या करनेसे कर्म निर्जरा हो जाती है यह स्वीकृत है। पर यहाँ तो तपकी बात नहीं है। 'केवल मैं आत्मामें प्रवर्तता हूँ' ऐसा मात्र कहा है। सो दोनों कथन अविरुद्ध प्रतीत नहीं होते?

समाधान—वे दोनों वचन अविरुद्ध हैं। वस्तुतः आत्माका अपने स्वरूपमें प्रतपन करना ही निश्चय तप है। अपने स्वरूपमें संलग्न होनेसे आत्माकी प्रशस्त शक्ति प्रकट होती है। वही तप है, और उसीसे निर्जरा होती है। बाह्य तप तो अन्तरंग तपका साधनमात्र है। निर्जरा तो अभ्यन्तर तपसे ही होती है। तपोंका जो भी अन्तरंग बहिरंग वर्णन है उन सबका एकमात्र उद्देश्य है कि आत्माका निज प्रताप बढ़े। अतः 'तपसा निर्जरा' कहनेमें तथा चैतन्यात्मामें प्रवर्तमान होनेमें, परस्परानुकूलता ही है॥२२९॥

अचल चैतन्यके अवलंबन करनेवाले साधकके कर्म बिना फल दिये स्वयं गलते हैं। आगे कलशमें यही प्रतिपादन कहते हैं—

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यामात्मानत्मानम् ॥२३०॥

अन्वयार्थ—(**भुक्तिमन्तरेणैव**) फल भोगनेके बिना ही (**मम कर्मविषतरुफलानि**) मेरे कर्म रूपी विष वृक्षके फल (**विगलन्तु**) गल जावें। क्योंकि (**अहम्**) मैं (**अचलं चैतन्यात्मानं आत्मानं**) स्थिर रूपसे चैतन्यस्वरूप आत्माको (**सञ्चेतये**) संचेतन करता हूँ। अर्थात् मैं अपने आत्मस्वभावमें स्थित होता हूँ।

भावार्थ—जो जीव अचल चैतन्यका अवलम्बन करते हैं, तथा उसीमें रमण करते हैं, वे तत्काल रागादि विभाव रहित अवस्थाको प्राप्त होते हैं। इस निर्विकल्प आत्मध्यानके कालमें, उदयको आने वाले कर्मरूपी वृक्षके फल, बिना फलदानके ही विनाशको प्राप्त हो जाते हैं।

अचल चैतन्यको अवलम्बन करने वालेको प्रतिसमय, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तथा आलोचन स्वयं प्राप्त है, क्योंकि वह उनके फलको प्राप्त हो चुका है। यही कर्म बंधके छूटनेका उपाय है, अन्य नहीं ॥२३०॥

उस अचल चैतन्यका अवलंबन मेरे सदाकाल रहो ऐसी भावना करते हैं—

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियान्तर-विहार-निवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालवलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३१॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**निःशेषकर्मफलसन्यसनात्**) उदयागत कर्मोंके समस्त सुख दुखादि फलोंका परित्याग कर देनेवाले, (**सर्वक्रियान्तरविहार-निवृत्तवृत्तेः**) अपनी चैतन्य क्रियाके सिवाय जिसने अन्य समस्त क्रियाओंमें विहार करनेसे अपनी निवृत्ति रोकी है तथा (**चैयन्यलक्ष्म आत्मतत्त्वम् भृशम् भजतः**) चैतन्य ही है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्माका ही सदा अनुभव करनेवाले तथा उसमें (**अचलस्य**) निश्चल रहनेवाले (**मम**) मेरी (**इयम् अनन्ता कालावली**) ये आगामी आनेवाली अनन्त काल पंक्तियाँ (**वहतु**) इसी अवस्थामें व्यतीत होवें।

भावार्थ—वर्तमान कालमें मैं अपने चैतन्य भावका, जो मेरा सुविशुद्ध स्वरूप है, उसीका अनुभव कर रहा हुँ। इस ज्ञान चेतनाको धारण करनेके साथ-साथ, मैं उदयागत कर्मके फलस्वरूप अज्ञान रूप, या सुख-दुखादिरूप परिणमनकी जो क्रिया, उससे भिन्न हो चुका हूँ, अतः कर्मफलसे रहित हूँ। इस ज्ञान चेतनासे भिन्न रागादिक्रिया, जो आगामी कर्म बंधका कारण होनेसे कर्म चेतनारूप क्रिया है, उसमें भी मैं प्रवृत्ति नहीं करता। केवल विशुद्ध आत्मानुभव करता हूँ। मेरा भावी अनन्त काल भी इसी प्रकार अविचलित रूपसे व्यतीत हो ऐसी भावना है।

जो जीव उदयागत कर्मके फलस्वरूप, सुख दुखादिरूप परिणाम नहीं करता, शुभ या अशुभ कर्मके उदयमें रागद्वेष रूप परिणाम नहीं करता,—संकल्प विकल्प नहीं करता; अपने

ज्ञानानन्द स्वरूपमें ही अपने उपयोगको रमाता है, तथा आगामी कर्मके बंध योग्य परिणाम न करके, अपने परिणामोंका विहार अपनी ही मर्यादामें सीमित रखता है, उसकी ये परिणतियां ही प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना स्वरूप हैं।

ज्ञानीकी भावना है कि मैं इस आत्मानुभवमें सदा काल बना रहूँ। अब कालका क्षणमात्र भी ऐसा न आवे, जिसमें मेरी आत्मानुभवन रूप उपयोग की यह धारा विचलित हो।

जिसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्माके अनुभवका आनंद आ गया, वह उस आनन्दमें ही तृप्त है। संसारके विषय सुखका आनंद अतृप्तिकारक है। उसमें सदा परिवर्तनकी आकांक्षा बनी रहती है। कुछ नया-नया विषय चाहता है, अतः वर्तमानसे अतृप्त हो, भावी कालमें नए विषयोंकी आकांक्षा करता है। ज्ञानी जिस आत्मानुभवके आनंदको प्राप्त हुआ है, वह उसी दशामें सदा रहना चाहता है, उससे हटना नहीं चाहता। वह पूर्णतृप्त है। विषयालम्बन और आत्मालंबनके सुखमें यही महान अन्तर है ॥२३१॥

उक्त अर्थका पुनः समर्थन करते हैं—

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३२॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो ज्ञानी जीव (**पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणाम्**) पूर्व कालमें किए अपने विभावोंके फलस्वरूप उत्पन्न जो कर्म रूपी विषके वृक्ष, उनके (**फलानि**) विष फलोंको (**न भुंक्ते**) नहीं भोगता (**सः खलु स्वत एव तृप्तः**) वह अपने स्वरूपमें स्वयं तृप्त है—संतुष्ट है। यह ज्ञानी (**आपातकालरमणीयम्**) वर्तमान अनुभवके कालमें भी अत्यन्त आनंद दायक, तथा (**उदर्करम्यम्**) भावी अनन्त काल तक भी रमणीय, ऐसे (**निष्कर्मशर्ममयम्**) कर्मकी कालिमासे रहित सुख स्वरूप (**दशान्तरम् एति**) संसार दशासे भिन्न, दशाको प्राप्त होता है, अथवा निष्कर्म, मन, वचन, कायकी क्रियाओंसे रहित, आत्मोत्थ सुख स्वरूप मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३२॥

भावार्थ—संसारी जीवोंको, पूर्वकृत विभाव भावोंके कारण, नाना प्रकारके पुण्य-पापादि रूप, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका बंध प्राप्त हुआ है। इनका जब उदय आता है तब यह जीव अज्ञान-मोह-राग-द्वेष रूप, तथा सुख-दुःखादि स्वरूप परिणमन करता है। ये सब विभाव जीवके कर्म बंधनको पुनः दृढ़ करते हैं। इसी प्रकार इन विष वृक्षोंके विष फलोंको यह जीव सदासे भोगता आ रहा है। कभी संयोगसे पुण्यका उदय हुआ, और उसमें कुछ साता पाई, तो पंचेन्द्रियोंके विषय भोगोंमें उन्मत्त होकर, उन्हींमें सुखानुभव करता है। नित नए-नए साधन मिलाता है, फिर भी तृप्त नहीं होता। प्रत्युत उसकी यह अतृप्ति ही वस्तुतः दुख रूप है। सुख तो तृप्ति या सन्तोषका नाम है। जहाँ प्यास बनी रहे, सन्तोष न हो, वहाँ तो व्याकुलता ही रहती है। अतः वह सुख नहीं दुःखका ही एक प्रकार है।

विषयभोग तत्काल तो रमणीय दिखते हैं, पर उनका भविष्य दुखोत्पादक है। जैसे दादका रोगी जब दाद खुजाता है तब उसे बहुत आनंद आता है, पर उसका वह आनंद ही उसके रोगके

वढ़नेका कारण है। इसलिए वस्तुतः वह आनंद वर्तमान कालमें रमणीय होनेपर भी, उत्तर कालमें दुखदायक होनेसे रमणीय नहीं है।

अथवा जैसे विष मिश्रित मिष्टान्न तत्काल खानेमें अच्छे लगते हैं, पर उत्तर कालमें मरणके हेतु हैं, अतः हानिकारक हैं। इसी प्रकार पंचेन्द्रियोंके विषय भोगों या क्रोधादि कषाय-भावोंका आलंवन करनेवाला जीव, तत्काल तो अपनेको आनन्दित मानता है, पर उस आनंदके फल स्वरूप जो पापका सञ्चय हो जाता है, उसका फल आगामी कालमें अति भयंकर और कष्ट-दायक होता है। आत्मोत्थ सुख तत्काल भी आनंद दायक है—तृप्तिकारक है—और उसका उत्तर फल भी केवलज्ञानकी प्राप्ति है।

शुभ-अशुभ परिणाम जहाँ संसारमें वंध स्वरूप होनेके कारण, दुख रूप ही हैं, और दुखो-त्पादक हैं, वहाँ शुभाशुभसे भिन्न शुद्धोपयोगके परिणाम, आगामी वंध न करानेसे सुखदायक हैं। शुद्धोपयोग ही केवलज्ञानके उत्पन्न होनेका मूल कारण है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है। तीनोंमें उपयोगकी विशुद्धता ही मूल है। अतः ज्ञानी सदा काल उसकी ही वांछा करता है ॥२३२॥

ज्ञानचेतनामें नृत्य करनेवाला जीव प्रशमरसमें निमग्न हो जाता है, ऐसा कथन करते हैं—

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाऽज्ञानसञ्चेतनायाः ॥
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥

अन्वयार्थ—(**कर्मणः तत्फलात् च**) ज्ञानावरणादि कर्मवंध योग्य परिणामोंसे तथा उनके फल स्वरूप अज्ञान-सुख-दुखादिसे (**विरतिम्**) आत्माके पृथक् पनेको (**अविरतम् भावयित्वा**) निरन्तर भावना करके, तथा (**अखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः**) इन्हीं विकारभावों स्वरूप, व सुख दुखादि रूप उपयोगकी जो वृत्ति, वही हुई अज्ञान चेतना,—अर्थात् कर्म-कर्मफल चेतना, उसके (**प्रलयनम्**) विनाशको (**प्रस्पष्ट नाटयित्वा**) स्पष्ट रूपसे प्रकट करके, साथ ही (**स्वरसपरिगतं स्वभावं**) अपने आत्मरससे परिपूर्ण अपने ज्ञान स्वभावको, (**पूर्णं कृत्वा**) पूर्ण स्वरूपको प्रकट करके (**स्वां ज्ञान संचेतनां**) अपनी सुविशुद्ध ज्ञान संचेतनाको (**सानन्दम् नाटयन्तः**) आनन्दसे नृत्य कराते हुए (**इतः प्रशमरसम्**) ज्ञानीजन अव शान्त रसको अथवा साम्यभाव रूपी परमामृतको (**सर्वकालम्**) अनन्तकाल तक (**पिबन्तु**) पिएँ ॥२३३॥

भावार्थ—जिन जीवोंने अपने विभाव भावरूप कर्म चेतनाका, तथा पूर्वकृत इन विभावोंके फल स्वरूप सुखदुखादि रूप कर्म फल चेतनाका, नाश करनेकी सतत भावना की है, और इस भावनाके वलसे ही कर्म चेतना, व कर्म फल चेतनाको, जिसे-एक अज्ञान चेतना ही कहना चाहिए, उसको प्रलय कर दिया है, उन्होंने ही अपने आत्मानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञानके वलसे, अपने केवलज्ञान स्वभाव-पर्याय की प्राप्ति की है। वे ही अपनी ज्ञान चेतनाको पूर्ण प्राप्त कर, आनन्दसे मुक्तावस्थामें साम्यामृतका सदा काल रसपान करते हैं।

(४२१) **प्रश्न**—'कर्म व उसके फलसे मेरी आत्मा भिन्न है' ऐसी भावना करनेमात्रसे क्या अज्ञान चेतना मिट जाती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है। भावना मात्रसे कार्य नहीं होता, कुछ और भी करना होता है, वह उत्तरार्धमें बताया गया है, कि अपने आत्मरससे भरे हुए स्वभावको पूर्ण करके, जो सानन्द नृत्य करता है, वह सदा साम्यामृतको प्राप्त करता है।

(४२२) **प्रश्न**—इसका तात्पर्य यह हुआ कि भावना करनेवाला अपनेमें केवलज्ञान प्रकट करे। कैसे प्रकट करे ऐसा कुछ तो बताया नहीं।

समाधान—ज्ञान चेतना रूप परिणमन करना—कर्म व कर्मफलरूप न परिणमन करना यही उपाय केवल ज्ञान, स्थिर ज्ञान, शाश्वत ज्ञान, अचल ज्ञान, प्राप्त करनेका है।

(४२३) **प्रश्न**—क्या हर एक व्यक्ति स्वयं स्वेच्छासे ऐसा कर सकता है ? यदि कर सकता होता तो क्यों अज्ञानी रहता, सब केवली ही बन जाते ?

समाधान—मिथ्यात्व परिणामके कालमें उक्त तत्त्वपर श्रद्धान ही नहीं होता—जिनागमके उपदेश बिना इस पद्धतिका ज्ञान ही नहीं होता—बिना श्रद्धान ज्ञानके संयम नहीं होता। जिस जीवके मिथ्याभाव दूर हुआ, उसे आत्मदर्शन हुआ, अर्थात् अपने विशुद्ध स्वरूपका भान हुआ। जिसे ऐसा भान हुआ वही इस स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे—अज्ञान चेतनाको दूर करनेमें समर्थ होता है।

(४२४) **प्रश्न**—क्या कर्मका उदय सम्यग्दृष्टि आत्मानुभव करनेवाले जीवको नहीं आता ? उसका फल उसे नहीं भोगना पड़ता ? ऐसा तो नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ जैसे तीर्थंकर महापुरुषोंको भी पूर्व कर्मका फल भोगना पड़ा। तब सम्यग्दृष्टि जीव कर्मफल चेतनासे भिन्न है, अर्थात् "फलं न भुत्ते" फल नहीं भोगता, यह बात विरुद्ध प्रतीत होती है ?

समाधान—कर्मोदयसे ही जीव संसारी है, ऐसा व्यवहारनयसे कथन है। परमार्थमें कर्मोदयके निमित्तसे जीवके परिणाम, जो अज्ञान, मोह, रागादिरूप परिणमते हैं, इस कारण जीव संसारी है। सभी संसारी प्राणियोंके कर्मोदय आता है, और उन्हें इसका फल भी भोगना पड़ता है। तथापि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके फल भोगनेकी क्रियामें अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आत्मस्वभावको नहीं जानता, अतः शरीरादिमें अपना रूप देख, उसके नाशमें अपने नाशकी मिथ्या कल्पना करता है, अतः अत्यन्त दुखी, संक्लेश परिणामी होता है। यही अज्ञान भाव या अज्ञान चेतना है।

सम्यग्दृष्टि जीवको उदयागत कर्मके उदयके निमित्तके रहते हुए भी, आत्मदर्शी होनेसे, मेरा स्वरूप क्या है, इसका उसे भान है। अतः शरीरादिके नाशमें वह अपना नाश नहीं देखता। अपने अचल अविनाशी स्वभावका ज्ञाता द्रष्टा होनेसे संक्लेश परिणाम नहीं करता।

भगवान् पार्श्वनाथको उपसर्ग हुआ, यह उनके पूर्व कृत कर्मोदयसे ही था, इसमें सन्देह नहीं है। उन्हें भी उस कर्मके उदयमें ऐसी विपत्ति आई, तथापि वे उस कर्मके फल रूप, सुख-दुख रूप, नहीं परिणमें, अर्थात् उन्होंने उसे दुख नहीं माना। उन्होंने अपना ज्ञानोपयोग शरीर व उसकी अवस्थाओंसे हटाया, उपसर्गसे हटाया, उपसर्ग करनेवालेसे हटाया। उपयोग अपने आत्म

स्वरूपके अनुभवनमें लगाया, उसीमें दृढ़ किया। इससे अन्यत्र उपयोग नहीं गया। फल स्वरूप यह कहना चाहिए कि कर्मके फलको स्वीकार नहीं किया। इसे ही कर्मके फलका न भोगना कहते हैं। इससे आत्मानुभूतिकी स्थिरता रही तो समस्त घातिया कर्म नष्ट होकर भगवान्‌को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। यही मार्ग अमृतचंद्राचार्यने उक्त कलशोंमें बताया है।

(४२५) **प्रश्न**—भगवान् पार्श्वनाथ तो तीर्थंकर थे, उनकी आत्मा समुन्नत थी। वे ऐसा कर सके। पर सामान्य सम्यग्दृष्टि जन भी क्या कर्मसे तथा कर्मके फलसे भिन्न ज्ञान चेतना स्वरूप हो सकते हैं ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि वस्तु स्वभावका वेत्ता है। अतः कर्मोदयकी अवस्थामें वह आत्म स्वभाव, व कर्मस्वभावमें, भेद जानता है। अतः कर्मोदय जन्य अवस्था हो, तो भी अपनेको उससे पृथक् अनुभव करनेके कारण उसका स्वामित्व नहीं करता। स्वामी ही फल भोगता है। जो जिस वस्तुका स्वामी नहीं है, वह उस वस्तुका फल नहीं भोगता। जैसे किराएके मकानमें रहनेवाला व्यक्ति, उस मकानका स्वामित्व नहीं करता, अतः उस मकानकी हीनाधिक अवस्थामें हर्ष-विषाद नहीं करता। पर रहता उसी मकानमें है। यदि मकानकी छत खराब हो तो बरसातमें तकलीफ भी वह भोगता है, तथापि वह मकानका स्वामी न होनेसे अत्यन्त आकुलित नहीं होता। वह सोचता है, मकान खराब हो रहा है, इसकी चिन्ता मकानका स्वामी करे मुझे क्या है ? छोड़ दूँगा इस मकानको। किन्तु मकान मालिक ऐसी उपेक्षा नहीं कर सकता। यद्यपि उसे किराए-दारकी तरह तकलीफ नहीं है। तथापि मकान मेरा है, वह नष्ट हो रहा है, इसकी आकुलतासे वह अत्यन्त दुखी है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जानता है कि शरीर भिन्न है—कर्म भिन्न है—उसका उदय उसकी अवस्था है। मेरा स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न है। उदय कालमें, संयोग-वियोगमें, हर्ष-विषादके कारण आते हैं, पर वे मुझसे भिन्न हैं। मेरी सत्तासे भिन्न हैं। मेरे गुणोंसे तथा मेरी पर्यायसे भिन्न हैं। मैं मेरे द्रव्य-गुण-पयर्यायका ही स्वामी हूँ। शरीरादि पर द्रव्य, कर्म तथा उसकी उदयादि अवास्थाएँ, मेरेमें नहीं हैं अतः कष्ट पाकर भी वह विचलित नहीं होता। वह उन सबका स्वामित्व नहीं करता। स्वामी बने तो भोक्ता हो। "स्वामी मैं नहीं हूँ" ऐसी दृढ़ श्रद्धाके कारण शरीरादिके नाशमें अपना नाश नहीं देखता, अतः भोगते हुए भी "नहीं भोगता" ऐसा कहा जाना चाहिए ॥२३३॥

इसीका प्रकारान्तरसे समर्थन करते हैं—

इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

अन्वयार्थ—(**इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनात् कृतेः विना**) नाना प्रकारके पदार्थोंके प्रसारका जो आश्रय, याने ज्ञान, उसके रहते हुए भी उसके कर्तृत्वसे रहित अथवा आकृतिसे रहित, (**समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितम्**) समस्त पदार्थोंकी पारमार्थिक भिन्नताके निर्णयसे-भिन्न स्वरूप निर्णीत हुआ (**एकं ज्वलत् अनाकुलम्**) स्वभावसे एक रूप, आकुलता रहित, उदीयमान् (**ज्ञानं इह अवतिष्ठते**) ज्ञान इस आत्मामें अवस्थित है ॥२३४॥

भावार्थ—रागादिकी भूमिकाके बिना भी, ज्ञान-ज्ञेयका सहज सम्बन्ध होनेसे, ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञानमें विकल्प होते हैं। ज्ञानी जब समस्त वस्तुओंसे भिन्न, अपने स्वभावका अनुभवन करता है तो उसका उपयोग विकल्पोंसे दूर हो जाता है। पदार्थोंकी आकृतियों रूप ज्ञानका परिणमन नहीं होता। उस समय—गुरुसे, शास्त्रसे, वचनोंसे, अरहन्त परमेष्ठीसे, सिद्ध परमात्मा से भी मैं भिन्न हूं, ऐसा निर्णय करनेसे, उसका प्रकाशमान ज्ञान अब अपने ही एक रूपमें है। पर पदार्थोंसे ज्ञेय रूपसे भी उस कालमें सम्बन्ध टूट गया। ज्ञान ज्ञेयके भी विकल्प दूर हुए। अतः निराकुल—निर्विकल्प—एक ज्ञान, जिसे ध्यान भी कहा जा सकता है, आत्मामें अवस्थित होता है। यही केवल ज्ञानोत्पादक बीज है ॥२३४॥

आत्मतत्त्व तथा उससे अभिन्न बोध, अन्य सर्व पदार्थोंसे—उनके गुणोंसे—उनकी पर्यायोंसे-पृथक् भूत स्थित हुआ ऐसा दिखाते हैं--

अन्येभ्योव्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथक्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

अन्वयार्थ—**(एतत् ज्ञानम्)** यह विशुद्ध ज्ञान **(अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्)** अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंसे पृथक् है। **(पृथक् वस्तुता बिभ्रत्)** उसकी स्वतन्त्र वस्तुता है, उसे धारता हुआ **(आत्मनियतम्)** केवल आत्म तत्त्वमें ही सुनिश्चल है, **(आदानोज्झनशून्यम्)** परके ग्रहण-त्यागसे भिन्न, **(अमल)** दोष रहित, **(तथावस्थितम्)** ऐसा स्वरूप उसका प्रगट हुआ। **(मध्याद्यन्तविभागमुक्त)** आदि, मध्य, अन्तसे रहित अनाद्यनन्त, **(सहजस्फारप्रभाभासुरः)** अपनी स्वाभाविक विस्तृत ज्योतिसे प्रकाशमान **(शुद्धज्ञानघनः)** शुद्ध ज्ञानमय है। **(तथा अस्य महिमा)** ऐसी महिमा **(नित्योदितः तिष्ठति)** नित्य ही उदय रूपसे रहती है ॥२३५॥

भावार्थ—आत्माका लक्षण "उपयोगो लक्षणम्" इस सूत्रके अनुसार 'उपयोग' ही है। लक्षण वह है जो लक्ष्यमें ही रहे—लक्ष्यके बाहिर न रहे। आत्माका यह उपयोग लक्षण—आत्मामें ही नियत है, सम्पूर्ण आत्माओंमें पाया जाता है। अतः अव्याप्ति दोषसे युक्त नहीं है। जो लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्यमें न जावे वह अव्याप्ति दोषसे संयुक्त माना जाता है। आत्माके इस लक्षणमें यह दोष नहीं है।

ज्ञान अन्योंसे भिन्न है। अपनी पृथक् वस्तुता रखता है, अतः आत्म भिन्न पदार्थोंमें न पाये जानेसे, वह अतिव्याप्ति दोषोंसे भी रहित है। अतिव्याप्ति दोष वहाँ होता है—जहाँ लक्षण अलक्ष्य-भूत पदार्थोंमें भी पाया जाय। ज्ञान अपनी वस्तुताको रखता है। परको ग्रहण नहीं करता। अपने स्वरूपका त्याग नहीं करता, अतः असम्भव दोषसे भी रहित है। जो लक्षण परमें चला जाय और अपने लक्ष्यमें न रहे वह असम्भव लक्षण है। यदि ज्ञान आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थको ग्रहण करता, अर्थात् लक्ष्यको छोड़ अलक्ष्यको पकड़ लेता, अथवा अपने स्वयंके स्वरूपको त्याग देता तो वह आत्माका असम्भव दोष युक्त लक्षण कहलाता। पर ऐसा नहीं है, अतः उसमें असम्भव दोष भी नहीं है। इस तरह अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव तीनों प्रकारके दोषोंसे रहित, यह ज्ञान ही आत्माका सम्पूर्ण लक्षण है।

नोकर्मरूप, परद्रव्यका आहारक कैसे है ? (**येन अस्य देहः शङ्क्यते**) जिससे ऐसी शंकाकी जाय कि ज्ञानीके देह है ॥२३७॥

भावार्थ—ज्ञानका स्वरूप पदार्थको जानना मात्र है। वह केवल आत्मनिष्ठ है, क्योंकि वही आत्माका गुण है और वही उसका असाधारण लक्षण है। ज्ञान आत्मासे भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानसे भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। दोनोंमें गुण-गुणीपनेका संबंध है। गुण-गुणी कभी पृथक् नहीं हो सकते, उनकी एक ही सत्ता है। यदि पृथक्-पृथक् सत्ता वाले होते तो कभी न कभी उनका संयोग भंग होकर, वे पृथक्-पृथक् हो जाते। भिन्न-भिन्न सत्तावालोंमें ही संयोगकी भिन्नता होने पर पृथक् वस्तुता प्राप्त होती है।

जैसे आत्मा पर द्रव्योंसे भिन्न स्वरूप, और भिन्न सत्तावाली वस्तु है, उसी तरह ज्ञान-गुण भी आत्मासे सर्वथा अभिन्न सत्तावाला होनेके कारण अन्य सर्वद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। वह परद्रव्यका ग्रहण ही नहीं करता—क्योंकि परद्रव्यका किसी दूसरे द्रव्यमें प्रवेश स्वभावसे ही निषिद्ध है—असंभव है। ऐसी स्थितिमें पौद्गलिक देहका ग्रहण और त्याग भी, ज्ञानके या ज्ञानीके नहीं होता। देह जड़ होनेसे, ज्ञान या ज्ञान स्वभावी आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि यह देह पुद्गल द्रव्यकी है अतः ज्ञानकी वह हो ही नहीं सकती ॥२३७॥

इस कथनसे जो फलित होता है इसे आगामी कलशमें बताते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) उक्त प्रकारके कथनसे यह बात स्वयं सिद्ध है कि (**शुद्धस्य ज्ञानस्य**) शुद्ध ज्ञानके या शुद्ध ज्ञानमय आत्माके निश्चयसे (**देह एव न विद्यते**) देह ही नहीं है। (**ततः**) इसलिए यह भी स्वयं सिद्ध है कि (**देहमयं लिंगम्**) देहके बाह्य वेष देहके ही होते हैं अतः वे वेष देहात्मक होनेसे (**ज्ञातुः मोक्षकारणम् न**) ज्ञाताके लिये मोक्षके कारण नहीं हैं ॥२३८॥

भावार्थ—यहाँ आचार्य यह बात सिद्ध कर रहे हैं कि मुनित्वका बाह्य नग्न वेष देहाश्रित है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो ज्ञानशरीरी ही है, अर्थात् ज्ञान ही उसकी देह है। वह उसका आन्तरिक गुण होनेसे—बाह्य वेषसे उसका संबंध नहीं है। यदि ज्ञानके देह होती तो वह बाह्य वेष भी मोक्षका कारण होता। परन्तु ज्ञान तो परद्रव्यका आहारक ही नहीं है, उसे ग्रहण ही नहीं करता, तब सिद्ध है कि—ज्ञानके देह नहीं हैं—बाह्य वेष देहाश्रित है। अतः देहाश्रित वेष मोक्षका कारण नहीं है, एक मात्र ज्ञानभाव ही मोक्षका कारण है।

(४२६) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन मोक्षके मार्ग कहे गये हैं, न कि ज्ञानमात्र। तब यहाँ ज्ञानको ही मोक्षका कारण कैसे कहा ?

समाधान—आगम ज्ञान, या आगमोक्त तत्त्वज्ञानकी दृढ़ प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञानरूप ही है। सम्यग्ज्ञान—स्वयं ज्ञानरूप है। अपने ज्ञान स्वरूपमें तल्लीन रहना, परका, रागादिका संपर्क छोड़ देना, चारित्र है। इस प्रकार तीनों ज्ञान स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं, वे एक ज्ञान स्वरूपसे अभिन्न होनेसे ज्ञानात्मक ही हैं। स्वरूपाश्रित ज्ञान ही मोक्षका कारण है,

आत्माका यह ज्ञान लक्षण अनादिसे अनन्तकाल रहता है। ऐसा नहीं है कि आत्मा पहिले ज्ञानस्वरूप नहीं था—किसी काल विशेषमें उसमें ज्ञानकी उत्पत्ति हुई हो। अतः ज्ञान अनुत्पन्न होनेसे सदाकालसे ही आत्मामें है। उसका कभी नाश हो जाय—आत्मा ज्ञान रहित हो जाय ऐसा भी नहीं है, अतः ज्ञान अनन्त है। जिसका आदि और अन्त नहीं है, उसका मध्यका स्थान भी नहीं है, क्योंकि आदि और अन्त नापने पर ही, मध्य कहाँ है, इसका निर्णय किया जाता है। जैसे छः फुटकी लकड़ी हो तो तीन फुट पर उसका मध्य निश्चित होता है, क्योंकि उसका आदि और अन्त है। अतः अनादि अनन्त होनेसे आत्माके ज्ञानका कोई मध्य नहीं है। वह तो सदा है—सभी कालावलियाँ उसके भीतर अन्तर्गर्भित हैं। अतः अपनी सहज, विस्तृत, ज्ञायकपनेकी ज्योतिसे प्रकाशमान, एकमात्र ज्ञानभाव ही इस प्रकारसे अवस्थित हुआ जो अब सदा काल नित्य उदयरूप विद्यमान है। ऐसी उसकी महिमा है ॥२३५॥

सम्पूर्ण आत्मशक्तिका अपनेमें ही समेट लेना कृतकृत्यपना है ऐसा कहते हैं—

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अन्वयार्थ—(**संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य आत्मनः**) जिसने अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ अपनेमें ही समेट ली हैं, ऐसी सम्पूर्ण आत्माका (**इह आत्मनि**) इस अपने आत्मामें ही (**यत् संधारणम्**) पूर्ण रूपसे एकाग्रताके रूपमें धारण हुआ अतः (**तत् उन्मोच्यम् उन्मुक्तं**) वह जो छोड़ने योग्य था वह छूट गया (**तथा यत् आदेयं**) जो पाने लायक था (**तत् अशेषतः आत्तम्**) वह सम्पूर्ण रूपमें पा लिया। कुछ करना शेष नहीं रहा ॥२३६॥

भावार्थ—लौकिक जन संसारमें जो जो काम करते हैं, उसका दो रूपमें ही विभाजन किया जा सकता है। वह है ग्रहण और विसर्ग, अर्थात् लेना व छोड़ना। जो प्रयोजनभूत है उसे प्रयत्न करके प्राप्त करते हैं, और जो अप्रयोजनभूत या अनिष्टकारक है उसे छोड़ देते हैं।

इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा भी जब विभाव भावरूप परिणमन करने वाली, अपनी अनन्त शक्तियोंको—जो दोषरूप कही जाती थीं,—परपदार्थोंसे हटाकर,—उन्हें केवल आत्मनिष्ठ बनाता है, अर्थात् सर्वशक्तियाँ जो पराश्रयसे प्रवृत्त हो रही थीं, उन्हें उन आश्रयोंसे हटा लेता है, उन्हें केवल अपनेमें सीमित कर लेता है, तब उसके दोनों कार्य एक साथ दिखाई देते हैं। उसके समस्त विभाव दूर हो जाते हैं—सो त्यागने योग्यका स्वयं त्याग हो गया, और अपने गुण जो उपादेय थे—वे स्वयं गृहीत हो चुके। ऐसा केवलज्ञान प्रकट होने पर अब उसे कुछ करना शेष नहीं रहा, सभी कार्य सिद्ध हुए। यही उसका कृतकृत्यपना है ॥२३६॥

ज्ञानीके देह नहीं है यह सिद्ध करते हैं—

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद् येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३७॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) इस प्रकार (**परद्रव्याद्**) समस्त परद्रव्योंसे (**व्यतिरिक्तम्**) सर्वथा भिन्न (**ज्ञानं अवस्थितम्**) ज्ञानकी स्थिति सिद्ध हुई। तब (**आहारकं तत् कथं स्यात्**) वह ज्ञान, कर्म,

नोकर्मरूप, परद्रव्यका आहारक कैसे है ? **(येन अस्य देहः शङ्क्यते)** जिससे ऐसी शंकाकी जाय कि ज्ञानीके देह है ।।२३७।।

भावार्थ—ज्ञानका स्वरूप पदार्थको जानना मात्र है। वह केवल आत्मनिष्ठ है, क्योंकि वही आत्माका गुण है और वही उसका असाधारण लक्षण है। ज्ञान आत्मासे भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञानसे भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। दोनोंमें गुण-गुणीपनेका संबंध है। गुण-गुणी कभी पृथक् नहीं हो सकते, उनकी एक ही सत्ता है। यदि पृथक्-पृथक् सत्ता वाले होते तो कभी न कभी उनका संयोग भंग होकर, वे पृथक्-पृथक् हो जाते। भिन्न-भिन्न सत्तावालोंमें ही संयोगकी भिन्नता होने पर पृथक् वस्तुता प्राप्त होती है।

जैसे आत्मा पर द्रव्योंसे भिन्न स्वरूप, और भिन्न सत्तावाली वस्तु है, उसी तरह ज्ञान-गुण भी आत्मासे सर्वथा अभिन्न सत्तावाला होनेके कारण अन्य सर्वद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है। वह परद्रव्यका ग्रहण ही नहीं करता—क्योंकि परद्रव्यका किसी दूसरे द्रव्यमें प्रवेश स्वभावसे ही निषिद्ध है—असंभव है। ऐसी स्थितिमें पौद्गलिक देहका ग्रहण और त्याग भी, ज्ञानके या ज्ञानीके नहीं होता। देह जड़ होनेसे, ज्ञान या ज्ञान स्वभावी आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता। क्योंकि यह देह पुद्गल द्रव्यकी है अतः ज्ञानकी वह हो ही नहीं सकती ।।२३७।।

इस कथनसे जो फलित होता है इसे आगामी कलशमें बताते हैं—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ।।२३८।।

अन्वयार्थ—**(एवं)** उक्त प्रकारके कथनसे यह बात स्वयं सिद्ध है कि **(शुद्धस्य ज्ञानस्य)** शुद्ध ज्ञानके या शुद्ध ज्ञानमय आत्माके निश्चयसे **(देह एव न विद्यते)** देह ही नहीं है। **(ततः)** इसलिए यह भी स्वयं सिद्ध है कि **(देहमयं लिंगम्)** देहके बाह्य वेष देहके ही होते हैं अतः वे वेष देहात्मक होनेसे **(ज्ञातुः मोक्षकारणम् न)** ज्ञाताके लिये मोक्षके कारण नहीं हैं ।।२३८।।

भावार्थ—यहाँ आचार्य यह बात सिद्ध कर रहे हैं कि मुनित्वका बाह्य नग्न वेष देहाश्रित है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा तो ज्ञानशरीरी ही है, अर्थात् ज्ञान ही उसकी देह है। वह उसका आन्तरिक गुण होनेसे—बाह्य वेषसे उसका संबंध नहीं है। यदि ज्ञानके देह होती तो वह बाह्य वेष भी मोक्षका कारण होता। परन्तु ज्ञान तो परद्रव्यका आहारक ही नहीं है, उसे ग्रहण ही नहीं करता, तब सिद्ध है कि—ज्ञानके देह नहीं हैं—बाह्य वेष देहाश्रित है। अतः देहाश्रित वेष मोक्षका कारण नहीं है, एक मात्र ज्ञानभाव ही मोक्षका कारण है।

(४२६) **प्रश्न**—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन मोक्षके मार्ग कहे गये हैं, न कि ज्ञानमात्र। तब यहाँ ज्ञानको ही मोक्षका कारण कैसे कहा ?

समाधान—आगम ज्ञान, या आगमोक्त तत्त्वज्ञानकी दृढ़ प्रतीतिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञानरूप ही है। सम्यग्ज्ञान—स्वयं ज्ञानरूप है। अपने ज्ञान स्वरूपमें तल्लीन रहना, परका, रागादिका संपर्क छोड़ देना, चारित्र है। इस प्रकार तीनों ज्ञान स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं, वे एक ज्ञान स्वरूपसे अभिन्न होनेसे ज्ञानात्मक ही हैं। स्वरूपाश्रित ज्ञान ही मोक्षका कारण है,

यह स्वयं सिद्ध है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन तीनोंसे अभेद रूप परिणत आत्माको ही यहाँ ज्ञान शब्दसे कहा गया है ॥२३८॥

भेद दृष्टिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र तीनों मोक्षमार्ग कहे जाते हैं, तथापि वे एक ज्ञानस्वरूप ही हैं, अतएव मोक्षमार्ग एक ही है ऐसा कहते हैं—

दर्शनज्ञानचारित्र त्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

अन्वयार्थ—(**दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयात्मा**) दर्शन ज्ञान और चारित्र ही है स्वरूप जिसका, ऐसा एक विशुद्ध ज्ञान ही (**आत्मनः तत्त्वम्**) आत्म तत्त्व है। (**स एव एक एव मोक्षमार्गः**) वह जिनोक्त एक ही मोक्षका मार्ग (**मुमुक्षुणा सदा सेव्यः**) मोक्षाभिलाषी जनोंको सदा सेवनीय है, अन्य नहीं ॥२३९॥

भावार्थ—यद्यपि व्यवहार नयसे आगमोक्त-जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष इन सात तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। अथवा इन सात तत्त्वोंके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाले तीर्थंकर **अर्हद्देव**, तथा उनके उपदेशात्मक **आगम** और आगमोपदेशका आचरण करने वाले **गुरुजन**, इन तीनोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तथापि समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न केवल शुद्धात्मा की रुचि और प्रतीति, तथा तद्रूप **स्वानुभूति** ही परमार्थसे सम्यग्दर्शन है,—परमार्थसे **स्वज्ञान** ही सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि वही शास्त्रज्ञानका फल है। इसी प्रकार—आत्मस्वरूपमें लीनता अर्थात् अपने **स्वरूपमें ही आचरण** वही सम्यक् चारित्र है।

आत्मा इन तीनोंसे अभिन्न है, वही आत्मतत्त्व है, वही एक मात्र मोक्षमार्ग है। अतः जो संसारके समस्त दुखोंसे—भव-भव परिभ्रमणसे छूटना चाहते हैं,—उन समस्त मोक्षाभिलाषियोंको, समस्त बाह्य पदार्थोंसे ममत्व हटाकर, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा, जो यथार्थ मोक्षमार्ग है, उसका ही सेवन करना चाहिए। अर्थात् रत्नत्रय स्वरूप स्वयं बनना चाहिए। इसीको मोक्षमार्गका सेवन कहा जाता है ॥२३९॥

मोक्षका मार्ग एक ही है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

अन्वयार्थ—(**दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः**) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप (**यः एषः एकः नियतः मोक्षपथः**) यह एक ही निश्चित मोक्षका मार्ग है (**यः तत्रैव स्थितिमेति**) जो उसमें ही अपनी स्थिति रखते हैं, (**अनिशं तं ध्यायेत्**) निरन्तर उस शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्माका ही ध्यान करते हैं (**तं चेतति**) उसका ही वार-वार संचेतन करते हैं तथा (**द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव विहरति**) अन्य द्रव्योंको, तथा अन्य द्रव्योंके निमित्तसे उत्पन्न विभाव भावरूप परिणतियोंको, स्पर्श नहीं करते, अर्थात् अनुभव नहीं करते तथा उस एक शुद्ध चैतन्यमें ही विहार करते हैं।

अर्थात् तद्रूप ही परिणमित होते हैं। (स) वे पवित्रात्मा (**नित्योदयं समयस्य सारम्**) नित्य ही उन्नत स्वरूप या प्रकटरूप शुद्ध चैतन्यको (**अचिरान् अवश्यं विंदति**) शीघ्र ही नियमसे प्राप्त होते हैं—या अनुभव करते हैं, अर्थात् शुद्ध स्वरूप बन जाते हैं ॥२४०॥

भावार्थ—आत्मा ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप है। रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। यह एक ही मोक्षका मार्ग सुनिश्चित है, अन्य कोई मार्ग मोक्षका नहीं है। उस शुद्धचैतन्य स्वरूपमें जो सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको स्थापित करते हैं,—उसका ही अनुभव करते हैं,—उसीका बार-बार चिन्तवन—संस्मरण करते रहते हैं, तथा उसे छोड़ कर अन्य पदार्थोंका किंचित् भी स्पर्श नहीं करते, उनकी ओर अपना उपयोग नहीं ले जाते, एकाग्रतासे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मामें ही अपना उपयोग रखते हैं,—उसीमें रमते हैं, अन्य पदार्थोंके आधारपर होने वाले मोह, रागादि विभावोंमें परिणमन नहीं करते,—ऐसे ध्यानी एकाग्रतामें आरूढ़ संयमी सम्यग्दृष्टि जीव हो, शीघ्रतासे उसी भवमें, या तीसरे भवमें, आत्मविशुद्ध स्वरूप कैवल्यको, या मुक्तिपदको प्राप्त करते हैं ॥२४०॥

जो ऐसा नहीं करते वे कभी शुद्धचैतन्यको प्राप्त नहीं करते, ऐसा व्यतिरेक मुखसे कथन करते हैं—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४१॥

अन्वयार्थ—(**ये तु एनं परिहृत्य**) जो निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गसे या तत्स्वरूप अखण्ड चैतन्यकी ओरसे दृष्टि हटाकर (**संवृतिपथप्रस्थापितेन आत्मना**) व्यवहार मोक्षमार्गमें अपनेको स्थापित करके (**तत्त्वावबोधच्युताः**) आत्म स्वरूप तत्त्वके अनुभवन रूप बोधसे भ्रष्ट होकर (**द्रव्यमये लिंगे**) केवल शरीराश्रित नाना बाह्यभेदोंमें ही (**ममतां वहन्ति**) ममत्वभाव करते हैं, (**ते**) वे जीव (**नित्योद्योतं**) जिसका प्रकाश सदा काल उदयरूप है (**अखण्डम्**) जो किसीके द्वारा खण्डित नहीं होता (**एकम्**) जो अनुपम है (**अतुलालोकं**) जिसके आलोकको किसी प्रकाशसे तुलना नहीं की जा सकती (**स्वभावप्रभाप्राग्भारं**) जो अपनी स्वाभाविक प्रभाके भारसे भरा हुआ (**अमलं**) अत्यन्त निर्मल है, ऐसे (**समयस्य सारम्**) विशुद्ध आत्मस्वरूप प्रकाशको (**अद्यापि**) इतना सब कुछ सूनने व समझनेके बाद भी (**न पश्यन्ति**) नहीं देख पाते हैं ॥२४१॥

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गको, तथा रत्नत्रयके अखण्ड पिंड स्वरूप विशुद्ध आत्माके अनुभवनको छोड़कर, तत्त्वबोधसे विमुख होकर, केवल देहाश्रित—दिगम्बरताके या श्रावकपदके बाह्यभेदको, या अन्य वेषरूपको या बाहिरी क्रियाओंके करने मात्रको ही मोक्षका मार्ग मानकर, केवल उसमें ही मगन हैं, शास्त्र सुनते हैं, पढ़ते हैं, दूसरों को समझाते हैं, बार-बार अध्यात्म ग्रंथोंका पारायण करते हैं, उग्रसे उग्र मासोपवासादि तप करते हैं,—ग्रीष्मादि-ऋतुओंमें तप्तपर्वतोंपर, शीतऋतुमें चौड़े मैदानोंमें, वर्षाऋतुमें वृक्षादितलपर स्थित होकर, सहनशीलतासे नाना कष्ट सहते हैं, संक्लेश परिणाम नहीं करते, वे मन्दकषाय जन्य समस्त परिणामों

से पुण्यवंध तो कर सकते हैं, पर अखण्ड चैतन्य आलोकके दर्शनके विना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥२४१॥

व्यवहार करते हुए परमार्थपर दृष्टि रखना चाहिए। व्यवहारमें ही विमूढ़ हो जानेपर परमार्थ दिखाई नहीं देता—

व्यवहारविमूढ़दृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥२४२॥

अन्वयार्थ—(**व्यवहारविमूढ़दृष्टयः जनाः**) जिनकी दृष्टि व्यवहारमें ही मोहित है, वे पुरुष (**परमार्थं नो कलयन्ति**) परमार्थ तत्त्वको स्वीकार नहीं करते अर्थात् विशुद्ध आत्म तत्त्वको नहीं अनुभव करते हैं। वे यथार्थतासे दूर हैं जैसे कि (**तुषबोधविमुग्धबुद्धयः**) धानके ऊपरका छिलका प्राप्त करने मात्रसे मुग्ध, अर्थात् उसे प्राप्त करके ही जिनकी बुद्धि सन्तुष्ट है वे लोग (**इह तुषं कलयन्ति**) यहाँ तुष (छिलका) ही प्राप्त करते हैं (**तन्दुलम् न कलयन्ति**) चावलको वे प्राप्त नहीं कर पाते ॥२४२॥

भावार्थ—जैसे तन्दुल जो चावल, उसकी उपयोगिताको सुनकर कोई मनुष्य धान कुटता देखकर, धानके छिलकों पर ही मोहित हो जाय, छिलका और चावलके भेदपर दृष्टि न डाले तो, उसे तुषकी ही प्राप्ति होगी। वह चावल न पा सकेगा—न उनका उपयोग कर सकेगा। लोग ऐसे व्यक्तिको मूढ़ ही कहेंगे। जैसे छिलका चावलोंको पहिचानने व प्राप्त करनेका साधन मात्र था, स्वयं वह चावल नहीं था। इसी प्रकार व्यवहार तो परमार्थके समझनेका साधन था, वह स्वयं परमार्थ नहीं था। व्यवहारके आधार पर परमार्थको पहिचाननेसे, परमार्थ वस्तुकी प्राप्ति होती है, परन्तु जो बाह्य भेष मात्र बनाकर, अपनेको कृतकृत्य मान चुके हैं, वे कोरे भेषी तो रहेंगे—पर उस भेषको धारण करनेका जो मूल उद्देश्य था उस परमार्थ तत्त्वको प्राप्त नहीं होंगे।

बाह्य परिग्रहका त्याग अन्तरंग रागादिके त्यागके लिए था। जो व्यक्ति अन्तरंग रागादि त्यागकर आत्म सिद्धि करना चाहते हैं,—उनको बाह्य परिग्रह, जो रागादिका नो कर्म है, उसका त्याग करना चाहिए। जिस प्रकार कषाय कर्मका उदय जीवके विकारका हेतु है, उसी प्रकार नोकर्म जो शरीरादि तथा तत्साधनभूत अन्य बाह्य भोगोपभोगके साधन, सभी कर्मके उदयमें सहायक होनेसे रागादि विकारोंके निमित्त हैं। यद्यपि ये रागादिके कर्त्ता नहीं हैं, पर रागादि उत्पन्न होनेमें निमित्त हैं। अतः इन बाह्य साधनोंका भी त्याग, जो बाह्य व्यवहार क्रिया है,— वह भी नितान्त आवश्यक है। तथापि जो लोग केवल इनके परित्यागमें ही सन्तुष्ट हैं, और पारमार्थिक तत्त्वकी प्राप्ति या अनुगमनकी ओर जिनका ध्यान नहीं है, वे अन्तरंग विकारोंके त्याग को प्राप्त नहीं होते। उन्हें निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती ॥२४२॥

द्रव्यलिंगके ममत्वमें तत्त्वका दर्शन ही नहीं होता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४३॥

अन्वयार्थ—(**द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैः**) बाह्यलिंग जो केवल शरीराश्रित है उसमें ही जिन्हें ममत्व है, उस ममत्व परिणामके कारण जिनके अन्तःचक्षु निमीलित हैं, उनको (**समयसार एव न दृश्यते**) अपना विशुद्ध आत्म तत्त्व ही नहीं दिखाई देता है। (**यत् किल इह द्रव्यलिंगम्**) क्योंकि यह द्रव्यलिंग (**किल अन्यतः**) निश्चयसे पुद्गल द्रव्य, शरीर आदिके कारण है, या तत्स्वरूप है (**एकम् इदम् ज्ञानं एव तु स्वतः**) यह एकमात्र ज्ञान ही है जो स्वतः होता है, परसे नहीं होता ॥२४३॥

भावार्थ—मोक्षमार्गीके दो लिंग हैं--गृही लिंग तथा अनगारलिंग। सागार धर्मको पालन करने वाले मनुष्य प्रथम प्रतिमासे ग्यारहवीं प्रतिमा तकके होते हैं। इनमें दशम प्रतिमा तक तो कोई बाह्य लिंग (वेष) नियत नहीं है, पर ग्यारहवीं प्रतिमामें क्षुल्लक व ऐलक ये दो भेद पाये जाते हैं।

एक कोपीन व खण्ड वस्त्र धारण करना क्षुल्लकका वेष (बाह्यचिह्न) है, तथा कोपीनमात्र ऐलक का चिह्न है। क्षुल्लिकायें, आर्यिकायें ऐसे दो भेद भी स्त्री पर्याय गत व्रतियोंमें पाये जाते हैं। एक वस्त्र तथा सोलह हाथकी एक साड़ी रखना क्षुल्लिकाका वेष है, तथा वस्त्र न रखकर मात्र एक सफेद साड़ी रखना आर्यिकाका बाह्य चिह्न है। इस तरह सागार व्रतीके उक्त बाह्य चिह्न कहे गये हैं। अनगार अर्थात् महाव्रती साधुका वेष दिगम्बर है। शरीरपर तो वस्त्राभूषणोंका अभाव (त्याग) है ही, किन्तु धन धान्यादि दस प्रकारके अन्य परिग्रह भी वे नहीं रखते, अतः साधुका बाह्य चिह्न दिगम्बरत्व है। तथा जीवरक्षार्थ गृहीत पिच्छिका तथा शौचोपकरण भी उनके बाह्य चिह्न हैं।

बाह्य वेष तो जैनोंके अन्य भेद श्वेताम्बरोंमें भी दो-तीन प्रकारके पाये जाते हैं। जैनेतरोंमें भी अनेक प्रकारके वेष पाये जाते हैं। अन्य मिथ्यादृष्टि जिस प्रकार वेषोंमें ममत्व रखते हैं—उसीमें तल्लीन हैं, यदि जैनगृही या साधु या आर्यिकायें भी निश्चय दृष्टिको छोड़कर, उस बाह्य दृष्टिसे, जिन्हें जैन वेष कहा जाता है, उसमें मोहित बुद्धि हैं, बाह्य वेषमें अपनी धर्म स्थिति मानकर चलते हैं, तो इस ममत्व परिणामके कारण उनके अन्तःचक्षु कभी आत्मदर्शन नहीं कर पाते।

मोहका परिणाम ही ममत्व है, मोह मूर्च्छाका पर्यायवाची है। जैसे मूर्च्छित मनुष्यको अपनी सही स्थितिका भान नहीं होता, इसी प्रकार बाह्य दिगम्बरादि वेषमें ही मगन रहने वाले, अर्थात् वेष रूपसे ही अपना धर्म—अपना कल्याण मानने वाले—साधुको, अपने सुविशुद्ध, रागादि विकार रहित, आत्माका दर्शन होता ही नहीं है।

शारीरिक क्रिया, शारीरिक वेष,—शारीरिक सम्हाल व उसके साधुवेषके रागसे, तथा अन्य वेषोंके द्वेषसे, जीव मुक्ति नहीं पाता। मुक्ति तो जीवको परसे छूटनेमें है। तव पराश्रित वेष मोक्षका मार्ग कैसे बन सकता है? मोक्षका मार्ग तो आत्मा स्वतः है, जो कि ज्ञानमात्र है,—तत्स्वरूप है, तदभिन्न है। अपने उस अनुपम, अखण्ड, सुविशुद्ध, आनन्द-कन्द, ज्ञानमय आत्माका, अपने स्वरूप रूप दशाको प्राप्त करना ही मुक्ति है।

(४२७) **प्रश्न**—आत्मा तो अनादिसे अनन्त काल तक सदा ज्ञानानन्द स्वरूप है ही। उसे प्राप्त क्या करना है? जो वस्तुका स्वरूप वस्तुमें स्वभावतः है, परके कारण नहीं है, उसको प्राप्त करनेकी बात ही ठीक नहीं हैं। वह तो उसे प्राप्त है, और प्राप्त रहेगा?

समाधान—स्वभाव तो आत्माका ऐसा ही है, पर कर्म निमित्त-जन्य रागादि-विकारोंके कारण वर्तमान अवस्था उसकी विभाव रूप है, अतः वह स्वभावको नहीं देखता, न उसे प्राप्त करता है। परके संगका त्याग हो जानेपर वह अपनी स्वभाव रूप दशामें आता है, वही उसका प्राप्त करना कहा जाता है। ज्ञानानन्द स्वभाव होने पर भी, अनादिसे ही इसने कभी ज्ञानकी उपासना नहीं की। इसीलिए इसे ज्ञान प्राप्तिका उपदेश दिया गया है।

(४२८) **प्रश्न**—जैसे आत्मा सदा अपने निज स्वरूपको नहीं छोड़ता इसी प्रकार परपदार्थ भी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करते—तब परके संग रहनेसे क्या ? और उसके दूर होनेसे क्या ? एकका दूसरेमें प्रवेश स्वभावतः नहीं है। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं करता, सब अपने स्वभावमें हैं, परका ग्रहण ही नहीं होता, तो उसका त्याग करना क्या अर्थ रखता है ?

समाधान—वस्तुतः सब द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें ही रहते हैं, कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमें प्रवेश नहीं करता। तत्त्वतः कोई किसीका ग्रहण और त्याग भी नहीं करता। यही तो कारण है कि बाह्य पर द्रव्याश्रित वेष, आत्माका कोई उद्धार नहीं करता। तथापि जो साधु अपनी मिथ्या कल्पना द्वारा उसीमें मोहित हैं—उन्हें अपने उस मोह परिणामका ही त्याग करना है। परके साथ एकत्व बुद्धि करना ही उसका ग्रहण करना है, तथा उनमें एकत्व बुद्धिका त्याग ही उसका त्याग है। उसीसे मुक्ति होगी। बाह्यका त्याग किया है उससे मुक्ति होगी—ऐसी मिथ्या भ्रान्तिसे मुक्ति नहीं होती।

(४२९) **प्रश्न**—तब तो बाह्य वेष अकिंचित्कर है। मोक्षमार्गमें उसकी उपयोगिता ही नहीं है। तब साधु दिगम्बर वेषको क्यों धारण करते हैं। उसको बिना धारण किए भी मुक्ति हो सकती है क्योंकि—"ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः" इस कलश कथित उपदेशके अनुसार आत्मज्ञान ही मोक्षका कारण है दिगम्बर वेष नहीं ?

समाधान—आपका कथन यथार्थ है, पर दिगम्बरपना कोई वेष नहीं है, वेष वे हैं, जो धारण किए जाते हैं। जब समस्त वेष उतारे जाते हैं तब साधु, जैसा जन्मजात शरीर है, तन्मात्र रह जाता है। वेषी लोग उसे भी एक वेष कह देते हैं, पर वह सचमुचमें कोई वेष नहीं है। अतः जो साधु अपनी साधुताको प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने जन्म कालसे लेकर अबतक जितने वेष बनाए थे, सब उतारकर फेंक देना हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि बाह्य वेषोंमें ममकार बुद्धिसे, आत्मदर्शन नहीं होता। यद्यपि जहाँ साधुता है वहां दिगम्बर मुद्रा नियमसे होती ही है, तथापि जहां जहां दिगम्बर वेष है वहां साधुता हो भी, न भी हो, यह अनिवार्य नहीं है।

(४३०) **प्रश्न**—यदि दिगम्बर वेष कोई वेष ही नहीं है तो उससे ममत्वका निषेध क्यों किया ? जो वस्तु है ही नहीं उसके ममत्व त्यागका उपदेश देना क्या वृथा नहीं है ?

समाधान—उपदेश इसलिए दिया कि वेषी जन उसे भी एक वेष मानकर, उसमें भी ममत्व कर लेता है, अहंकार करने लगता है, उसके निषेधके लिए आचार्य उपदेश करते हैं।

(४३१) **प्रश्न**—जब दिगम्बर वेष कोई वेष ही नहीं हैं, तब उसे मानकर अहंकार तो मिथ्या कल्पना हुई। जो मिथ्या है, उसका क्या निषेध, वह तो स्वयं निषिद्ध है ?

समाधान—यही बात है। निषेध वेषका नहीं हैं, न उसे वेष मानने न माननेका है। निषेध तो उस मिथ्या कल्पनाका ही है, जो मिथ्या कल्पना उस निर्वेष दशा दिगम्बरत्वको भी वेष मान

लेती है, फिर उसीसे अहंकार ममकार करती है। इस भ्रांति या विभाव भावसे बचनेका ही आचार्य उपदेश देते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस स्वरूपकी विस्मृतिसे ही जीव दुखी है, भव-भ्रमण करता है, भ्रान्ति दूर हो जाये तो सुखी हो सकता है। इसलिये भ्रान्ति छोड़नेका तथा अपने स्वरूपके ही ग्रहण करनेका उपदेश है।

(४३२) **प्रश्न**—जब दिगम्बरता अपनेमें कुछ है ही नहीं, तब उसका अहंकार ममकार कैसे हो सकता है। यदि होता है और उसे न करनेका उपदेश है, तो इससे सिद्ध है कि वह कुछ वस्तुभूत है, तभी तो उसके अहंकारका निषेध है?

समाधान—दिगम्बरता या नग्नता एकार्थवाची है। शरीरपर अन्य वस्तु न हो तो वह शरीराश्रित नग्नता है, तथा आत्मापर यदि रागादिका कोई आवरण न हो, वह भी अपने यथार्थ स्वरूपमें हो, तो वह आत्माकी नग्नता है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपमें–पर भिन्न होनेसे, नग्न ही है, अतः दिगम्बरता या नग्नता वस्तु स्वरूपको ही कहते हैं। यहाँ शरीरकी नग्नताको आत्माकी नग्नता मानकर, जो उसका मिथ्या—अहंकार करते हैं, उसका निषेध किया गया है। 'अहं' में अहंबुद्धि करनेका निषेध नहीं है, पर में 'अहंबुद्धि' करनेका निषेध है। इससे सिद्ध है कि शरीरकी नग्नताको अपना वेष माने, व उसमें अहंकार ममकार करे, तो वह आत्माकी भ्रान्ति रूप विभाव परिणति है। अतः उसका निषेध किया गया है।।२४३।।

नाना विकल्पोंको छोड़कर आत्मचिन्तन ही सर्वश्रेष्ठ कार्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा—
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ।।२४४।।

अन्वयार्थ—(**अतिजल्पैः**) अधिक बात करनेसे (**अलम्**) बस करो, अर्थात् अधिक चर्चा बन्द करो तथा (**अनेकैः दुर्विकल्पैः अलम्**) नाना प्रकारके विकल्पोंको भी बन्द करो; (**इह नित्यम् अयम् एकः परमार्थः चेत्यताम्**) यह एकमात्र परमार्थ अर्थात् परमतत्त्व है, उसका ही अनुभव सदा करो। (**स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात् समयसारात्**) अपने चैतन्यरसके विस्तारसे परिपूर्ण, ऐसा जो ज्ञान, उसकी विस्फूर्ति अर्थात् उसका जिसमें उदय हो चुका है, ऐसे समयसारसे, अपने सुविशुद्ध परमात्म तत्त्वसे (**उत्तरं**) उत्कृष्ट सारभूत (**किञ्चित**) कोई पदार्थ (**न खलु अस्ति**) नहीं ही है यह सुनिश्चित है। अतः सर्वोत्कृष्ट उस आत्मतत्त्वका ही चिन्तन करो—अनुभव करो ।।२४४।।

भावार्थ—आत्माके लिए क्या करणीय है? क्या अकरणीय है? वह कैसे प्राप्त होता है? वह नित्य है, या अनित्य है? इत्यादि अनेक विकल्पों अर्थात् भेदों या प्रश्नोंसे युक्त जो जल्प हैं वह सब केवल "जल्प" हैं। ऐसे नाना प्रकारके जल्पोंके कथनोंसे कोई लाभ नहीं है। शास्त्र विशारद पुरुष इन चर्चाओंमें ही उलझे रहते हैं। आचार्य यहाँ कहते हैं कि चर्चाएँ तो ग्रन्थमें हमने भी वहुत की हैं, तथापि उन सब चर्चाओंका सार मात्र यही है कि चर्चाओंका तथा अपने दुष्ट संकल्प विकल्पोंका परित्याग करो।

ग्रन्थोक्त वस्तु-स्वरूपको समझनेके लिए, जितने वाद—कथन या विकल्प यहाँ कहे हैं, उनको भी बन्द कर दो। उनमें भी आत्म-तत्त्व नहीं है, वे मात्र उसके प्ररूपक हैं। उन सबको छोड़कर अपने निज चैतन्यके रससे भरे हुए स्वसंवेदन ज्ञानकी प्रवाह परम्परामें ही गोते लगाओ। इस आत्मतत्त्वसे अधिक समझने योग्य, जानने योग्य, ध्यान करने योग्य, तथा प्राप्त करने योग्य, अन्य कोई पदार्थ नहीं है। वही सारभूत है, इसीसे उसे समयसार कहा है। उसीका अनुभवकर आनंद प्राप्त करो। वही सर्वश्रेष्ठ कार्य है, सर्वश्रेष्ठ ध्येय है, सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है। उसे अनुभव करनेमें आत्माको स्वाधीन सुखका अनुभव आयेगा। वह मोक्ष सुखका, अतीन्द्रिय सुखका नमूना है। संसारके कोई भी सुख उसकी किञ्चित् भी बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि वे सब पराधीन हैं, काल्पनिक हैं, सुखाभास हैं। केवल दुखस्वरूप होकर भी सुखकी भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, अतः स्वयं क्लेशरूप हैं। जो इस स्वसंवेदन ज्ञानका आश्रय करते हैं—इसीमें लीन होते हैं, वे मुक्तिके अविनाशी, स्वाधीन, शाश्वतिक सुखका बीज बो रहे हैं। शीघ्र ही उनका वह कल्पवृक्ष फलेगा। उन्हें केवल-ज्ञानकी प्राप्ति होगी, तथा वे आठों कर्मोंकी उपाधिसे रहित होकर सिद्धावस्थाको प्राप्त करेंगे।

मोक्ष पुरुषार्थ ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंमें श्रेष्ठ है। उसे प्राप्त करनेपर जीव अनादिकालीन अपनी भूलोंका परिमार्जनकर, उस निर्दोष अवस्थाको प्राप्त होता है, जिसके बाद कुछ करना शेष नहीं रह जाता। उस ज्ञानको प्राप्त हो जाता है, जिससे बाहिर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। उस आनंदको प्राप्त होता है, जिससे अधिक कोई आनंद प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। ऐसा तृप्त होता है कि अतृप्ति शेष नहीं रह जाती। करणीय सभी कार्योंकी समाप्ति हो जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। कोई गन्तव्य स्थान न रहनेसे लोकके शिखरमें स्थित हो जाता है। यही स्व की परिपूर्ण प्राप्ति है, जो समस्त पर द्रव्योंसे—उनके गुणों और उनकी पर्यायोंसे भिन्न, अपने अनन्त गुण-पर्यायोंमें विस्तार रूप है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें अब कभी परिवर्तन नहीं होगा। यही अनन्त अविनाशी सुखकी प्राप्ति है। जीवकी जो अनादिकी अभिलाषा थी कि मुझे सुख प्राप्त हो, वह अभिलाषा पूर्ण हो जानेसे जीव निरभिलाषी हो जाता है।

आचार्य कहते हैं कि सभी जीव इस अवस्थाकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्वसंवेदन ज्ञानका बीज वपन करो। सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प तथा जल्पवाद-वितण्डा छोड़कर, एकमात्र स्वयं शुद्धात्माका अनुभव करो, वही तुम्हारा परमतत्त्व या परमात्मा है। उसमें लीनता होनेसे उसकी जो परिपूर्ण प्राप्ति हो, उसे ही परमात्मामें लीन होना कहते हैं। उससे भिन्न अन्य किसी ईश्वर या परमात्मामें लीन हो जानेकी बात मिथ्या है। परकी आत्मामें विलीन होनेसे आत्मसत्ताका नाश होगा। ऐसी मुक्ति जिसमें अपनी सत्ता मिट जाय, कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। अतः ग्रन्थमें जो प्रथम नाना चर्चाएँ की हैं, नाना विकल्प उठाए हैं, वे तुम्हारे भ्रमको दूर कर, यथार्थ तत्त्व समझानेके लिए ही उठाए हैं। अब उन सबको दूरकर अपने आत्मतत्त्वका ही अनुभव करो ॥२४४॥

स्वसंवेदन ज्ञान जगत्को देखनेका एकमात्र चक्षु है—

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥२४५॥

अन्वयार्थ—(**इदम्**) यह ज्ञानमात्र तत्त्व (**एकं जगच्चक्षु:**) जगतका एकमात्र नेत्र है, यह (**विज्ञानघनम् आनंदमयम् अक्षयं**) ज्ञानके घन स्वरूप, तथा आनंदसे भरे हुए अक्षय आत्माको (**प्रत्यक्षतां नयत्**) प्रत्यक्ष ही दिखाता हुआ (**पूर्णतां याति**) स्वयं पूर्णताको प्राप्त होता है ॥२४५॥

भावार्थ—यह वस्तु-तत्त्वका प्ररूपक अध्यात्म-ग्रन्थ, या ज्ञानमात्र तत्त्व, स्वसंवेदन ज्ञानगम्य, विज्ञानघन, आनंदमय आत्माका हमें दर्शन करा देता है। उस दर्शनसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः वह प्राणियोंके लिये आत्म-दर्शन करनेका एकमात्र नेत्र है, उसे सर्व प्रयत्नोंसे प्राप्त करो ॥२४५॥

ग्रन्थकी समाप्तिपर उपसंहार रूपमें आचार्यश्री अन्तिम वक्तव्य देते हैं—

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥२४६॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकारसे, इस ग्रन्थमें (**इदम् आत्मनस्तत्त्वम्**) यह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन हुआ। (**ज्ञानमात्रम् अवस्थितम्**) आत्मा ज्ञान मात्र है यह सिद्ध किया गया। वह आत्मा (**अखण्डम् एकम्**) कभी किसीके द्वारा भी खण्डनीय नहीं है वह अपनेमें स्वयं एकरूप है (**अबाधितम्**) किसीके द्वारा बाधाको प्राप्त नहीं है और (**स्वसंवेद्यम्**) स्वयंके द्वारा अनुभवनीय है ऐसा आत्म स्वरूपका प्रतिपादन किया ॥२४६॥

भावार्थ—इस ग्रन्थमें अखण्ड, अचल, शाश्वतिक, स्वसंवेद्य, निर्बाध, ज्ञान-मात्र, ऐसे आत्मतत्त्वका प्रतिपादन किया है। इस उपसंहार वाक्यके साथ ग्रन्थकी पूर्णता आचार्यश्रीने की है। उसे ग्रहण करनेका व अनुभव करनेका भी उपदेश दिया है, अतः ग्रन्थके प्रारम्भमें आचार्यश्रीने एकत्व-विभक्त आत्माका दर्शन करानेकी जो प्रतिज्ञा की थी वह पूर्ण हुई।

❀ इति सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारः ❀

□ स्याद्वाद-अधिकार □

वस्तु स्वयं अनेक धर्मवाली है अतः अनेकान्त स्वरूप है। उसका विवेचन करनेकी पद्धतिको स्याद्वाद कहते हैं। इस प्रकरणमें इसीका विवेचन करते हैं—

अत्र स्याद्वाद सिद्धयर्थं[1] वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥२४७॥

अन्वयार्थ—(*अत्र*) अब समयसार ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंग पर (**स्याद्वादशुद्धयर्थं सिद्धयर्थं**) स्याद्वाद जो अनेकान्तवाद उसकी पवित्रताकी प्रसिद्धिके लिए अथवा उसके स्वरूप प्रतिपादनके लिए (**वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः**) वस्तुकी यथार्थ व्यवस्थाका, तथा (**उपायोपेयभावश्च**) उपाय जो मोक्षमार्ग तथा उपेयभूत जो मोक्ष, इनका (**भूयः अपि**) फिरसे भी (**मनाक्**) थोड़ा (**चिन्त्यते**) विचार करते हैं ॥२४७॥

भावार्थ—यद्यपि शुद्धात्मतत्त्वका स्वरूप-प्रतिपादन इस ग्रन्थमें आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव कर चुके। उनके द्वारा कथित ४१४ गाथाएँ अपने मूल उद्देश्यके अनुसार "परसे विभक्त, अपने ज्ञानस्वरूपसे अभिन्न, अखण्ड, एक, ज्ञानानन्द स्वरूप, नित्य, शुद्ध आत्माका स्वरूप प्रतिपादन करके पूर्ण हो चुकीं। तथापि टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्यने अपनी टीकाके सारभूत अमृतमय तत्त्वको अनेक गाथाओंकी टीकाके अन्तमें, सुन्दर छन्दोंमें निहितकर इन अमृतमय कलशोंकी रचनाकी है। वस्तुत्त्वकी व्यवस्था अनेकान्त रूप है, एकान्त रूप नहीं है, वे इस प्रकरणमें, ऐसी स्याद्वाद पद्धतिसे यह सिद्ध करते हैं। यह आत्मा स्वयं द्रव्य दृष्टिसे, परम पारिणामिक भाव-मय—सदा काल नित्य शुद्ध है। कर्म तथा तन्निमित्तजन्य विकार इसके स्वभावमें नहीं हैं। तथापि पर्याय दृष्टिसे वही आत्मा, वर्तमान दशामें अशुद्ध है। कर्मसंयुक्तात्मा तन्निमित्त जन्य कालिमासे तन्मय हो रहा है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप अपनी परिणतिको जब प्राप्त होता है, तब वह आत्मा स्वयमेव अपनी पवित्र दशाको प्राप्त करनेके लिए 'उपाय' भूत है। तदनन्तर आत्मा जैसा द्रव्य-दृष्टिसे पवित्र-शुद्ध था, वैसा रत्नत्रयके बलसे पर्याय रूपमें भी, अपनी कालिमाका, नैमित्तिक भावोंका अभावकर, सुविशुद्ध हो जाती है। वही मोक्ष है, वही 'उपेय' है। प्रकारान्तरसे आत्मा ही उपायभूत है तथा वही उपेयभूत है। भेद विवक्षासे ऐसा कह सकते हैं कि आत्मा कथंचित् उपाय स्वरूप है, तथा कथंचित् उपेयभूत है। इस प्रकार स्याद्वादसे वस्तुतत्त्वकी व्याख्या सिद्ध होती है।

---

१. 'शुद्धयर्थं' इति पाठ भेदः।

यद्यपि पूर्व कलशमें कहा गया था कि—"आत्मनस्तत्त्वम् ज्ञानमात्रमवस्थितम्" अर्थात् आत्म तत्त्व "ज्ञानमात्र" है ऐसी व्यवस्था सिद्ध है। वस्तु स्वरूपकी दृष्टिसे आत्माका शुद्ध स्वरूप यही है, तथापि पर्याय दृष्टिसे वह वर्तमानमें अशुद्ध है। उसी अशुद्धताको दूर करनेके लिए जब आत्मा वस्तु स्वभावकी श्रद्धा, ज्ञान, तथा अपने स्वभावमें लीनता, ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप, अपनी परिणति करता है। तभी वह रत्नत्रय स्वरूप पर्याय 'उपायरूप' हो जाती है, और अपनी शुद्ध परिणति जो प्राप्तव्य है, 'उपेयरूप' हो जाती है। इस तरह आत्मामें उपाय भाव और उपेय भाव अनेकान्त रूपसे प्रसिद्ध है।

इसीको दूसरे शब्दोंमें ऐसा भी कह सकते हैं कि वह 'तत्' भी है, तथा कथंचित् 'अतत्' भी है। 'एकरूप' भी है तथा कथंचित् 'अनेकरूप' भी है। 'नित्यरूप' भी है, और कथंचित् 'अनित्य रूप' भी है। 'सत्' रूप भी है, और कथंचित् 'असत्' रूप भी है। इसी कथनका नाम 'स्याद्वाद कथन पद्धति' है। इनका विशद वर्णन आगे करेंगे।

पदार्थ स्वयं अनेक धर्मात्मक है, अतः उसका कथन एक साथ सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी वचनकी असामर्थ्य है। अतः उसके अनेक धर्मोंका क्रमसे ही कथन किया जा सकता है। कथनमें कोई श्रोता, प्रथम किसी एक धर्मके कथनसे, एकत्वका एकान्त न पकड़ लेवे; इससे उसे "कथंचित् एक है" अथवा "स्यात् एकः" इन शब्दों द्वारा कहना पड़ता है। इस स्यात् शब्दका ही अर्थ "कथंचित्' है। 'कथंचित् एक है' अर्थात्—किसी एक अपेक्षासे—वस्तु एकरूप है। सर्वथा एक रूप नहीं है। स्यात् या 'कथंचित्' शब्द साथ रहनेसे सर्वथा एकान्तपनका स्वयं निषेध हो जाता है, तथा वस्तु 'अनेकांत' है इसका प्रकाशन हो जाता है। प्रत्येक कथन अपने प्रतिपक्षी भावको साथमें लेकर ही चलता है। देखनेमें एक बार ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं, अतः एक पदार्थमें कैसे रह सकते हैं? पर गहरा विचार करनेपर मालूम हो जाता है कि, तत्-अतत्, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, ये सब विरोधीसे दिखाई देने वाले भी धर्म, अविरुद्ध भावसे एक ही पदार्थमें एक साथ पाये जाते हैं। इसी विरोधको दूर कर अनेक धर्मात्मक पदार्थकी व्यवस्थाका प्रदर्शन, तथा स्याद्वाद पद्धतिसे उसीका विशद व्याख्यान, आगेके कलशोंमें किया गया है ॥२४७॥

ज्ञान-ज्ञेयके पारस्परिक सम्बन्धको देखते हुए ऐसा लगता है, कि ज्ञान, ज्ञेयोंके प्रतिभास मय है। ज्ञान उनमें स्वयं भी कुछ भिन्न है, ऐसा प्रतिभासित नहीं होता। इसका वर्णन कथंचित् 'तत्' भंग द्वारा करते हैं—

> बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तरिक्तीभवत्-
> विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
> यत्तत् तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत् पुन-
> र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४८॥

अन्वयार्थ—(बाह्यार्थैः परिपीतम्) जिस ज्ञानको बाह्य ज्ञेय पदार्थोंने पी लिया है, अर्थात् ज्ञान-ज्ञेयसे उत्पन्न ज्ञेयाकार रूप है, अतएव (उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवत्) अपनी निजकी प्रक-

टताके अभावसे जो स्वयं अपनेमें शून्य है, किन्तु (**पररूप एव परितः विश्रान्तम्**) ज्ञेयार्थोंमें ही पूर्ण विश्रान्त है—समाप्त है, (**पशोः ज्ञानं**) ऐसा मानने वाले अज्ञानीका ज्ञान (**सीदति**) नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसकी मान्यताके अनुसार, ज्ञान स्वयं अपने स्वरूपमें कुछ वस्तु नहीं रह जाता। (**स्याद्वादिनः तत्पुनः**) स्याद्वादके सिद्धान्तके प्रतिपादक जैनोंने उसे ऐसा कहा है कि (**यत् तत् तत् इह स्वरूपतः तत्**) जो पदार्थ है, वह यहाँ अपने स्वरूपसे अपने अस्तित्वमय है। अतः ज्ञान अपने ज्ञायक स्वरूपको लिए हुए, स्वयं तत् रूपसे अवस्थित है, इसलिए वह ज्ञान—(**दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः**) सदाकालसे उदयको प्राप्त अपने ठोस स्वभावसे (**पूर्णं**) परिपूर्ण (**समुन्मज्जति**) उदयको प्राप्त होता है। वह बाह्य ज्ञेयोंसे भिन्न, उनका प्रकाशक, स्वयं अपनी पूर्ण सत्तावाला है, यह स्वरूपसे 'तत्' का वर्णन हुआ ॥२४८॥

भावार्थ—कुछ वादियोंका कथन है कि ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञेयसे है, क्योंकि ज्ञान ज्ञेयके आकार ही उत्पन्न होता है, इसलिए वह ज्ञेयको प्रकाशित करता है। फलतः ज्ञेय ही ज्ञानके अस्तित्वका मापक है, ज्ञान स्वयंमें कुछ नहीं है।

ऐसी मान्यतामें वादी स्वयं ज्ञानरहित अज्ञानी ही सिद्ध हुआ। उसे पशु शब्दसे कहा गया, यह पशु शब्द अज्ञानीपनेका प्रतिरूप है। एक उदाहरणरूप है—जैसे पशु स्वयं अपने स्वरूपको नहीं जानता, ऐसे ही ज्ञानके स्वरूपको अज्ञानीने अपना स्वरूप ही नहीं जाना, तब पशुकी तरह अज्ञानी हुआ, ऐसे अज्ञानिताके अर्थमें पशु शब्दका यहाँ प्रयोग है। जब ज्ञान स्वयं कुछ नहीं है, वह पदार्थाकार है, पदार्थसे ही उसकी उत्पत्ति है, तब स्वरूपसे रहित अभाव ही सिद्ध हुआ। उसे ज्ञेय पदार्थ ही अपनेमें अन्तर्लीन कर गए, तब ज्ञानका ही अभाव हुआ।

जैनमतके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने अनाद्यनन्त स्वरूपको स्वयं रखनेवाला है। अतः जो पदार्थ है—वह अपने स्वरूपसे स्वयं अस्तित्वरूप है। वह अपने अनन्तकालीन स्वभाव-सत्ताके कारण पूर्ण ही ज्ञात होता है।

(४३३) **प्रश्न**—ज्ञेयके आधारपर ही ज्ञानका बोध होता है। यदि ज्ञेय न हो तो ज्ञानका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाई नहीं देता। अतः ज्ञानका ज्ञेयसे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व मानना कल्पना मात्र है?

समाधान—ज्ञान पदार्थको, ज्ञेयको जानता है। पदार्थ, ज्ञेय, ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। इन दोनोंका यही पारस्परिक ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है, जो किसी न किसी ज्ञानका विषय न हो। इसीप्रकार ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो किसी न किसी ज्ञेयको विषय न करता हो। इनका ऐसा ही पारस्परिक संबंध है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान ज्ञेयाकार है, वस्तुतः वह ज्ञेयाकारका ज्ञायक मात्र है। ज्ञान ही ज्ञेयके अस्तित्वको बतलाता है। ज्ञेयका बोध, अपने ज्ञायक ज्ञानके अस्तित्वको बतलाता है, इस तरह वे एक दूसरेके अनुमापक हैं।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानकी स्थिति ज्ञेयके आधीन हो, या ज्ञेयकी स्थिति ज्ञानके आधीन हो, कोई किसीके आधीन नहीं है। ज्ञान अपने रूपमें स्वतन्त्र आत्म तत्त्व है, या आत्माका गुण है। समस्त संसारके ज्ञेय अपनेमें स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु अपने स्वभावसे हैं। कोई पदार्थ अपनेमें परका प्रवेश नहीं रखा, अतः स्वरूप दृष्टिसे अद्वैत रूप ही हैं।

(४३४) **प्रश्न**—निर्विकल्प समाधिगत साधु जब समस्त ज्ञेयोंसे विमुख हो जाते हैं, तब ज्ञान ज्ञेयाकारोंसे भिन्न रहता है। ऐसी स्थितिमें आपका यह कथन संगत नहीं है कि 'ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो किसी न किसी ज्ञेयको विषय न करता हो।' यदि ऐसा मान लिया जायगा तो "निर्विकल्प समाधि" का अभाव हो जायगा ?

समाधान—इस निर्विकल्प समाधिमें पर ज्ञेयोंका अभाव रहता है, पर वह स्वात्मज्ञानी है। स्वज्ञेयको ही उस समय अनुभवता है। आत्मा स्वयं भी तो ज्ञेय है। अतः स्वज्ञेयका ज्ञायक उस कालमें रहनेसे ज्ञान ज्ञेय रहित नहीं हुआ।

(४३५) **प्रश्न**—यद्यपि यह कथन सत्य है कि आत्मा भी ज्ञेय है, पर वह अन्य ज्ञाताओंका ज्ञेय बन सकता है। स्वयंका ज्ञेय स्वयं बननेकी बात तो संगत प्रतीत नहीं होती। जैसे नेत्र स्वयंको न देख सकते हुए भी अन्य पदार्थोंको देखता है। उस नेत्रको अन्य दृष्टाओंके नेत्र ही देख सकते हैं। ज्ञान स्वयं अन्य व्यक्तियोंके ज्ञानका ही ज्ञेय बन सकता है स्वयं तो ज्ञान रूप ही है ?

समाधान—ऐसा नहीं है। ज्ञान दीपककी तरह स्व-पर प्रकाशक है। जैसे दीपकके प्रकाशमें सम्मुख स्थित पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, उनको देखने के लिए दीपक आवश्यक है, परन्तु स्वयं दीपकको देखेने के लिए अन्य दीपकका लाना आवश्यक नहीं होता। वह अपने अस्तित्वको भी स्वयं प्रकाशित करता है। इसी प्रकार ज्ञानके जानने के लिए कोई अन्य ज्ञान आवश्यक नहीं है। यदि ज्ञान, स्व-पर प्रकाशक न हो तो 'मैंने घट जाना है' ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञानने घट जाना होगा, पर ज्ञानने क्या जाना यह आपको कैसे मालूम होगा ? चूँकि हमारा ज्ञान, जिन पदार्थोंका भी बोध करता है—उस ज्ञानको भी वह ज्ञानी स्वयं जानता है कि मैंने अमुक पदार्थका बोध किया। जैसे घट स्वको नहीं जानता कि मैं घट हूँ, तो वह परको भी नहीं जानता। अतः सिद्ध है कि जो स्व का प्रकाशक होगा वही परका प्रकाशक होगा, जो स्व का अजानकार होगा वह परका भी अजानकार होगा।

(४३६) **प्रश्न**—दीपक क्या स्व को जानता है कि मैं दीपक हूँ ? तथापि परका प्रकाशक है। अतः उक्त नियम संगत नहीं है ?

समाधान—नियम तो संगत ही है। स्व पर प्रकाशकत्वके रूपमें ज्ञानस्वरूप बतानेके लिए दीपकका दृष्टान्त तो प्रकाशकका दृष्टान्त था, ज्ञानकी दृष्टि से दीपक न स्व को जानता है न परको जानता है। वह स्व-परको प्रकाशित कर रहा है, पर उसे जानता नहीं है। जानता तो ज्ञानी ही है। सभी पदार्थ अपनी-अपनी मर्यादामें हो अपने गुण पर्याय समवेत हैं। इसी लिए उन्हें स्वरूप की अपेक्षा 'अद्वैत' कहा गया है।

(४३७) **प्रश्न**—"अद्वैतवाद" क्या आप स्वीकार करते हैं ? तब तो ज्ञानद्वैत-ब्रह्माद्वैत-शब्दाद्वैत-शून्याद्वैत आदि सभी अद्वैतवादियोंका कथन ही सत्य मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसी हमारी मान्यता नहीं है। अद्वैतवादी सभीको तद्रूप मानते हैं। जैसे ज्ञानद्वैत सभीको ज्ञानरूप मानता है उसके लिए ज्ञेय कुछ नहीं है सभी ज्ञानरूप हैं। ब्रह्माद्वैतवादी सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्मके अलावा और कुछ है ही नहीं। जो कुछ है वह सब एक रूप ही है।

पर जैन मान्यता ऐसी नहीं है। जैनोंका अद्वैतवाद कथंचित् अद्वैतवाद है। उनकी दृष्टिमें कोई भी पदार्थ अपनेमें, अपनेसे भिन्न, अन्य सत्ताओंको समाविष्ट नहीं करता। न अन्य कोई पदार्थ उसे अपनेमें समाविष्ट कर सकते हैं। अतः सर्व ही स्वतंत्र होनेसे, कथंचित् अद्वैतरूप ही हैं। तथापि वे कथंचित् द्वैतरूप भी हैं; क्योंकि यह लोक, जीव-पुद्गल आदि षट् द्रव्योंका आधार है। ये सब हैं, अतः कथंचित् द्वैत है। सामान्य सत्ता व विशेष सत्ताकी दृष्टिसे एक पदार्थ भी कथंचित् अद्वैत, व कथंचित् द्वैतरूप है। अतः सिद्ध है कि—वस्तुतः ज्ञान, ज्ञेयके आधार पर सत्ता नहीं रखता। वह स्वयं सत्ताशील है। इसी प्रकार ज्ञेय, स्वयं सत्ताशील पदार्थ हैं, ज्ञानके कारण उनकी सत्ता नहीं है। इसीको यह कहा गया है कि जो 'तत्' है, अर्थात् जो कोई पदार्थ है, वह स्वरूपसे तत् है। इस नियमके अनुसार ज्ञान अपने स्वरूपसे ही ज्ञान रूप है। ज्ञेयोंके आधीन नहीं है। ऐसा वह ज्ञान अपने स्वरूपके परिपूर्ण उदयको प्राप्त है ॥२४८॥

ज्ञान स्वरूपसे 'तत्' रूप है, तथापि वह पररूपसे 'अतत' रूप भी है, ऐसे स्याद्वाद द्वारा उसकी परभिन्नता सिद्ध करते हैं—

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत् तत् पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुनः
विश्वाद् भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४९॥

अन्वयार्थ— (**पशुः**) अज्ञानी (**विश्वं ज्ञानम्**) यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञानमय ही है (**इति प्रतर्क्य**) ऐसी तर्कणा करके, (**सकलं स्वतत्त्वाशया**) समस्त जगत् स्वतत्त्व ही है, उससे भिन्न नहीं है, ऐसे अभिप्रायसे (**दृष्ट्वा**) देखकर या मानकर, (**विश्वमयः भूत्वा**) स्वयं विश्वरूप बनकर, (**पशुरिव**) पशुओंको तरह (**स्वच्छन्दम् आचेष्टते**) स्वतंत्र विचरण करता है। (**स्याद्वाददर्शी पुनः**) स्याद्वादकी दृष्टिसे पदार्थको देखने वाला, ऐसा नहीं देखता, वह देखता है कि (**यत् तत् तत्पर रूपतः न तत् इति**) जो ज्ञान स्वरूप है वह अपनेसे भिन्न ज्ञेयरूपसे नहीं है, ज्ञान रूपमें ही है। वह आत्मतत्त्व या ज्ञानतत्त्व (**विश्वाद्भिन्नम्**) विश्वके अन्य समस्त पदार्थोंसे भिन्न (**अविश्वविश्वघटितम्**) स्वयं विश्वरूप न होकर भी अपने ही द्वारा सब विश्वका ज्ञायक, (**तस्य स्वतत्त्वं**) उसके, याने अपने स्वतत्त्वको (**स्पृशेत्**) स्पर्श करता है ॥२४९॥

भावार्थ—पहिले कलशमें यह बताया गया था कि जो वस्तु है, वह स्वरूप से अभिन्न, ज्ञानमात्र वस्तु आत्मतत्त्व है। वह द्रव्यरूपसे स्वतंत्र है। पर ज्ञेयोंके आधारपर उसका अस्तित्व नहीं है। स्वयंके रूपमें स्वसत्तावाली है। अतः वह 'तत्' रूप है। इस कलशमें यह तत्त्व आया कि जैसे उसका स्वरूपसे अस्तित्व है, वैसा पर रूपसे अस्तित्व नहीं है। यह उसका 'अतत' रूप भी है।

एकान्तवादी कोई ऐसा मानते हैं कि ज्ञान ही ज्ञेयके अस्तित्वको बनाता है, अतः ज्ञान ही ज्ञान है, ज्ञेय उनसे भिन्न कुछ नहीं है। सारा विश्व मेरे ज्ञानमय है, अर्थात् समस्त विश्व मुझसे ही एकाकार है, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञानका अद्वैत, एकान्तरूपसे स्वीकार करके अपने को विश्वमय मानकर, स्वच्छन्द पापाचाररूप प्रवृत्ति करते हैं। उनके लिए पर-धन, परस्त्री, आदि

ज्ञेय स्वतत्त्व ही हैं। अतः उनके ग्रहणमें पाप ही नहीं रहेगा। ये अपने वस्तु तत्त्वके अज्ञानके कारण पशुकी तरह स्वच्छन्द आचारी हैं।

अनेकान्तवादी 'स्व' वस्तुको अपने ज्ञानकी मर्यादा रूप स्वीकार करते हैं, ज्ञेय पदार्थ—ज्ञान पदार्थसे, (जो स्वतत्त्व है) सर्वथा भिन्न, विश्वरूप हैं। मैं तो विश्वसे सर्वथा भिन्न हूँ। स्वतः के नाना गुणपर्याय रूप विश्वता मेरी है, मेरेमें है, पर मैं स्वयं अविश्वरूप हूँ, ऐसा मानकर पररूप से भिन्न अपनी सत्तामें निष्ठ, जो ज्ञान तत्त्व, उसे ही उपादेय मानकर, अन्य ज्ञेयोंको ज्ञेय मानकर, अपने स्वभावका ही स्पर्श करना है, यही मुक्तिका मार्ग है। परके साथ एकाकारता संसार परिभ्रमणका ही मार्ग है।

(४३८) **प्रश्न**—यदि ज्ञान है तो सब दिखाई देते हैं। यदि ज्ञान न हो तो अन्य पदार्थ हैं—या नहीं, यह कैसे निर्णय होगा ? अतः ज्ञानरूप ही सबको मानना चाहिए ? जैनों द्वारा कथित षट्-द्रव्य व्यवस्था, बौद्धों द्वारा प्रतिपादित पदार्थ व्यवस्था, नैयायिकों द्वारा कथित प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था, वैशैषिक मतानुयाइयों द्वारा प्रतिज्ञात द्रव्य गुण-कर्म व्यवस्था, नास्तिकों द्वारा कथित भूत-चतुष्टय व्यवस्था, ये सर्वमत कथित तत्त्व, सब ज्ञानके ही अन्तर्गत हैं, ज्ञान प्रतिभाससे बाहिर कुछ नहीं है, अतः अद्वैतवादीका कथन सत्य प्रतीत होता है ?

समाधान—यह सत्य नहीं है। यह सही है कि ज्ञानके कारण सबका अस्तित्व दिखाई देता है, तथापि क्या ज्ञान उन पदार्थोंका भी ज्ञाता है, जिनका स्वयं का अस्तित्व ही नहीं है ? यदि उनका अस्तित्व नहीं है और ज्ञान उन्हें जानता है, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जायगा। ज्ञान ज्ञेयका निर्णायक है, पर स्वयं तद्रूप नहीं है। अन्य समस्त वादियों द्वारा कथित, प्रतिज्ञात, या कल्पित तत्त्वोंकी व्यवस्था, जैसी वे वादी बताते हैं, वह सही है या सही नहीं है, यह सब निर्णय करना ज्ञानका कार्य है, पर स्वयं ज्ञान तद्रूप नहीं है। किन्तु 'अतद्रूप' है।

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वयंके आधारसे अपनी सत्ता रखता है। ज्ञानकी सत्तामें उसकी सत्ता नहीं है। न उसकी सत्ता ज्ञानकी सत्ता है। अतः ज्ञानाद्वैतवादी का कथन यथार्थ नहीं है। प्रत्येक पदार्थकी सत्तामें, पर पदार्थकी सत्ताका अभाव है। इसीसे उसकी सत्ता स्वतन्त्र व सुरक्षित है। अतः जो 'तत् है वह पर रूपसे 'तत्' नहीं है यह कथन सम्यक् ही है ऐसा मानना चाहिए ।।२४९।।

ज्ञान एकाकार है या अनेकाकार ? ऐसा प्रश्न होनेपर बौद्ध मातानुयायी उसे अनेकाकार मानते हैं, एकत्वका खंडन करते हैं, उनका मत सत्य नहीं है। यहाँ युक्ति पूर्वक यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान कथंचित "एक" स्वरूप है—

> बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसज्-
> ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति ।
> एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
> एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ।।२५०।।

अन्वयार्थ—(बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतः) बाह्य पदार्थोंका ग्रहण करना ऐसा स्वभाव ज्ञान का है, उस स्वभावके कारण वह (विश्वक् विचित्रोल्लसद् ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिः) सर्व प्रकारसे

अनेकानेक रूपमें उठने वाले नाना ज्ञेय पदार्थोंके विविध आकारोंमें परिणत होनेसे वह ज्ञान, भिन्न रूप में होकर अपने एकाकारको खो देता है। इस प्रकार (**अभितस्त्रुट्यन्**) सब ओरसे अपने एकाकारसे टूटता हुआ (**पशुर्नश्यति**) अज्ञानी स्वयं अपने ज्ञान स्वभावका नाश करता है। (**अनेकान्तवित्**) स्याद्वादके सिद्धान्तको स्वीकार करनेवाला जैन (**भेदभ्रमं ध्वंसयन्**) ज्ञेयाकारोंके ग्रहण करने मात्रसे ज्ञानमें भेदका जो भ्रम हुआ है, उसे नष्ट करता हुआ, (**सदाप्युदितया एकद्रव्यतया**) नित्य ही उदयको प्राप्त ज्ञानपर्यायोंमें एक द्रव्यरूपतासे (**अबाधितानुभवनं**) निर्बाध है एकताका अनुभवन जिसका, ऐसे (**एकं ज्ञानं**) ज्ञानकी एकरूपताको (**पश्यति**) देखता है ॥२५०॥

भावार्थ—किसी एकान्तवादीका मत है कि ज्ञान पर्यायें नाना पदार्थोंके ग्रहण स्वभावके कारण, नानारूप हैं। ये नाना ज्ञानक्षण अपने नानात्वको सिद्ध करते हैं, अतः ज्ञान अनेक हैं, एक नहीं है।

स्याद्वादी जैन आचार्य कहते हैं कि ज्ञान तत्त्व, स्वयं एक आत्मतत्त्व है। वह द्रव्य रूपसे सदा एक है। ज्ञेयाकारके ग्रहण करनेसे जो ज्ञानकी विविध पर्यायें होती हैं, वे पर्यायें अनेक हैं तथापि उन सब पर्यायोंमें अनुस्यूत ज्ञान, द्रव्यार्थिक नयसे एक ही है। ज्ञानका नानात्व पर्यायापेक्षया कहना असंगत नहीं है, पर द्रव्यापेक्षया उसकी एकता का कथन भी संगत है, अतः एकान्तसे ज्ञानको अनेक कहना, द्रव्यरूपसे उसकी एकताको न स्वीकार करना, एकान्तवाद है। ऐसा एकान्तवादी सौगत स्वयं अपनेको ज्ञानाकारकी एकतासे भिन्न करता हुआ, भिन्न-भिन्न समयोंमें ज्ञानक्षणोंको उत्पन्नध्वंसी मानकर, स्वयं अज्ञानी हुआ, अपने कथित तत्त्वकी सत्यताको नष्ट करता हुआ, स्वयं नष्ट होता है।

वस्तुतः आत्मा स्वयं द्रव्य रूपमें अनाद्यनन्त है। ज्ञान उसका लक्षण या स्वभाव है। यद्यपि पर्याय परिवर्तन उसमें नाना ज्ञेयाकारोंके ग्रहणसे होता है, तथापि मूल द्रव्यकी एकताका अभाव नहीं होता। अतः आत्मा या ज्ञान तत्त्व "कथंचित् एक" भी है, तथा कथंचित् अनेक है ॥२५०॥

ज्ञान स्वरूप आत्मा सर्वथा एकान्ततः एक ही नहीं है; उसकी पर्यायें भी उससे अभिन्न ही हैं, अतः "कथंचित् अनेक भी" हैं। सर्वथा एकत्व को ही स्वीकार करने वालेका पक्ष खण्डित कर उसकी कथंचित् अनेकताकी वास्तविकता बताते हैं—

ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्-
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५१॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति**) ज्ञानमें आए जो ज्ञेयके आकार वे ज्ञानके कलङ्क हैं, दोष हैं (**एकाकारचिकीर्षया**) उन्हें एकाकार करनेकी इच्छासे (**प्रक्षालनं कल्पयन्**)उन ज्ञेयाकार रूप कलङ्कोंको प्रक्षालन करने की–दूर करनेकी कल्पना करता हुआ (**स्फुटमपिज्ञानं**) स्पष्ट रूपसे अनेकाकार रूप अनुभवमें आने वाले भी ज्ञान को (**पशुः नेच्छति**) वह एकान्तवादी स्वीकार नहीं करता। (**अनेकान्तवित्**) अनेकान्त स्वरूप पदार्थका ज्ञाता स्याद्वादी (**वैचित्र्येऽपि**) पर्यायार्थिक नयसे

अनेकाकार होते हुए भी (**अविचित्रताम् उपगतम्**) द्रव्यार्थिक नयसे एकाकारता को प्राप्त है तथा ऐसा होनेपर भी (**पर्यायैः**) पर्यायों की अपेक्षा (**तदनेकताम् परिमृशन्**) वह अनेकताका परामर्श करते हुए भी (**ज्ञानम्**) ज्ञान मात्र तत्त्व, (**स्वतः क्षालितम्**) स्वतः पवित्र है निष्कलङ्क है। (**इति-पश्यति**) ऐसा अनुभव करता है ।।२५१।।

भावार्थ—जिस वादीका मत ऐसा है कि अपने ज्ञानमात्र आत्माको सिद्ध किया सो वही यथार्थ है, वह एकाकार ही है। ज्ञेयके जाननेसे ज्ञानमें ज्ञेयाकार जो दिखाई देते हैं, वे ज्ञानके स्वरूप नहीं हैं, वे विकल्पात्मक होनेसे उस ज्ञानके कलंक हैं। उनका प्रक्षालन करके ज्ञानको शुद्ध बनाइए तो वह ज्ञानरूप निर्विकल्प शुद्धवस्तु अनुभवमें आयगी।

आचार्य कहते हैं कि भाई! ज्ञेयको जानना ही तो ज्ञान का स्वभाव है। सचेतन और अचेतनमें यही अन्तर है कि सचेतन ज्ञायक होनेसे स्वरूपका व परज्ञेयोंका प्रकाशक है, यह स्वपर-प्रकाशकत्व उसका कलंक नहीं, गुण है। कोई भी ज्ञान अपने इस स्वरूपसे वञ्चित नहीं होता। अतः यद्यपि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वह अपनी विविध पर्यायोंमें एकाकार है, तथापि-ज्ञेयके जाननेके निमित्तसे होनेवाली उसकी पर्यायें भी, उसके स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं, अतः उन पर्यायोंकी अपेक्षा वह अनेकाकार भी है। जो अचेतन पदार्थ, ज्ञानके ज्ञेय बनते हैं, उनमें स्वपर प्रकाशकत्व नहीं है, अतः वे स्वयं द्रव्य-पर्यायकी अपेक्षा, एकाकार व अनेकाकार होते हुए भी, अपनेको उभय-रूपमें अनुभव नहीं करते।

(४३९) **प्रश्न**—ज्ञानमें ज्ञेयाकार स्वयं स्वभावसे नहीं है। वे ज्ञानमें ज्ञेयके निमित्तसे आते हैं। अतः ज्ञेयाकाररूप परिणमन, ज्ञानका विकारी परिणमन है। उसे स्वभावरूप नहीं कहना चाहिए। अतः ज्ञेयाकार कलंक ही है। ज्ञान परकी निरपेक्षतामें अपने एकाकाररूप ही है, अतः एकाकारता ही सत्य है, विविधाकारता ज्ञानका दोष है?

समाधान—यद्यपि ज्ञेयके निमित्तसे ही ज्ञानमें ज्ञेयाकारता झलकती है, तथापि वह ज्ञानकी स्वच्छताका ही प्रतिफल है। जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही सम्मुख आगत विविध वर्णके पदार्थ झलकते हैं, उन झलकनेवाले पदार्थ प्रतिबिम्बोंसे दर्पण काला-पीला नहीं हो जाता, वह तो स्वच्छ ही रहता है। स्वच्छताके अभावमें प्रतिबिम्ब दिखाई ही नहीं देते। इसी प्रकार ज्ञानकी जितनी स्वच्छता होगी उतने ही अधिकाधिक पदार्थ अपने सम्पूर्णरूपसे उसमें झलकेंगे। ज्ञानका स्वरूप ही ज्ञेयको जानना है। यदि ज्ञेयको न जाने तो ज्ञानके स्वरूपका ही अभाव हो जायगा। अतः ज्ञानमें ज्ञेया-कारता कलंक नहीं है, किन्तु स्वभाव ही है। यदि स्वभावको ही विकार मान लिया जाय तो स्वभावका अभाव हो जायगा।

(४४०) **प्रश्न**—यदि विविध ज्ञेयाकाररूप परिणमन ज्ञानका स्वभाव है, तो संयमी साधुको विविध विकल्पोंका त्यागकर, निर्विकल्प समाधिके लिए शास्त्रोंमें प्रेरणा क्यों की गई है?

समाधान—अल्पज्ञ या छद्मस्थ जीवका उपयोग एक समयमें एक पदार्थको ही ग्रहण करता है। जब वह किसी अन्य पदार्थपर उपयोग ले जाता है तो वह ज्ञानका विकल्प आत्माको अपने स्वरूप संचेतनमें बाधक हो जाता है। संयमीको आत्मसंवेदन आवश्यक है, अतः अन्यत्रसे उपयोग हटाकर स्वात्मस्वरूपको ही ज्ञेय बनाना उचित है। यह आत्मध्यान कर्मनिर्जराका हेतु है। उससे

ही चारों घातिया कर्मोंका नाश होता है और केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञानका स्वरूप अखिल ज्ञेयाकाररूप परिणमन होकर भी, अपने एकाकारपनेमें रहना है।

(४४१) **प्रश्न**—जब ज्ञानकी विशुद्धता केवल स्वज्ञेयमात्रको जाननेमें है, अन्य ज्ञेयपर उपयोग जाना विकल्प है, और विकल्पोंसे दूर रहना ही उचित माना गया है, तब केवलीका केवलज्ञान भी इसी प्रकार होना चाहिए कि वह स्वको जाने, परको किंचित् भी न जाने। क्या जो सामान्यजनके लिए दोषास्पद है वह विशिष्ट जनके लिए दोषास्पद नहीं है? यह तो बड़े पुरुषोंका पक्षपात और सामान्य जनका अनादरमात्र ही कहा जायगा। न्याय तो समान ही होना चाहिये?

समाधान—ऐसा नहीं है। परिस्थिति भेदसे निर्णय भेद होते हैं। सबको समानाधिकारकी व्यवस्था सबकी समानता होनेपर ही होती है। बालक और युवा दोनोंकी भोजनकी मात्रा समान नहीं होती। हीनाधिक होती है। रोगी-निरोगी दोनोंको समानतासे औषधि नहीं दी जाती। समानताका न्याय समान व्यक्तियोंपर लागू होता है, असमानपर नहीं होता। असमानता ही उसका हेतु है। सामान्यजन छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) हैं। उस समय उनके ज्ञानके विकल्पोंके साथ रागादिके भी विकल्प सम्भाव्य हैं। अतः रागादिसे बचनेके लिए तथा स्वात्म-संचेतनके लिए उन्हें परज्ञेयोंसे पराङ्मुख करना आवश्यक है। उनके बिना रागादि भी दूर नहीं होंगे, और स्वरमणरूप-स्वात्मनिष्ठ चारित्र भी न होगा। इसके बिना कर्मनाश न होगा, तथा कर्मके नाशके बिना कैवल्यकी उत्पत्ति भी न होगी। इनमें इस प्रकारका कार्य-कारण भाव है।

छद्मस्थको सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पोंका त्यागकर स्वात्मनिष्ठ बनना चाहिए। उसका उपयोग यदि वहाँसे च्युत होकर परनिष्ठ होता है, तो स्वात्मनिष्ठताका अभाव तो तत्काल होता है तथा यदि परके ऊपर इष्टानिष्ट विकल्प कषायोदयसे आ गए, तो रागादिकी उत्पत्ति हो सकती है, जो कि ज्ञानको अज्ञानरूप परिणमन कर देती है। परन्तु जब कैवल्य हो जाता है तब उसके पूर्व, राग, द्वेष, मोहका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतः वहाँ परज्ञेयोंके विषयभूत होनेपर भी, न रागादिकी उत्पत्ति होती है, न स्वात्मनिष्ठासे जीव च्युत होता है।

(४४२) **प्रश्न**—केवलीका ज्ञान 'केवल ज्ञान' कहा जाता है, अतः वह 'केवल' अकेला ज्ञान मात्र ही रहना चाहिए। ज्ञेय निमित्तक ज्ञेयाकार रूप होना ज्ञानकी केवलताका विघातक है?

समाधान—ऐसा नहीं है कि यदि ज्ञान ज्ञेयोंको जान ले तो उसकी 'केवलता' को बाधा है। वह समस्त ज्ञेयोंसे सर्वथा भिन्न तो था ही, पर रागादिके साथ होनेसे उसका "कैवल्य" अप्रकट रूप था। रागादि विकारोंसे रहित होनेपर वह ज्ञान अब केवल ज्ञान मात्र ही रहा। अतः उसे "केवल ज्ञान" कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

ज्ञानमें ज्ञेयाकारता, उसकी स्वच्छता, निर्लेपता, स्व-पर प्रकाशकता रूप स्वभावका प्रकटपना ही है, विकार नहीं है। जैसे दर्पण जितना स्वच्छ होगा, उसमें सन्मुख स्थित पदार्थ उतने ही स्पष्ट रूपमें प्रतिबिम्बित होंगे। मलिन दर्पणमें पदार्थ मलिन ही दिखाई देंगे। अस्पष्ट प्रतिभास ही उनका होगा। यदि दर्पण बिलकुल खराब हो तो कुछ प्रतिबिम्ब ही न दिखाई देगा। इसी प्रकार ज्ञान जितना स्वच्छ होगा उसमें उतने ही स्पष्ट ज्ञेयाकार झलकेंगे। अस्वच्छ होगा तो पदार्थ अस्पष्ट प्रतिभासित होंगे। जैसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्बात्मक विविध प्रतिभास होनेपर भी,

दर्पणकी स्वच्छतामें कमी नहीं आती, वल्कि वह स्वच्छताका ही प्रमाण है। इसी प्रकार ज्ञानमें ज्ञेयाकार प्रतिभास कलङ्क नहीं है, किन्तु ज्ञानकी स्वच्छताका ही वह प्रबल प्रमाण है।

यह कथन तो केवलीके 'केवलज्ञान' को ही निर्दोष सिद्ध करता है। रागादि रहित होना ही ज्ञानकी केवलता है। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्म-द्रव्य कथंचित एक होते हुए भी, पर्यायकी अपेक्षा अनेक भी है।

ज्ञानमात्र आत्मा स्वयं स्वद्रव्यकी अपेक्षा अस्तिरूप है, सत् है, परके कारण उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णोभवन् जीवति ॥२५२॥

अन्वयार्थ—(**प्रत्यक्षालिखित-स्फुट-स्थिर-पर व्यास्तिता-वञ्चितः**) प्रत्यक्षमें, ज्ञानमें आगत, स्फुट स्थिर जो ज्ञेयाकार, उसकी अस्तितासे ठगाया हुआ, (**स्वद्रव्यानवलोकनेन**) स्वद्रव्यको न देखता हुआ (**परितः शून्यः**) सब ओर से शून्यताको प्राप्त हुआ, (**पशुः**) अज्ञानी पुरुष (**नश्यति**) स्वयं नाशको प्राप्त होता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादी (**सद्यः समुन्मज्जता**) शीघ्र उत्पत्ति है जिसकी ऐसे (**विशुद्धबोधमहसा**) सुस्पष्ट सुविशुद्ध ज्ञानके तेजसे (**स्वद्रव्यास्तितया**) अपने आत्म-द्रव्यके अस्तित्वके द्वारा (**निपुणं निरूप्य**) वस्तुका स्पष्ट निरूपण करके (**पूर्णोभवन्**) स्वयं अपनेमें परिपूर्ण होता हुआ (**जीवति**) जीवित रहता है ॥२५२॥

भावार्थ—ज्ञानमें आये ज्ञेयाकारोंको स्पष्ट देखकर उनके अस्तित्वसे ही ज्ञानका अस्तित्व माननेवाला अज्ञानी, अपने अस्तित्वको न स्वीकारते हुए स्वयं अस्तित्वरहित हुआ अपना नाश करता है। अनेकान्तवादी जैन अपने स्वास्तित्वसे ही प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व मानता है, अतः आत्माका अस्तित्व भी, स्वद्रव्यापेक्षया ज्ञानात्मक स्वीकार करता है। ज्ञेयाकारोंके आधीन ज्ञान नहीं है, किन्तु जैसे ज्ञेय अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको लिए हैं, उसी प्रकार ज्ञानभी उनका मात्र ज्ञायक है। उसका अस्तित्व ज्ञेयाकारोंके आश्रित नहीं है, किन्तु स्वयं स्वतन्त्र द्रव्यरूपमें अस्तित्व है ऐसा वस्तुका स्पष्ट निरूपण करके अपने ज्ञानभावोंके तेजसे स्वयं प्रकाशित तथा पूर्ण होता हुआ, स्वद्रव्य जीवित ही सिद्ध हो जाता है, नष्ट नहीं होता।

जिसका अस्तित्व है, वह जीवित है, तथा जिसका अस्तित्व नहीं है वह मृत है। ऐसी सामान्य व्याख्या सर्वसाधारण जानते हैं। स्याद्वादीकी दृष्टिमें आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र वस्तु अपने अस्तित्वसे स्वयं है। परको जानना उसका गुण है। जाननेसे ही उसका अस्तित्व स्पष्टरूपसे जाना जाता है, न कि ज्ञेयोंके अस्तित्वसे। ज्ञानका अस्तित्व स्वयं ही है, वह ज्ञेयाकारोंके कारण कल्पित नहीं है, ऐसा अनेकान्तवादीका मत है ॥२५२॥

स्वास्तित्वमें परकी नास्ति है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

अन्वयार्थ—(**दुर्वासनावासितः पशुः**) मिथ्याविश्वासकी वासनाओंसे पूर्ण अज्ञानीजन (**पुरुषं**) इस आत्माको (**सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य**) सर्वद्रव्यमय मानकर, (**परद्रव्येषु किल**) समस्त पर ज्ञेयरूप द्रव्योंमें (**स्वद्रव्यभ्रमतः**) मैं ही यह सब रूपमें हूँ ऐसी भ्रांतिसे, उन द्रव्योंमें (**विश्राम्यति**) स्थित होता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादी तो (**समस्तवस्तुषु**) सम्पूर्ण वस्तुओंमें (**परद्रव्यात्मना नास्तितां**) परद्रव्यकी नास्तिता ही है ऐसा (**जानन्**) जानकर, (**निर्मलशुद्धबोधमहिमा**) निर्मल शुद्ध ज्ञानकी महिमा वाला (**स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्**) अपनी निज सत्तात्मक आत्म द्रव्यका ही आश्रय करता है। परमें अपनी सत्ता विलीन नहीं करता ॥२५३॥

भावार्थ—ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" सारा जगत् ब्रह्म स्वरूप है। "पुरुष एवेदं सर्वं" तथा "अहं ब्रह्म एवास्मि" मैं स्वयं ब्रह्मस्वरूप हूँ। ऐसा कहकर यह सिद्ध करता है कि जगतके समस्त पदार्थोंके रूपमें मेरा स्वयंका अस्तित्व है। उनमें ही मेरी सत्ता है। ऐसी भ्रांतिसे अपना स्वरूप खोकर परमें ही विलीन हो जाता है। अथवा सारे जगत्को अपनेमें विलीन करता है। ऐसी उसकी दुर्वासना, मिथ्यादर्शनके उदयमें चली आ रही है।

मिथ्यादर्शनके उदयमें जो पदार्थ जैसा है, वैसा यथार्थ दर्शन उसे नहीं होता। अतः ज्ञान-मात्र आत्मवस्तुको परज्ञेयोंके साथ मिलाकर, उसका अस्तित्व समाप्तकर, वस्तुतः स्वयंके अज्ञानके कारण परमें विलीन होता है। अनेकान्तवादी कहते हैं कि 'स्व' आत्मा ज्ञानमात्र, पदार्थ, ज्ञायक-स्वरूप, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा जाने गए समस्त जगत्के पदार्थ भी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए स्थित हैं। जैसे घटकी सत्ता पटके आधीन नहीं हैं, इसी प्रकार ज्ञानकी सत्ता ज्ञेयके तथा ज्ञेयकी सत्ता ज्ञानके आधीन नहीं। सर्वद्रव्य निज-निज सत्तात्मक हैं, अतः स्वद्रव्यका आश्रय करना चाहिए उसमें "परद्रव्यका नास्तित्व ही है" ॥२५३॥

स्वक्षेत्रापेक्षया ही वस्तुका अस्तित्व है। ऐसा दिखाते हैं—

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन् पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५४॥

अन्वयार्थ—(**भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियतव्यापारनिष्ठः**) अपनेसे भिन्न प्रदेशोंमें स्थित जो ज्ञेय, उनको जानने रूप जो नियत अपना सन्निकर्ष आदि व्यापार, उसमें स्थित (**पशुः**) अज्ञानी (**पुमांसं**) आत्माको (**अभितः बहिः पतंतं**) सब प्रकारसे बाह्य पदार्थोंमें पड़ता हुआ, (**पश्यन्**) देखता

हुआ, मानता हुआ (**सदा सीदति एव**) नाशको प्राप्त होता सदैव दुखी होता है। (**स्याद्वादवेदी पुनः**) जो अनेकान्तवादी है वह (**स्वक्षेत्रास्तितया**) आत्मा स्वक्षेत्रमें ही अपना अस्तित्व रखता है, अतः उससे (**निरुद्धरभसः**) रोक लिया है परमें जानेका अपना वेग जिसने, तथा (**आत्मनिखात-बोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्**) अपनी आत्मामें प्रतिबिम्बित जो ज्ञेयपदार्थके आकार, उनको जाननेका जो व्यापार, तत् शक्ति रूप होता हुआ (**तिष्ठति**) स्थित रहता है ॥२५४॥

भावार्थ—नैयायिक मतानुयायी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान सन्निकर्ष जन्य है। अर्थात् जब आत्मा मनसे जुड़ती है, तब मन इंद्रियोंसे जुड़ता है, तथा इंद्रियाँ पदार्थोंसे जुड़ती हैं; क्योंकि इंद्रियाँ प्राप्यकारी हैं, अर्थात् पदार्थोंको प्राप्त होकर पदार्थोंको जानती हैं, तब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। ऐसी मान्यताके कारण, अपने आत्म प्रदेशोंसे भिन्न जो परक्षेत्री ज्ञेय, उनमें प्राप्यकारी होनेसे परक्षेत्र गमन रूप क्रियाके कारण, ज्ञानका अस्तित्व परक्षेत्रके आधीन स्वीकार करना ही, स्वक्षेत्र प्रदेश स्थितिसे बाहर आत्माका पतन स्वीकार हुआ। इससे स्वक्षेत्रापेक्षया वस्तुका अस्तित्व न माननेसे अपना नाश ही किया।

अनेकान्तवादी आचार्य कहते हैं कि पर पदार्थ परक्षेत्रमें ही अपना अस्तित्व रखते हैं, और ज्ञानमात्र आत्मा अपने निज प्रदेशोंमें ही अपना अस्तित्व रखती है। पर पदार्थोंको जानना ज्ञानका स्वभाव है अतः परको परक्षेत्र स्थित वह देखता है, तथापि स्वक्षेत्रकी मर्यादामें ही स्वयं रहता है। परमें संबंध करनेके लिए अपना क्षेत्र छोड़कर नहीं जाता, अतः उनमें प्राप्यकारित्वका निषेध है।

यदि नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने क्षेत्रको छोड़कर परपदार्थसे जुड़ान करनेके लिए जायें, तो मनुष्य उतने काल उन इन्द्रियों रहित वृक्षके कोटरके समान खोखला दिखाई देना चाहिए। सो ऐसा होता नहीं है। ज्ञान ज्ञेयको जानता है, इसका अर्थ यह है कि जैसे सम्मुख स्थित पदार्थ, अपने-अपने क्षेत्रके अस्तित्वमें रहते हुए भी, दर्पणमें प्रतिबिम्बित होते हैं। वहाँ न पदार्थ दर्पणमें आता है, न दर्पण पदार्थमें जाता है, तथापि उन पदार्थोंसे भिन्न ही आकार दर्पणमें दिखाई देता है, जो दर्पणाकार ही है। इसी प्रकार ज्ञानमें प्रतिबिम्बित अर्थाकार ज्ञानके ही तत्समानाकार हैं। ज्ञान उनको जानता है। इसे ही 'ज्ञेयको जानता है' ऐसा कहा जाता है। अपने-अपने स्थानको छोड़कर न ज्ञान ज्ञेयमें जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमें जाते हैं। दोनोंमें उभय प्रकारसे भी प्राप्य-कारित्व नहीं है; तथापि ज्ञान-ज्ञेयका परस्पर ऐसा ही संबंध है कि स्व-स्व क्षेत्रोंमें स्थित रहकर ही ज्ञान उन्हें जानता है, और वे ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं।

इस प्रकार दोनोंका अस्तित्व स्वक्षेत्रापेक्षया अपने-अपनेमें है, किसीका अस्तित्व दूसरेके कारण नहीं है, न वे एक दूसरेमें विलीन होते हैं ॥२५४॥

अब यह बताते हैं कि स्वक्षेत्रमें परक्षेत्रका नास्तित्व ही है—

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥

अन्वयार्थ—(**स्वक्षेत्रस्थितये**) अपने क्षेत्रमें ही अपनी स्थितिको सिद्ध करनेके लिए (**पृथक्-विधपरक्षेत्रस्थित-अर्थ-उज्झनात्**) अपनेसे पृथक्—भिन्न है प्रकार जिनका, ऐसे पर क्षेत्रमें स्थित पदार्थोंको छोड़ता हुआ, (**पशुः**) अज्ञानी (**अर्थैः सह चिदाकारान् वमन्**) उन पदार्थोंके साथ-साथ ज्ञानमें प्रतिबिंबित ज्ञेयाकारोंको, जो चैतन्यके ही आकार हैं, उनको भी पर समझ कर छोड़ता हुआ (**तुच्छीभूय प्रणश्यति**) स्वयं रिक्त होकर नष्ट होता है। (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी जैन (**स्वधामनि निवसन्**) अपने चैतन्य पुञ्ज स्वरूपमें स्वयं निवास करते हुए (**परक्षेत्रे नास्तितां विदन्**) पर पदार्थोंके प्रदेशोंमें अपनी नास्तिता स्वीकार करता हुआ (**त्यक्तार्थः अपि**) परको स्व नहीं बनाता तथापि (**परान् आकारकर्षी**) पर पदार्थोंके आकारको चैतन्यमें प्रतिबिंबित करता हुआ (**न तुच्छताम् अनुभवति**) अपनेको अभाव रूप नहीं अनुभव करता, किन्तु स्वक्षेत्रमें अपना अस्तित्व देखता है ॥२५५॥

भावार्थ—कुछ परवादी लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञानका स्वयं स्वक्षेत्र है। वह अपने क्षेत्रमें अपना अस्तित्व रखता है। ज्ञानमें जो ज्ञेयाकारका प्रतिबिम्ब होता है वह ज्ञानमें परका प्रवेश है। ज्ञानमें दिखाई देने वाले ज्ञेयाकार, ज्ञान स्वरूप नहीं हैं। इसलिए जैसे ज्ञानके स्वक्षेत्रके निर्णयके लिए, परक्षेत्रीय समस्त ज्ञेयभूत पदार्थोंका पृथक् करना इष्ट है, इसी प्रकार ज्ञानमें आये आकारों का भी पृथक् करना इष्ट है। वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है, पर रूप है, ऐसी उसकी मान्यता है। इस प्रकारकी मान्यतासे वह ज्ञानके स्वरूपका नाशकर, स्वयं ज्ञानरहित होकर, अज्ञानी होकर अपना ही नाश करता है।

स्याद्वाद विद्याके अधिपति आचार्य कहते हैं कि जो पदार्थ ज्ञानसे भिन्न अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं, वे परक्षेत्रीय पदार्थ हैं—यह तो निःसंदेह है, परन्तु उनके सन्मुख होनेपर जो दर्पणकी तरह ज्ञानमें ज्ञेयनिमित्तक आकार दिखाई देते हैं, वे पर नहीं हैं, वे ज्ञानके ही आकार हैं। ज्ञानका स्वरूप ही स्वपरका बोध करना है। अतः उनका बोध आत्माका स्वरूप ही है। वे विकार नहीं हैं, किन्तु ज्ञानके ही स्वरूप हैं। परके समानाकार रूप परिणत होना ज्ञानका स्वभाव ही है अतः वे चिदाकार परक्षेत्री नहीं हैं, स्वक्षेत्री हैं। ऐसी मान्यताके कारण स्याद्वादी परपदार्थको छोड़ते हुए भी चैतान्याकारोंमें अपना स्वरूप देखकर स्वयं रिक्त नहीं होता। अतः उसके स्वक्षेत्रका नाश नहीं होता, उसमें परक्षेत्रका अभाव ही है ॥२५५॥

(४४३) **प्रश्न**—ज्ञानका स्वरूप तो स्वयं स्वच्छ दर्पणके समान स्वतंत्र है। उसमें आने वाले ज्ञेयाकार ज्ञानका स्वरूप नहीं हैं, वे ज्ञेयके आकार हैं, अतः उनके कारण ज्ञान विकारी ही है?

समाधान—इस प्रश्नका समाधान पूर्वमें कर चुके हैं फिर भी कहते हैं—ज्ञेयाकार ज्ञानमें नहीं आते, वे ज्ञेयभूतपदार्थोंमें ही रहते हैं। ज्ञान तो ज्ञेयाकारके समान परिणत होता है, अतः वे ज्ञानके ही आकार हैं, ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं।

(४४४) **प्रश्न**—वे आकार स्वयं ज्ञानमें अस्तित्व रूप स्वभावसे नहीं हैं। पदार्थ सन्मुख होने पर उत्पन्न होते हैं और उसके अभावमें नष्ट हो जाते हैं। अतः जो आते जाते हैं, अर्थात् उत्पन्न नष्ट होते हैं, वे स्वभाव नहीं हो सकते। स्वभाव तो त्रैकालिक होता है। ऐसा आप कह चुके हैं?

समाधान—यह सही है कि स्वभाव त्रैकालिक रहता है। पदार्थ सन्मुख न होनेपर भी, ज्ञानमें ज्ञेयाकार भले ही दिखाई न दें, पर इतने मात्र से ज्ञेयको जाननेकी उसकी शक्ति रूप स्वभाव

का नाश नहीं होता। यही कारण है कि सर्वज्ञ (पूर्णज्ञानी) के ज्ञानमें, जो चराचर पदार्थ, तीनों कालोंकी पर्यायोंको लिए दिखाई देते हैं, वे अनन्तकाल तक दिखाई देते हैं कभी विनष्ट नहीं होते।

(४४५) **प्रश्न**—पर वे अनादिसे तो दिखाई नहीं देते थे। केवल ज्ञान होनेके बाद ज्ञानमें वे आकार उत्पन्न हुए हैं। पदार्थ यदि परिवर्तनशील है, तो वे आकार भी परिवर्तनशील होना चाहिए। सदा एकसे अनन्तकाल कैसे दिखाई देते रहेंगे?

समाधान—यह सही है कि अनादिकालसे वे दिखाई नहीं देते थे, इसका कारण यह है कि अनादिकालसे ज्ञान संपूर्ण नहीं था, जीव सर्वज्ञ नहीं था, अल्प ज्ञानी था, अतः क्षयोपशमानुसार अल्प पदार्थ दिखाई देते थे। सम्पूर्णज्ञान होनेपर उसे पदार्थोंकी अतीत-वर्तमान और अनागत पर्यायेंकी सभी स्पष्ट प्रतिभासित होने लगीं। वे पर्यायें परिवर्तनशील हैं, यह सत्य है। ज्ञान भी उनकी परिवर्तन शीलताको देखता है, इसीसे सत्य है। यदि परिवर्तनशीलको अपरिवर्तनशील देखे तो वह ज्ञान सत्य न होगा। तथापि जो-जो परिणमन पहिले समय केवल ज्ञानमें दिखाई दिए वे सदाकाल वैसे ही दिखाई देते रहेंगे। उनमें हेर-फेर नहीं होगा। अतः अनन्तकाल तक ज्ञान सदा एक-सा है यह सिद्ध है।

(४४६) **प्रश्न**—भले ही ज्ञान पूर्वावस्थामें सीमित ही हो, तथापि उसका स्वभाव तो जैसा है वैसा सदासे रहना चाहिए?

समाधान—ज्ञान सदा से ऐसे ही समस्त पदार्थको जाननेके स्वभाव वाला ही है, इसमें सन्देह नहीं है, तथापि वह स्वभाव शक्तिरूपसे, सदासे विद्यमान होते हुए भी, कर्मोपाधिके निमित्तसे, उस ज्ञानकी विकृत पर्याय थी। विकारके कारण दूर होनेपर, मेघरहित सूर्यकी भाँति वह पूर्ण प्रकट हुआ, और स्वभावतः सबको जानने लगा।

(४४७) **प्रश्न**—कर्मोदयकी अवस्थामें जीवमें रागादि उत्पन्न होते हैं, उन्हें विकार कहा गया है, वे जीवके स्वभाव नहीं माने गये, आगममें ऐसा लिखा है। ऐसी स्थितिमें आत्म भिन्न पर पदार्थके निमित्तसे होनेवाले, नैमित्तिक आकार, ज्ञानके स्वभाव कैसे होंगे? रागादिकी तरह वे भी विकार माने जाने चाहिए?

समाधान—तर्क ठीक नहीं है, वह वस्तुस्थितिका वोधक नहीं है। मिथ्यात्वादिके उदयमें ज्ञान, मिथ्या ज्ञानरूप परिणत होता है, अतः वह निमित्तजन्य भाव, विकारभाव है। पदार्थोंके निमित्तसे ज्ञानमें विकृति उत्पन्न नहीं होती, अतः वह अविकृत ज्ञान स्वभाव ही है। जो-जो निमित्तजन्य हों, वे सब विकार हों, ऐसा नियम नहीं है।

पदार्थके शुद्ध परिणमनमें भी कालादि परद्रव्योंका निमित्तपना है। जीवके मुक्ति प्राप्तिकी अवस्थामें ऊर्ध्वगमन स्वभावतः है, उसमें धर्म द्रव्य निमित्त है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेपर भी लोकके आगे धर्मका अभाव है, अतः जीव वहाँ ही स्थित हो जाते हैं। उसकी गति रुकनेमें धर्म द्रव्यका अभाव तथा अधर्म द्रव्यका सद्भाव निमित्त है, तथापि मुक्तात्माका वहाँ रुकना, स्वभाव ही है विभाव नहीं है। धर्म-अधर्म द्रव्यमात्र उदासीन निमित्त हैं। उक्त उदाहरणोंसे सिद्ध है कि परपदार्थोंके निमित्तसे उत्पन्न हुए भी, ज्ञानके चैतन्याकार, ज्ञानके ही आकार हैं, अतः स्वक्षेत्री हैं परक्षेत्री नहीं।

ज्ञान तो परको जानता हुआ भी स्वक्षेत्री है। वह कभी स्वक्षेत्रका त्याग नहीं करता, उसमें पर क्षेत्रकी नास्ति है। दोनों अपने-अपने प्रदेशरूप क्षेत्रमें, अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। पर-क्षेत्रका उनमें नास्तित्व ही है ॥२५५॥

आत्मा स्वकालकी अपेक्षा अस्तिरूप है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन् अत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहूर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये**) ज्ञानने पहिले जिस पदार्थका आलंबन किया था, उस ज्ञेयके विनाश कालमें (**ज्ञानस्य नाशं विदन्**) ज्ञानका भी नाश मानता हुआ कोई वादी, (**किञ्चन अपि न कलयन्**) चेतन-अचेतन पदार्थको न स्वीकार करता हुआ, (**अत्यन्ततुच्छः**) अत्यन्त निःस्वभाव पदार्थको मानता हुआ (**पशुः**) अज्ञानी, (**सीदत्येव**) नष्ट ही होता है। दुखी होता है। (**स्याद्वादवेदी पुनः**) स्याद्वादका अवलंवन करने वाला जैन (**बाह्य वस्तुषु मुहुः भूत्वा विनश्त्स्वपि**) वाह्य ज्ञेय पदार्थोंके पर्याय दृष्टिसे वार-वार उत्पत्ति-व्यय रूप होते हुए भी, (**निजकालतः अस्य अस्तित्वं कलयन्**) स्वकालकी अपेक्षा ज्ञानका अस्तित्व स्वीकार करता हुआ, (**पूर्णः तिष्ठति**) अनाद्यनन्त स्थितिको प्राप्त होता है ॥२५६॥

भावार्थ—परिणमनशील प्रत्येक पदार्थ अनाद्यनन्त है। ज्ञान अथवा ज्ञान स्वभावी आत्मा भी अनाद्यनन्त है, उसमें भी सदा पर्याय परिणमन होता ही है। अपने समस्त परिणमनोंमें अन्वय-रूपसे अनुगत, प्रत्येक द्रव्य अनन्त काल तक स्थायी है, कभी नष्ट नहीं होता। वे पर्यायें भी स्व-कालमें अपना अस्तित्व रखती हैं, उन सभी पर्यायोंका समुदायात्मक द्रव्य है। उनकी स्थिति स्वकालकी अपेक्षा अस्तिरूप ही है।

कोई वादी ऐसा मानते हैं कि जिस पदार्थको ज्ञानने अपना ज्ञेय वनाया, उस ज्ञेयके नष्ट होने पर, ज्ञानका भी नाश हो जाता है। ऐसी मान्यता स्वीकार करनेसे पदार्थ और ज्ञान दोनों नष्ट हुए तव निःस्वभाव पदार्थ स्वीकार करने वाला, स्वयं भी उसी नियमके आधार पर नष्ट हुआ। अपने अस्तित्वको भी स्थिर न रख सका, अतः स्वयं नाशको प्राप्त हुआ।

स्याद्वाद नयके वेत्ता जैन ऐसी मान्यताका तिरस्कार करते हुए कहते हैं कि परिणमन ज्ञान में हो, या पदार्थमें हो, उस परिणमनसे वस्तुका नाश नहीं होता। वह तो उन पर्यायोंमें अनुगत सदा रहता है। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ की स्थिति, अपने स्वरूपसे स्वयं स्वतंत्र सत्ता स्वरूप है। किसी की सत्ता परके कारणसे नहीं है। इस नियमके अनुसार ज्ञानका अस्तित्व भी ज्ञेय पदार्थोंके आधीन नहीं है। ज्ञान ज्ञेय दोनों अपने-अपने समयमें, अपनी-अपनी पर्यायोंकी अपेक्षा, अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं। स्वकालकी अपेक्षा अस्तित्वका यही अर्थ है।

ऐसा कथंचित, द्रव्यापेक्षया, पदार्थकी शाश्वतिकता, (नित्यता), और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यता, उभय धर्म पदार्थमें रहते हैं। इसीसे पर्याय नष्ट होनेपर भी द्रव्य अपनेमें परिपूर्ण सत्ता वाला रहता है। आत्माकी नित्यता भी इसमें स्पष्ट है।

(४४८) **प्रश्न**—ज्ञान और ज्ञेयमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यदि ज्ञेय न हो तो ज्ञान किसका होगा। अतः ज्ञानकी स्थिति ज्ञेयके आधीन ही है ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय दोनों अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। ज्ञेयभूत पर्यायका अभाव हो जाता है, पर ज्ञानमें ज्ञेयाकारका अस्तित्व तदनन्तर स्मरण रूपमें रहता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो 'स्मरण' मिथ्या मानना पड़ेगा। 'स्मृति' प्रमाण है, मिथ्या नहीं है, उसे मिथ्या माननेसे प्रश्नोत्तर ही संभावना को प्राप्त नहीं हो सकता। प्रश्नकर्त्ता अपने शब्दोंसे प्रश्न करता है, वे शब्द पर्याय हैं, बोलते-बोलते ही नष्ट हो जाते हैं। उत्तरदाता उनका स्मरण करके हो, उस प्रश्नका उत्तर देता है। अन्यथा नहीं दे सकता।

उत्तरदाताके शब्द भी तत्काल विलीन होते हैं, तब उत्तरदाताके समाधान करनेके अनन्तर कालमें ही, तद्विषयक ज्ञानका अभाव होनेसे, प्रश्नकर्त्ताका समाधान भी समाप्त हो जायगा। संसार मोक्षके सभी उपदेश, स्मृतिके आधार पर ही होते व ग्रहण किए जाते हैं। अतः ज्ञेयके अभावमें ज्ञानका भी अभाव हो जायगा, यह बात मिथ्या है। ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध था तब ज्ञेयके निमित्तसे उसमें ज्ञेयाकारता आई। यदि उसका अस्तित्व स्वयं असिद्ध होता, तो ज्ञेयाकारता किसमें आती ? निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेपर भी ज्ञान-ज्ञेय दोनों एक दूसरेके उत्पादक नहीं हैं। स्वकालकी अपेक्षा दोनों सत्‌रूप हैं।

आत्मा या ज्ञान में, कालकी अपेक्षा नास्तित्व ही है—

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ॥
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जी भवन् ॥२५७॥

अन्वयार्थ—(**ज्ञानस्य सत्त्वं**) ज्ञानकी सत्ता (**अर्थालम्बनकाल एव**) पदार्थके अवलम्बनके कालमें ही है (**इति कलयन्**) ऐसा मानता हुआ कोई वादी (**बहिर्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा**) बाह्य ज्ञेय पदार्थोंको प्राप्त करनेकी लालसासे (**भ्राम्यन्**) बाह्य वस्तुओंमें ही भ्रमता हुआ (**पशुर्नश्यति**) अज्ञानी नष्ट होता है। (**स्याद्वादवेदी पुनः**) स्याद्वाद विद्याका वेत्ता तो (**अस्य**) इस प्रकार (**परकालतः नास्तित्वं कलयन्**) पर पदार्थकी जो पर्यायें वे ही हैं 'परकाल', उनका ज्ञानमें नास्तित्व ही स्वीकार करता है। तथा (**आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् तिष्ठति**) अपनी आत्मामें ही आरोपित जो द्रव्य रूपमें नित्यता, उससे सहज ही आत्मा ज्ञानका पुंज है, ऐसा मानता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्तामें रहता है ॥२५७॥

भावार्थ—एकान्तवादी पर ज्ञेय पदार्थों की पर्यायोंके आधीन ज्ञानकी सत्ता स्वीकार करता है। उसका यह कथन सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि ज्ञानकी सत्ता अपने ही कारण स्वयं है। पर पदार्थों की पर्यायोंका उसमें नास्तित्व ही है। परके आधीन अपनी, या अपने ज्ञानकी, सत्ता मानने वाला, अपने स्वरूपको ही पराधीन मानता हुआ, बाह्य पर पदार्थोंके प्राप्त करनेकी लालसामें भ्रमण करता हुआ, अपनेको स्वयं ज्ञान शून्य मानकर नष्ट होता है।

स्याद्वाद विद्याके वेत्ता कहते हैं कि परका अस्तित्व पर कालसे है। स्वका अस्तित्व स्वकालसे है, अर्थात् पर द्रव्य अपनी पर्यायोंमें ही प्राप्त है, ज्ञान पर्यायोंमें नहीं, इसी प्रकार ज्ञानकी पर्यायोंमें ही ज्ञान द्रव्य, आत्म द्रव्य है, पर पर्यायोंमें नहीं। स्याद्वाद ऐसी वस्तु स्वरूप ज्ञेयोंकी, आत्म स्वरूप ज्ञानकी, स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है, अतः वह आत्मामें ही उकेरे गए, अपने शाश्वतिक स्वाभाविक ज्ञानके समूह रूप, अपनी स्थितिमें सदा रहता है।

(४४९) **प्रश्न**—पदार्थका प्रत्यक्ष होनेपर ही आत्मामें प्रत्यक्ष प्रमाणकी उपलब्धि होती है। अर्थके अभावमें किसका प्रत्यक्ष ज्ञान होगा ? कहा है कि 'अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता' अर्थात् पदार्थके अभावमें, पदार्थकी प्रत्यक्षताका अभाव है। तब प्रत्यक्षकी प्रमाणता पराधीन ही मानना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं है। किसी पदार्थ विशेषका प्रत्यक्ष, उस पदार्थकी उपस्थितिमें हो, तो उस ज्ञानकी तात्कालिक पर्याय होगी। ज्ञान केवल पर्याय मात्र नहीं है। ज्ञानकी पर्यायोंके सदा बदलते रहने पर भी ज्ञानका अभाव नहीं होता। वह शाश्वतिक है। ज्ञानमें पदार्थके कारण ज्ञेयाकारताको उत्पत्ति होना, स्वयं ज्ञानकी स्वतन्त्र पर्याय हैं, वे ज्ञानके अस्तित्वकी सूचक हैं। ज्ञानकी पर्याय, ज्ञानका स्वकाल है। पदार्थकी पर्याय परपदार्थका स्वकाल है। किन्तु ज्ञानके लिए, पर पदार्थकी पर्याय 'पर' काल है, उसका ज्ञानकी पर्यायमें नास्तित्व ही है, अतः स्याद्वादी 'पर' कालका नास्तित्व स्वीकार कर, 'स्वकाल' के अस्तित्वकी ही घोषणा करता है ॥२५७॥

जिस प्रकार द्रव्य, स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकालसे अस्तित्व वाला है, उसी प्रकार 'स्वभाव' से ही आत्माका भी अस्तित्व है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

विश्रान्तः परभावभावकलनात् नित्यं वहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः ॥
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) अज्ञानीजन (**परभावभावकलनात्**) आत्म स्वभावसे भिन्न परभावोंमें आत्माको स्वीकार कर, अर्थात् ग्रहणकर (**वहिर्वस्तुषुनित्यं विश्रान्तः**) वाह्य वस्तुओंमें ही सदा अपने स्वभावको देखता है, तथा (**स्वमहिम्नि एकान्तनिश्चेतनः**) अपनी महिमामें कुछ भी नहीं जानता हुआ (**नश्यति एव**) स्वरूपसे भ्रष्ट ही होता है। अर्थात् स्वरूपका स्वयं नाश मानता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादका आदर करनेवाला व्यक्ति (**सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः**) सहज ही प्रकट किया है स्वज्ञान, तथा (**नियतस्वभावभवनज्ञानात्**) अपने निश्चित स्वभावरूप परिणत ज्ञानसे (**सर्वस्मात् विभक्तो भवन्**) सभी पदार्थोंसे अपनेको विभक्त करता हुआ, या स्वयं विभक्त होता हुआ, (**न नाशम् एति**) नष्ट नहीं होता है ॥२५८॥

भावार्थ—शरीरादि जड़ द्रव्योंमें, अथवा आत्म भिन्न परात्माओंमें, स्वत्वपनेको स्वीकार करनेवाला एकान्तवादी, आत्म-स्वभावको यथार्थ स्थितिको न जाननेवाला मूढ़, वाह्य वस्तुओंमें अपनापन मानकर आत्मघात करता है। आत्माके ज्ञानस्वरूपको भूलना ही आत्मघात है। यही सबसे बड़ा पाप है। ज्ञानी अनेकान्तवादी अपने, सहज ज्ञान स्वभाव रूपमें अपना अस्तित्व देखता

हुआ, तथा शरीरादि जड़ द्रव्योंमें अपने स्वभावकी नास्ति देखता हुआ, कथंचित् "अस्तिनास्तिरूप" अनेकान्त स्वरूप आत्माको देखता है, वह नाशको प्राप्त नहीं होता।

(४५०) **प्रश्न**—आत्माके स्वभावका अजानकार, परमें आत्म स्वभावको मानने पर भी नष्ट कैसे होता है? स्वभाव तो त्रिकाली है, उसका कभी नाश नहीं होता। यदि होता है तो वह स्वभाव कैसे माना जाय?

उत्तर—स्वभाव तो प्रत्येक प्राणीका ज्ञान-दर्शनरूप अनाद्यनन्त है। यह निःसंदेह है। वह कभी नष्ट भी नहीं होता, उसकी विस्मृति अज्ञानीको है। वह पर स्वभावको अपना स्वभाव मान लेता है इसीसे उसे नष्ट कहा गया।

(४५१) **प्रश्न**—स्वभावकी भूल और परभावमें आत्मबुद्धिको उसका भ्रम माना जा सकता है, न कि स्वभावका नाश? घरमें रखे हुए धनको भूल जाने वाला निर्धन नहीं हो जाता। धन तो उसके पास है, मात्र भ्रमसे अपनेको निर्धन मान लेता है?

समाधान—वस्तुतः तो उसका भ्रम ही है। स्वभाव नष्ट होता नहीं है वह तो भूलता ही है। तथापि उस भूलके कारण ही तो दुखी है। अपने धनको विस्मरण करने वाला, निर्धनताके कष्टको तो भोगता ही है। धनी होकर भी निर्धनताके कष्टको भोगने वाले धनीमें—और धन-रहित निर्धनताके कष्टको भोगने वाले उस निर्धनके कष्टोंमें समानता ही है। इसलिए उसे कष्ट कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

इसी प्रकार अपने स्वभावकी जिसे खबर नहीं है, परमें ही विश्रान्त है, उस परावलम्बीको भी अपने स्वभाव परिणमनके अभावमें कष्ट भोगना पड़ता है। अतः वह भी कष्ट है, ऐसा कहनेमें कोई बाधा नहीं है। भ्रम दूर हो जानेपर जैसे वह तात्कालिक निर्धन अपना धन प्राप्तकर, उसका उपयोग कर, अपने कष्ट मिटा सकता है, इसी प्रकार स्वभावकी उपलब्धि करनेवाला अपने स्वभाव जन्य आनन्दका भोक्ता—परावलम्बन जन्य अपने कष्टको मिटा देता है।

(५५२) **प्रश्न**—स्वरूप तो था, खोया नहीं था फिर उसकी उपलब्धिका क्या प्रश्न?

समाधान—स्वरूप जो भूला था वह दृष्टिमें आ गया, इसीको स्वरूपोपलब्धि कहा गया है। भूली वस्तुका मिल जाना ही उपलब्धि है। संसारी जीवके समस्त दुखोंका मूल हेतु हो यह है कि अपने स्वरूपसे एकाकार होकर भी, वह परमें स्वरूपके भ्रमके कारण, परमें ही भटक रहा था। दुखके कारण भूत अपने इस अज्ञान भावमें ही उसे सुखकी कल्पना थी। निज स्वरूपका भान होनेपर वह काल्पनिक सुख, जो यथार्थमें दुखका रूप ही था, मिट गया, तथा स्वतन्त्र स्वाव-लम्बी सुखकी प्राप्ति उसे हो गई। यही स्वरूपोपलब्धि है। तब उसे ज्ञात होता है कि मेरा स्वभाव, ज्ञान-दर्शन चैतन्य है, परके प्रति रागादिभाव मेरे स्वभाव नहीं हैं, वे परभाव हैं। मुझे परभावोंमें स्वभावका भ्रम था, अतः स्वरूपसे अस्तित्व और परसे नास्तित्व रूप, ऐसे अनेकान्त रूप स्वतत्वके बोधके अभावमें अज्ञानी था। वह अज्ञानदशा ही उसका विनाश था स्वभावसे यही आत्माका अस्तित्व है ॥२५८॥

अब पर भावकी अपेक्षा वस्तुका नास्तित्व स्वीकार न करने वाला एकान्तवादी, स्वच्छन्दा-चारी बनकर अपना अहित करता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावाच्च्युतः[1]।
सर्वत्राऽप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीड़ति ॥
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढ़ः परभाव भाव विरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥२५९॥

अन्वयार्थ—(आत्मनि) निजात्मामें (सर्वभावभवनं अध्यास्य) सम्पूर्ण विश्वके समस्त पदार्थोंको आरोपित कर, (शुद्धस्वभावात्च्युतः) अपने शुद्ध स्वभावसे भ्रष्ट हुआ, (पशुः) अज्ञानी (गतभयः) निर्भय होकर (सर्वत्रापि अनिवारित) सभी इन्द्रिय विषयभूत भोगोपभोगके पदार्थोंमें वेरोक टोक (स्वैरं क्रीड़ति) स्वच्छन्द क्रीड़ा करता है। (स्याद्वादी तु) जो अनेकान्तवादी है वह (परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः) परभावसे रहित अकंप रूपसे अवलोकन करता हुआ, (भरात् स्वस्यस्वभावमारूढ़ः) पूर्ण वलसे अपने स्वरूपका आरोहण करता हुआ अपनेको (विशुद्ध एव लसति) निर्मल ज्ञान स्वभावी ही अवलोकन करता है ॥२५९॥

भावार्थ—कुछ मतानुयायी सारे विश्वको ब्रह्ममय मानते हैं। प्रकारान्तरसे—अपने आत्माको अपने स्वरूपमें अवलोकन न करके, जगत्के रूपमें अपनेको देखते हैं। इसका फल यह होता है कि ऐसे एकान्तवादी, स्वच्छन्द होकर, निर्भय होकर, पापादिके फलोंसे भय न करके, पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें लिप्त हो जाते हैं। वे न्याय अन्यायका, पुण्य पापका भी, विचार नहीं रखते। सव संसार ब्रह्मरूप ही है, अतः उन सवका भोगोपभोग ब्रह्मका ही भोग है। ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ ही नहीं है। न पुण्य है, न पाप है, न स्वर्ग है, न नरक है, ऐसे मिथ्या विचारोंसे अनिवारित रूपसे पाप पंकमें लिप्त हो जाते हैं। स्वचतुष्टय स्वरूप आत्माका पता उनको नहीं है। परको ही आत्म रूप मानकर, उनमें मगन हो जाते हैं, अतः अपनेको पापमय वनाते हैं।

स्याद्वादी स्वपरका विवेकी होता है। कृत्य-अकृत्य का विवेकी होता है। अतः वह परसे भिन्न, स्वचतुष्टय स्वरूप अपने आत्माका वांधकर, स्वद्रव्यमें स्वप्रदेशोंमें, स्वपर्यायोंमें, तथा स्वभावमें ही अपना रूप देखता है। अपने विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावमें ही आरूढ़ होकर, अकृत्योंसे दूर होकर, स्वोपलब्धिको प्राप्त होकर, संसार परिभ्रमणसे वचता है, तथा स्वात्मानन्दको प्राप्त होता है।

आर्हत मतमें "छहों द्रव्य अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताको लिए हुए हैं" यह स्पष्ट प्रतिपादित है। कोई द्रव्य किसीकी सत्तामें प्रवेश नहीं कर सकता। सत्ता कभी समाप्त नहीं होती और न असत्से पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इस पृथक् सत्ता वाले अन्य द्रव्योंकी आत्मासे कभी एकता न हुई, न है, न होगी। इतना ही नहीं, आत्मसत्तामें जिनका पर निमित्तसे, नैमित्तिक भावके रूपमें जन्म है, ऐसे रागादि विकार भी, आत्मस्वभाव न होने पर ही माने गये हैं, जैसे लोहमें जलके शैत्यसे जो जंग लग जाता है, वह लोहेके नाशका कारण वनता है। इसी प्रकार कर्म-नोकर्मके निमित्तसे आत्मामें जो रागादि-क्रोधादिभाव होते हैं, वे आत्माकी स्वभाव परिणतिके घातक ही हैं।

आत्मा जैसे अन्य षड् द्रव्यान्तरोंसे पृथक् है, इसी प्रकार रागादिसे भी पृथक् है। अपने ज्ञान स्वभावकी जिनको पहिचान नहीं है, तथा रागादि क्रोधादि रूपतामें ही जिनने आत्म दर्शन

१. सर्वस्वभावच्युतः इति पाठान्तरम्।

किया है, वे रागादिके अवलम्बनभूत पदार्थोंसे अपनी एकता देखें, तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यह मिथ्यात्वकी ही महिमा है। ऐसे मिथ्यामति पुरुष अनात्मज्ञानी है, अतः आत्महितके मार्गसे अपरिचित हैं। संसारके नाना विषय भोगोंमें आसक्त हैं, इसे ही आत्मानन्द दशा मानकर स्वयं अनैतिक बनकर, अनैतिकताका ही प्रचार करते हैं। ऐसे व्यक्ति जगत्के लिए भी भयानक हैं।

अनेकान्तवादी अपने ज्ञानानंद स्वरूप आत्माके स्वभावसे परिचित हैं, श्रद्धावान् है। अतः आत्महितके विरुद्ध रागादि भावोंसे, तथा उसके आलम्बनभूत समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न, अपने स्वरूपकी मर्यादामें ही रहता है, इसलिए कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह अपनेमें परभावोंको नास्तिका वर्णन हुआ।

आत्माको क्षण-भंगुर माननेवाले अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा भी स्वात्मोपलब्धि नहीं की जाती, इसका विवेचनकर कथंचित् नित्यताका समर्थन करते हैं—

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित वहज् ज्ञानांशनानात्मता-
निर्ज्ञानात् क्षणभंगसंगपतितः प्रायः प्रशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) क्षणिकवादी अज्ञानी पुरुष (**प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मता निर्ज्ञानात्**) प्रतिक्षण उत्पत्ति तथा विनाशको प्राप्त, अतः प्रवाहशील ज्ञानपर्यायोंकी विविधताके बोधसे, (**क्षणभङ्गसङ्गपतितः**) पदार्थको क्षणिक स्वीकार करनेवाला है, अतः (**प्रायः नश्यति**) प्रायः ही नष्ट होता है। (**स्याद्वादी तु**) स्याद्वादी अनेकान्तवादी, (**चिद्वस्तु**) चैतन्यस्वरूप आत्माको (**चिदात्मना नित्योदितं परिमृशन्**) 'अपने चैतन्यस्वरूपसे नित्य ही उदयको प्राप्त है', ऐसा विचार करता हुआ स्वयं (**टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन्**) टाँकीसे उकेरी गई पाषाण रेखाके समान, घनस्वभावरूप नित्य प्रकाशमान है महिमा जिसकी, ऐसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ (**जीवति**) जीवित रहता है। अर्थात् सदा अविनाशी रहता है ॥२६०॥

भावार्थ—क्षणिकवादी ऐसा मानते हैं कि पदार्थ प्रतिक्षण नया-नया ही उत्पन्न होता है। उन नवीन-नवीन पर्यायोंमें प्रवहणशील कोई नित्य द्रव्य नहीं है। अनेक पर्यायोंमें पदार्थ ही विभिन्न हैं। उनके मध्य जो सामान्य द्रव्यकी मान्यता है, वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है। व्यक्तियाँ हैं, वे अनेक हैं उनमें एक-सा-पना है पर एकपना नहीं है। एक-सा-पना दृष्टिके भ्रमसे है। जैसे नाना विन्दुएँ समीपताके कारण, अपना पृथक्रूप प्रदर्शित नहीं करतीं, किन्तु एक लकीरका रूप प्रदर्शित करती हैं, तथापि लकीरका ज्ञान भ्रमात्मक है, विन्दुएँ सत्य हैं। जैसे उनमें सामान्य-नित्य एक रूप कोई द्रव्य नहीं है, इसी प्रकार उन ज्ञानोंके क्षण प्रवाहमें, अन्तरंगमें कोई द्रव्य रूप एक आत्मा नहीं है।

इस प्रकारकी पदार्थ व्यवस्था माननेवाले अज्ञानी पुरुष, स्वयं अपनी आत्माका अभाव मानकर, स्वयं नाशको प्राप्त हैं। नाना ज्ञानांशोंमें एक चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं प्रत्यभिज्ञानसे अनुभव गोचर है। उसके अभावमें यह कौन विचार कर रहा है कि 'पदार्थ क्षणिक है—आत्मा

नहीं है ?, ऐसे व्यक्ति आत्माके अभावको स्वीकारकर स्वयं मुक्ति पथसे दूर, संसार परिभ्रमण करके, अपनेको दुख सागरमें डुबाते हैं।

अनेकान्तवादी कहते हैं कि इन नाना ज्ञानपर्यायोंमें यह आत्मा स्वयं चैतन्यरूप नित्य ही प्रकाशमान है। स्मृतिज्ञान-प्रत्यभिज्ञान-अनुमान—तथा स्वानुभवके द्वारा उसका बोध सहज ही किया जा सकता है, वह आत्मा अनाद्यनन्त है। यद्यपि सदाकाल एकरूप नहीं रहती तथापि नाना-पर्यायोंके प्रवाहमें स्वयं गतिशील होकर भी अपना अस्तित्व सदा रखती है।

वह आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण ठोस द्रव्य है। वह शून्य नहीं है। अपनी ऐसी महिमामें ज्ञानी सदाकाल अपना जीवन देखता है ॥२६०॥

आत्मा सर्वथा नित्य ही है ऐसा भी एकान्त नहीं है किन्तु 'कथंचित्-अनित्यस्वरूप' भी है यह प्रदर्शित करते हैं—

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥

अन्वयार्थ—(**पशुः**) कोई अज्ञानी पुरुष एकान्त नित्यवादी (**टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया**) टाँकीसे उत्कीर्णके समान नित्यविशुद्ध, ज्ञानसे विस्तृत, आत्मतत्त्वके अभिप्रायकी इच्छासे (**उच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं**) उठती हुई स्वच्छ ज्ञानपर्यायोंसे पृथक् (**किञ्चन**) कोई एक सर्वथा नित्यवस्तु (**वाञ्छति**) स्वीकार करता है। (**स्याद्वादी तु**) अनेकान्तवादी तो (**चिद्वस्तुवृत्ति-क्रमात्**) चैतन्य वस्तुकी समय-समयकी जो परिणतियाँ, उनके क्रमके कारण (**तदनित्यतां परिमृशन्**) उसकी अनित्यताका भी परामर्श करता हुआ, (**अनित्यतापरिगमेऽपि**) अनित्यताको स्वीकार करके भी (**नित्यं उज्ज्वलं**) नित्य स्वच्छ (**ज्ञानम् आसादयति**) ज्ञानको ही स्वीकार करता है ॥२६१॥

भावार्थ—एकान्त नित्यात्मवादी अनात्मज्ञ है। उसने नित्य टंकोत्कीर्ण, कभी भी परिवर्तन-को प्राप्त न होनेवाले ऐसे आत्माको स्वीकार किया है, जो समय-समय होनेवाली चैतन्य-परिणतियोंसे सर्वथा भिन्न है। अर्थात् आत्मा अपरिणमनशील है,—नित्य है,—सदा एकस्वरूप ही रहता है। ऐसा एकान्त नित्य आत्माका स्वरूप माननेवाले एकान्तवादीसे, स्याद्वादी कहते हैं कि भाई ! आत्मा इस प्रकार एकान्त नित्य नहीं है। उसमें जो समय-समयपर चैतन्य परिणतियाँ क्रमशः प्रकट होती हैं, वे उस आत्माकी ही वृत्तियाँ हैं। वे आत्मासे भिन्न स्वतन्त्र निराधार काल्पनिक नहीं हैं। इन वृत्तियोंसे वह आत्मा अनित्य भी है। वह कथंचित् नित्यानित्यरूप ही स्पष्टरूपसे प्रतिभासित है। एकान्त नित्यरूप नहीं है। इस कलश द्वारा "कथंचित्-अनित्य" पक्षका समर्थन किया ॥२६१॥

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी अनेकान्तात्मकता को उपसंहार द्वारा संकोच करते हैं—

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञान विमूढ़ानां**) अपने निजात्म तत्त्वके परिज्ञानमें भ्रमशील जीवोंके लिए (**आत्म तत्त्वं**) आत्म तत्त्व (**ज्ञान मात्रं**) ज्ञान मात्र है। (**इति प्रसाधयन्**) ऐसा सिद्ध करता हुआ (**अनेकान्तः**) अनेकान्त (**स्वयमेवानुभूयते**) स्वयं अनुभव द्वारा प्रकाशित होता है ॥२६२॥

भावार्थ—एकान्तवादी जन आत्मतत्त्वको यथार्थ नहीं जानते, चाहे वे नित्यैकान्तवादी हों, या अनित्यैकान्तवादी हों। जिन्हें आत्मतत्त्वकी यथार्थताका बोध नहीं है उन्हें स्वयं अपना बोध नहीं है। वे स्वयं आत्मा होकर भी अपने ही स्वरूपके ज्ञानमें भ्रमशील हैं।

स्याद्वादी आचार्य ऊपरके कलशोंमें आत्माकी सभी प्रकारकी एकान्त मान्यताओंका खण्डन-कर चुके हैं, अतः उपसंहार स्वरूप इस कलशमें कहते हैं कि "आत्मा ज्ञानमात्र" है। ज्ञानसे भिन्न आत्मा नहीं है। ज्ञान ही उसका स्वरूप है। चैतन्य वृत्तियाँ जो परिवर्तित दीखती हैं वे सब आत्मा की हैं। आत्मासे उन वृत्तियोंको भिन्न माननेपर वे वृत्तियाँ निराधार किसमें रहेंगी ? इस तरह दोनोंका अभाव होगा। फलतः वृत्तियाँ और वृत्तिमान् दोनोंका सामञ्जस्य है, ऐसा स्वीकार करना ही आत्मतत्त्वका सम्यक्‌बोध है, ऐसा जानना चाहिए ॥२६२॥

अनेकान्त शासन अनुल्लंघ्य है—

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥२६३॥

अन्वयार्थ—(**एवं**) पूर्वोक्त प्रकारसे (**तत्त्वव्यवस्थित्या**) तत्त्वकी व्यवस्थासे (**स्वंस्वयंव्यवस्था-पयन्**) स्वयं-आत्मतत्त्वकी व्यवस्था करता हुआ, (**अलंघ्यशासनम्**) जिस उपदेशका उलंघन युक्ति-तर्क-आगमके द्वारा नहीं हो सकता, ऐसा (**जैनं शासनं**) यह जैन शासन (**अनेकान्तः**) स्वयं अनेकान्त स्वरूप है यह (**व्यवस्थितः**) सिद्ध हुआ ॥२६३॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माका ज्ञानमात्र स्वरूप प्रसिद्ध किया है, इससे आत्माकी कथंचित् नित्यता भी प्रसिद्ध है, और उसे कथंचित् अनित्यता भी प्राप्त है। यह प्रसिद्ध हुआ। संसारमें सभी तत्त्व नित्यानित्य हैं। उनमें आत्मा भी एक तत्त्व है, वह भी नित्यानित्य स्वरूप है, ऐसा जिनेन्द्रका उपदेश है। यह अनेकान्त स्वरूप उपदेश, वस्तु स्वभावके अनुरूप होनेसे अलंघ्य है, जैसा वस्तुका स्वरूप हो, उसको उसी प्रकार प्रतिपादन करना ही सत्य है। जो सत्य है वह अलंघ्य है। उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि अनेकान्तात्मक जैन शासन अलंघ्य है।

जो वस्तु-स्वरूपका सही प्रतिपादन नहीं करते, अनेकान्त स्वरूप वस्तु होने पर भी उसका एकान्तरूपमें प्रतिपादन करते हैं, उनका प्रतिपादन वस्तु मर्यादाके विपरीत होनेसे अवास्तविक है, अतः उल्लंघ्य है, खण्डनीय है। इस प्रकार तत्-अतत्, नित्यानित्य, भावाभाव आदि चौदह भंगों द्वारा वस्तु स्वरूप प्रतिपादक जैन शासन, अनेकान्त स्वरूप, स्वयं सुप्रतिष्ठित है ॥२६३॥

(४५३) **प्रश्न**—प्रत्येक द्रव्यमें अनन्तगुण और उनकी अनन्त पर्यायें हैं। आत्मद्रव्यमें भी अनन्तगुण हैं, तब आत्माको केवल ज्ञानमात्र या ज्ञानस्वरूप ही क्यों कहा जाता है ?

समाधान—ज्ञान असाधारण गुण है जो आत्माके सिवाय अन्य द्रव्योंमें नहीं पाया जाता, अतः आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। आत्माकी पहिचानके लिए ही इस असाधारण धर्मके द्वारा

उसका विवेचन किया है। ज्ञानमात्र शब्दका अर्थ, ज्ञानके सिवाय अन्य धर्मों या गुणोंका निषेध नहीं समझना चाहिए। वस्तुकी पहिचान उसके असाधारण गुण द्वारा ही होती है। अमूर्त्तत्व, सप्रदेशत्व अस्तित्व-वस्तुत्व, आदि सामान्य धर्म भी आत्मामें हैं, पर ये अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, अतः इनसे आत्म-द्रव्य, अन्य पाँच द्रव्योंसे भिन्न पहिचाननेमें नहीं आता। उसे उसके विशेष गुण द्वारा पहिचाननेके लिए ज्ञान स्वरूप कहा गया है।

(४५४) **प्रश्न**—लक्षणका ज्ञान कर लक्ष्यको जाननेका व्यायाम क्यों करना चाहिए ? मुख्य वस्तु तो लक्ष्य है उसीका बोध करना उचित है ?

समाधान—बात तो ऐसी ही है। साध्य आत्मा ही है, यथापि उसे अन्य पाँच द्रव्योंके मध्यमें पहिचाननेका क्या उपाय है ? लक्षणके विना अनात्मज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकेंगे। जैसे कोई हीरा व कांचखण्डका भेद ज्ञान करना चाहे तो दोनोंका भेद उसे उनके लक्षणोंसे ही पहिचानना होगा। इसी प्रकार जीव तथा अजीव दोनोंके विशेष लक्षण जाने बिना अजीवका त्याग—जीवकी उपादेयता कैसे जानी जा सकेगी ? इसलिए जीवका विशेष लक्षण 'ज्ञान' है ऐसा निरूपण किया।

(४५५) **प्रश्न**—आत्माको लक्ष्य और ज्ञानको लक्षण बताया, परन्तु ये दोनों तो पृथक्-पृथक् हैं नहीं। ऐसी स्थितिमें दोनों या तो अनजाने रहेंगे, या दोनों जाने हुए होंगे। जो आत्माको जानेगा वह ज्ञानको जानेगा, इसी प्रकार जो ज्ञानको जानेगा वह आत्माको जानेगा। इन दोनोंमें अभेद एक सत्तात्मकता होनेके कारण, लक्ष्य-लक्षण भाव नहीं बन सकता ?

समाधान—लक्षण दो प्रकारके होते हैं, आत्मभूत और अनात्मभूत। इनमें आत्मा और ज्ञानमें आत्मभूत लक्षणपना है। ज्ञानरूप लक्षण प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्ध लक्षणसे अप्रसिद्ध लक्ष्य आत्माकी सिद्धि की जा सकती है। दोनों एक सत्ताक होने पर भी, गुण गुणीकी अपेक्षा उनमें भेद है। अतः ज्ञान गुणके द्वारा उससे अभिन्न अप्रसिद्ध आत्माकी पहचान हो जाती है। जितनी भी अन्य शक्तियाँ हैं वे भी यद्यपि ज्ञानसे अभिन्न सत्ताक हैं, तथापि स्वरूपभेद उनमें भी पाया जाता है, अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं स्वसंवेदन ज्ञानका गोचर होता है ॥२६३॥

आत्मामें अनेक शक्तियाँ पाई जाती हैं, तथापि आत्मा ज्ञानमात्रताका त्याग नहीं करता—

इत्याद्यनेक-निजशक्तिषु निर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्त्तिविवर्तचित्रं
तद् द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्तु वस्तु ॥२६४॥

अन्वयार्थ—(**इत्याद्यनेकनिजशक्तिषु निर्भरः अपि**) इस प्रकार अपने गुणपर्यायोंसे कथंचित् भिन्न व अभिन्न रूप, नाना शक्तियोंका केन्द्र होने पर भी, (**यो भावः**) जो आत्मा (**ज्ञानमात्रमयतां**) अपने ज्ञानमात्र स्वरूपसे तादात्म्यपनेको (**न जहाति**) छोड़ता नहीं है। (**एवं क्रमाक्रमविवर्त्ति विवर्तचित्रं**) इस प्रकार क्रमवर्त्ती तथा अक्रमवर्ती जो पर्याय, गुण, धर्म, उनके द्वारा वर्तनशील, नानाप्रकारकी विचित्रताको लिए हुए, (**द्रव्यपर्ययमयं**) द्रव्य-पर्यायरूप (**तद् चिद् वस्तु इह अस्ति**) वह चैतन्यवस्तु यहाँ प्ररूपित की गई है ॥२६४॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण, पर्याय समुदाय रूप है। गुण सहभावी हैं, अतः वे एक साथ, अनन्त संख्यामें, उसमें अक्रमसे पाये जाते हैं। पर्यायें क्रमवर्त्ती हैं, अर्थात् एक गुणकी एक पर्याय एक बारमें होगी, दूसरी पर्याय दूसरे समयमें होगी, तथापि अनन्त गुणोंकी अनन्त पर्यायें एक साथ ही होती हैं।

इस प्रकार क्रमवर्तित्व-अक्रमवर्तित्व रूपसे नानाप्रकारके रूपोंको धारण करनेवाला, यह चैतन्य स्वरूपवाला आत्मा है। वह ज्ञानरूपताका त्याग नहीं करता, अतः आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहना सुसंगत है ॥२६४॥

जैनी नीतिके स्वीकार करने वाले ही ज्ञानी बनते हैं—

नैकांन्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयन्तः ॥२६५॥

अन्वयार्थ—**(सन्तः)** सज्जन पुरुष **(नैकान्तसंगतदृशा)** अनेकान्त युक्त अपनी दृष्टिसे **(वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिम् स्वयमेव)** वस्तुकी यथार्थ व्यवस्थाको स्वयं ही **(प्रविलोकयन्तः)** देखते हुए तथा **(स्यादादशुद्धिम् अधिकांमधिगम्य)** स्याद्वाद रूप अनेकान्तकी विशुद्धिको अधिकाधिक प्राप्त करके **(जिननीतिम् अलंघयन्तः)** जैनमार्गको स्वीकार कर **(ज्ञानीभवन्ति)** ज्ञानी बनते हैं ॥२६५॥

भावार्थ—अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थ व्यवस्थाको देखना जैनी नीति है। अतः जो व्यक्ति अनेकान्त दृष्टिसे पदार्थको देखते हैं वे जिननीतिमें निपुण बनते हैं, उनका ज्ञान परिशुद्ध बनता है। अतः वे वास्तविक ज्ञानी हैं ॥२६५॥

(४५६) **प्रश्न**—अनेकान्त दृष्टि जैनी नीति हो सकती है, तथापि वही सत्य है ऐसा कैसे जाना जाय?

समाधान—जैसा वस्तुका स्वभाव है, उसे ही जैनीदृष्टि देखती है, अतः वही सत्य है। ऐसा स्वीकार करना योग्य है।

(४५७) **प्रश्न**—जैनी नीति तो अनिर्णयात्मक है। वस्तुके किसी एक निश्चित रूपका प्रदर्शन नहीं करती है। दोनों ओर झुकती है। अतः संशयके झूलेमें झूलता हुआ जैननीतिवेदी, कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है?

समाधान—पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। वे सभी धर्म, अपेक्षा दृष्टि से परस्पर विरोधी जैसे भी दिखाई देते हैं, तब जैन दृष्टि उनमें समन्वय करती है, अतः वह वस्तुकी नियामक है, इसलिए उसे प्रामाणिक मानना चाहिए।

(४५८) **प्रश्न**—परस्पर विरोधी एक साथ नहीं रह सकते, अतः वस्तु जिस धर्मवाली हो उसी रूप उसे कहना चाहिए। नित्यको नित्यरूप; अनित्यको अनित्यरूप, एकको एक रूप अनेकको अनेक रूप ही कहना चाहिए। एक ही वस्तुमें नित्यानित्य, एकानेक, ऐसे परस्पर विरोधी धर्मोंका समन्वय कैसे चलेगा? यह समन्वय काल्पनिक है, असत्य है। उनकी परस्पर विरोध रूप स्थिति ही सत्य है।?

समाधान—पदार्थमें रहनेवाले अनन्त धर्म, वास्तवमें विरोधी नहीं हैं, उनमें शाब्दिक विरोध सा प्रतिभासित होता है। जो पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे नित्य प्रतीत है, वही समय समय पर होने-वाले अपने परिणमनोंसे अनित्य प्रतीत होता है। अपेक्षा भेदसे दोनों धर्म उसमें अविरोध रूप हैं। जो विरोधी हैं वे एक साथ नहीं रह सकते, पर जो एक साथ अपेक्षा भेदसे रहते हैं उन्हें विरोधी कैसे कहा जाय ? जो सामान्य से एक हैं, वही अपनी विशेषताओंके भेदमें अनेक रूप हैं। सामान्य-विशेष अपेक्षा भेदसे है, उन दोनोंमें भी अविरुद्धपना है। यह समन्वयदृष्टि ही वास्त-विक सत्य है। अविरोधी रूपसे पाए जाने वालोंमें विरोध मानना ही काल्पनिक है। असत्य है।

(४५९) **प्रश्न**—वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन जैनी अनेकान्त पद्धतिमें उलझ जाता है। उसकी उलझन दूर कर उसे किसी एकरूपमें ही वर्णन करना चाहिए, वही सत्य होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है। वस्तु स्वयं अपने अनेक गुण पर्यायोंमें है। उसे ऐसा ही बताना सत्य है। वस्तु वस्तुतः उलझी नहीं है, वह तो अनेक धर्मात्मक ही है। अपनेमें सुलझी है, स्पष्ट है। उसे विवक्षा भेदसे समझा जा सकता है। उसके समझनेका प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। न समझना अज्ञान भाव है। अज्ञानी ही उलझा है। जैनी नीति वस्तुके आधार पर चलती है, उसे स्वीकार करना, सुलझना है उलझना नहीं।

वस्तु एकान्तरूप है नहीं, तथापि उसे वस्तु स्वरूप मानकर अपनेको सुलझा हुआ मानना अज्ञान भाव है। अतः जैसी वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसे उसी रूपमें स्वीकार करना ही सत्य है, यही जैनी नीति है। उस पर चलने वाले सज्जन ही यथार्थ ज्ञानी हैं ॥२६५॥

❀ इति स्याद्वाद अधिकारः समाप्तः ❀

□ साध्य-साधक अधिकार □

जो अपनी ज्ञानमात्र भूमिकाको आश्रय करते हैं वे ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां-
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः
मूढ़ास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६६॥

अन्वयार्थ—(ये) जो मुनिजन (**कथमपि अपनीतमोहाः**) किसी भी उपायसे अपने मोहभाव को दूर करके (**ज्ञानमात्र-नित-भावमयीं**) ज्ञानमात्र अपने आत्मभाव स्वरूप (**भूमिम्**) शुद्धोपयोगरूप भूमिकाको (**अकंपां आश्रयन्ति**) निश्चल रूपमें आश्रय कर लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं, अर्थात् उसमें एकाकार हो जाते हैं, (ते) वे ही (**साधकत्वम् अधिगम्य**) यथार्थ रत्नत्रय स्वरूप साधकपनेको प्राप्त करके, (**सिद्धाः भवन्ति**) सिद्धपद प्राप्त करते हैं। (**मूढास्तु**) जो मोही जीव हैं वे (**अमूमनुपलभ्य**) इस भूमिकाको प्राप्त न करके (**परिभ्रमन्ति**) संसारमें परिभ्रमण ही करते हैं। सिद्धिको प्राप्त नहीं होते ॥२६६॥

भावार्थ—जिन जीवोंके मिथ्यात्व है, वे विपरीत दृष्टि हैं, अनात्मज्ञ हैं। आत्माके दर्शन-ज्ञान स्वभावको वे नहीं जानते। वे चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वके ज्ञानके बिना अपने उपयोगकी अशुद्ध-भूमिकामें विचरण करते हैं, अतः अशुद्धात्माको प्राप्त कर संसारमें दीर्घकाल तक परिभ्रमण ही करते हैं।

किन्तु जो ज्ञानी जीव मोहभावका त्याग कर, पराश्रयके निमित्तसे उत्पन्न रागादि, क्रोधादि, विकार भावोंसे अपनेको भिन्न करते हैं, तथा उन समस्त परावलम्बनोंको छोड़कर अपनी शुद्ध ज्ञानमय आत्म भूमिकाका आश्रय करते हैं, उसमें अपनी अविचलित स्थिति बनाते हैं, अर्थात् उस शुद्धोपयोगकी भूमिकासे चलायमान नहीं होते, वे ही महापुरुष मुक्त होते हैं, सिद्धिपनेको प्राप्त कर सिद्ध परमात्मा बनते हैं। शुद्धोपयोग दशा ही वह साधक दशा है, जो आत्माको पवित्र बनाती तथा पूर्ण सिद्धिको प्रदान करती है।

(४६०) **प्रश्न**—ज्ञान आत्माका स्वभाव है—लक्षण है, गुण है। आत्मा त्रिकालमें भी ज्ञान-रहित होती नहीं है। यदि हो जाय तो लक्षणके अभावसे, लक्ष्यभूत आत्माका भी अभाव हो जायगा। आपने उन्हें एकसत्तात्मक बताया है, अतः सदा ज्ञानमय अवस्था उसकी निश्चय रूपमें ही है। तब उसके मुक्त होनेमें क्या बाधा है? उसे ज्ञानरूप भूमिकाका आश्रय करनेका उपदेश देनेका फिर क्या प्रयोजन है?

समाधान—यह सत्य है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है, तथापि वह अपने स्वभावकी अजान-कारीसे अज्ञानी है, ज्ञानाभावसे अज्ञानी नहीं है। वह अपनी निजनिधिको भूला है, उसकी अजान-

कारी है, इससे वह अज्ञानी है। उसे उपदेश देकर उसके ज्ञानस्वभावकी खबर कराते हैं, अतः उपदेश सार्थक है, व्यर्थ नहीं है।

(४६१) **प्रश्न**—जब उसकी निज ज्ञाननिधि उसके पास सदा है, तब वह भूल कैसे सकता है?

समाधान—जैसे कोई अपने घर में रखी हुई, गड़ी हुई, सम्पत्तिको भूल जाय, तब तक वह अज्ञानी ही है। दरिद्रताका दुःख भोगता है। निधिका पता लग जाने पर उसे प्राप्त कर दरिद्रता का नाश करता है। इसी प्रकार ज्ञानी अपनी निधिको मोहके नशेमें भूला है। मोहका नशा उतरने पर उसे निज निधिका पता लगता है, तब वह उसका आश्रय कर, सम्यग्ज्ञानी बनकर, संसारके कष्टसे पार हो, मोक्ष जाता है। इसीसे उसे अपने स्वरूपमें स्थिर होनेका उपदेश दिया गया है ॥२६६॥

शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त करनेका उपाय बताते हैं—

स्याद्वादकौशल-सुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्र मैत्री
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो भव्यप्राणी (**स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्याम्**) अनेकान्त स्वरूप जिनवाणीके अभ्याससे उत्पन्न सम्यग्ज्ञान द्वारा, तथा निश्चल आत्मसंयमके द्वारा (**इह उपयुक्तः**) इस स्वात्मामें उपयोग स्थिर करके (**अहः अहः स्वम् भावयति**) बार-बार उस स्वात्माकी भावना करता है। (**ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः**) ज्ञाननय तथा क्रियानय दोनोंकी परस्पर तीव्र मित्रताका पात्र बना हुआ (**स एकः**) वही एक भव्य (**इमां भूमिम्**) इस शुद्धोपयोगकी भूमिकाको (**श्रयति**) प्राप्त करता है।

भावार्थ—पूर्वमें यह प्रतिपादित कर आए हैं कि उपयोग तीन प्रकारका होता है—१. **अशुभोपयोग**—जो विषय कषायोंमें जानेवाला ज्ञानका उपयोग है वह अशुभोपयोग है, जो पाप-प्रकृतियोंके बन्धका कारण बनता है। २. **शुभोपयोग**—विषय कषायसे रहित वीतरागी देव-गुरु व तत्प्ररूपित वाणीके प्रति अनुराग, पुण्यबन्धका कारण, शुभोपयोग है। तथा ३. **शुद्धोपयोग**—इन दोनों प्रकारके उपयोगोंसे रहित वीतरागी जो उपयोगकी प्रवृत्ति वह शुद्धोपयोग है। यह उपयोग ही संसारके समस्त बन्धनोंको काटकर सिद्धि पदका प्रदाता है। यह भूमिका कैसे प्राप्त होती है उसका यहाँ वर्णन किया गया है।

जो भव्यप्राणी स्याद्वाद विद्याके अभ्याससे, तत्त्वका यथार्थ निर्णय कर चुका है, तथा तदनुरूप संयमका अभ्यासी है। ज्ञाननय और क्रियानय, दोनों नयोंके वशीभूत ज्ञान-चारित्रका जिसने स्वयंको पात्र बना लिया है, वही भव्य, क्रमशः शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरूढ़ होता है। वह अपने स्वरूपकी उपलब्धिको प्राप्त हुआ है। उसके कर्मबन्धन स्वयं ही कट जाते हैं ॥२६७॥

(४६२) **प्रश्न**—यह जाना कि अनेकान्तवाणीका अभ्यासी विद्वान् ही आत्मस्वरूपका दर्शन करता है। अतः स्याद्वादकी कुशलतासे आत्मोपलब्धि हो जाती है, वही शुद्धोपयोगी है। उपयोगकी शुद्धता उपयोगके शुद्धलक्ष्यसे है, पर इसके साथ चारित्रकी बात जोड़ी गई है, उसकी क्या उपयोगिता है? उस संयमसे तो केवल देहदाह ही होता है!

समाधान—ज्ञानी वस्तुस्वरूका वेत्ता है, तथापि उस लक्ष्य पर उपयोगकी स्थिरताके लिए चारित्र अवश्य चाहिए। असंयमीका उपयोग, शुभाशुभ रूप ही प्रवर्तित होता है, शुद्धरूप नहीं। अतः इसके लिए चारित्र धारण करना अनिवार्य है।

(४६३) **प्रश्न**—चारित्र-पञ्च महाव्रतादिरूप हैं। इसकी गणना स्वयं पुण्यबंधके कारणोंमें भगवान् उमास्वामीने, मोक्षशास्त्रके सप्तम अध्यायमें की है। तब इस पुण्यबन्धके कारणभूत शुभोपयोगकी संगतिसे अनेकान्त विद्याके अभ्यासीको शुद्धोपयोग की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—चारित्र दो प्रकारका है। व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। व्यवहार चारित्र तो पञ्चमहाव्रतादि तेरह प्रकारका है, तथा निश्चय चारित्र आत्मस्वरूपमें तल्लीनताको कहते हैं। यहाँ ज्ञानीके निश्चय चारित्रकी दशामें ही शुद्धोपयोगकी प्राप्ति है, ऐसा तात्पर्य है। अतः दोनों, अर्थात् ज्ञान और चारित्रकी मैत्रीके पात्र व्यक्तिको, शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त करनेवाला कहा गया है।

(४६४) **प्रश्न**—यदि संयमसे तात्पर्य स्वात्मरमण रूप निश्चय चारित्रका है, तब हम इसे स्वीकार करेंगे। व्यवहार चारित्रका धारण करना उसका साधनभूत नहीं ठहरा। अनेकान्त वाणीका उपासक व्यक्ति उसमें वर्णित आत्मस्वरूपका ज्ञाता है, तथा वही उस आत्मामें उपयोग लगाकर निश्चय चारित्रको प्राप्त होकर शद्धोपयोगी बन सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है। जिसने पञ्चमहाव्रतादिरूप चारित्रको अंगीकार नहीं किया, उसने अपनी प्रवृत्तिमें पांच पापोंका त्याग नहीं किया। जिसकी प्रवृत्ति पाप रूप है, पंचेन्द्रियके विषयोंमें तथा कषायोंमें है, उसकी वह प्रवृत्ति उपयोगके बिना नहीं हुई। बुद्धिपूर्वक ही उसकी उनमें प्रवृत्ति है,। वह दोनों भूमिकाओंका अतिक्रमण कर तीसरी शुद्धोपयोग की भूमिकाको प्राप्त नहीं कर सकता।

(४६५) **प्रश्न**–सो तो बाह्यचारित्र-**महाव्रतादि पालन करनेवाला भी शुभोपयोगकी भूमिका-का अतिक्रमण** नहीं करता ?

समाधान—यह भी सही है। पर जब तक नहीं करता, तब तक शुभोपयोगी है, इसके वाद वही शुद्धोपयोगी बनता है।

(४६६) **प्रश्न**—इसी प्रकार बाह्य चारित्रकी भूमिकाका आश्रय न करनेवाला ज्ञानी गृहस्थ भी, विषय कषायसे उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगी क्यों नहीं बन सकता ?

समाधान—सर्वप्रथम जब अशुभोपयोग हटता है, तब प्रवृत्ति शुभोपयोगमें होती है। तत्पश्चात् शुद्धोपयोगकी योग्यता आती है। गृहस्थ-पंचेन्द्रियोंके विषय-कषायोंसे अपनेको ऊपर नहीं उठा पाता तब शुद्धोपयोगी कैसे बनेगा ?

(४६७) **प्रश्न**—यदि कोई गृहस्थ ऐसा करे तो उसमें क्या बाधा है ? क्या वाह्य वेष कोई रुकावट पैदा करेगा ? या वाह्यनग्न दिगम्बर वेष उसमें साधक बनता है ? यदि वनता है तो कैसे ?

समाधान—यदि कोई गृहस्थ पंचेन्द्रियके विषयोंसे, कषायोंसे, पंचपापोंसे अपनेको ऊपर उठाता है, तो वह नियमसे उन पापोंका परित्यागी हो जायगा। ऐसी स्थितिमें वह स्वयं गृहस्थ न होकर, महाव्रती साधु ही होगा। साधु स्वयं परिग्रहका त्यागी होनेसे नग्न होता है।

(४६८) **प्रश्न**—क्या साधुको नग्न होना आवश्यक है ? गृहस्थ भी सर्वपरिग्रहका त्यागी क्यों नहीं हो सकता ?

समाधान--सर्व परिग्रहका त्यागी, स्त्री-पुत्र कुटुम्बादिसे भी रागद्वेष न रखेगा। धन-गृह-खेत आदि परिग्रहसे भी सम्बन्ध त्याग देगा। रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, बर्तन, वस्त्र आदिका भी त्याग करेगा। इस अवस्थामें वह स्वयं दिगम्बर होगा, गृहस्थ दशा उसकी स्वयं समाप्त हो जायगी। गृहत्यागी ही अपरिग्रही है। गृहस्थ हो और अपरिग्रही हो ऐसा नहीं हो सकता।

(४६९) **प्रश्न**—गृहरहित ही साधु है, ऐसा मान लिया जाय तो जिनके गृह ही नहीं है, ऐसे पशुपक्षी तथा वनवासी सभी व्यक्ति साधु संज्ञाको प्राप्त हो जायेंगे। तब क्या उनको भी शुद्धोपयोगकी प्राप्ति होगी ? यह तो असम्भव लगता है ?

समाधान—जरूर असम्भव है। उसका कारण यह है कि परिग्रहकी अप्राप्ति एक बात है और परिग्रहका त्याग दूसरी बात है। दोनोंमें महान अन्तर है। उसे इस प्रकारसे समझना चाहिए—एक भिक्षुक है, जिसके पास एक कानी कौड़ी भी नहीं है। रहनेको भवन नहीं है। खानेको अन्न नहीं है। भिक्षा वृत्तिसे घर-घर माँगकर पेट भरता है। दिनभर याचना करता रहता है। एक दूसरा व्यक्ति धनवान् है, सभी प्रकारके सुखभोगकी सामग्री है, पर उसने संसारके तत्त्वका बोध कर, उस सबका त्याग कर दिया है और साधुता स्वीकार कर ली है। न उसे घरकी चाह है, न भोजनके लिए चाहना है, न धनकी इच्छा है। गृहस्थ द्वारा अत्यन्त आदरसे जो प्रासुक शुद्ध आहार, उसे बुलाकर दिया जाता है, उसे ग्रहण कर, सम्पूर्ण समय ज्ञान-ध्यानमें व्यतीत करता है। अप्राप्तिके, तथा प्राप्त त्यागके उदाहरण स्वरूप ये दो व्यक्ति हैं। इनका महान् अन्तर स्वयं स्पष्ट है।

(४७०) **प्रश्न**—क्या दिगम्बरताके साथ साधुताकी व्याप्ति नहीं है ?

समाधान—है, पर उभय व्याप्ति नहीं है। इसका स्पष्टीकरण भी इस प्रकारसे जानना चाहिए—जो-जो साधु हैं वे नियमसे सर्व परिग्रह के त्यागी होनेसे दिगम्बर ही होंगे, ऐसी व्याप्ति है। तथापि जो नग्न होंगे वे सब साधु ही होंगे ऐसी व्याप्ति नहीं है। व्याप्ति समव्याप्ति भी होती है और विषमव्यक्ति भी होती है। जैसे अग्निका गुण उष्णता है उसमें गुण-गुणीका सम्बन्ध है अतः इन दोनोंमें समव्याप्ति है। आत्माका गुण ज्ञान है, अतः दोनोंमें गुण-गुणी होनेसे समव्याप्ति है, अर्थात् दोनों ओरसे व्याप्ति है जो इस प्रकार है—

१. जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ उष्णता है। जहाँ-जहाँ उष्णता है, वहाँ-वहाँ अग्नि है।

२. जहाँ-जहाँ जीव है, वहाँ-वहाँ ज्ञान है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ जीव है।

जो गुण-गुणीरूप नहीं हैं, उन दो वस्तुओंमें, या भिन्न कार्य-कारणोंमें, विषम व्याप्ति पाई जाती है। जैसे—अग्निसे धूम्र उत्पन्न होता है, इन दोनोंमें कार्य-कारणभाव है। जहाँ आग होगी वहाँ धूम्र भी होगा, ऐसी व्याप्ति नहीं है। पर जहाँ धूम्र होगा, वह अग्निसे ही उत्पन्न होगा, ऐसी व्याप्ति पाई जाती है। दिगम्बरता और साधुतामें इसी प्रकारकी विषम व्याप्ति है। साधुताके साथ दिगम्बरता अनिवार्य होती है, पर दिगम्बरताके साथ साधुता हो भी—और न भी हो, यह

सम्भव है। साधुता हृदयकी वस्तु है, और दिगम्बरता शारीरिक है। साधुता आत्माके भावको कहते हैं, जब कि नग्नताका सम्बन्ध देहसे है। इस प्रकार दोनोंमें स्पष्ट अन्तर है।

जो अन्तरंगमें साधुताको अर्थात् वीतरागताको स्वीकार करता है, वह बाह्य परिग्रहको ग्रहण ही नहीं करता। यदि पूर्व गृहीत हों तो उन्हें त्याग कर देता है। फलतः वह स्वयं दिगम्बरता को प्राप्त हो जाता है।

यह निश्चित हुआ कि स्याद्वाद वाणीके प्रभावसे जिसने आत्मतत्त्वको जाना है, तथा आत्म-संयमन करके परके प्रति रागादिभावोंका त्याग किया है, ऐसा भाव संयम, जिस साधुको प्राप्त हुआ है, वही शुद्धोपयोगी बनता है। ऐसे भावसंयमीमें बाह्यसंयम स्वयं पाया जाता है। बिना द्रव्य-संयमके भावसंयमकी प्राप्ति असम्भव है। द्रव्य असंयम हो, और भाव संयम प्राप्त हो जाय, ऐसा त्रिकालमें नहीं होता। इसीसे आचार्यने ज्ञान-नय और क्रिया नयकी तीव्र मैत्री होनेपर ही, शुद्धोपयोगकी भूमिका प्राप्त होनेकी स्थितिका प्रतिपादन किया है ॥२६७॥

शुद्धोपयोगी ही आत्मस्वरूपमें स्थित होता है इसे स्पष्ट करते हैं—

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप–
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

अन्वयार्थ—(**चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः**) चैतन्यके समूहकी प्रौढ़ता विशालताके विलाससे विकसित है प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता जिसकी, तथा (**शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः**) शुद्ध जो प्रकाश अर्थात् विशुद्ध ज्ञान, उसके समूहसे भरा हुआ है उदय जिसका तथा (**आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपः**) स्वात्मानन्दमें भले प्रकार स्थित और स्थिर, जो कभी चलायमान न हो, ऐसा ही है एक रूप जिसका, तथा (**अचलार्चिः**) निष्कंप है दीप्ति जिसकी, ऐसा (**आत्मा**) आत्मा (**तस्यैव चायमुदयति**) उसी शुद्धोपयोगी मुनिको प्रकट होता है ॥२६८॥

भावार्थ—शुद्धोपयोगी पुरुष ही चैतन्यकी स्वच्छताका दर्शन करते हैं। उनको शुद्ध केवलज्ञानका उदय होता है, जो उनके जीवनका नया प्रभात है। वे ही आनन्दामृतका सदा रसपान करते हुये अनन्तकाल व्यतीत करते हैं। उनकी आत्मा निष्कंपरूपसे अपनी अनन्त शक्तिरूप प्रकट होती है। जो जीव शुभाशुभोपयोगकी भूमिकासे ऊपर उठकर, अपने उपयोगको रागादि क्रोधादि विकारीभावोंसे भिन्न, अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थिर करनेके सत्पुरुषार्थमें सफल होता है, उस शुद्धोपयोगीको, अनन्त चैतन्यका दर्शन, केवल ज्ञानकी प्राप्ति, वीतरागताका अनन्तसुख, तथा इसी अवस्थामें सदा स्थितिरूप अनन्त शक्ति, ऐसे अनन्त चतुष्टयकी प्राप्ति होती है। अर्थात् इन चारों गुणोंका विकास शुद्धोपयोगका फल है।

(४७१) **प्रश्न**—उपयोगकी शुद्धता तो अविरत सम्यग्दृष्टिको भी हो जाती है। उसे भी 'शुद्धोपयोगी' कहा जाता है। जब शुद्धोपयोग चतुर्थ गुणस्थानमें भी प्रकट है तब क्या वहाँ भी अनन्त चतुष्टयकी प्राप्तिकी सम्भावना है?

समाधान—नहीं, वहाँ वस्तुतः शुद्धोपयोग नहीं है।

(४७२) **प्रश्न**—वस्तुतः शुद्धोपयोग नहीं है तो क्या शुद्धोपयोगका उपचारमात्र है? यदि उपचार है तो उसका क्या हेतु है?

समाधान—'शुद्धोपयोग' शब्दमें शुद्ध और उपयोग दो शब्दोंका मेल है। इनकी व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे होती है—

'साध्यभूते शुद्धे आत्मनि यः उपयोगः सः शुद्धोपयोगः'

१. शुद्ध जो आत्मा, उसके ऊपर विचार करने वाला जो उपयोग, उसे भी शुद्धोपयोग कह सकते हैं। ऐसा शुद्धोपयोग अव्रत सम्यक्त्वीको भी हो सकता है। इसके उपयोगका विषय (लक्ष्य शुद्धात्मा है।

'शुद्धाश्चासौ उपयोगः रागादि विरहितः सः शुद्धोपयोगः'

२. शुद्ध अर्थात् रागादि विकार रहित उपयोगकी जो प्रवृत्ति उसे भी शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग पूर्ण रागादि रहित ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानोंमें होता है। तथापि सप्तमादि गुण स्थानोंमें ध्यान अवस्था है अतः वहाँ साधुके स्वात्मनिष्ठ होने, एवं वुद्धि पूर्वक रागादि न होनेसे वहाँ भी शुद्धोपयोग इस अर्थमें कहा गया है। वह वस्तुतः संयमीके ही होता है ऐसा प्रवचनसारमें कहा गया है।

'शुद्धः पूर्णज्ञानरूपः उपयोगः सः शुद्धोपयोगः'

३. शुद्धात्म भगवान् केवली, उनका जो विशुद्ध केवल ज्ञान रूप उपयोग, वह शुद्धोपयोग ऐसा शुद्धोपयोग केवलीके प्रकट हुआ, जो पूर्ण शुद्धोपयोगका फल कहा गया है।

शब्द शुद्धोपयोग है, पर उसके तीन भिन्न-भिन्न अर्थ, भिन्न-भिन्न गुणस्थानोंकी अपेक्षासे किये जाने चाहिए।

(४७३) **प्रश्न**—आपने चतुर्थ गुणस्थानमें प्रथम अर्थवाला शुद्धोपयोग बताया तथा दूसरे अर्थवाला ग्यारहवें-बारहवेंमें बताया तब पंचम गुणस्थानसे दसम गुणस्थान तक क्या शुद्धोपयोग किसी अर्थमें भी नहीं है? तब वहाँ क्या शुभोपयोग ही सम्भाव्य है?

समाधान—ऐसा नहीं है। पंचमादि दशमपर्यन्त सभी गुणस्थान, सम्यग्दृष्टिके ही गुणस्थान हैं, अतः चतुर्थगुणस्थानमें पाया जानेवाला शुद्धोपयोगका अर्थ इन गुणस्थानोंमें भी सुघटित है।

(४७४) **प्रश्न**—क्या चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें केवल शुद्धात्माका विचार है, इसलिये शुद्धोपयोग है? या उनके उपयोगमें स्वयं भी शुद्धता है?

समाधान—अव्रती सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुवन्धी राग कम हुआ है। पंचमादि गुणस्थानवर्ती जीवोंको अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान सम्वन्धीरागका यथायोग्य रीतिसे अभाव हुआ है, अतएव उनके उपयोगमें उतनी-उतनी विशुद्धता आंशिकरूपमें प्रकट हुई है—अतः अंशांशभावमें उनका उपयोग भी कथंचित् वीतरागी है। वहाँ शुभोपयोग प्रारम्भ होकर वढ़ता जा रहा है, तथापि दूसरी दृष्टिसे विचार करें तो आंशिक अशुद्धता भी वहाँतक पाई जाती है।

(४७५) **प्रश्न**—शास्त्रकारोंने शुद्धोपयोग शब्दका व्यवहार उपशमक-क्षपक श्रेणीमें स्थित जीवोंमें ही किया है। तव आपकी ऊपरकी व्याख्या कैसे सुसंगत है?

समाधान—शास्त्रकारोंने जो शुद्धोपयोग शब्दका व्यवहार किया है, वह उन श्रेणिगत गुणस्थानोंमें ध्यानावस्था होनेसे, बुद्धिपूर्वक रागादिके अभावसे, उन्हें शुद्धोपयोगी भी कहा है और उन्हें वीतरागी भी कहा है। तथापि जैसे वीतराग शब्दका उपयोग, पूर्णवीतरागी ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानमें ही "छद्मस्थवीतराग" के नामसे किया है, उसी प्रकार "शुद्धोपयोगी" शब्दका उपयोग भी, पूर्णताके अर्थमें, इन ही दोनों गुणस्थानोंमें सम्भाव्य है।

(४७६) **प्रश्न**—जिनके बुद्धिपूर्वक राग नहीं है उन्हें शुद्धोपयोगी कहते हैं। इस व्याख्यासे ऐसा प्रतीत होता है कि वे कुछ अबुद्धिपूर्वक, अज्ञानपूर्वक भी रागादि क्रियाएँ करते हैं। क्या श्रेणीमें अज्ञान जनित क्रियाएँ भी होती हैं? यदि नहीं, तो बुद्धिपूर्वक-अबुद्धिपूर्वक शब्दोंका क्या अर्थ है?

समाधान—जिनका उपयोग ध्यानमें एकाग्र है, ऐसे श्रेणीगत जीवके उपयोगमें, ऐसा राग नहीं है जो उनकी जानकारीमें आवे। इसे ही "बुद्धिपूर्वक" रागका अभाव कहते हैं। तथापि उनकी जानकारीके बिना भी, कर्मके उदयागत मन्द राग विद्यमान है, उसे ही 'अबुद्धिपूर्वक राग' कहते हैं। जिनके ध्यानकी एकाग्रता नहीं है—उनमें कर्मोदयसे जो राग आता है, वह जानकारीमें भी अपनी स्थूलताके कारण आ जाता है। अतः वहाँ प्रथम अर्थमें शुद्धोपयोग शब्दका प्रयोग है। अथवा आंशिक शुद्धिके कारण भी उसे आंशिक शुद्धोपयोग माना जा सकता है। तथापि श्रेणीगत ध्यानस्थ जीवोंको, मन्दोदयकी स्थितिमें भी, ज्ञानकी वर्तमान प्रयोग दशामें होनेवाला क्रमबद्धित शुद्धोपयोग है। वह अनन्त चतुष्टयकी उत्पत्तिमें प्रबल हेतु है। अतः यह कहना सुसंगत है कि शुद्धोपयोगका फल ही अनन्त चतुष्टय है ॥२६८॥

ऐसे शुद्धोपयोगकी कामना करते हैं—

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६९॥

अन्वयार्थ—(**स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे**) स्याद्वाद वाणीके द्वारा प्रकाशित है शोभायमान महान् प्रकाश जिसका, ऐसे (**शुद्धस्वभावमहिमनि मयि उदिते सति**) शुद्ध स्वभावकी महिमाका जब मेरे उदय हो गया है तब, (**बन्ध मोक्षपथपातिभिः**) बंध-मोक्षके मार्गमें जिनका प्रवेश है, ऐसे (**अन्यभावैः**) अन्य भावोंसे (**किम्**) मुझे क्या प्रयोजन है? (**परं अयं स्वभावः**) केवल वही सुविशुद्ध श्रेष्ठ भाव (**नित्योदयः स्फुरतु**) नित्य ही उदय रूप प्रकाशमान रहो ॥२६९॥

भावार्थ—भगवान् जिनेन्द्रकी अनेकान्तमयी वाणीका श्रवणकर, या उसका बार-बार अभ्यास कर, मुझे शुद्धात्माकी महिमाका प्रकाश प्राप्त हुआ है। अब मुझे इस चर्चासे क्या लाभ कि बंध कैसे होता है, और मोक्ष कैसे होता है? इन भावोंका प्रयोजन पूर्वमें था, पर जब केवल ज्योतिको प्रकट करनेकी साक्षात् हेतु भूत शुद्धात्माकी महिमा प्रकट हो गई, तो इसे ही निर्विकल्प होकर अंगीकार करना चाहिए। विकल्प तो शुभाशुभ रूप हैं, और वे शुभाशुभ बंधके ही कारण

बनेंगे । अतः उनका अभाव ही हो, तथा यह परमभाव जो प्रकट हुआ है, वह अविच्छिन्न रूपसे मुझमें प्रकाशित रहे यही कामना है ।

(४७७) **प्रश्न**—जिनवाणी अनेकान्त मय है । इस कलशमें उसी अनेकान्त स्याद्वाद वाणीके द्वारा दीपित प्रकाशकी महिमा बताई गई है। यह स्याद्वाद अनेक नयात्मक है, नय विकल्पात्मक है, तब नयोत्पादक स्याद्वादका तिरस्कार क्यों किया गया ? क्या नयात्मक विकल्प शुद्धात्माकी प्राप्तिमें बाधक है ? यदि ऐसा नहीं है तो निर्विकल्प होनेकी बात कहां तक उचित है ?

समाधान—नयके विकल्प वस्तुको समझनेमें साधक हैं। साधनों द्वारा जब साध्य वस्तु प्राप्त हो गई, तब साध्यको छोड़कर फिर साधनों पर दृष्टि ले जाना लाभदायक नहीं है। हानिकारक ही है। अतः उन विकल्पोंको दूर करनेकी भावनाका उपदेश दिया है। साधन उपयोगी है, पर तब तक उसकी उपयोगिता है जबतक साध्यकी प्राप्ति नहीं हुई ॥२६९॥

इसी विषयको नीचेके कलशमें स्पष्ट करते हैं—

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंडयमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखंडमेक-
मेकांतशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२७०॥

अन्वयार्थ—(**चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः**) विविध प्रकारकी निज शक्तियोंसे सम्पन्न (**अयम् आत्मा**) यह आत्मा, (**नयेक्षणखण्ड्यमानः**) विविध नयोंकी दृष्टिसे देखनेपर खण्ड-खण्ड रूप प्रतिभासित होती हुई, सद्यः (**प्रणश्यति**) तत्काल विनशती है । (**तस्मात्**) इसलिए वस्तुतः (**अहं**) मैं (**अखंडम्**) परसे अखण्डनीय, (**अनिराकृत खण्डम्**) किन्तु अपने समस्त खण्डोंसे अभिन्न, (**एकम्**) एक सत्ताक (**एकान्तशान्तम्**) सर्वथा शान्त (**अचलं**) स्थिर (**चिन्महः अस्मि**) चैतन्यका प्रकाश हूँ ॥२७०॥

भावार्थ—आत्मा विविध प्रकारके अनन्त गुण पर्यायोंका, एकमात्र अखण्ड-पिण्ड होते हुए भी, एक-एक गुण पर्यायकी प्रमुखता रूप नयोंसे देखनेपर, खण्ड-खण्ड रूप प्रतिभासित होनेके कारण उसकी अखण्डता नष्ट होती दीखती है । जिस नयकी अपेक्षा उसे देखा जाय; उस काल उतनी ही दिखाई देगी । उसका समस्त अखण्ड रूप उस काल लक्ष्यमें नहीं आयगा । द्रव्य दृष्टिसे देखनेपर द्रव्य मात्र प्रतीत होगा । प्रदेश भेदकी दृष्टिसे देखनेपर उसके असंख्य प्रदेशमात्र दृष्टिमें आयेंगे । पर्यायकी दृष्टिसे देखनेपर शुद्धाशुद्ध पर्याय रूपता ही प्रतीतिमें आयगी । ज्ञानादि गुणोंसे देखनेपर ज्ञानादि मात्रता रूप ही प्रतिभासित होगी । इस प्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव रूप एक-एक नयसे एक-एक रूप प्रतिभासित होगा ।

गुणोंमें या पर्यायोंमें भी, जिस गुणकी विवक्षा होगी, या जिस पर्यायकी विवक्षा होगी, तत्-गुण या तत्पर्याय रूप ही उसका दर्शन होगा । अनाद्यनन्त समस्त गुण पर्यायोंसे अभिन्न, अखण्ड रूप आत्मा, इन नय दृष्टियोंमें नहीं आयेगा । अतः नय दृष्टियोंको, तथा उसके विकल्पोंको, दूर-कर मैं एकान्त, शान्त, निर्विकल्प, खण्ड-खण्डपनेसे रहित, अखण्ड अचल चैतन्यके प्रकाश रूप हूं । मेरे इस स्वरूपमें कभी भी चंचलता नहीं है ॥२७०॥

ज्ञान-ज्ञेयका अभिन्नपना प्रदर्शित करते हैं—

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥२७१॥

अन्वयार्थ—(**यः अयम् भावः**) यह जो मैं भाव स्वरूप पदार्थ हूं, सो (**अहम् ज्ञानमात्रम् अस्मि**) मैं ज्ञानमात्र पदार्थ हूं। उसे (**ज्ञेयज्ञानमात्रःस नैव**) सिर्फ ज्ञेयोंका जानने वाला ज्ञानमात्र है ऐसा नहीं जानना। किन्तु (**ज्ञेयः ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्**) ज्ञेय पदार्थोंके ज्ञानाकार रूप, कल्लोलों-को स्वीकार करने वाला, वह (**ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत् वस्तुमात्रः**) स्वयं ज्ञान रूप, स्वयं ज्ञेय रूप, और स्वयं ज्ञायक रूप, तीनोंसे अभिन्न है, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥२७१॥

भावार्थ—"आत्मा ज्ञानमात्र है" ऐसा पूर्व कलशमें कहा गया था। इसका केवल यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान, ज्ञेय पदार्थोंका ज्ञायक मात्र है, किन्तु जगत्के समस्त ज्ञेयोंका ज्ञानमें जो तदाकार रूप प्रतिभासित होता है, वे सब ज्ञानकी ही कल्लोलें हैं। जैसे समुद्रकी कल्लोलें—समुद्र रूपताका परित्याग नहीं करतीं, वे समुद्ररूप ही हैं। इसी प्रकार ज्ञेयाकार रूप प्रवर्त्तित ज्ञानकी समस्त कल्लोलें ज्ञानरूप ही हैं।

ज्ञान उन सबका ज्ञाता है, अतः ज्ञान उनका ज्ञायक हुआ। आत्मा उनसे अभिन्न है अतः स्वयं ज्ञाता है, स्वयं ज्ञान है, और स्वयं ज्ञेयरूप है। फलतः यह ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप वस्तु स्वयं है। अर्थात् स्वयं ज्ञाता आत्मा, स्वयंके ज्ञान द्वारा, स्वयंको भी ज्ञेयरूप बनाता है। स्वयंकी इस त्रिविधतामें, बाह्य ज्ञेय पदार्थ, आत्मासे भिन्न ही रहते हैं। उन ज्ञेयोंका आत्मामें प्रवेश नहीं होता, किन्तु ज्ञेयाकार जैसी ज्ञानकी ही विविध पर्यायें हैं। जिन्हें ज्ञान कल्लोल कहा गया है, ज्ञान उन्हें स्वीकार करता है, यही उनका जानना है। आत्माका अनुभवन करने वाला अपनेको उसीप्रकार अखण्ड रूप अनुभव करता है, इसलिये 'आत्मा ज्ञान मात्र है' ऐसा कहा गया है ॥२७१॥

अनुभव दशामें होनेवाली उस विविधताके रहने पर भी मेरे सहज स्वभावकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता—

क्वचिल्लसति मेचकं, क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं, सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७२॥

अन्वयार्थ—(**मम सहजमेवतत्त्वं**) मेरा सहज ज्ञानस्वरूप तत्त्व ही (**क्वचिन्मेचकं लसति**) कभी विविधरूप दिखाई देता है (**क्वचित्-पुनरमेचकं**) कभी एकाकार टंकोत्कीर्ण स्वरूप दिखाई देता है, तथा (**क्वचिन्मेचकामेचकं**) कभी एकानेक रूप प्रकाशमान होता है, (**तथापि**) तो भी (**परस्प-रसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रंस्फुरत्**) परस्परमें तादात्म्य रूप सुगठित अपनी प्रकट शक्ति समूह रूपमें

प्रकाशमान वह आत्मतत्त्व, (**अमलमेधसां मनः**) निर्मल बुद्धिवाले सज्जनोंके मनको (**न विमोहयति** भ्रम उत्पन्न नहीं करता ॥२७२॥

भावार्थ—ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। उसका विषय कभी 'स्व' होता है, कभी 'पर' होता है और कभी स्वपर दोनों होता है। जब स्वरूप मात्रका बोध करता है तब उसमें एकाकारता दीखती है, अतः उसे 'अमेचक' कहा गया है। वही ज्ञान जब नानाप्रकार पररूपोंको लक्ष्यमें लेता है, तब उन समस्त ज्ञेयोंके निमित्तसे नानारूपता भी उसमें दिखाई देती है। तब उसे 'मेचक' शब्द द्वारा कहा गया है। जब ज्ञान स्व-पर दोनोंका एक साथ बोधक होता है तब मेचक और अमेचक उभयरूप प्रकाशित होता है।

ऐसा होने पर भी निर्मल स्याद्वादानुप्रेरित बुद्धिवाले ज्ञानीजन, उसकी एक रूपता और विविध रूपतासे भ्रममें नहीं पड़ते। वे जानते हैं कि वे सब ज्ञानके ही रूप हैं। उन रूपोंके रहते हुए भी ज्ञान अपनी ज्ञानरूपताका परित्याग नहीं करता। वह ज्ञानरूपता ही मेरा सहज तत्त्व है। जिन विविध पदार्थोंके निमित्तसे उनमें विविधता दिखाई देती है वे विविध पदार्थ, मेरी ज्ञान-रूपतासे भिन्न हैं। वे मेरी एकरूपताको खण्ड-खण्ड नहीं कर सकते। मैं स्वयं अखण्ड चैतन्य रूप ही हूँ। मेरी सभी शक्तियां मुझसे तादात्म्य रूप हैं।

पञ्चवर्णके रत्नको 'मेचकरत्न' कहा गया है। इस अर्थके अनुसार मेचकका अर्थ विविधा-कारता किया है, और अमेचकका एकाकार किया गया है। इसीके अनुसार एक-अनेकाकारताको मेचकामेचक शब्दसे प्रयोग किया गया है। दूसरे प्रकारसे 'मेचक' का अर्थ 'चित्रित' भी है। इस अर्थकी अपेक्षा आत्मा संसारी दशामें सकर्मा है, अशुद्ध है, तब 'मेचक' शब्दका प्रयोग होता है। वही आत्मा जब सम्यग्दृष्टि, संयमी बन जाता है, तब शुद्धाशुद्ध दशारूप होनेसे, उसे मेचका-मेचक कहा जा सकता है। और जब कर्मक्षयसे सर्वथा शुद्ध बन जाता है तब उसे 'अमेचक' कहा जा सकता है। तथापि ज्ञानी जीव उन सब दशाओंमें परमार्थसे एक सहज तत्त्वका दर्शन करता है ॥२७२॥

स्याद्वादा नयसे प्रदर्शित आत्माके वैभवको बताते हैं—

इतोगतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥२७३॥

अन्वयार्थ—आत्मतत्त्व (**इतोगतमनेकताम्**) एक तरफ नाना पर्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो अनेक रूप दिखाई देता है, तथा (**इतः सदा अपि एकताम् दधत्**) दूसरी तरफ द्रव्यमात्रकी दृष्टिसे वही एकरूपताको धारण करता है। वही आत्मा (**इतः क्षणविभंगुरं**) पर्यायार्थिक की दृष्टि में क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील दिखाई देता है। तथा (**इतः सदैवोदयात् ध्रुवं**) अनाद्यनन्त स्थायी गुणोंकी, या द्रव्यकी दृष्टिसे देखें, तो उनका उदय आत्मामें सदैव पाया जाता है। अतः आत्मा ध्रुव है। नित्य है। (**इतः परमविस्तृतं**) यदि उसे नाना पर्यायोंकी दृष्टिसे देखें तो उसका विस्तार अनादि-अनन्त परम विस्तृत है, तथापि (**इतः निजैः प्रदेशैः धृतम्**) यदि अपने प्रदेशोंकी संख्याकी

अपेक्षा देखें तो उतना ही अविस्तृत है। लोकालोकका ज्ञाता है अतः तत्प्रमाण विस्तृत है अथवा निज प्रदेशमात्र है, अतः अविस्तृत है (**अहो**) इस प्रकार अहो ! (**तदिदम् सहजं आत्मनः वैभवम् अद्भुतम्**) यह आत्म तत्त्वका सहज वैभव आश्चर्यकारी है ॥२७३॥

भावार्थ—आत्मतत्त्व स्वयं एक है, तथापि असंख्य प्रदेशी है, अतः उसे अनेक भी कह सकते हैं। वह एक द्रव्य ही है, तथापि अनन्त पर्याय स्वरूप है, इसलिए उसे अनन्त भी कह सकते हैं। द्रव्य दृष्टिसे उसे स्थायी भी कह सकते हैं, और पर्यायदृष्टिसे वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील, अनित्य, अस्थायी भी है। द्रव्य अनाद्यनन्त गुण पर्यायोंका समुदाय है अतः अत्यन्त विस्तारवाला है, तथापि अपने स्वद्रव्य स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव मात्र है अतः विस्तारवान् नहीं है, परिमित है। इस तरह एक ही आत्म तत्त्वको विविधरूप देख सकते हैं, ऐसा ही उसका वैभव है ॥२७३॥

इसी अर्थको पुष्ट करते हैं—

कषायकलिरेकतः, स्खलति शान्तिरस्त्येकतः
भवोपहतिरेकतः, स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो, विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥२७४॥

अन्वयार्थ—(**एकतः**) एक नयसे देखा जाय तो जीवमें (**कषाय कलिः**) कषायकी कालिमा (**स्खलति**) आ रही है। (**एकतः**) एक नयसे (**शान्तिरस्ति**) शान्ति भी दिखाई दे रही है। (**एकतः**) एक नयसे (**भवोपहतिः**) संसार परिभ्रमणके दुख हैं तो (**एकतः**) एक नयसे आत्मा (**मुक्तिः अपि स्पृशति**) मुक्तिका भी स्पर्श करती है। (**एकतः जगत्त्रितयं**) एक नयसे तीनों लोक उसमें दिखाई देते हैं, तो (**एकतः**) एक नयसे (**चित्**) चिच्चमत्कार मात्र ही (**चकास्ति**) प्रकाशमान है। (**आत्मनः महिमा अद्भुताद्द्भुतः विजयते**) इस प्रकार विविध नयोंसे देखने पर इस आत्माकी महिमा अद्भुतसे भी अद्भुत है। अत्यन्त आश्चर्यकारी है ॥२७४॥

भावार्थ—एक ही आत्मामें, नयविवक्षाके भेदसे परस्पर विरोधी जैसे अनेक धर्म दिखाई देते हैं। आत्मतत्त्वकी यह महान् आश्चर्यकारी महिमा है। इसी महिमाको दिखाते हैं—

(१) पर्याय दृष्टिसे देखा जाय तो संसार दशामें, आत्मामें राग-द्वेष-क्रोधादिकी कालिमा दिखाई दे रही है, अर्थात् ये विभाव परिणतियाँ उसमें विद्यमान हैं। परन्तु स्वभावदृष्टिसे तो वही शान्तिका भंडार है।

(२) पर्याय दृष्टिसे वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव इन पञ्च परावर्तनोंमें भटक रहा है। तथापि स्वभाव दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्वयं कर्म कलंक रहित मोक्षस्वरूप है।

(३) पर्यायदृष्टिसे वह तीनों लोकोंमें परिभ्रमण करता है, अतः तीन लोक स्वरूप है। तथापि स्वभावदृष्टिसे देखें तो वह केवल चैतन्य लोकमें ही रहता है तद्रूपमें ही सदा प्रकाशमान है।

ये सब स्वभाव तथा विभाव दशाएँ हैं, जो आत्मामें पर्यायनय और द्रव्यनयकी अपेक्षा पाई जाती हैं। द्रव्यार्थिकनयसे या शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा शान्त है, निष्कषाय है, वीतरागी है, अखण्ड है, अकम्प है, चैतन्य चमत्कारमात्र है, मुक्त है। पर्यायार्थिकनयसे या व्यवहारनयसे देखा

जाय तो यह आत्मा ही राग-द्वेष-क्रोधादि पर्यायरूप देखा जाता है, अतः सरागी है, पर्यायोंमें खण्डित है, चलायमान है, तीनों लोकोंका वासी है।

ऐसी आश्चर्यकारी विशेषताएँ इस आत्मद्रव्यकी हैं। ऐसा आचार्य प्रतिपादन करते हैं। कर्मोदयकी विविधतामें अपनी वर्तमान दुरवस्थाका भी भान कराते हैं, और उस आत्माकी स्वरूपकी पवित्रताका भी भान कराते हैं। जो आत्मा वर्तमानमें ऐसी पराश्रित विभाव दशामें है, वह स्वभावाश्रित, मुक्त दशाको प्राप्त करने योग्य भी है, इस महिमासे आत्माका पुरुषार्थ अपने स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर जाता है ॥२७४॥

उस एक अस्खलित तेजःपुंज आत्माकी विजयकी कामना करते हैं—

जयति सहजतेजःपुञ्जमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७५॥

अन्वयार्थ—(**सहजतेजःपुञ्जमज्जत् त्रिलोकी**) जिसकी स्वाभाविक ज्ञान तेजके पुञ्ज स्वरूप केवलज्ञान रूप ज्योतिमें तीनों लोक डूब जाते हैं, तथा (**स्खलदखिलविकल्पः अपि**) समस्त विकल्पोंसे रहित होकर भी (**एक एव स्वरूपः**) जो स्वयंमें एक, अद्वितीय है, तथा जो (**स्वरस विसर पूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः**) अपने स्वभावके प्रसारसे स्वयंमें परिपूर्ण, अखण्डतत्त्वके रूपमें उपलब्ध है, तथा (**प्रसभनियमितार्चिः**) जो अपनी किरणोंके द्वारा, स्वयं अपने स्वरूपमें स्वशक्तिसे ही नियमित है, ऐसा (**एषः चित्चमत्कारः जयति**) यह चैतन्य चमत्कार स्वरूप आत्मा, सदा सर्वोत्कृष्ट रीतिसे जयशील है ॥२७५॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञानपुञ्ज कैवल्य ज्योति है। उसकी महिमा ऐसी है कि उसमें ऊर्ध्व-मध्य-अधः तीनों लोकोंके अनन्तानन्त पदार्थ, अपनी अनन्तानन्त गुण-पर्यायों सहित समाते हैं, सब युगपत् प्रकाशमान होते हैं। वह कैवल्य ज्योति सभी पदार्थोंकी प्रकाशक होकर भी, सकल-पदार्थोंके निमित्तजन्य विकल्पोंसे रहित, स्वयंमें एकरूप ही है। वह अपने आत्मरससे पूर्ण अखण्ड तत्त्वस्वरूप है। उसकी ज्ञानकिरणें विना किसी प्रयत्नके, स्वयंके बलसे अपनेमें ही नियमित हैं। उसका परित्याग नहीं करतीं। ऐसी वह कैवल्यज्योति सदा ही जयशील है ॥२७५॥

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्मा
न्यनवरतनिमग्नं धारयत् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७६॥

अन्वयार्थ—(**अविचलितचिदात्मनि आत्मनि**) अकम्प चैतन्य स्वरूप आत्मामें (**आत्मना**) अपने पुरुषार्थसे ही (**आत्मानं**) स्वयंको (**अनवरतनिमग्नं धारयत**) निरन्तर धारती हुई, (**ध्वस्तमोहम्**) मोहान्धकारको नष्ट करनेवाली (**विमलपूर्णम्**) स्वच्छ, परिपूर्ण, (**निःसपत्नभावम्**) रागादि

विरोधी भावोंसे रहित (समंतात **उदितं एतत् अमृतचन्द्रज्योतिः**) पूर्ण उदयको प्राप्त हुई, यह निर्मल अमृतमय—चन्द्र समान आत्मज्योति (**ज्वलतु**) सदा प्रकाशमान रहो ॥२७६॥

भावार्थ—जैसे अमृत बरसानेवाले चन्द्रमाकी ज्योति अन्धकारको दूर करती है। स्वयं विशद रूपसे प्रकाशमान होती है, इसी प्रकार अचल चैतन्य स्वरूप आत्मामें, जन्म मरणादि विकार रहित अमृतरूप, विशद-पूर्ण ज्ञानज्योति, जो अज्ञानान्धकारको दूर करती हुई, स्वयं आत्माके परम पुरुषार्थसे उत्पन्न हुई है, वह अकम्प चैतन्य ज्योति सदा प्रकाशमान रहो।

इस पदमें ग्रन्थकर्त्ता अमृतचन्द्र आचार्यका नाम भी प्रकारान्तरसे द्योतित होता है। उसे आधार बनाकर यह अर्थ प्रकाशित होता है कि अमृतचन्द्राचार्य द्वारा अपने स्वयंके अनुभवसे यह ग्रंथ एक ज्योति रूपमें प्रकाशित किया गया है। यह ज्ञान ज्योति, जीवोंके मोहान्धकारको दूर करती हुई, निर्विरोध रूपसे इस संसारमें प्रकाशमान रहे, ऐसी भावना प्रकट की गई हैं। अथवा आत्मा ही अमृतचन्द्र ज्योति है वह जयवन्त हो। यह ज्ञानज्योति अमृतवर्षी चन्द्रमासे अधिक माहात्म्य रखती है।

चन्द्रमा सलांछन है, यह ज्ञानज्योति निर्लांछन है। वह केवल अन्धेरा मिटाता है, यह मोहान्धकार मिटाती है। चन्द्रमाकी ज्योति सदा प्रकाशमान नहीं रहती, आत्माकी ज्ञानज्योति सदा प्रकाशमान है। चन्द्रमाका विरोधी राहु है अतः सपत्नभावयुक्त है, यह ज्ञानज्योति ज्ञानावरण कर्मरूप शत्रुको नाश करके उदयको प्राप्त होती है, अतः सपत्नभाव रहित है। चन्द्रमा सर्वक्षेत्र प्रकाशी नहीं है, कैवल्य ज्योति त्रिलोकमें प्रकाश करनेवाली है। ऐसी ज्ञानज्योति सदा प्रकाश करती रहो। ऐसा भी अर्थ निकलता है ॥२७६॥[1]

पूर्वापर रूपकी व्याख्या करके यह बताते हैं कि अब जो स्वानुभूति हो, उसमें मग्न रहना ही जीवकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है—

यस्मात् द्वैतमभूत् पुरास्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरम्
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुञ्जाना च यतोनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुनां किञ्चिन्न-किञ्चित् किल ॥२७७॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात् पुरा स्वपरयोर्द्वैतमभूत्**) प्रथम ही पूर्वावस्थामें, स्व तथा पर, दोनोंका मिला हुआ द्वैतरूप एक भाव हुआ। (**यतः अत्रान्तरम् भूतम्**) जिसके कारण स्व स्वरूपमें भेद पड़ा। (यतः) इस अन्तरकी दशामें (**रागद्वेष परिग्रहे सति**) रागद्वेषकी उत्पत्ति हुई। उसके ग्रहण

---

१. समयसारकी प्रतिमें इस कलशके बाद एक श्लोक और क्रमांक १ देकर छापा गया है। वह इस प्रकार है—

मुक्ता-मुक्तैक रूपोयः कर्मभिः संविदादितः।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमाम्यहम् ॥१॥

अर्थ—जो आत्मा कर्म रहित होने से मुक्त रूप, तथा अपने ज्ञानादि गुणोंसे सहित होनेके कारण अमुक्त रूप है, उस ज्ञानमूर्ति, अक्षय परमात्माको मैं नमन करता हूँ।

होनेपर (**क्रिया कारकैः फलं जातं**) उन क्रियाओंके कर्त्तापनेसे, जो फल उत्पन्न हुआ उससे (**अनुभूतिः**) परमें स्वकी अनुभूति हुई (**यतः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना**) जिससे उस क्रियाके दुःखरूप फलको भोगनेवाली वह अनुभूति (**खिन्न**) अत्यन्त खेदरूप हुई (**अधुना**) परन्तु अब (**तद्विज्ञान घनौघमग्नम्**) स्वभावका सम्यग्बोध होनेपर, विज्ञानघन स्वभावमें मग्न हो गए, अतएव (**तत् किल न किंचित् न किंचित्**) वह कर्म अब कुछ नहीं है—कुछ भी नहीं हैं ।।२७७।।

भावार्थ—जब जीव मिथ्यात्व दशामें था, तब स्वपर भेदविज्ञान उसे नहीं था, तब परके साथ एकाकारताका अनुभव करता था, अतः परकी पर्यायके विनाशमें अपनी हानि, तथा परकी उत्पत्तिमें अपना लाभ देखता था। तब वह कर्म और कर्मके फलमें मग्न था। तब वह अनुभूत-कर्म-कर्मफला थी। उस समय रागद्वेष उत्पन्न होते थे। उन रागद्वेष परिणामोंसे आत्मा कलुषित-रूप अनुभवमें आती थी। उसका फल अत्यन्त दुःख था, अतः अनुभूति भी अत्यन्त दुःखरूप थी।

सम्यक्त्व हो जानेपर, स्वपरकी भेद-भासना हुई। परका परित्याग, स्व रमणरूप सम्यग् चारित्र प्राप्त हुआ। ज्ञानचेतना मुखरित हुई। कर्म और कर्मके फलका सम्बन्ध चैतन्य भावसे भिन्न हुआ। रागद्वेषादि कलुषित भाव मिट गए। अतः अब आत्मा अपने ज्ञानस्वभा वमें ही निमग्न हो गया। सारे कर्त्तव्य पूरे हो गए। कृतकृत्य हो गया। अब करने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहा। परम पुरुपार्थका यही सर्वोत्कृष्ट फल है, अतः करणीय कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। ऐसा बार-बार कहकर उसकी दृढ़ता करते हैं ।।२७७।।

ग्रन्थको समाप्त करते हुए अमृतचन्द्र स्वामी अहंभावसे बचनेके लिये, स्वयंके ग्रन्थकर्तृत्व-का निषेधकर, यह ग्रन्थ कैसे बना यह बताते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः
व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति
कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।।२७८।।

अन्वयार्थ—(**स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः**) अपनी सहज योग्यता, यथा सुनिश्चित संकेतों से जिन्होंने वस्तुतत्त्वकी सूचना दी है, ऐसे (**शब्दैः**) शब्दरूप वचनोंके द्वारा, (**इयं समयस्य व्याख्या कृता**) यह समयसारकी व्याख्या की गई है। (**स्वरूपगुप्तस्य**) अपने शुद्ध-चैतन्य स्वरूपमें ही लीन (**अमृतचन्द्रसूरेः**) मुझ अमृतचन्द्राचार्यका इस कृतिमें (**न किंचित् एव कर्त, व्यम् अस्ति**) कुछ भी कर्त्तृत्व नहीं है ।।२७८।।

भावार्थ—श्री १०८ आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ग्रन्थको समाप्त कर, इस कलशमें अपना अन्तिम वक्तव्य दे रहे हैं। वे कहते हैं कि समयसार ग्रन्थ की समय प्रतिपादक यह टीका मैंने नहीं की। मैं तो सच्चिदानन्दकन्द अपने ही स्वरूपकी मर्यादा में हूँ। शब्दोंमें मेरा प्रवेश नहीं है, न उनका मुझमें प्रवेश है। शब्द जो पौद्गलिक हैं, उनमें कुछ सहज योग्यता है, और कुछ पुरुप कृत संकेत हैं कि अमुक शब्दका यह अर्थ समझना चाहिए। उन संकेतोंने और शब्दोंकी योग्यताने ही यह व्याख्या की है।

भाषामें कुछ शब्द तो सहज योग्यतासे अर्थ प्रतिपत्ति करा देते हैं। जैसे कोई भाषा-भाषी अपनी भाषामें किसीपर क्रोध कर रहा है, अथवा प्रीति कर रहा है, तो अन्य व्यक्ति जो उस भाषाका जानकार नहीं है, उन शब्दोंके उतार-चढ़ावसे, शरीरकी चेष्टासे उन शब्दोंका अर्थ-भाँपकर, उसके अभिप्रायको समझ लेता है। इसी प्रकार शब्दोंमें अर्थोंका संकेत, भाषा निर्माण करनेवाले, या बोलने वाले करते हैं। जैसे घ + ट दोनों शब्द जोड़कर बोले जायें तो इसका अर्थ 'घड़ा' जानना, ऐसा कोषकारोंने संकेत स्थिर कर दिया है। जिन शब्दोंका अर्थ प्रतीत न हो, तो शब्द कोषके ग्रन्थ देखकर वे शब्द किस अर्थमें संकेतित हैं, इसका ज्ञान व्यक्ति कर लेता है। अन्य भाषा-भाषी जो संस्कृत भाषा या हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ हैं, उनके संकेतोंका जिसे परिज्ञान नहीं है, वह उन 'घट' आदि शब्दोंको सुनकर बोलने वालेका मुख ताकता है। जब उसे उसकी सांकेतिक-भाषामें समझाया जाता है, तब उसका समाधान होता है।

आचार्य यहां इस वास्तविक रहस्यको खोलते हुए कहते हैं कि समयसार-ग्रन्थकी यह व्याख्या उन शब्दोंने की है, मैंने नहीं की। यह परमार्थ है। व्यवहारसे, उस रचनामें निमित्तभूत आचार्य ही टीकाके कर्त्ता हैं, ऐसा कहा जायगा। तथापि पर-कर्तृत्वको सिद्धान्ततः स्वीकार न करनेवाले आचार्य, स्वयं अपनेको परमार्थसे परका अकर्त्ता मानकर, इस टीकाको अपनी कृति न कहकर, शब्दोंको ही उस कृतिका कर्त्ता कहकर, परमार्थका आश्रयकर, व्यवहारकी हेयता ही निरूपित कर रहे हैं ॥२७८॥

इस प्रकार श्रीभगवान् कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार श्रीग्रन्थकी टीका करते
हुए अमृतचन्द्राचार्य कृत यह 'अध्यात्म अमृत कलश' नामकी स्वात्म
प्रबोधिनी हिन्दी भाषा-टीका सम्पूर्ण हुई। मध्यप्रदेशके जबलपुर
मण्डलान्तर्गत कटनी नगरीमें चारित्र चक्रवर्ती आचार्य
शान्तिसागरके स्मारक श्रीशान्ति निकेतन जैन
संस्कृत विद्यालयमें श्रीवीर संवत्सर २५०१
विक्रमाब्द २०३१ की माघ शुक्ला
षष्ठी सोमवारके दिन अपने
आत्मबोधके लिये की गई
मेरी यह भाषा टीका
पूर्ण हुई।
जगन्मोहनलाल जैन, शास्त्री।

■

□ अथ ग्रन्थ प्रशस्तिः □

श्रीवीरं कुन्दकुन्दञ्चामृतचन्द्रं तथैव च।
साष्टाङ्गं सादरं भक्त्या प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥

श्री कुन्दकुन्ददेवस्य, ग्रन्थं समयप्राभृतम्।
आलम्ब्य रचिता टीका, संस्कृतेऽमृतसूरिभिः ॥२॥

तट्टीकासदनं तेन, कलशैस्तु सुशोभितम्।
मन्येऽथवामृतं तेन, कलशेषु समाहितम् ॥३॥

प्राश्निकानां सुवोधाय, सत्प्रश्नोत्तरपूर्वकम्।
तदभिप्रायमासाद्य, हिन्दी-टीका विनिर्मिता ॥४॥

स्वात्मप्रवोधिनी टीका, जगन्मोहनशास्त्रिणा।
रचिता सुखवोधाय, जिज्ञासूनां हितार्थिनाम् ॥५॥

तीर्थङ्करमहावीरदेवस्य मुक्तिवत्सरे।
द्विसहस्रे पञ्चशते प्रयत्नः कृतवानहम् ॥६॥

मुख्योपचारकथनं, यथा शास्त्रे प्ररूपितम्।
तदनेकान्तप्रकृत्या वर्णितं स्वल्पमेधसा ॥७॥

मदीयाज्ञानभावेन याः काश्चित् स्युः प्रमादतः।
त्रुटयोऽत्र कृपापूर्वं शोधनीयाः मनीषिभिः ॥८॥

नमः श्री वर्द्धमानाय सर्वज्ञाय स्वयंभुवे।
तेषां सच्छासनं कुर्यात् भद्रं सम्पूर्णप्राणिनाम् ॥९॥

नानागमानामध्येता नानाविद्याविशारदः।
जनसंवोधने दक्षः जिनधर्मप्रभावकः ॥१०॥

उपाध्यायपदारूढः विद्यानन्दो दिगम्वरः।
सम्प्रती वर्तते काले भारते भुवि भूषणः ॥११॥

द्विसहस्रे पञ्चशते वीरे मुक्तौ गते सति।
येन संवोधिता देशे जनता कोटिकोटयः ॥१२॥

हरियाणाप्रदेशे तु पुरी नाम्ना जगाधरी।
तत्र स्थिते जैनपुरे चातुर्मासं चकार सः ॥१३॥

नीरजेन सुशिष्येण साकं तत्र गतोऽस्म्यहम्।
वन्दनार्थं प्रमोदेन संभागीये महोसत्वे ॥१४॥

तत्सन्निधौ धृतां टीकां समालोक्य मुनीश्वरः।
जगन्मोहिनि नामाख्या टीकेयं तु जगाद सः ॥१५॥

मया निवेदितं स्वामिन्! जगन्मोहविनाशिनी।
स्वात्मप्रवोधिनी भूयात् स्वीकृतं तेन सस्मितम् ॥१६॥

■

अध्यात्म-अमृत-कलश

स्वात्म प्रबोधिनी टीकामें आए प्रश्नोंकी

अनुक्रमणिका

पूर्व रंग

उत्तर रंग

कर्तृकर्म अधिकार

पुण्य-पाप अधिकार

अथ निर्जराधिकार

अथ बन्धाधिकारः

मोक्षाधिकार

अथ सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारः

स्याद्वाद अधिकार

■

अकारादि क्रमसे कलशोंकी सूची

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
समान	×	३	१५
नय	नव	१४	२१
छेड़ कर	छोड़कर	१८	२२
अभेद नय	भेद नय	३१	३२
आत्म निमग्न	प्रतिविम्बित	३४	७
तुर्गत्ति	चतुर्गति	४३	८
मिथ्यात्व	मिथ्यात्त्व	४४	२४
स्तत्त्वत:	तत्त्वत:	५५	२९
शानीजन	ज्ञानीजन	६३	३३
होता है	होना है	७२	१४
अज्ञानता:	अज्ञानत:	८६	२८
चक्रकरणात्वा	चक्र करणाद्वा	८८	९
आत्मायोग	आत्मा, योग	९२	४
जड़ पुद्गल	जड़ पुद्गल में	९३	२६
न पुनः अय	न पुनः अन्यः	९६	१८
भ्राम्य	भ्राम्यन्	१०९	९
सने	उसने	११५	१७
वतुतः	वस्तुतः	११५	२६
वकारी	विकारी	११७	६
जैना र	जैनाचार	११८	१२
निर्वृत्ति	निवृत्ति	१२८	३
हेतुर्धवन्	हेतुर्भवन्	१३२	२१
अस्तित्त्व	अति स्व	१३३	८
असंयम	असंयत	१३६	२३
उसीका	उसीका यहाँ	१४१	२५
गुणस्थान	गुणस्थान के अनुसार	१४४	२७
जने जाने का	जाने जानेका	१४५	१३
विजहित	विजहत्ति	१४६	७
वोधचिन्हे	वोधचिन्हम्	१४८	१६
ण चयदि	ण जहदि	१४९	टिप्पण
रागादि से रहित	रागादि से पूर्ण रहित	१५०	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
विजय करने	विजय करने से	१५७	९
स्वरूप के	शरीर के	१७१	२९
स्वाढं	स्वादं	१७५	८
स यषः	स एषः	१७६	३
क्रियाअ	क्रियाओं	१७६	३२
यथा	तथा	१७९	२७
ज्ञानाशय	ज्ञानाश्रय	१८९	३१
दोनों स्थायी भाव	दोनों अस्थायी भाव	१८४	१८
उसे	×	१९८	३०
ज्ञानी पुरुष	ज्ञानी पुरुष को	२०२	२४
ततः कुतः	तत् कुतः	२१०	४
स्वरमण ही	स्वरमण पर ही	२११	२६
अतः से	अतः इसे	२१८	२३
यथा	तथा	२२१	३१
पहिलवान अपने	पहिलवान् को	२२२	८
भी जीव	भी क्या जीव	२२४	२७
जिन को	निज को	२२६	२७
आपको अनुसार	आपको अपने परिणामों के अनुसार	२२९	१०
निष्कर्म के	निष्कर्ष के	२३०	२०
परिणमन होने पर	परिणमन न होनेपर	२३०	८
(चिकीषवः)	(चिकीर्षवः)	२३१	१३
आगु	आयु	२३१	३०
किन्तु तेरा	किन्तु तू तेरा	२३२	११
सर्वज्ञ से	सर्वज्ञ के	२३२	१२
निमित्त जन्म मरण का	निमित्त जन्म रागादि का	२४१	२०
परमानन्दभरसं	परमानन्दसरसं	२४९	११
एकरू	एकरूप	२४९	२८
चेतन करने वाला	संचेतन करने वाला	२५६	३१
उसी प्रकार	जैसे ज्ञान भिन्न है उसी प्रकार	२५७	१३
वे निर्वन्ध	वे निर्वन्ध हैं	२६१	८
सुधा कुतः स्यात्	सुधाकुटः स्यात्	२६४	१९
इस अर्थ	इसका अर्थ	२७१	२४
देखकर	मानकर	२७२	१०
जीव का स्वभाव	जीव स्वभाव दृष्टि से	२७३	११
प्रक्रकि	प्रकृति	२७६	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चातुचित्	जातुचित्	२७६	१०
शुद्धंकाममये	शुद्धंकातममये	२७६	१८
प्रव्य	द्रव्य	२८०	३३
सम्वन्ध	सवन्ध	२८१	४
मिथ्या वनता है	मिथ्या वनाता है	२८२	८
इस असत्य	इस सत्य	२८३	१६
एक	यह एक	२८४	१७
नित्यामृतोः	नित्यामृतोघैः	२८८	१८
विभावों का कर्ता नहीं है	विभावों का कर्ता है	२८८	१२
निचमनसि	जिनमनसि	२८८	१४
प्राप्त होत है	प्राप्त होती है	२८९	१२
भेदः वस्तु	भेदः अस्तु	२९२	२२
परमें	परसे	२९९	२८
उ ही	उसे ही	३००	२६
नाषरस्य	नापरस्य	३००	३०
अपना कम	अपना कर्म	३०५	१२
वहिलुठन्नपि	वहिर्लुठन्नपि	३०५	१५
वहिर्लुढन्तपि	वहिर्लुठन्नपि	३०५	१८
चकास्त	चकास्ति	३०७	२५
ज्वलित	ज्वलति	३१२	१४
काम् अप	काम् अपि	३१८	२७
ऐसें वे	ऐसे	३२३	१४
यदहं अकार्ष	यदहं अकार्षं	३२४	२१
ससस्त	समस्त	३२७	११
फलं न भुत्ते	फलं न भुंक्ते	३३१	२०
संहत	संहृत	३३४	१४
सत्व एक एव	स तु एक एव	३३६	८
व्यवहार मोक्षमार्ग में	मात्र व्यवहार मोक्षमार्गमें	३३७	२०
वाह्यभेदों मे	वाह्य भेषों में	३३७	२२
वाह्य भेद को	वाह्य भेष को	३३७	३०
स्याद्वाद पद्धतिसे यह	स्याद्वाद पद्धति से उसकी	३४४	१७
समस्त संसार के	तथा समस्त संसार के	३४६	३३
नहीं रखा	नहीं रखते	३४६	३४
ज्ञान द्वैव	ज्ञानाद्वैत	३४७	३१–३२

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
न उसकी सत्ता	न उसकी सत्ता में	३४९	२२
ज्ञान में काल की	ज्ञान में परकाल की	३५९	१६
आत्म स्वरूप	तथा आत्म स्वरूप	३६०	४
उसे कष्ट	उसे नष्ट	३६१	१५
वह भी कष्ट है	वह भी नष्ट है	३६१	१८
अकंपरूप से	अकंप रूपसे अपनेको	३६२	९
न होने पर ही	न होने से पर ही	३६५	२९
यथापि	तथापि	३६६	८
निज शक्तिषुनिर्भर:	निज शक्ति सुनिर्भर:	३६६	२४–२८
नितभावमयीं	निजभावमयीं	३६९	८
भूमिमितां	भूमिमिमां	३७०	१३
वशीभूत	विषयभूत	३७०	२८
शुद्धस्वासौ	शुद्धश्चासौ	३७४	१०
शुभोपयोग	शुद्धोपयोग	३७४	३१
नयोपादक	नयोत्पादक	३७६	५
मोक्षाधिकार	सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार	३११–३१३ ३१५–३१७	पंक्ति १
एकनाम्	एकताम्	३७८	२९
रहित होकर भी	सहित होकर भी	३८०	१५
मधुनां	मधुना	३८१	२४
(खिन्न)	(खिन्ना)	३८२	३
यथा सुनिश्चित	तथा सुनिश्चित	३८२	२३

■